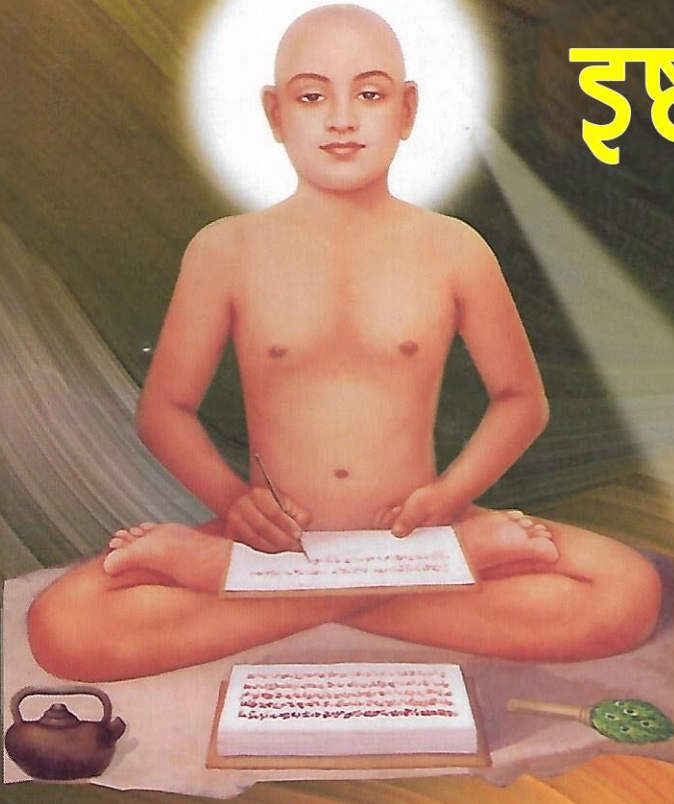


इष्टोपदेश प्रवचन

भाग-१



-: प्रकाशक :-

श्री कुंदकुंद-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विले पार्ला, मुंबई



ॐ



परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

इष्टोपदेश प्रवचन

(भाग-१)

परम पूज्य श्रीमद् पूज्यपादस्वामी विरचित
इष्टोपदेश शास्त्र पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
गाथा १ से २६ पर धारावाहिक शब्दशः प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णाकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334



प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)
अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.) फोन : 09997996346, 2410010/11
4. पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,
ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,
कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. श्री परमागम प्रकाशन समिति
श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट
योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़

मुद्रक : देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

ग्रन्थकार एवं ग्रन्थ परिचय

ग्रन्थकार श्री पूज्यपादस्वामी

प्रस्तुत ग्रन्थ 'इष्टोपदेश' के रचयिता श्री पूज्यपादस्वामी मूलसंघ के अन्तर्गत नन्दिसंघ के प्रधान आचार्य थे। वे सुप्रसिद्ध बहुप्रतिभाशाली, प्रखर, तार्किक विद्वान और महान तपस्वी थे।

समय - श्रवणबेलगोला शिलालेख नं. ४०(१०८) में उल्लेख है कि वे श्री समन्तभद्राचार्य के बाद हुए हैं और वे आचार्यश्री के मतानुयायी थे।

उन्होंने अपनी 'जैनेन्द्र व्याकरण' में 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य' (५-४-१६८) — ऐसा उल्लेख किया है, जो यह बताता है कि समन्तभद्राचार्य उनके पूर्वगामी थे।

विद्वानों के मतानुसार समन्तभद्राचार्य, ईस्वी सन् २०० में हो गये हैं।

श्री भट्टाकलंकदेव ने (समय ईस्वी सन् ६२० से ६८०) अपनी तत्त्वार्थराजवार्तिक में तथा श्री विद्यानन्दि ने (समय ईस्वी सन् ७७५-८००) अपनी तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक टीका में श्री पूज्यपाद द्वारा रचित सर्वार्थसिद्धि के वाक्यों का उल्लेख और अनुसरण किया है। इससे अनुमान होता है कि श्री पूज्यपादस्वामी, भट्टाकलंकदेव के पूर्व, अर्थात् सन् ६२० से पूर्व होने चाहिए।

इन दोनों प्रमाणों से सिद्ध होता है कि वे सन् २०० से ६२० के मध्यकाल में हो गये हैं।

शिलालेख एवं उपलब्ध जैनसाहित्य से विद्वानों ने निश्चय किया है कि यह सुप्रसिद्ध आचार्य, विक्रम की पाँचवीं-छठवीं शताब्दी में हो गये हैं।

निवास स्थान और माता-पितादि - श्री पूज्यपादस्वामी कर्नाटक क्षेत्र के निवासी थे। उनके पिता का नाम माधवभट्ट और माता का नाम श्रीदेवी उल्लिखित है। वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे।

देवसेनाचार्य कृत दर्शनसार में लिखा है कि उनके एक वज्रनन्दी शिष्य ने विक्रम संवत् ५२६ में द्रविड़ संघ की स्थापना की थी।

नाम - उनका दीक्षा नाम देवनन्दी था और बाद में वे पूज्यपाद, जिनेन्द्रबुद्धि आदि अपर नामों से लोक में प्रसिद्ध हुए।

इस सन्दर्भ में श्रवणबेलगोला के शिलालेख नं. १०५ (२५४) शक संवत् १३२० द्रष्टव्य है।

यो देवनन्दिप्रथमाभिधानो बुद्ध्या महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।

श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥

प्रागभ्यधायि गुरुणा किल देवनन्दी, बुद्ध्या पुनर्विपुलया स जिनेन्द्राबुद्धिः।

श्री पूज्यपाद इति चैव बुधैः प्रचख्ये, यत्पूजितः पदयुगे वनदेवताभिः ॥

उपरोक्त लेखों से ज्ञात होता है कि आचार्यश्री तीन नाम — देवनन्दि, जिनेन्द्रबुद्धि, और पूज्यपाद — से प्रसिद्ध थे। 'देवनन्दि', यह उनका गुरु द्वारा प्रदत्त दीक्षा नाम है; बुद्धि की प्रकर्षता - विपुलता के कारण उन्होंने 'जिनेन्द्रबुद्धि' नाम प्राप्त किया और उनके चरणयुगल की देवताओं ने पूजा की थी, इसलिए बुधजनों ने उन्हें 'पूज्यपाद' नाम से विभूषित किया।

श्री पूज्यपादस्वामी ने धर्म-राज्य का उद्धार किया, देवों के अधिपतियों ने उनका पाद-पूजन किया; इसलिए वह पूज्यपाद कहलाये। उनके द्वारा उद्धार प्राप्त शास्त्र आज भी उनके विद्या विशारद गुणों का कीर्तिमान करते हैं। वे जिनवत् विश्वबुद्धि के धारक थे, अर्थात् समस्त शास्त्र विषयों में पारंगत थे, उन्होंने कामदेव को जीता था; इसलिए कृतकृत्य भावधारी उच्चकोटि के योगियों ने उनका 'जिनेन्द्रबुद्धि' नाम से वर्णन किया है।

तथा इस शिलालेख में ऐसा भी उल्लेख है कि —

- (१) वे अद्वितीय औषधऋद्धि के धारक थे।
- (२) विदेहक्षेत्र स्थित जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से पवित्र हुए थे।
- (३) उनके चरणोदक के स्पर्श से एक बार लोहा भी सोना बन गया था।

तदुपरान्त घोर तपश्चर्यादि से उनकी आँख का तेज नष्ट हो गया था, परन्तु शान्त्यष्टक के एकाग्रतापूर्वक पाठ से पुनः नेत्र तेज प्राप्त हुआ था।

महा योगियों के लिये ऐसी घटनाएँ असम्भवित नहीं हैं।

ग्रन्थ रचना -

श्री पूज्यपादस्वामी ने जिन ग्रन्थों के रचना की है, उनमें जैनेन्द्र व्याकरण, शब्दावतार, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश आदि ग्रन्थ प्रमुख स्थान पर हैं। निम्न शिलालेख से उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का परिचय प्राप्त होता है —

जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा,
सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकवितां जैनाभिषेकः स्वकः।
छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदा-
माख्यातीह स पूज्यपादमुनिषः पूज्यो मुनीनां गणैः ॥४॥

जिनका 'जैनेन्द्र' व्याकरण शब्द शास्त्रों में अपने अनुपम स्थान को; 'सर्वार्थसिद्धि' सिद्धान्त में परम निपुणता को; 'जैनाभिषेक' उच्चतम काव्यता को; 'छन्द शास्त्र' बुद्धि की सूक्ष्मता (रचना चातुर्य) और 'समाधिशतक', स्वात्मस्थिति (स्थित प्रज्ञता) संसार में विद्वानों के प्रति प्रसिद्ध करते हैं, वे पूज्यपाद मुनिन्द्र, मुनिगणों से पूजनीय है।

१. जैनेन्द्र व्याकरण

यह संस्कृत व्याकरण का ग्रन्थ है, इसके सूत्रों के लाघवादी के कारण उसका महत्व बहुत है और इस कारण उसे लोक में अच्छी प्रतिष्ठा प्राप्त की है। भारत के आठ प्रमुख शाब्दिकों में इस व्याकरण के कर्ता श्री पूज्यपादस्वामी की अच्छी गणना है। सर्व व्याकरणों में श्री पूज्यपादस्वामी, विद्वानों के अधिपति थे, अर्थात् सर्वव्याकरण पण्डितों में शिरोमणि थे।

२. शब्दावतार

यह भी व्याकरण का ग्रन्थ है, वह प्रख्यात वैयाकरण पाणिनी के व्याकरण पर लिखा हुआ शब्दावतार नाम का न्यास है। 'नगर' तालुका के शिलालेख में इसका उल्लेख है।

३. सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थसूत्र टीका)

यह श्री उमास्वामी रचित तत्त्वार्थसूत्र की संस्कृत टीकारूप ग्रन्थ है। तत्त्वार्थसूत्र की यह सर्व प्रथम टीका है। तत्पश्चात् श्री अकलंकदेव ने 'तत्त्वार्थ राजवार्तिक' और श्री विद्यानन्दि ने 'तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक' नामक टीकाएँ रची हैं। इन टीकाओं में सर्वार्थसिद्धि का अच्छा उपयोग किया गया है और उसका पर्याप्त मात्रा में अनुसरण किया गया है। सिद्धान्त ग्रन्थों में यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रमाणभूत गिना जाता है, और जैन समाज में इसका अच्छा मूल्यांकन किया जाता है।

४-५. समाधितन्त्र और इष्टोपदेश

ये दोनों आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं। समाधितन्त्र का अपर नाम समाधिशतक है। उसकी संस्कृत टीका श्री प्रभाचन्द्र ने की है और इष्टोपदेश की संस्कृत टीका पण्डित आशाधर ने की है। दोनों ग्रन्थ जैन समाज में सुप्रसिद्ध हैं।

समाधितन्त्र में आचार्यश्री ने कुन्दकुन्दाचार्य जैसे प्राचीन आचार्यों के आगम वाक्यों का सफलतापूर्वक अनुसरण किया है। तुलनात्मक दृष्टिवन्त को इस ग्रन्थ में मोक्षपाहुड़, समयसारादि ग्रन्थों की प्रतिध्वनि ज्ञात हुए बिना नहीं रहती।

शिलालेखों, उपलब्ध ग्रन्थों और ऐतिहासिक खोज से ज्ञात होता है कि पूज्यपादस्वामी एक सुप्रतिष्ठित जैन आचार्य, अद्वितीय वैयाकरण, महान दार्शनिक, धुरन्धर कवि, महान तपस्वी और युगप्रधान योगीन्द्र थे। उनके द्वारा महत्त्वपूर्ण विषयों पर लिखे ग्रन्थ उनकी अपार विद्वता के प्रतीक हैं।

उनके दिगन्तव्यापी यश और विद्वता से प्रभावित कर्नाटक के ई.स. ८, ९, १० वीं शताब्दी के प्रायः सभी विद्वान, कवियों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उनको बहुत भक्तिभावपूर्ण, श्रद्धाञ्जली समर्पित करके मुक्तकण्ठ से बहुत प्रशंसा की है।

इष्टोपदेश

श्री पूज्यपादस्वामी द्वारा विरचित 'इष्टोपदेश' नामक आध्यात्मिक ग्रन्थ, भेदज्ञान एवं आत्मानुभव के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

ग्रन्थ के नाम की सार्थकता - 'जिसके द्वारा सुख उत्पन्न हो और दुःख का विनाश हो, उस कार्य का नाम प्रयोजन है। उस प्रयोजन की सिद्धि जिससे हो, वही अपना इष्ट है। अब, इस अवसर में अपने को वीतराग विशेष ज्ञान का होना ही प्रयोजन है, क्योंकि उससे निराकुल सच्चे सुख की प्राप्ति होती है और सर्व आकुलतारूप दुःख का अभाव होता है।' (पण्डित टोडरमलजी, मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४)

पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला में कहा है कि —

**'आत्म को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिन कहिये ।
आकुलता शिवमांहि न तातैं, शिवमग लाग्यो चाहिए ॥'**

आत्मा का हित सुख है और वह सुख आकुलतारहित है। मोक्ष में आकुलता नहीं; इसलिए मोक्ष के मार्ग में—उसके उपाय में लगे रहना चाहिए।

मोक्ष और उसका उपाय - यह अपना इष्ट है। आचार्य ने उसका उपदेश यथावत् रूप से इस ग्रन्थ में किया है, इसलिए 'इष्टोपदेश' इस ग्रन्थ का सार्थक नाम है।

ग्रन्थ की उपयोगिता - आचार्यदेव ने इस ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक (५१) में कहा है कि — 'पूर्वोक्त प्रकार से 'इष्टोपदेश' का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करके, अच्छी तरह चिन्तन करके, जो भव्य धीमान् पुरुष, आत्मज्ञान के बल से मान-अपमान में समताभाव धारण करके तथा बाह्य पदार्थों में विपरीताभिनिवेश का त्याग करके नगर अथवा वन में विधिपूर्वक बसते हैं, वे उपमारहित मुक्तिलक्ष्मी को प्राप्त करते हैं।'

ग्रन्थ की विशेषता - यह आध्यात्मिक ग्रन्थ संक्षिप्त होने पर भी, आचार्यदेव ने इसमें 'गागर में सागर' भर दिया है। इसमें भेदविज्ञानपूर्वक शुद्धात्मा की उपलब्धि कैसे हो — इसका मार्ग-उपाय प्रतिपादित किया गया है — यह इसकी विशेषता है। साथ ही इस ग्रन्थ में सारभूत सन्दर्भों का भी निर्देश किया गया है —

१. उपादान, वस्तु की सहज निजशक्ति है और निमित्त तो संयोगरूप कारण है। कार्य अपने उपादान से ही होता है; उस समय उसके अनुकूल निमित्त होता ही है। उसको खोजने अथवा मिलाने की व्यग्रता की आवश्यकता ही नहीं होती है। (श्लोक-२)

२. शुद्धात्मा की प्राप्ति-अनुभव न हो, तब तक पाप से बचने के लिए हेयबुद्धि से पुण्यभाव आता है परन्तु वह भी बन्ध का कारण है - ऐसा समझना चाहिए। (श्लोक-३ तथा उसका भावार्थ)

३. मोक्ष के लिए प्रवृत्ति करनेवाले को स्वर्गसुख सहज प्राप्त होता है। (श्लोक-४)

४. संसारी जीवों के सुख-दुःख केवल वासनामात्र ही होते हैं। वे सुख-दुःखरूप भोग आपत्तिकाल में रोग के समान उद्वेगकारक हैं। (श्लोक-६) वस्तुतः कोई पदार्थ सुख-दुःखरूप नहीं है, परन्तु अज्ञानता के कारण उनमें इष्टानिष्ट की कल्पना करके जीव, राग-द्वेष करके सुख-दुःख का अनुभव करता है।

५. मोह से आच्छादित ज्ञान, निजस्वभाव को प्राप्त नहीं होता । (श्लोक-७)
६. शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि आत्मा से अन्य (भिन्न) स्वभाववाले हैं और आत्मा से प्रत्यक्ष भिन्न हैं तो भी मूढ़जीव उनको अपना मानकर उनमें आत्मबुद्धि करता है । (श्लोक-८)
७. मिथ्यात्वयुक्त राग-द्वेष, संसार-समुद्र में सुदीर्घकाल तक भ्रमण का कारण है । (श्लोक-११)
८. दावानल से प्रज्वलित वन के मध्य में वृक्ष पर बैठे मनुष्य की तरह मूढ़जीव नहीं विचारता कि अन्य की तरह स्वयं पर भी विपत्ति आ पड़ेगी । (श्लोक-१४)
९. ममतावान संसार में बँधता और ममतारहित छूटता है । (श्लोक-१६)
१०. ज्ञानी को मृत्यु का, रोग का, बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था का भय नहीं होता, क्योंकि वह इन सबको पौद्गलिक समझता है । (श्लोक-१९)
११. मैंने सर्व पुद्गलों को मोहवश अनेक बार भोग-भोगकर छोड़ा है, अब इन उच्छिष्ट पदार्थों में मुझे कोई स्पृहा नहीं है — ऐसा ज्ञानी विचारता है । (श्लोक-३०)
१२. वस्तुतः आत्मा ही आत्मा का गुरु है । (श्लोक-३४)
१३. जो अज्ञानी है, वह किसी से ज्ञानी नहीं हो सकता और जो ज्ञानी है, वह किसी से अज्ञानी नहीं हो सकता; गुरु आदि तो धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्र है । (श्लोक-३५)
१४. कार्य की उत्पत्ति स्वाभाविक गुण की (अपने उपादान की) अपेक्षा रखती है । (श्लोक-३५ की टीका)
१५. जैसे-जैसे आत्मानुभव होता जाता है, वैसे-वैसे सुलभ विषय भी नहीं रुचते और जैसे-जैसे विषयों के प्रति अरुचि होती है, वैसे-वैसे आत्मानुभव की परिणति वृद्धिगत होती जाती है । (श्लोक-३७-३८)
१६. ध्यान-परायण योगी को अपनी देह का भी भान नहीं होता । (श्लोक-४२)
१७. पर, पर ही है; उसका आश्रय करने से दुःख होता है । आत्मा, आत्मा ही है, उससे सुख है; इसलिए महात्मा, आत्मा के लिए ही उद्यमवन्त होते हैं । (श्लोक-४५)
१८. जो अज्ञानी, पुद्गल का अभिनन्दन करता है, उसका पीछा चार गति में पुद्गल कभी नहीं छोड़ता । (श्लोक-४६)
१९. अविद्या को दूर करनेवाली महान उत्कृष्ट ज्ञानज्योति है । मुमुक्षुओं को उसके सम्बन्ध में ही पूछताछ, उसी की वाँछा और उसी का अनुभव करना चाहिए । (श्लोक-४९)
२०. जीव अन्य और पुद्गल अन्य है — यह तत्त्व-कथन का सार है; अन्य जो कुछ कहा गया है, वह इसी का विस्तार है । (श्लोक-५०)

इष्टोपदेश प्रवचन :—

इस प्रकार इस छोटे से इष्टोपदेश ग्रन्थ में ग्रन्थकर्ता ने आत्मभावना और तत्त्वदृष्टि की मूलभूत शिक्षा सचोटरूप से प्रस्तुत करके महान उपकार किया है।

परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस काल में एक अद्वितीय योगावतार दिव्य पुरुष हुए हैं स्वयं के अजोड़ पुरुषार्थ द्वारा सत्य की खोज करके, आत्म साक्षात्कार करके अनन्त भव का छेद किया है। तदुपरान्त स्वयं की दिव्यदेशना द्वारा आपश्री ने अध्यात्म की पावन गंगा सम्पूर्ण भारतदेश एवं विदेशों में भी प्रवाहित की है। अनेक भव्य जीव इस पावन गंगा में स्नान करके अपने को धन्य अनुभव करते हैं। पूज्य गुरुदेवश्री के आत्मकल्याणकारी उपदेश को जीवन में अंगीकार करके मोक्षमार्ग में प्रयाण करने के लिए उद्यमवन्त हुए हैं। गाँव-गाँव में जिनमन्दिर और जिनबिम्बों की स्थापना करके पूज्य गुरुदेवश्री ने लुप्त प्रायः सनातन दिगम्बर जैनधर्म का उद्योत कर जिनशासन की विजय पताका फहरायी है।

पूज्य गुरुदेवश्री के जीवन में उनकी मुख्य प्रवृत्ति ज्ञान और ध्यान की रही है। उसमें आपश्री ने अनेक दिगम्बर जैनग्रन्थों का गहन अध्ययन करके उनके पावन मंगलकारी आशय को स्वयं की स्वानुभूतियुक्त वाणी से मुमुक्षु समाज को समझाया है। दिगम्बर आचार्यों के तीक्ष्ण वचनों का रहस्य उद्घाटित कर उनमें रहे हुए मर्म को प्रकाशित किया है। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों में जो अध्यात्म का पावन प्रवाह आता है, उसमें छोटे बालक से लेकर विद्वान हो तो उसे भी उसके योग्य पर्याप्त प्रमेय उपलब्ध रहता है। ऐसा आपश्री की वाणी का सातिशय योग था। **पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन** के शब्दों में कहें तो 'पूज्य गुरुदेवश्री को श्रुत की लब्धि थी। श्रुत का समुद्र उछला है।'

पूज्य गुरुदेवश्री के विराट व्यक्तित्व और बेजोड़ गुणों को कलम में उतारना, वह बालचेष्टावत् प्रयास है तथापि आपश्री का असीम उपकार हृदयगत होने से वह चेष्टा सहज हो जाती है। पूज्य गुरुदेवश्री ने स्वयं के प्रवचनों में अनेक शास्त्रों पर प्रवचन किये हैं, जिसमें यह लघुकाय ग्रन्थ इष्टोपदेश भी समाहित होता है। अध्यात्म से ओतप्रोत पुरुषार्थ प्रधान मुमुक्षु जीव को आत्महित के प्रति प्रेरित करते हैं और इसी भव में आत्मकल्याण कर लेने तथा आत्मानुभव कर लेने की सतत् प्रेरणा प्रत्येक प्रवचन में उपलब्ध होती है।

पूज्य गुरुदेवश्री के समस्त प्रवचन लिपिबद्ध कर अक्षरशः प्रकाशित करने की भावना के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ इष्टोपदेश प्रवचन भाग-१ प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्लोक २१ से २६ तक हुए २८ प्रवचनों का समावेश किया गया है। प्रवचन सम्पादन कार्य में जहाँ-जहाँ वाक्य रचना अधूरी लगती है, वहाँ कोष्ठक में वाक्य पूर्ण किया गया है। जहाँ शब्द बराबर सुनायी नहीं देते, वहाँ करके छोड़ दिया गया है। पूज्य गुरुदेवश्री के प्रवचनों का भाववाही प्रवाह यथावत् सुरक्षित रहे, तदर्थ पूर्ण सावधानी रखी गयी है। प्रस्तुत प्रवचनों को गुजराती भाषा में संकलित कर श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट द्वारा मिलान किया गया है एवं राजकोट दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट द्वारा इनका गुजराती प्रकाशन किया गया है।

हिन्दी भाषी आत्मार्थी मुमुक्षु समाज को इन प्रवचनों का लाभ प्राप्त हो सके, तदर्थ हिन्दी भाषा में इन प्रवचनों का अनुवाद और सी.डी. से मिलाने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) द्वारा किया गया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए दिनेश जैन शास्त्री, देशना कम्प्यूटर, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

सभी जीव आत्मानुभूतिप्रेरक इष्ट-उपदेश की प्राप्ति कर मोक्षमार्ग में प्रयाण करें, इसी भावना के साथ....

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी (संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्द्रभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रातःकाल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के हार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्रायः प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने

से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा ।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया । सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है । इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ । भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा । तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको निःशंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है । इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी । अतः अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया ।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया ।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अतः भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया । गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया । यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया ।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये । जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा

विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वी सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वी सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते

थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वी सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरू हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मोदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय,

आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :-

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणामन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तों ! तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तों !!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तों !!!



अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	दिनांक	गाथा नं.	पृष्ठ संख्या
०१	१५-३-१९६६	१, २	१
०२	१६-३-१९६६	२-४	२३
०३	१७-३-१९६६	४-६	४४
०४	१८-३-१९६६	६	६७
०५	१९-३-१९६६	६-७	८९
०६	२०-३-१९६६	७-८	१०९
०७	२१-३-१९६६	८-९	१२९
०८	२३-३-१९६६	९-१०	१५१
०९	२४-३-१९६६	११	१७४
१०	२५-३-१९६६	११	१९२
११	२६-३-१९६६	१२-१३	२१२
१२	२७-३-१९६६	१३-१५	२३५
१३	२८-३-१९६६	१५-१७	२५६
१४	२९-३-१९६६	१५-१७	२८१
१५	३०-३-१९६६	१७-१८	३०१
१६	३१-३-१९६६	१८-१९	३२०
१७	०१-४-१९६६	१९-२०	३४३
१८	०३-४-१९६६	२०-२१	३६५
१९	०४-४-१९६६	२१	३८६
२०	०६-४-१९६६	२१-२२	४०३
२१	०७-४-१९६६	२२	४२१
२२	०८-४-१९६६	२२	४३८
२३	०९-४-१९६६	२२-२३	४५५
२४	१०-४-१९६६	२३	४७४
२५	११-४-१९६६	२३-२४	४९४
२७	१४-४-१९६६	२४-२५	५१४
२८	१५-४-१९६६	२५-२६	५३१



नमः श्री सिद्धेभ्यः

इष्टोपदेश प्रवचन

(भाग - १)

श्रीमद् पूज्यपादस्वामी द्वारा रचित
इष्टोपदेश शास्त्र पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के शब्दशः धारावाहिक प्रवचन

उत्थानिका

टीकाकार का मंगलाचरण

परमात्मानमानम्य मुमुक्षुः स्वात्म-संविदे।

इष्टोपदेशमाचष्टे स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम्॥

जो जिस गुण को चाहनेवाला हुआ करता है, वह उस उस गुण सम्पन्न पुरुष विशेष को नमस्कार किया करता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है। परमात्मा के गुणों को चाहनेवाले ग्रन्थकार पूज्यपादस्वामी हैं, अतः सर्व प्रथम वे परमात्मा को नमस्कार करते हैं।

प्रवचन नं. १

गाथा १-२

मंगलवार, दिनाङ्क १५-०३-१९६६

फाल्गुन कृष्ण ९,

वीर संवत् २४९२

यह एक 'इष्टोपदेश' (शास्त्र) श्री 'पूज्यपादस्वामी' का रचित है। जिस पर टीका 'पण्डित आशाधर' ने की है। 'पूज्यपादस्वामी', 'कुन्दकुन्दाचार्य महाराज' के होने के बाद

‘समन्तभद्राचार्य’ दिगम्बर मुनि हुए; उनके बाद ये ‘पूज्यपादस्वामी’ हुए। बहुत प्रसिद्धि है। अन्दर आठ-दश बोल, बहुत बोल इसमें लिखे हैं। इसमें लिखा है – विदेहगमन। इसमें आता है, यह है न अन्दर ‘विदेहजिनदर्शनपूदगात्रः’ १०८, श्लोक है। श्रवणबेलगोला का शिलालेख है न? ‘पूज्यपादस्वामी’, जैसे कुन्दकुन्दाचार्य महाराज महाविदेहक्षेत्र में गये थे – यह बात तो प्रसिद्ध है, आठ दिन रहे थे और यहाँ आकर समयसार आदि शास्त्र बनाये। यह भी शिलालेख में लेख है।

देखो! श्रवणबेलगोला का लेख है ‘श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिर्जीयाद्विदेह-जिनदर्शनपूतगात्र’ जिनका शरीर पवित्र हुआ है, आत्मशरीर। विदेह में भगवान परमात्मा विराजमान हैं, वहाँ ये ‘पूज्यपादस्वामी’ दर्शन करने गये थे। उसमें अन्दर (लिखा है); इस कारण यह पुस्तक हाथ में रखते हैं। समझ में आया? इन भगवान ‘कुन्दकुन्दाचार्य’ के बाद ‘समन्तभद्राचार्य’ हुए और पश्चात् ‘पूज्यपादस्वामी’ हुए, जिन्होंने ‘सर्वार्थसिद्धि’ की टीका की है? ‘आगम...’ ‘सर्वार्थसिद्धि’ की टीका (यह) ‘उमास्वामी’ के तत्त्वार्थसूत्र की (टीका है।) बहुत समर्थ आचार्य पण्डित बाल ब्रह्मचारी थे और महा समर्थ आत्मज्ञान-ध्यान में दिगम्बर मुनि (थे।) दिगम्बर मुनि-सन्त तो महा धर्मधुरन्धर हुए हैं। उनमें यह एक ‘पूज्यपादस्वामी’ (हैं), इनके बनाये हुए अनेक ग्रन्थ हैं। समाधिशतक है, यह इष्टोपदेश है, अन्य भी हैं। यह ‘इष्ट उपदेश’ इसका नाम हैं (अर्थात्) आत्मा को हितकारी उपदेश। इष्ट अर्थात् प्रियकारी उपदेश। आत्मा का हित मोक्ष है न? वह मोक्ष कैसे हैं? – उसका इसमें इष्ट उपदेश है।

‘ॐ नमः सिद्धेभ्यः श्रीमत्पूज्यपादस्वामिविरचित इष्टोपदेश’ ‘श्रीपण्डित-आशाधरकृत संस्कृतटीका और भाषानुवाद सहित।’

टीकाकार का मंगलाचरण। पहला टीकाकार ‘आशाधर’ का मंगलाचरण है।

परमात्मानमानम्य मुमुक्षुः स्वात्म-संविदे।

इष्टोपदेशमाचष्टे स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम्।।

यह क्या कहते हैं? जो जिस गुण को चाहनेवाला हुआ करता है, वह उस उस गुण सम्पन्न पुरुष विशेष को नमस्कार किया करता है। जिस जीव को जो गुण चाहिए

है, वह उस गुण सम्पन्न पुरुष को नमस्कार करता है – ऐसा सामान्य सिद्धान्त और नियम है। कहो, ठीक है? जिसे जो गुण चाहिए; वह गुण जिसमें प्रगट हुए हैं, उन्हें ही नमस्कार करता है, क्योंकि उस गुण की प्राप्ति स्वयं को चाहिए है। ऐसा सामान्य सिद्धान्त, अर्थात् नियम है।

प्रत्येक में नियम है न? लक्ष्मीवाला देखो न! जिसके पास लक्ष्मी हो, उसे बहुत आदर देते हैं या नहीं? सेठ साहब... सेठ साहब कहते हैं। सब सेठ साहब समझने जैसे होते हैं, परन्तु पैसे का अर्थी हो....

मुमुक्षु : कहना तो चाहिए न!

उत्तर : कहना चाहिए, वह तो ममतावाला कहे। यह समयसार में (१७-१८ गाथा में आता है) – जो लक्ष्मी का अर्थी है, वह राजा की सेवा करता है; इसी प्रकार आत्मार्थी है, वह आत्मा की सेवा अथवा सत्समागम, ज्ञानी की सेवा करता है। कहो, समझ में आया? यह समयसार में (चौथी गाथा में) आया है – ‘श्रुत परिचित’ में आया है। जो ज्ञानी है, स्वयं उसकी सेवा अनन्त काल में कभी भी नहीं। अर्थात्? सेवा अर्थात् (ज्ञानी) जो कहते हैं, वह बात समझा नहीं; इसलिए उनकी वास्तविक सेवा ही नहीं की।

इसलिए यहाँ कहते हैं – जो जिस गुण को चाहता है, **चाहनेवाला हुआ करता है...** हिन्दी है न? वह उस उस गुणसम्पन्न.. वह उस गुण से सहित पुरुष, पुरुष विशेष ऐसा। उस गुणवाला जो पुरुष है, **उसे नमस्कार किया करता है..** उसे नमस्कार करता है। यह एक सामान्य नियम हुआ। **परमात्मा के गुणों को चाहनेवाले..** ‘पूज्यपादस्वामी’ महा दिगम्बर सन्त थे, भावलिंगी छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले (सन्त थे)। छठवें-सातवें गुणस्थान में रहनेवाले। वे परमात्मा के गुणों को चाहनेवाले ग्रन्थकार ‘पूज्यपादस्वामी’ मंगलाचरण में प्रथम मांगलिक में परमात्मा को नमस्कार करते हैं। समझ में आया? परमात्मा को याद करते हैं। ओहोहो...! प्रभु! मुझे मेरी शान्ति और पूर्ण आनन्द चाहिए है। पूर्ण आनन्द और शान्ति प्राप्त – ऐसे परमात्मा को ग्रन्थकार ‘पूज्यपादस्वामी’ सन्त-मुनि-महन्त हैं, वे नमस्कार करते हैं।

मूलग्रन्थकर्ता का मंगलाचरण। मांगलिक आचरण। मम अर्थात् पवित्रता। मंग

- पवित्रता को, ल अर्थात् लाती - प्राप्ति। अथवा मंग अर्थात् मम अर्थात् पाप और गल अर्थात् गाले - ऐसा जो मङ्गलाचरण, वह प्रथम यहाँ 'पूज्यपादस्वामी' कहते हैं।

मूलग्रन्थकर्ता का मंगलाचरण।

श्लोक - यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने॥१॥

अर्थ - जिसको सम्पूर्ण कर्मों के अभाव होने पर स्वयं ही स्वभाव की प्राप्ति हो गई है, उस सम्यक्ज्ञानरूप परमात्मा को नमस्कार हो।

विशदार्थ - जिसे आत्मा की परतन्त्रता (पराधीनता) के कारणभूत द्रव्य एवं भावरूप समस्त कर्मों के, सम्पूर्ण रत्नत्रयात्मक स्वरूप के द्वारा, सर्वथा नष्ट हो जाने से निर्मल निश्चल चैतन्यरूप स्वभाव (कथंचित् तादात्म्य परिणति) की प्राप्ति हो गई है, उस सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा को जो कि मुख्य एवं अप्रतिहत अतिशयवाला होने से समस्त सांसारिक प्राणियों से उत्कृष्ट है, नमस्कार हो॥१॥

गाथा - १ पर प्रवचन

श्लोक - यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने॥१॥

अर्थ - जिसको सम्पूर्ण कर्मों के अभाव होने पर.. भगवान परमात्मा, जिन्हें सम्पूर्ण कर्मों का अभाव हुआ है। स्वयं ही स्वभाव की प्राप्ति हो गई है,.. वजन यहाँ है। परमात्मा ने अपने पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव की प्राप्ति की है। समझ में आया ? स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा (प्राप्ति की है।) आत्मा अनन्त आनन्द आदि गुण सम्पन्न है। उसकी श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र - रत्नत्रयात्मक पुरुषार्थ (द्वारा प्राप्त किया)। परमात्मा हुए, वे भी आत्मा के रत्नत्रयात्मक पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त किया है - मोक्ष की प्राप्ति की है।

देखो! आचार्य पहला 'स्वयं' शब्द लिखते हैं। पुरुषार्थ के बिना आत्मा की मुक्ति

की प्राप्ति नहीं होती। परमात्मा ने अपने आत्मा में स्वसन्मुखता करके, पर से विमुखता करके, पूर्णानन्द की प्राप्तिरूप अनन्त केवलज्ञान आदि (को) प्राप्त हुए। इसलिए कर्म का अभाव.... शब्दार्थ भले पहला ऐसा लिया कि ऐसे स्वयं पुरुषार्थ की प्राप्ति से प्राप्त किया, (वहाँ) कर्म का अभाव हो गया। कहो, समझ में आया? पुरुषार्थ से होता है - ऐसा कहते हैं। कोई इसे दे देवे - ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : उस समय काल ऐसा था।

उत्तर : काल अर्थात् उसका पुरुषार्थ का काल। काल कहाँ देखना था? काल के सन्मुख देखना था? जिसे मोक्ष प्रिय है, जिसे अनन्त आनन्द प्रिय है; वह आनन्द की प्रियता काल के सन्मुख देखकर करता होगा? समझ में आया? अपना भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। उसके सन्मुख देखकर पुरुषार्थ करता है (तो) उसका काल पक गया है। समझ में आया? काल के सन्मुख देखे, उसे काल की प्रियता है। परन्तु किसके सामने देखना? काल अर्थात् क्या? और पर्याय अर्थात् क्या? उसके सन्मुख देखना है?

भगवान आत्मा - अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द प्रभु आत्मा...! कल दोपहर में तो बहुत कहा गया था, नियमसार! आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय शान्ति, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय दर्शन, अनन्त अतीन्द्रिय बल से भरपूर प्रभु है। उसके स्वभाव-पुरुषार्थ द्वारा स्वभाव की प्राप्ति परमात्मा ने की है। कहो, समझ में आया? कर्म टले- इसलिए यह प्राप्ति हुई - ऐसा नहीं है; पुरुषार्थ से की है। पुरुषार्थ रुचा, अन्दर आत्मा रुचा। ओहो...! जिसे अनादि काल से विकार प्रिय लगता था, अनादि काल से विकार प्रिय लगता था, (उसे) यह आत्मा प्रिय लगा, (इसका) पुरुषार्थ किया, तब केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। कहो, बसन्तलालजी! काल पके, तब होता होगा? यह काल इसमें आ जाता है। आज अभी दूसरे (श्लोक) में कहेंगे। समझ में आया?

स्वयं ही स्वभाव की प्राप्ति हो गई है,.. है न? शब्द संस्कृत में। 'स्वयं संपूर्ण-रत्नत्रयात्मनात्मना' लो! समझ में आया? 'स्वभावस्य निर्मलनिश्चलचिद्रूपस्य आप्तिलब्धिः' आप्तिलब्धि - लाभ-लब्धि। भगवान आत्मा शुद्धस्वभाव आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय रस का कन्द प्रभु, उसकी प्रीति-प्रियता में - श्रद्धा-ज्ञान और रमणता में जुड़े तो ये

परमात्मा केवलज्ञान को प्राप्त हुए। कहो, समझ में आया ? इसके अतिरिक्त केवलज्ञान को कोई परमात्मा प्राप्त नहीं हुए। यह अनन्त परमात्माओं की बात की है। अनन्त परमात्मा हुए, अभी हैं और भविष्य में इस विधि से ही मार्ग है, दूसरा कोई मार्ग नहीं। ओहोहो... !

यह इष्टोपदेश है। हितकारी उपदेश है, हितकारी। भगवान! भाई! तेरा हित तो परमानन्द है न! और परमानन्द की प्राप्ति प्रभु परमात्मा ने की, वह कहाँ से की ? कहाँ थी, वह की ? किसमें देखकर की ? क्या करके की ? समझ में आया ?

परमात्मा स्वयं ही शुद्ध आनन्दस्वरूप है। उसकी अन्तर की प्रियता की रुचि में जुड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य का आराधन करके परमात्मपने को प्राप्त हुए हैं। कहो, इसमें समझ में आया ? भाषा क्या है ? 'स्वभावस्य निर्मलनिश्चलचिद्रूपस्य आप्तिलब्धिः' समझ में आया ? 'संपूर्णरत्नत्रयात्मनात्मना' सम्पूर्ण रत्नत्रय आत्मा से प्राप्ति हुई।

उस सम्यक्ज्ञानरूप परमात्मा को.. जिन्हें केवलज्ञान, सम्यग्ज्ञान, पूर्ण प्रत्यक्ष प्राप्त हुआ है; जिन्हें आत्मा के आराधना से - भगवान आत्मादेव परमदेव का आराधन करके अन्तर में जिसने केवलज्ञान - एक समय में तीन काल-तीन लोक को जाने - ऐसे केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है - ऐसे परमात्मा को मेरा नमस्कार है।

कहते हैं - मैं उन्हें नमता हूँ। मेरा नमन, मेरा झुकाव, मेरा घोलन, मेरा विनय ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर के प्रति जाता है। समझ में आया ? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ, जिन्होंने आत्म-आराधना करके केवल(ज्ञान) प्राप्त किया, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ। आहाहा... ! लक्ष्य में केवलज्ञान लिया और केवलज्ञानी ने इस प्रकार से प्राप्ति की - ऐसी प्रतीति हुई है और स्वरूप की रमणता आचार्य करते हैं। मेरी तुलना में जिन्हें पूर्ण दशा प्राप्त हुई और मुझे वह चाहिए है; मुझे इतनी दशा में ही रहना है - ऐसा नहीं।

पूर्णदशा... पूर्णदशा... पूर्णदशा... केवलज्ञान, वह सम्यग्ज्ञान; केवलज्ञान, वह पूर्ण सम्यग्ज्ञान, उसकी प्राप्ति भगवान को हुई, उन्हें मेरा नमस्कार है। यह माङ्गलिक किया। यह, 'पूज्यपादस्वामी' सन्त, महन्त दिगम्बर महामुनि ने मङ्गलाचरण का यह माणिक स्तम्भ रोपा है।

यह तुम्हारे विवाह में करते हैं या नहीं ? क्या करे, वह लकड़ी डालते हैं या नहीं ?

माणिक कहाँ था ? वहाँ तो लकड़ी थी। उसका नाम माणिक देते हैं। माणिक नाम किसी को भी देते हैं। पत्थर को दे तो कौन इनकार करता है ? लकड़ियाँ हैं। चारों ओर ऐसे पाँखड़े (होते हैं), चार गति में भटकने के चार पाँखड़े होते हैं न उसमें ? डाला उसमें। रक्षासूत्र बाँधा है। रक्षासूत्र बाँधते हैं न ? क्या कहलाता है वह लाल ? रंगीन सूत की डोरी... रंगीन सूत की डोरी बाँधे और डाले। यह रक्षासूत्र, लो ! अब यह विवाह करना, चार गति में भटकने का।

इसी प्रकार यहाँ चार गति को टालने का माणिक स्तम्भ रखा है। समझ में आया ? हमारे तो परमात्मपद चाहिए, भाई ! आहा...हा... ! जिन्होंने भव का नाश किया, जिन्होंने पूर्णानन्द की प्राप्ति की; उन्हें हम नमन करते हैं, क्योंकि हमें परमात्मपद के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहिए। आहा...हा.. ! देखो ! स्वर्ग में नहीं चाहिए, पुण्य भी नहीं चाहिए, देह भी नहीं चाहिए, भव भी नहीं चाहिए; यह अपूर्ण दशा भी नहीं चाहिए। आहा...हा... ! समझ में आया ?

जिसे पूर्ण परमात्मा की तालबेली है - ऐसे जीव पूर्ण परमात्मा को ही नमस्कार करते हैं। वे फिर किस प्रकार ? कि जो आत्मा थे, उन्होंने रत्नत्रय का आराधन पर्याय में किया, तब वे सर्वज्ञपद को प्राप्त हुए। ऐसा कहकर वास्तविक तत्त्व की स्थिति भी बतलाई। समझ में आया ? अनादि के सिद्ध थे - ऐसा नहीं। उन्हें आत्मा का पद वस्तु अनादि की थी, अनन्त-अनन्त गुणसहित (थी)। उसका आराधना अन्तर (में) किया। देखो ! आराधन किया पर्याय से। इसलिए द्रव्य कहा, उसमें शक्ति अनन्त है, पर्याय से आराधन किया। पूर्ण पर्याय को प्राप्त किया अर्थात् मोक्ष किया। जीवतत्त्व हो गया, उसका गुण तत्त्व हो गया, संवर-निर्जरा आदि - सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-मोक्षतत्त्व हुआ। पूर्णतत्त्व-मोक्षतत्त्व। इतने तत्त्व इसमें समाहित कर दिये। अजीव और आस्रव तथा बन्ध का जिसमें अभाव किया कहा न ? **कृत्स्नकर्मणः अभावे**। अजीव का अभाव किया। अजीव था और आस्रव-बन्ध था, उसका अभाव किया। द्रव्यकर्म-भावकर्म अभी लेंगे, दोनों लेंगे। समझ में आया ? ओहो... ! देखो ! अब, (कहते हैं) -

विशदार्थ - जिसे आत्मा की परतन्त्रता के कारणभूत... (अर्थात्) निमित्तभूत, हों ! समझ में आया ? टीका में निमित्त (शब्द) है। है न ? निमित्त, अन्तिम शब्द पड़ा है।

आत्मपारतन्त्र्यनिमित्तस्य है न अन्तिम (शब्द) ? निमित्त है। परतन्त्र आत्मा अपने स्वभाव का भान न करे, वह स्वयं परतन्त्र होता है; तब उस परतन्त्रता में कर्म निमित्त है। कर्म उसे परतन्त्र कराता नहीं है। जिसे आत्मा की परतन्त्रता (पराधीनता)... भगवान् आत्मा अपने आनन्द शुद्धस्वभाव को भूलकर और राग-द्वेष विकार के आधीन होता है, वह स्वयं ही पराधीन अपने से स्वयं कर्ता होकर होता है; तब उसमें निमित्तकारण द्रव्यकर्म है, और वह भावकर्म भी कारण है। परतन्त्र होता है, उसमें वे राग-द्वेष निमित्त है न उसमें वे ? राग-द्वेष करे, उसमें वह आधीन हो जाता है। राग-द्वेष से उसमें आधीन होता है; इसलिए कर्म में आधीन स्वयं होता है - ऐसा व्यवहार से कहा जाता है।

द्रव्य एवं भावरूप समस्त कर्मों के,... देखो ! भावकर्म पहले से उठाया, देखा ? ज्ञान की हीनता की दशा, दर्शन की हीनता, वीर्य की हीनता और आनन्द, श्रद्धा व चारित्रगुण की विपरीतता। समझ में आया ? ऐसी जो दशा- वह पराधीन स्वयं ने की है, उसे भावकर्म कहा जाता है; भावघातिकर्म कहा जाता है। समझ में आया ? भगवान् आत्मा पूर्ण ज्ञानानन्द की हीनदशा की, वह भी एक भावघातिकर्म हुआ। भाव, भावकर्म। दर्शन का उपयोग हीन किया और वीर्य हीन किया, विपरीत किया, हीन किया तथा राग-द्वेष और मिथ्याभ्रान्ति, यह विपरीत (भाव) - यह आनन्द से उल्टा दुःख; यह दर्शन से उल्टी मिथ्याश्रद्धा और चारित्र-शान्ति से उल्टे राग-द्वेष परिणाम। ऐसे परिणाम के आधीन हुआ जीव, परतन्त्रता को प्राप्त हुआ है। पूरे आत्मा को वास्तव में तो विकार भी परतन्त्रता का निमित्त है। समझ में आया ?

अशुद्ध उपादान है न ? अशुद्ध उपादान कहो, व्यवहार कहो या निमित्त कहो। पूर्ण शुद्ध उपादान भगवान्, उसे विकार तो एक क्षणिक, निमित्त, वर्तमान, व्यवहारमात्र ही है। इतनी पराधीनता में उसे विकार और जड़कर्म को पराधीनता में निमित्त कहा गया है। आहाहा ! समझ में आया ?

भावरूप समस्त कर्मों के, सम्पूर्ण रत्नत्रयात्मक स्वरूप के द्वारा,.. देखो ! देखो ! स्पष्टीकरण किया। स्वयं है न ? सम्पूर्ण रत्नत्रयात्मक स्वरूप के द्वारा,.. भगवान् आत्मा को अन्तर में पूर्ण सम्यग्दर्शन क्षायिक, सम्पूर्ण ज्ञान और चारित्र, उसके स्वरूप के

द्वारा,.. उस द्वारा। देखो! उस द्वारा। सर्वथा नष्ट हो जाने से.. यह द्रव्यकर्म और भावकर्म सम्पूर्ण रत्नत्रयात्मक स्वरूप के द्वारा, सर्वथा नष्ट हो जाने से.. कहो, समझ में आया ? टीकाकार ने ऐसा लिया है। देखो! द्रव्यकर्म-भावकर्म – दोनों का नाश हुआ, तब उत्पन्न क्या हुआ ?

निर्मल निश्चल चैतन्यरूप स्वभाव की प्राप्ति हो गई है,.. भगवान परमात्मा को... ओ...हो... ! प्रवचनसार में नहीं लेते ? कि जिनका नाम लेना भी महा लाभदायक है। नहीं आता ? पहले शुरुआत में (गाथा १ से ५ में आता है)। आहा...हा... ! भगवान... ! समझ में आया ? प्रवचनसार है। वीर-वीर भगवान की व्याख्या है। वीर-वीर। देखो ! परम भट्टारक महादेवाधिदेव, परमेश्वर, परमपूज्य जिनका नाम ग्रहण भी अच्छा है.. आहा...हा... ! परमात्मा, ऐसे परमात्मा ! ऐसे। एक समय में पूर्ण आराधन करके, द्रव्यकर्म-भावकर्म का नाश किया – ऐसे परमात्मा हैं। कहते हैं कि उनके गुणस्मरण की तो बात क्या करना ! परन्तु नामग्रहण भी अच्छा है। ऐसे वर्धमान भगवान को हम नमस्कार करते हैं। प्रणाम करता हूँ – ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : नामकरण की बहुत महिमा है।

उत्तर : परन्तु नाम में आता है कौन ? स्मरण में आता है कौन ? यह परमात्मा। यह परमात्मा, ऐसा। यह परमात्मा – ऐसा आता है न ? भाव आये बिना नाम कहाँ से इसे बैठा अन्दर से ? यह परमात्मा। आहा...हा... ! समझ में आया ? यह तो बहुत थोड़े में भरा है न ? इसमें भी गागर में सागर कही। देखो ! सामने लिखा है। यह 'इष्टोपदेश' गागर में सागर है – ऐसा अन्दर लेखन में लिखा है। समझ में आया ? और (एक व्यक्ति ने) तो लिखा है कि इसे उपनिषद... वेदान्त में आता है न ? वेदान्त में उपनिषद आता है न ? अध्यात्म अर्थात् उपनिषद – ऐसा यह इष्टोपदेश उपदेशा है। वहाँ है, शब्द है जरूर।

इसमें है, देखो ! इसमें ही है, देखो ! इष्टोपदेश है न पीछे ? उसमें लिखा है, देखो ! इस ग्रन्थ को जैन उपदेश भी कहना चाहिए। यह अन्तिम। अन्त में है न ? एकदम अन्तिम पृष्ठ। 'इष्टोपदेश' शब्द का है न ! 'इष्टोपदेश' शब्द नहीं पड़ा ? ग्रन्थ है, उसके अन्दर में पाँचवीं लाईन – इस ग्रन्थ को जैन उपदेश भी कहना चाहिए। ऐसा है। संसार से दुःखित प्राणियों के लिये तो इसका उपदेश परम औषध है। यह आया था मुँह

के सामने में। इस ग्रन्थ के जिन बातों का वर्णन का प्रचार-प्रसार होने से जगदितल का बड़ा कल्याण होगा। देखो! समझ में आया? और कहीं, गागर में सागर भरी हो - ऐसा आता है। कहीं है। प्रस्तावना में है। कितने में? प्रस्तावना में। इसमें भी जिन उपदेश है (- ऐसा कहा है।) पहले शुरुआत में है। इसको यदि जिन उपदेश भी कहा जाता है.. कहाँ आया? यह यहाँ आया, देखो! सातवाँ पृष्ठ। आचार्यश्री ने गागर में सागर भरने की उक्ति को चरितार्थ किया है। यह छोटा सा ग्रन्थ है, जिसको कि पाठकगण अपने हाथ में लिये हुए हैं। यह हाथ में है या नहीं? आप लोग देखेंगे कि इसमें आचार्यश्री ने गागर में सागर भरने की उक्ति को चरितार्थ किया है। उक्ति है न यह तो? थोड़े में बहुत कुछ लिखा गया है। इसकी महत्ता, उपयोगितादि को देख पण्डितप्रवर आशाधरजी ने इस पर संस्कृत टीका लिखी जो कि उसमें सन्नद्ध है। वर्तमान में तो इसके मराठी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं। लो! समझ में आया? यह यही है न? यह तो दो जगह आ गया। कहो, समझ में आया?

कहते हैं, जिन परमात्मा ने अपने आत्मा के अनन्त गुणसम्पन्न परमेश्वर को सम्यक्चारित्र-दर्शन-ज्ञान की आराधना द्वारा जिन ने आठ कर्मों का नाश किया। द्रव्यकर्म और भावकर्म जो परतन्त्रता का निमित्त था, उसे नष्ट किया और निर्मल निश्चल चैतन्यरूप निर्मल निश्चल उत्पाद किया।

निर्मल निश्चल चैतन्यरूप केवलज्ञान स्वभाव की प्राप्ति हो गई है,.. यह कोष्टक में लिखा है, परन्तु टीका में तो स्पष्ट शब्द है। (कथंचित् तादात्म्य परिणति) की प्राप्ति हो गई है,.. कथंचित् अर्थात् कि कोई त्रिकाल नहीं, यह एक समय की पर्याय है न? एक समय की पर्याय मात्र तादात्म्य परिणति प्रगट हो गयी है। प्रति समय बदलती है न? गुण और आत्मा को तादात्म्यपना नित्य है। क्या कहा?

आत्मा और ज्ञान-दर्शन व आनन्द आदि गुण और आत्मा को तादात्म्यपना नित्य है और उनकी पर्याय को नित्य तादात्म्यपना नहीं है। एक समय की पर्याय, इसलिए कथंचित् तादात्म्य है; त्रिकाल तादात्म्य नहीं। समयमात्र तादात्म्य है। समझ में आया? तादात्म्य क्या है? और यह परिणति क्या? - ऐसा कहते हैं कि भगवान परमात्मा को एक

समय की पर्याय ऐसी प्राप्त हुई कि एक समयमात्र... किसी अपेक्षा से तादात्म्य अर्थात् एक समय मात्र अपेक्षा से तादात्म्य है ऐसा। दूसरे समय दूसरी; तीसरे समय तीसरी, ऐसा। समझ में आया ? वह का वही केवलज्ञान और आनन्द जो प्रगट हुए, वह दूसरे समय नहीं रहते। आहा...हा... !

ऐसे भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव या सर्वज्ञदेव परमात्मा को ऐसी दशा प्रगट हुई। देखो! कथंचित् कहकर भी आशाधरजी ने यह टीका बहुत सरस की है। वस्तु जो है, उसके साथ ज्ञान-दर्शन के भण्डार जो गुण हैं, वे तो त्रिकाल तादात्म्य हैं, त्रिकाल तादात्म्य हैं और उसका आराधन करके पर्याय प्रगट की, वह त्रिकाल तादात्म्य नहीं; एक समयमात्र तादात्म्य है। समझ में आया ? क्या कहा ? बसन्तलालजी, क्या कहा ? ठीक (ऐसा) नहीं, क्या कहा ?

मुमुक्षु : एक समय की अवस्था प्राप्त हुई।

उत्तर : एक समय की अवस्था प्राप्त हुई, वह एक समय रहती है, दो समय नहीं रहती, बदल जाती है, उसे कथंचित् तादात्म्य कहा जाता है। इसलिए उसे कथंचित् तादात्म्य (कहा है)। तादात्म्य सही, परन्तु कथंचित् - किसी अपेक्षा से तादात्म्य अर्थात् एक समय की अवस्था से तादात्म्य है। ऐसे सब त्रिकाल तादात्म्य जो गुण और द्रव्य है - ऐसे नहीं है। अद्भुत बात, भाई! समझ में आया ? भई! हमारे पण्डितजी ने पूछा था। अभी सबेरे जवाब मुश्किल से थोड़ा-थोड़ा दिया। मैंने तो वहाँ बात की थी कि यह पर्याय का तादात्म्य कहना चाहते हैं। एक समय की है न ? भाई! यह कहना चाहते हैं। त्रिकाली नहीं, मतलब ऐसा। तादात्म्य सही, परन्तु त्रिकाली तादात्म्य नहीं, एक समय का तादात्म्य है।

ऐसे परमात्मा को पहिचानकर, हे भगवान! आपको जो केवलज्ञान दर्शन आदि हुए, वे एक समय आपके साथ तद्रूप रहते हैं; दूसरे समय दूसरी दशा हो जाती है। ऐसे परमात्मा को, इसलिए देखो! यह अन्यमती यह परमेश्वर ठहराते हैं, उन्हें पर्याय बिना के ठहराते हैं। वह पर्याय पूर्ण, वापस पलटे नहीं - ऐसा ठहराते हैं। वे परमात्मा ही नहीं हैं - ऐसा कहते हैं। आहा...हा... !

जिनका आत्मा अनन्त गुण सम्पन्न है, उसके गुण अनन्त हैं, उसका आराधन

करके शक्ति में से व्यक्तता पर्यायरूप प्रगट की, वह पर्याय भी एक समय रहती है, फिर दूसरे समय दूसरी होती है। ऐसा परमात्मा का भी स्वरूप और रूप है। ऐसे परमात्मा को पहिचानकर नमस्कार किया है। जय भगवान परमात्मा, ऐसे (पहिचाने बिना) नहीं। समझ में आया ?

उस सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा को.. केवलज्ञान लेना है, हों! **संज्ञान** लेना है ? **संज्ञान** शब्द पड़ा है न ? **संज्ञानरूपाय** सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा। पूर्ण ज्ञान... ज्ञान, केवलज्ञान। तीन काल-तीन लोक एक समय में पूर्ण ज्ञात हों - ऐसे **संज्ञान**। **आत्मा को जो कि मुख्य एवं अप्रतिहत अतिशयवाला होने से..** मुख्य का अर्थ उत्कृष्ट है। 'मुख्य' शब्द अन्दर कहीं नहीं पड़ा। उत्कृष्ट है न ? 'उत्कृष्ट' शब्द है। 'उत्कृष्ट' है न ? **संसारीजीवैभ्य उत्कृष्ट आत्मा** - ऐसा शब्द पड़ा है।

जो आत्मा... कैसे हैं ? संसार से अलग उत्कृष्ट आत्मा हैं। पर्याय के परिणमन की अपेक्षा से। उत्कृष्ट अर्थात् मुख्य और **अप्रतिहत अतिशयवाला..** कहो, समझ में आया ? जो दशा प्रगटी, वह वापस गिरे - ऐसा नहीं है। वे कहते हैं न, भगवान होते हैं और फिर वापस जन्म धारण करते हैं, भक्तों के लिये अवतार धारण करते हैं, राक्षसों का नाश करने (आते हैं)- यह सब गप्प की बातें मिथ्या हैं; इसलिए यह शब्द प्रयोग किया है।

अप्रतिहत अतिशयवाला.. जिन्हें केवलज्ञान आदि आया ऐसा कि अप्रतिहत ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि प्रगट हुए हैं। होने से **समस्त सांसारिक प्राणियों से उत्कृष्ट है..** यह मुख्य करके उत्कृष्ट कहा है। आचार्य महाराज कहते हैं कि ऐसे भगवान को मैं, पहिचानकर, समझकर, परमात्मा की दशा प्राप्त कैसे हुई (- यह) जानकर; हुए भी पर्याय में एक समय रहते हैं - ऐसे जीव को पहिचानकर - मैं नमस्कार करता हूँ। मेरा नमस्कार अन्ध नहीं है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? **नमस्कार हो।** इसका दोहा किया है भाई ने। यह शीतलप्रसाद का है, हों!

दोहा - स्वयं कर्म सब नाश करि, प्रगटायो निजभाव।

परमातम सर्वज्ञ को, वंदो करि शुभ भाव॥१॥

'स्वयं स्वभावाप्तिः' इस पद को सुन शिष्य बोला - कि 'आत्मा को स्वयं ही

सम्यक्त्व आदिक अष्ट गुणों की अभिव्यक्तिरूप स्वरूप की उपलब्धि (प्राप्ति) कैसे (किस उपाय से) हो जाती है? क्योंकि स्व-स्वरूप की स्वयं प्राप्ति को सिद्ध करनेवाला कोई दृष्टान्त नहीं पाया जाता है, और बिना दृष्टान्त के उपरिलिखित कथन को कैसे ठीक माना जा सकता है? आचार्य इस विषय में समाधान करते हुए लिखते हैं कि -

दोहा - स्वयं कर्म सब नाश करि, प्रगटायो निजभाव।

परमात्म सर्वज्ञ को, वंदो करि शुभ भाव।।१।।

‘शीतलप्रसाद’ का है न यह? ‘शीतलप्रसाद’! मेरे तो सब इकट्ठा था। सात इकट्ठे किये... साहित्य है, साहित्य है, उसमें सब डाला है। ठीक है, उसमें क्या है, इकट्ठा करके लोगों को...

स्वयं कर्म सब नाश करि,.. यहाँ वजन यह है देखो! भगवान परमात्मा ने अपने स्वयं पुरुषार्थ द्वारा कर्म का नाश करके, जड़कर्म और भावकर्म - दोनों का स्वयं पुरुषार्थ द्वारा नाश करके। समझ में आया? प्रगटायो निजभाव.. द्रव्यकर्म-भावकर्म पर्याय का नाश किया। ‘प्रगटायो निजभाव’ निजभाव अर्थात् सर्वज्ञ परमात्मा। जिन्हें अपनी पूर्णदशा प्रगट हुई। परमात्म सर्वज्ञ को,.. ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर को, वंदो करि शुभभाव। शुभभाव से उन्हें मैं वन्दन करता हूँ। देखो! यहाँ शुभभाव रखा है, हों! पर को वन्दन का शुभभाव है; पर को वन्दन कहीं शुद्धभाव नहीं है। परमात्मा है, उन्हें वन्दन करे, वह शुभभाव है परन्तु कहते हैं कि ऐसा भाव धर्मात्मा को, पूर्ण परमात्मा की प्रीति है, (इसलिए) प्राप्त हुए को वन्दन का-नमस्कार का भाव आये बिना नहीं रहता। यह पहले श्लोक का अर्थ हुआ।

अब, ‘स्वयं स्वभावाप्तिः’ इस पद को सुन शिष्य बोला... शिष्य को प्रश्न हुआ। ‘स्वयं स्वभावाप्तिः’ ‘आत्मा को स्वयं ही सम्यक्त्व आदिक अष्ट गुणों की अभिव्यक्तिरूप स्वरूप की उपलब्धि (प्राप्ति) कैसे (किस उपाय से) हो जाती है?’ ‘स्वयं स्वभावाप्तिः’ शब्द पड़ा है न? पहले श्लोक में - ‘स्वयं स्वभावाप्तिः’ स्वयं हुई क्या? दूसरा साधन-बाधन कुछ चाहिए या नहीं? ऐसा। ‘स्वयं’ ‘आत्मा को स्वयं ही सम्यक्त्व आदिक अष्ट गुणों की...’ समकित, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य आदि आठ गुण हैं न? अव्याबाध, अमूर्तपना, अगुरुलघुपना आदि। अव्याबाध

– ऐसे आठ गुणों की अभिव्यक्ति अर्थात् प्रगटरूप। ये अभि अर्थात् प्रगटरूप। जो शक्ति में थे, उन्हें भगवान परमात्मा ने पुरुषार्थ द्वारा प्रगट किये। देखो! कितनी बात लेते हैं!

गुणों की अभिव्यक्तिरूप स्वरूप की उपलब्धि.. पर्याय में प्रगटरूप स्वरूप की प्राप्ति। अन्तर में थे, उन्हें शक्ति में से चित्त्वमत्कार में सभी गुण पड़े थे, उन्हें भगवान ने अभिव्यक्ति करके प्रगट किया, पर्याय में लाये। ऐसे गुणों को, शक्ति में थे, उन्हें वर्तमान पर्याय में लाये – पर्याय में प्रगट किये, पर्याय में अभिव्यक्ति करके प्रगट (किये।) समझ में आया? **ऐसा स्वरूप की प्राप्ति कैसे हो जाती है?** महाराज! यह ऋद्धि उन्हें किस प्रकार प्राप्त हुई? मूल तो दृष्टान्त चाहता है, हों! शिष्य, दृष्टान्त चाहता है, शिष्य दृष्टान्त चाहता है, हों! उसके लिये कोई दृष्टान्त है? कि भई! वस्तु थी और ऐसे प्राप्त होती है – ऐसा कोई दृष्टान्त है? ऐसा चाहता है मूल तो।

कहते हैं, किस उपाय से प्राप्त हो जाते हैं? **क्योंकि स्व-स्वरूप की स्वयं प्राप्ति को..** स्व-स्वरूप की स्वयं प्राप्ति को सिद्ध करनेवाला कोई दृष्टान्त नहीं पाया जाता है,.. ऐसा कहते हैं कि जिसे प्राप्ति हुई है, उसके लिये कोई दृष्टान्त होना चाहिए न? दृष्टान्त के बिना यह सिद्धान्त हमें किस प्रकार जमे? जो कोई प्राप्ति हुई है, वह इस प्रकार हुई है – इसका दृष्टान्त यहाँ होवे तो यह सिद्धान्त सिद्ध होगा न? समझ में आया? ऐसा बहुत जगह आता है। अमुक का दृष्टान्त नहीं, इसलिए वस्तु ऐसे नहीं; इसका दृष्टान्त बैठ सकता है, इसलिए यह वस्तु ऐसे है – ऐसा आता है, आता है। न्याय के ग्रन्थों में जहाँ चर्चा चले, वहाँ आता है न? इसका कोई दृष्टान्त ऐसा नहीं है कि तू सर्वज्ञ का निषेध कर सके। समझे न? इत्यादि। जहाँ जिस बात को सिद्ध करते हैं, वहाँ ऐसा आता है, हों! दृष्टान्त अन-उपलब्ध है और जो बातचीत की जाती है, उसका दृष्टान्त अनुपलब्ध है; इसलिए तेरा सिद्धान्त सत्य नहीं है।

यहाँ शिष्य पूछता है कि आप जो, सर्वज्ञ परमेश्वर परमात्मा ने पूर्णानन्द की प्राप्ति स्वयं पुरुषार्थ से की – ऐसा कहते हो तो उसका कोई दृष्टान्त है या नहीं? दृष्टान्त के बिना हमें यह बात किस प्रकार जमे? जिसका सिद्धान्त हो, उसका कोई व्यवहार / दृष्टान्त होगा या नहीं? – ऐसा कहते हैं।

कोई दृष्टान्त नहीं पाया जाता है, और बिना दृष्टान्त के उपरिलिखित कथन को कैसे ठीक माना जा सकता है? शिष्य कहता है, इसका कोई दृष्टान्त नहीं तो यह कथन कैसे ठीक माना जा सकता है? समझ में आया? आचार्य इस विषय में समाधान करते हुए लिखते हैं कि... लो! इसमें समाधान किया जाता है।

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता (यथा)।

द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता॥२॥

अर्थ - योग्य उपादान कारण के संयोग से जैसे पाषाणविशेष स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही सुद्रव्य सुक्षेत्र आदि रूप सामग्री के मिलने पर जीव भी चैतन्यस्वरूप आत्मा हो जाता है।

विशदार्थ - योग्य (कार्योत्पादनसमर्थ) उपादान कारण के मिलने से पाषाणविशेष जिसमें सुवर्णरूप परिणमने (होने) की योग्यता पाई जाती है, वह जैसे स्वर्ण बन जाता है, वैसे ही अच्छे (प्रकृत कार्य के लिए उपयोगी) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की सम्पूर्णता होने पर, जीव (संसारी आत्मा) निश्चल चैतन्यस्वरूप हो जाता है। दूसरे शब्दों में, संसारी प्राणी, जीवात्मा से परमात्मा बन जाता है।

दोहा - स्वर्ण पाषाण सुहेतु से, स्वयं कनक हो जाय।

सुद्रव्यादि चारों मिलें, आप शुद्धता थाय॥२॥

शंका - इस कथन को सुन शिष्य बोला कि भगवन्! यदि अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्री के मिलने से ही आत्मा स्व स्वरूप को प्राप्त कर लेता है, तब फिर व्रत समिति आदि का पालन करना निष्फल (निरर्थक) हो जायगा। व्रतों का परिपालन कर व्यर्थ में ही शरीर को कष्ट देने से क्या लाभ?

समाधान - आचार्य उत्तर देते हुए बोले - हे वत्स! जो तुमने यह शंका की है कि व्रतादिकों का परिपालन निरर्थक हो जायेगा, सो बात नहीं है, कारण कि वे व्रतादिक नवीन शुभ कर्मों के बंध के कारण होने से, तथा पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों के एकदेश क्षय के कारण होने से सफल एवं सार्थक हैं। इतना ही नहीं, किन्तु व्रत सम्बन्धी अनुरागलक्षणरूप

शुभोपयोग होने से पुण्य की उत्पत्ति होती है। और वह पुण्य स्वर्गादिक पदों की प्राप्ति के लिए निमित्त कारण होता है। इसलिये भी व्रतादिकों का आचरण सार्थक है। इसी बात को प्रगट करने के लिए आचार्य आगे का श्लोक कहते हैं - ॥२॥

गाथा - २ पर प्रवचन

योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता (यथा)।

द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता॥२॥

इसका श्लोक पीछे आता है। देखो! स्वर्ण पाषाण सुहेतु से, स्वयं कनक हो जाय। है न बंगडी? यह तो जरा सा दृष्टान्त सरल होने के लिये अन्तिम पढ़ते हैं। स्वर्ण पाषाण सुहेतु से, स्वयं कनक हो जाय। स्वर्ण पाषाण, हों! अन्ध पाषाण नहीं। जिसमें से स्वर्ण न निकले वह नहीं, जिसमें से सोना अलग पड़े ऐसा स्वर्ण पाषाण लिया है, भाई! जिसमें से पृथक् न पड़े ऐसा दृष्टान्त नहीं। योग्य उपादान लेना है न? स्वर्ण पाषाण सुहेतु से,... स्वर्ण पाषाण, जिसमें सोना भरा है, मिट्टी भी है परन्तु सुहेतु से,... अग्नि आदि के सुनिमित्त से स्वयं कनक हो जाय। फिर स्वयं ही उपादान से सोना होता है, भाई! ऐसा कहते हैं। आहाहा..!

यह सोना, जो ऐसी ताकत है वह स्वयं ही सोलहवान होते.. होते.. होते.. होते.. अपने आप सोलहवान हो जाता है। अग्नि निमित्त है, अग्नि कुछ करती नहीं, वह तो निमित्त है। सुहेतु - निमित्त कहा उसे परन्तु भाव हुआ उसे वह तो स्वयं भाव अन्दर अपना है सोना... यह तो अपने आता है न? पंचास्तिकाय में आता है, पंचास्तिकाय में आता है। स्वयं ही सोना (होता है) अग्नि निमित्त भले कहो तो भी सोना ही स्वयं ही उसके योग्य होने के लिये ऐसे शुद्ध होते... होते.. होते... होते... क्या कहलाता है? सोट... क्या कहलाता है तुम्हारे? सौ टंच का। स्वयं ही उसकी योग्यता से होता है। अभव्य में कहाँ योग्यता थी? अन्ध पाषाण में कहाँ योग्यता है? समझ में आया?

यह गिरनार में पत्थर में सोना है। गिरनार में पत्थर है न? (उसमें) सोना है परन्तु

वह सौ रुपये खर्च करे तब साठ रुपये निकलें। समझ में आया ? किया था पहले, मशीन के सब प्रयोग कर लिये थे, देखा था न ! हम गये थे, तब कहा यहाँ सोना लगता है, हमारे साथ एक सेठ था लालचन्द सेठ, लीमड़ी (का) नगर सेठ लालचन्द सेठ। अपने लालचन्द सेठ लीमड़ी संघवी... संघवी, नवलखा वहाँ वे थे न ? साथ में थे न ? कहा - सेठ ! ये क्या दिखता है ? कहा, इसमें सोना लगता है। सोना है परन्तु नहीं निकलता हो तब किसी ने कहा कि यहाँ अंग्रेज लोग और कुछ ऐसे लोगों ने मशीन चलायी, सौ रुपये खर्च करे तो साठ रुपये निकलते हैं, वह कौन निकाले इसे ? लाख खर्च करे, तब साठ हजार का सोना निकले। यह तो परन्तु इसमें तो निकले ही सही इतना तो, परन्तु अकेला अंध पाषाण होवे उसमें से कुछ जरा भी नहीं निकलता।

यहाँ तो कहते हैं कि स्वर्ण पाषाण। जिसमें से सोना ऐसा तत्काल निकले, अन्दर ऐसी उसकी सोने की स्वयं की ताकत। **स्वयं कनक हो जाय।** सोना स्वयं परिणमते... परिणमते... परिणमते... परिणमते... सौ टंच का स्वयं हो जाता है। ऐसे **सुद्रव्यादि चारों मिलें,..** भगवान आत्मा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपनी योग्यता का भाव आदि मिले अर्थात् द्रव्य की योग्यता, क्षेत्र की योग्यता, काल की योग्यता और भाव की (योग्यता)। **चारों मिलें, आप शुद्धता थाय।** कहो, समझ में आया ? भगवान आत्मा ही स्वयं के पुरुषार्थ से शुद्ध उपादान से अपनी शुद्धता को प्राप्त करता है। यह सोने के दृष्टान्त से... शिष्य ने पूछा था कि दृष्टान्त है ऐसा कि जिसके साथ यह लागू पड़े ? कि हाँ; स्वर्ण पाषाण का दृष्टान्त है। कहो, समझ में आया ? देखो ! अर्थ तीसरे पृष्ठ पर है न ?

योग्य उपादान.. देखो ! योग्य उपादान शब्द प्रयोग किया है। यह समय-समय पर्याय प्रगट होने की योग्य उपादान शक्ति इसकी स्वयं की है। उपादान तो त्रिकाल अलग है, भाई ! यह तो वर्तमान योग्य उपादान, ऐसा। उसकी वर्तमान सोने की सोनेरूप प्रगट होने की प्रतिसमय उसकी योग्य उपादान ताकत है, उससे सोना ऐसा प्रगट हो जाता है। समझ में आया ? आहाहा... ! **योग्य उपादान कारण के संयोग से..** यह कारण लिया न इन्होंने ! आहाहा... !

जैसे पाषाणविशेष स्वर्ण बन जाता है,.. पाषाण विशेष अर्थात् सोने का

पाषाण। अकेला पत्थर कुछ नहीं, ऐसा। विशेष पाषाण अर्थात् स्वर्ण पाषाण। वह स्वर्ण पाषाण उस स्वर्ण में ही अपनी योग्यता से सोलह आने परिणमते... परिणमते... परिणमते... परिणमते... दो, तीन, चार (करते-करते) सोलह आने हो जाता है। तब बाह्य चीज को निमित्त कहा जाता है। अग्नि आदि को निमित्त कहते हैं। अग्नि से होता होवे तो पत्थर को नहीं कर दे? - ऐसा कहते हैं। सोना यदि अग्नि से सोलहवान होता हो तो अन्ध पाषाण - पत्थर को अथवा पत्थर को (अग्नि दे और) सोना हो जाये। धूल में से होवे। कहो, बसन्तलालजी!

इसी प्रकार आत्मा में जिसकी योग्य उपादान शक्ति श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र योग्य समय-समय की प्रगट होने की स्वयं की शुद्धता की योग्यता है। वह स्वयं की शुद्धता से पूर्ण शुद्धता को पाता है। सोने का दृष्टान्त। कहो, समझ में आया?

देखो! यह इष्टोपदेश। क्या (है)? यह इष्टोपदेश (अर्थात्) यह हितकारी उपदेश। सोना उसके योग्य उपादान से... निमित्त भले हो, परन्तु अपनी योग्यता के भाव के उपादान से,... द्रव्य ऐसा और भाव की योग्यता के भाव से वह शुद्ध स्वर्णपने को पाता है।

वैसे ही... यह दृष्टान्त हुआ। सुद्रव्य सुक्षेत्र आदि रूप सामग्री के मिलने पर... अर्थात् अपना भाव और बाहर में द्रव्य... आदि संहनन, क्षेत्र आदि... काल आदि उत्सर्पिणी आदि जो हो वह, भाव अपना। समझ में आया? सुद्रव्य सुक्षेत्र आदि रूप सामग्री के मिलने पर... दूसरे निमित्त हैं, परन्तु भाव स्वयं का है। जीव भी चैतन्यस्वरूप आत्मा हो जाता है। भगवान चैतन्यस्वरूप आत्मा, अल्पज्ञरूप-राग आदिरूप जो है, वह चैतन्यस्वरूप आत्मा अपने अन्तर शुद्ध उपादान से... बाह्य में भले निमित्त हो। समझ में आता है?

मुमुक्षु : प्राप्त होने पर ऐसा लिखा है।

उत्तर : हाँ, भले प्राप्त होने पर, मिलने पर - ऐसा कहा।

मुमुक्षु : न मिले तो नहीं होता।

उत्तर : नहीं, ऐसा नहीं। प्राप्त होने पर, मिलता ही है, पर कहाँ लिया है इसमें? ऐई...! पर कहाँ है इसमें? सामग्री के मिलने पर... प्राप्त होने पर अर्थात् मिलने से। शीतलप्रसाद ने दो अर्थ किये हैं। एक बाह्य द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और एक अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव - ऐसे दो अर्थ किये हैं, शीतलप्रसाद ने।

अपने द्रव्य की भी ऐसी योग्यता हुई है, अपने प्रदेश की योग्यता हुई है। निमित्त के चार (बोल) और यहाँ के चार बोल हैं ऐसा लिया है। यह तो यहाँ ऐसा उपादान हो, तब ऐसे चार निमित्त होते ही हैं।

स्वयं को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्राप्त करने की योग्यता हो, वहाँ ऐसे बाह्य निमित्त, उसके योग्य निमित्त होते हैं। इसी प्रकार केवलज्ञान-केवलदर्शन को प्राप्त करने की योग्यता हो तो संहनन, मनुष्य देह आदि निमित्त होते ही हैं। प्राप्त होने पर क्या, होता ही हैं। भाषा व्यवहार से क्या समझावे? समझ में आया? ऐसा तो कहते हैं न? **योग्य उपादान कारण के संयोग से..** वहाँ भी संयोग लिया। योग्य उपादान... ऐई..! योग्य उपादान संयोग, वह संयोग है न? उसकी पर्याय कारण है न? द्रव्य-गुण तो त्रिकाली है परन्तु पर्याय का वह संयोग है न? सम्बन्ध हुआ न इतना नया? समझ में आया? संयोग आता है या नहीं? ऐई..! कहाँ आता है?

मुमुक्षु : गुण और द्रव्य।

उत्तर : वह तो ठीक, यह तो पर्याय का संयोग। 'संयोग-वियोग' शब्द कहीं आता है न? प्रवचनसार में। पर्याय की प्राप्ति तो संयोग, उसको वियोग। संयोग-वियोग एक जगह आता है। पूर्व की पर्याय का वियोग, पर्याय की प्राप्ति संयोग - ऐसा आता है। कहाँ आता होगा क्या पता पड़े? उसमें - ज्ञेय अधिकार में निचली लाईन में है। समझ में आया? अभी याद (नहीं) आता। कहाँ कौन सी जगह हो? बड़ा समुद्र खोजने जाये? प्रवचनसार में कहीं है।

आत्मा में निर्मल पर्याय की प्राप्ति को संयोग कहते हैं और मलिन पर्याय के वियोग को वियोग कहते हैं। नाश को वियोग कहते हैं - ऐसा आता है। समझ में आया? देखना अब कहीं रात्रि में यह रखो तो सही। नीचे है, नीचे कहीं है। संयोग सम्बन्ध या (ऐसा कुछ है)। समझ में आया इसमें? भगवान आत्मा द्रव्य से अनन्त गुण का पिण्ड है, उसका एकाकार हो, तब नयी पर्याय का उसे संयोग होता है। संयोग हुआ न? (निर्मल पर्याय) नहीं थी और हुई न? ऐसा। नहीं थी और हुई, इसलिए सम्बन्ध, ऐसा। नहीं थी और हुई न? द्रव्य और गुण त्रिकाल है। उनकी एकाग्रता करने पर, नहीं थी और हुई, इसलिए उसे

(निर्मल पर्याय को) संयोग कहने में आता है। इसी प्रकार जो पूर्व की थी, उसका व्यय हुआ, उसे वियोग कहने में आता है। कहीं है, है अवश्य मस्तिष्क में। एक बार कहा था। कहो, समझ में आया इसमें ? आहाहा... !

स्वयं भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त गुण का पिण्ड प्रभु, उसकी अन्तर एकाग्रता करने पर जो नयी दशा हो, उसे योग्य उपादान का संयोग-उपादान कारण का संयोग कहने में आता है। समझ में आया कुछ ? समझ में आया ? इसी प्रकार भगवान आत्मा... जैसे सोने को भी वह समय-समय की नयी पर्याय जो प्राप्त होती है, सोने में सोने की, वह भी उसे पर्याय का संयोग कहलाता है। उपादानकारण का संयोग (कहलाता है) समझ में आया ? इसी प्रकार भगवान आत्मा में... यह तो सब बातें ऐसी ! यह इष्टोपदेश है, यह हितकारी उपदेश है। पूज्यपादस्वामी के मुख में से निकली हुई वाणी है। महामुनि सन्त, दिगम्बर मुनि थे, महा एकावतारी एकाध भव करके मुक्ति... मुक्ति... मुक्ति... मुक्ति... इन्हें हथेली में केवलज्ञान पड़ता ! पंचम काल में भव हो गया, क्या करे ? कहो समझ में आया ?

भगवान आत्मा... जैसे सोना प्रति समय अपनी उपादान त्रिकाली शक्ति तो है परन्तु पर्याय की योग्यता... पर्याय की योग्यता की बात है न ? प्रगट होने की योग्यता कहलाती है न ? वह (द्रव्य) तो सबमें पड़ा है, वह अभव्य में भी सब पड़ा है। किस काम का ? नियमसार में आता है, नहीं ? मेरुपर्वत के नीचे सोना पड़ा है। किस काम का ? व्यवहार के योग्य नहीं। नियमसार (गाथा 110) में आता है - मेरुपर्वत के नीचे सोना पड़ा है। कितना ? अरबों मण, कितने मण का कहाँ पार है ? किस काम का ? - इसी प्रकार जिसकी पर्याय में प्रगट न हो, वह गुण किस काम का ? ऐसा कहते हैं। आहाहा... !

भगवान आत्मा अनन्त गुण का धाम प्रभु पवित्र, वह पर्याय में प्रगट न हो तो वह गुण किस काम का ? वह गुण ही कहाँ है ? कहते हैं। वह गुण ही नहीं है। आहाहा... ! समझ में आया ? लो ! पाषाण विशेष स्वर्ण बन जाता है,.. यहाँ तो 'संयोग' शब्द आया न, इसलिए। समझ में आया ? वहाँ भी कहा - उपादान कारण प्राप्त होने से। नीचे (अर्थ) करेंगे। वैसे ही सुद्रव्य सुक्षेत्र आदि रूप सामग्री के मिलने पर.. सामग्री मिलने पर, उस प्रकार की पर्याय की भाव की सामग्री मिलती है न अन्दर ? द्रव्य आदि निमित्त है।

उसकी भाव की सामग्री है न? शुद्ध उपादान पर्याय.. ओहोहो! कारण है, पर्याय है, समझ में आया?

जीव भी चैतन्यस्वरूप... देखो! नीचे रागरूप, परिणमनरूप, विकाररूप, अल्पज्ञरूप था; वह चैतन्यस्वरूप आत्मा नहीं हुआ था। अल्पज्ञ-पर्याय, अल्पज्ञ-दर्शन, अल्प वीर्य और राग-द्वेष परिणमन, वह चैतन्यस्वरूप आत्मा नहीं। चैतन्यस्वरूप भगवान् अन्तर के उपादान के कारण के योग से चैतन्यस्वरूप आत्मा हो गया। अकेला चैतन्यज्ञान, दर्शन, आनन्द ऐसा कहो या पूर्ण आत्मा, उसे चैतन्यस्वरूप आत्मा कहने में आता है। वह अपने उपादानकारण से हो गया है। निमित्त है, निमित्त से किसने इनकार किया? समझ में आया? आहाहा! वे (दूसरे) कहते हैं निमित्त से होता है।

मुमुक्षु : निमित्त का असर तो होता है न!

उत्तर : असर-फसर कैसी? असर कहाँ होता है? स्पर्श नहीं करता न।

यहाँ तो कहते हैं अपने सुद्रव्य क्षेत्र आदिरूप... इसमें भाव आ गया या नहीं अन्दर? भाव की सामग्री प्राप्त होने पर। निज पुरुषार्थ की जागृति के भाव की सामग्री मिलने से जीव भी चैतन्यस्वरूप आत्मा हो जाता है। नहीं तो क्या जड़स्वरूप था? परन्तु पर्याय में साधारण था, उसे क्या आत्मा कहें? ऐसा चैतन्य झलक उठे पूरा। केवलज्ञान, अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द, पूर्ण वीर्य और अनन्त दर्शन, वह चैतन्यस्वरूप आत्मा है। आहाहा! समझ में आया? यह चैतन्यस्वरूप आत्मा। अल्पज्ञ, अल्प दर्शन, अल्प वीर्य, वह चैतन्यस्वरूप आत्मा है? नहीं हीन आत्मा, व्यवहारी आत्मा साधारण है। निश्चयस्वभाव भगवान् अपने शुद्ध उपादान की अन्दर की जागृति से पूर्ण चैतन्यस्वरूप व्यक्त / अभिव्यक्ति / प्रगटता हो गयी। समझ में आया? ऐसे परमात्मा को सोने का दृष्टान्त लागू पड़ता है। सोने का दृष्टान्त लागू पड़ता है, नहीं लागू पड़ता - ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ठीक दृष्टान्त देते हैं।

उत्तर : हाँ, दृष्टान्त भी ठीक बैठे, तब इसे सिद्धान्त सिद्ध हो न! (नहीं तो) किस प्रकार सिद्ध हो?

विशदार्थ - योग्य (कार्योत्पादनसमर्थ)... देखा! कार्योत्पादनसमर्थ। अकेला

कार्य हो, और अन्दर उपादान ध्रुव, ध्रुव उपादान, भाई! ऐसी यहाँ बात नहीं है। ऐई..! यहाँ तो कार्योत्पादनसमर्थ वर्तमान पर्याय है। देखो! भाषा ऐसी कहते हैं। आहाहा...! आत्मा में वर्तमान दशा में मोक्ष का कार्य उत्पन्न और वर्तमान सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—ऐसी कार्य उपादान की शक्ति प्रगट होने की योग्यता है, उसे कार्योत्पादनसमर्थ कहते हैं।

(कार्योत्पादनसमर्थ) उपादान कारण के मिलने से.. अपना उपादान कारण मिलने से। पाषाणविशेष.. वह सोने का दृष्टान्त (दिया था वह)। सोना सोलहवान होने की योग्यता से कार्योत्पादनसमर्थ से उसमें पर्याय होती है, सोने में, हों! पाषाणविशेष जिसमें सुवर्णरूप परिणमने (होने) की योग्यता पाई जाती है.. स्वर्णपना होने की - परिणमने की योग्यता वर्तमान पर्याय में होती है, ऐसा। वह जैसे स्वर्ण बन जाता है,.. जैसे वह सोना बन जाता है।

वैसे ही अच्छे (प्रकृत कार्य के लिए उपयोगी).. अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। उसमें भाव अपना। समझ में आता है न? क्षेत्र भी असंख्यप्रदेशी अपना; द्रव्य स्वयं; काल स्वयं की समय की पर्याय। समझ में आया? और निमित्त में लो तो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी ऐसे निमित्त में होते हैं।

(प्रकृत कार्य के लिए उपयोगी)... अपने मोक्षमार्ग के कार्य के लिये अथवा मोक्ष के कार्य के लिए द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की... द्रव्य आदि व्रजनाराचसंहनन भी होता है, द्रव्य अपनी योग्यतावाला होता है, बाहर क्षेत्र जैसा हो, अन्दर असंख्य प्रदेशी क्षेत्र में भी वे ऐसी योग्यता है, बाहर काल ऐसा अवसर्पिणी आदि हो, महाविदेह में मोक्ष जाने का कहते हैं न? अन्दर की काल की समय की योग्यता ऐसी होती है। बाहर के भावों का निमित्त भी अनुकूल होता है, अन्दर में भाव का अनुकूल होता है।

सम्पूर्णता होने पर जीव (संसारी आत्मा) निश्चल चैतन्यस्वरूप हो जाता है। निश्चल अर्थात् फिरे नहीं ऐसी चैतन्यदशा - सर्वज्ञपरमात्मा हो जाता है। समझ में आया? दूसरे शब्दों में, संसारी प्राणी जीवात्मा से परमात्मा बन जाता है। वह शब्द पड़ा अवश्य है न? चैतन्यस्वरूप आत्मा हो जाता है... चैतन्यस्वरूप आत्मा ऐसा कहा न? इसलिए, समझ में आया? 'आत्मनो जीवस्य भावो निर्मलनिश्चलचैतन्यं।

...द्रव्यादिस्वादिसंपत्तौ द्रव्यमन्वयिभावः आदि येषां क्षेत्रकालभावानां...' ऐसा लिया, देखा? 'द्रव्यमन्वयिभावः' ऐसा है न अन्दर? 'स्वाद् यश्च सुशब्दः स्वशब्दो वा आदियेषां ते स्वादयो द्रव्यदश्च स्वादयश्च। इच्छातो विशेषणविशेष्यभाव इति समाप्तः। सुद्रव्यं, सुक्षेत्रं, सुकालः सुभाव इत्यर्थः। ...प्रशंसार्थः...' प्रशंसा को प्राप्त ऐसा प्रकृत कार्यरूपी पर्याय और निमित्त, उनकी प्राप्ति होने से भगवान् आत्मा जीवात्मा से परमात्मा बन जाता है। संसारी प्राणी है, उस पर्याय का नाश करके परमात्मा होता है। वह अपने पुरुषार्थ से होता है। दूसरी गाथा....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २

गाथा २-४

बुधवार, दिनाङ्क १६-०३-१९६६

फाल्गुन कृष्ण १०,

वीर संवत् २४९२

(इष्टोपदेश) पूज्यपादस्वामी कृत है। इसका दूसरा श्लोक चला है। दूसरे श्लोक में अन्तिम शब्द देखो।

दोहा - स्वर्ण पाषाण सुहेतु से, स्वयं कनक हो जाय।
सुद्रव्यादि चारों मिलें, आप शुद्धता थाय॥२॥

यह शब्द यहाँ है। कुन्दकुन्दाचार्य के अष्टपाहुड़ में मोक्षपाहुड़ की २४ गाथा में है।

अइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ जह तह य।
कालाईलद्धीए अप्पा परमप्पओ हवदि॥२४॥

(गाथा) २४ मोक्षपाहुड़। जैसे सुवर्ण पाषाण - सोने का पाषाण, सुवर्ण पाषाण, हों! पत्थर। जैसे सुवर्ण पाषाण सोधने की सामग्री के सम्बन्ध से... उसे साफ करने की सामग्री के योग से सोना शुद्ध सुवर्ण हो जाता है, वैसे काल आदि लब्धि... यह एक शब्द यहाँ अधिक पड़ा है। इस शुद्ध द्रव्य आदि में काल आ जाता है। काल आदि लब्धि जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावरूप सामग्री की प्राप्ति से, यह आत्मा कर्म के संयोग से अशुद्ध है, वही परमात्मा हो जाता है। देखो! इसमें भी सामग्री आयी थी। आयी थी न?

योग्य उपादानकारण के, संयोग से... देखो! योग्य उपादानकारण के, संयोग से... उसमें तो बहुत अर्थ निकले। नहीं? कल कहा था न? फिर पंचास्तिकाय में से निकला।

योग्य उपादानकारण का संयोग। संयोग के तीन प्रकार हैं। आत्मा में परद्रव्य का संयोग; उसे भी एक संयोग कहते हैं। एक, आत्मा में होते पुण्य-पाप के भाव; उन्हें भी संयोगीभाव कहा जाता है। समझ में आया? और एक, जैसे यह सोना अपनी शुद्धता को प्राप्त करता है; इस शुद्धता की पर्याय को प्राप्त हो, वह भी उस सामग्री से; यह योग निर्मल पर्याय का सोने को सम्बन्ध होता है, वह संयोग होता है। सोने को निर्मलपर्याय प्रगट हो, वह भी सोने को एक संयोग सम्बन्ध, सामग्री होता है। वह भी संयोग कहा जाता है। समझ में आया?

इसी प्रकार आत्मा को शुद्धस्वरूप अन्तर्मुख आनन्दकन्द की दृष्टि करने पर जो निर्मल पर्याय का प्रगट होना होता है, उसे भी संयोग कहा जाता है। समझ में आया? इस वस्तु में चैतन्य द्रव्य की जो शुद्धता है उसकी पर्याय की, निर्मल पर्याय की प्राप्ति हुई, उसे भी सम्पर्क हुआ, सम्बन्ध हुआ, संयोग हुआ - ऐसा कहा जाता है। समझ में आया?

संयोग के तीन अर्थ हुए — (1) आत्मा को कर्म जड़ का सम्बन्ध, वह संयोग - यह परद्रव्य के सम्बन्ध की अपेक्षा से बात है। (2) आत्मा में अनन्त आनन्द आदि गुणस्वरूप है, उनकी पर्याय में विकृत-विकारीभाव, शुभ-अशुभभाव (होता है), वह संयोगीभाव है, वह बन्ध का कारण है। संयोगी चीज, वह एक निमित्त है, वह कोई बन्ध का कारण या कुछ है नहीं; और (3) यह संयोगी निर्मल पर्याय (हो), आत्मा शुद्ध चैतन्य अखण्ड आनन्द की दृष्टि करने पर निर्मल अवस्था हो, वह उतना सम्बन्ध हुआ; वह मोक्ष का कारण है। समझ में आया? यह संयोगी चीज कोई कारण नहीं; संयोगीभाव बन्ध का कारण है और यह संयोग पर्याय (निर्मल पर्याय) मोक्ष का कारण है। ऐसे स्वयं मोक्ष का कारण है। समझ में आया? यह सामग्री ही स्वयं मोक्ष का कारण है।

मोक्षपाहुड़ है न? कहा न? आइसोहणजोएणं सुद्धं हेमं हवेइ। यहाँ शब्द यह पड़ा है। देखो! सुद्धं सुवर्ण-सोना जैसे शुद्धपने को प्राप्त होता है। अग्नि का तो निमित्त है। समझ में आया? शुद्धपने को प्राप्त होता है, सोना शुद्धता को (प्राप्त) होता है, ऐसा। कालाईलद्धीए

अप्या परमप्यओ हवदि इसी तरह आत्मा स्वयं अन्तर काललब्धि, भावलब्धि, शुद्धपर्याय की सामग्री, शुद्धस्वभाव की-भाव की (सामग्री), द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-निमित्त सामग्री, इसके कारण आत्मा स्वयं अपने शुद्धस्वभाव के आश्रय से शुद्धपर्याय की प्राप्ति करता हुआ मुक्ति को पाता है। कहो, समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : पत्थर....

उत्तर : हाँ; वह पत्थर था, सोना। सोनावाला पत्थर था, हाँ! अकेला पत्थर नहीं। वह सोना स्वयं शुद्ध था। देखो न! 'सुद्धं हेमं हवेइ' ऐसा शब्द है न इसमें? अधिक वजन इसमें है। इसमें यह आ गया - उपादान सामग्री। योग्य उपादान कारण.. यह पाषाण। वह अपनी भी योग्य उपादान की पर्याय का काल है न? यहाँ क्षणिक पर्याय की बात लेनी है; ध्रुव की बात लेनी नहीं।

यह सोना, वर्तमान में क्षणिक निर्मल पर्याय से परिणमते, उसे अग्नि आदि का निमित्त है। वह सोना स्वयं सौ टंच का हो जाता है। समझ में आया? वैसे भगवान आत्मा अन्तर शुद्धस्वरूप है। वह स्वयं की निर्मल पर्याय की सामग्री में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अनुकूल बाह्य निमित्त-व्यवहार हो, परन्तु स्वयं के शुद्धस्वभाव की (सामग्रीरूप स्वयं परिणमता है।) क्योंकि एक कारण हो, वहाँ दूसरे कारण होते ही हैं; न हो - ऐसा नहीं है। यह स्वयं के शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और वीतरागता की पर्याय प्रगट हुई तो दूसरे निमित्त आदि के साधन जो हों, वे होते ही हैं; न हो - ऐसा नहीं है। इस कारण स्वयं की सामग्री से मुक्ति को प्राप्त हुआ - ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? इसलिए इसमें - इष्टोपदेश दूसरी गाथा में यह कहा। समझ में आया? मोक्षपाहुड़ में २४ (वीं) गाथा है।

अब, शंका-इस कथन को सुन.. अब तीसरी गाथा। समझ में आया? यह यहाँ (मोक्षपाहुड़ में) २५ वीं गाथा है। इस कथन को सुन शिष्य बोला कि भगवन्! यदि अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्री के मिलने से ही.. आत्मा की शुद्धभावना-पर्याय और दूसरे निमित्त-द्रव्य, क्षेत्र, काल इत्यादि स्व स्वरूप को प्राप्त कर लेता है,.. आत्मा अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। तब फिर व्रत, समिति आदि का पालन करना निष्फल (निरर्थक) हो जायेगा। अपने आप वह प्राप्त हो जाएगा; फिर यह व्रत,

नियम और यह समिति को यह क्या करना ? व्रत, समिति आदि का पालन निरर्थक होगा । व्रतों का परिपालन कर व्यर्थ में ही शरीर को कष्ट देने से क्या लाभ ? प्रश्न करता है न ? इसके भाव से – शुद्धभाव से, पर्याय से और उसे अच्छे निमित्त मिलेंगे तो मुक्ति हो जाएगी । यह बीच में फिर व्रत का निमित्त प्राप्त करना – अशुभ टालना और शुभ के व्रत और समिति और ऐसे भाव करना, यह व्यर्थ का कष्ट किसलिए सहन करना ? अपने आप होना होगा, तब होगा ।

समाधान-आचार्य उत्तर देते हुए बोले – हे वत्स! जो तुमने यह शंका की है कि व्रतादिकों का परिपालन निरर्थक हो जायेगा, सो बात नहीं है,.. यह तो कहने में ऐसा है कि आत्मा का भान-सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि हुआ, परन्तु स्वरूप की शुद्धता की उग्रता नहीं और उग्रता प्रगट करने का प्रयत्न चाहिए वह नहीं, इससे पहले इसे अव्रत का भाव त्यागकर व्रत का भाव होता है और वह शुभभाव हो, उसके फल में स्वर्ग आदि मिले और शुद्धता के भानसहित यदि अकेले व्रत में रहे तो कदाचित् आयुष्य बँध जाए तो पहले नरक में भी चला जाए । पहले आयुष्य बँध गया होवे तो; बाद में तो न जाए, परन्तु यहाँ तो जरा शुभभाव का जोर देना है । व्रत के शुभभाव का कहना है । पाप के भाव की अपेक्षा शुभभाव (ठीक है), बस! यह बात, वजन इतना देना है । वरना कहीं सम्यग्दृष्टि-आत्मभानवाला नरक में जाए – यह नहीं होता । उसे होता ही नहीं । उसे पहले आयुष्य बँध गया हो, और फिर समकित हो, वह नरक में जाए, उसकी यहाँ गिनती नहीं है; यहाँ उसकी बात है ही नहीं । उसका काम भी नहीं ।

यहाँ तो आत्मा का सम्यक् चैतन्य शुद्ध भान है; अब उसे आगे शुद्धता की पूर्णता – चरित्र आदि की प्राप्त (होने के) पुरुषार्थ में विलम्ब है, उसके भाव की योग्यता को भी विलम्ब है और यह सब अनुकूल निमित्त-संहनन आदि को विलम्ब है । उससे पहले अव्रत की अपेक्षा;... अव्रत करनेवाला तो पाप बाँधकर नरक में जाए ऐसा । पाप बाँधे । व्रत के भाव हों तो वह स्वर्ग में जाए । इसका अर्थ ऐसा भी है कि व्रत के भाव हों, तब वहाँ अन्दर शुद्धि की वृद्धि भी थोड़ी होती है । समझ में आया ? अव्रत के काल में सम्यग्दृष्टि की जितनी शुद्धि है, उसकी अपेक्षा जब व्रत के परिणाम हों, तब उसे अन्दर में शुद्धि की

वृद्धि होती है। उसकी यहाँ मुख्यता न गिनकर, उस व्रत का परिणाम स्वर्ग है, उसकी यहाँ बात कहने में आती है। समझ में आया ?

कहते हैं, भाई! व्रतादिकों का परिपालन निरर्थक हो जायेगा, सो बात नहीं है,.. ऐसा कहते हैं। समझे न? कारण कि वे व्रतादिक नवीन शुभकर्मों के बन्ध के कारण होने से,... ये व्रतादि, समिति शुभभाव है, वह पुण्य बंधन का कारण है। व्रत, समिति का भाव शुभ है; अव्रत, असमिति का भाव अशुभ और पाप है – इतनी बात लेनी है, इतनी अपेक्षा लेनी है। समझ में आया? व्रतादिक नवीन शुभकर्मों के बन्ध के कारण होने से, तथा पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों के एकदेश क्षय के कारण होने से... पूर्व में बाँधा हुआ जो पाप, उसका एक अंश क्षय होता है। सकल एवं सार्थक हैं। अव्रत के परिणाम की अपेक्षा शुभभावरूपी व्रत, समिति का सार्थकपना है। नया पुण्य बँधता है, पुराने पाप का आंशिक क्षय होता है; इतना उसमें सार्थकपना गिनने में आता है। समझ में आया ?

इतना ही नहीं किन्तु व्रतसम्बन्धी अनुरागलक्षणरूप शुभोपयोग होने से पुण्य की उत्पत्ति (नयी) होती है। समझ में आया? और वह पुण्य स्वर्गादिक पदों की प्राप्ति के लिये निमित्तकारण होता है। उस सम्यग्दृष्टि को जो पुण्यभाव होता है, वह स्वर्ग में जाने का निमित्तकारण होता है। कहो, समझ में आया? इसलिए भी व्रतादिकों का आचरण सार्थक है। इसी बात को प्रगट करने के लिये आचार्य आगे श्लोक कहते हैं।

वरं व्रतैः पदं दैवं नाऽव्रतैर्वत नारकम्।

छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्॥३॥

अर्थ – व्रतों के द्वारा देव-पद प्राप्त करना अच्छा है, किन्तु अव्रतों के द्वारा नरक पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है। जैसे छाया और धूप में बैठनेवालों में अन्तर पाया जाता है, वैसे ही व्रत और अव्रत के आचरण व पालन करनेवालों में फर्क पाया जाता है।

विशदार्थ – अपने कार्य के वश से नगर के भीतर गये हुए तथा वहाँ से वापिस

आनेवाले अपने तीसरे साथी की मार्ग में प्रतीक्षा करनेवाले जिनमें से एक तो छाया में बैठा हुआ है, और दूसरा धूप में बैठा हुआ है - दो व्यक्तियों में जैसे बड़ा भारी अन्तर है, अर्थात् छाया में बैठनेवाला तीसरे पुरुष के आने तक सुख से बैठा रहता है, और धूप में बैठनेवाला दुःख के साथ समय व्यतीत करता रहता है। उसी तरह जब तक जीव को मुक्ति के कारणभूत अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिक प्राप्त होते हैं, तब तक व्रतादिकों का आचरण करनेवाला स्वर्गादिक स्थानों में आनन्द के साथ रहता है। दूसरा व्रतादिकों को न पालता हुआ असंयमी पुरुष नरकादिक स्थानों में दुःख भोगता रहता है। अतः व्रतादिकों का परिपालन निरर्थक नहीं, अपितु सार्थक है।

दोहा - मित्र राह देखत खड़े, इक छाया इक धूप।
व्रतपालन से देवपद, अव्रत दुर्गति कूप॥३॥

शंका - यहाँ पर शिष्य पुनः प्रश्न करता हुआ कहता है- 'यदि उपरिलिखित कथन को मान्य किया जायगा, तो चिद्रूप आत्मा में भक्ति भाव (विशुद्ध अंतरंग अनुराग) करना अयुक्त ही हो जायगा? कारण कि आत्मानुराग से होनेवाला मोक्षरूपी सुख तो योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिरूप सम्पत्ति की प्राप्ति की अपेक्षा रखने के कारण बहुत दूर हो जायगा और बीच में ही मिलनेवाला स्वर्गादि-सुख व्रतों के साहाय्य से मिल जायगा। तब फिर आत्मानुराग करने से क्या लाभ? अर्थात् सुखार्थी साधारण जन आत्मानुराग की ओर आकर्षित न होते हुए व्रतादिकों की ओर ही अधिक झुक जायेंगे।'

समाधान - शंका का निराकरण करते हुए आचार्य बोले, 'व्रतादिकों का आचरण करना निरर्थक नहीं है।' (अर्थात् सार्थक है) इतनी ही बात नहीं किन्तु आत्म-भक्ति को अयुक्त बतलाना भी ठीक नहीं है। इसी कथन की पुष्टि करते हुए आगे श्लोक लिखते हैं -॥३॥

गाथा - ३ पर प्रवचन

वरं व्रतैः पदं दैवं नाऽव्रतैर्वत नारकम्।

छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्॥३॥

समझ में आया? कुन्दकुन्दाचार्य ने भी २५ वें श्लोक में कहा है, भाई! संसार में

व्रत और तप से स्वर्ग होता है वह श्रेष्ठ है और परन्तु अव्रत और अतप से प्राणी को नरकगति में दुःख होता है, वह मत होवे, श्रेष्ठ नहीं है। वहाँ अन्दर यह शब्द प्रयोग किया है। पाठ में ही प्रयोग होता है, हों!

वर वयतवेहि सगो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं।

छायातवट्टियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं॥२५॥

व्रत और तप से स्वर्ग होता है वह श्रेष्ठ है... नरक की अपेक्षा से बात है, हों! परन्तु अव्रत और अतप से प्राणी को नरकगति में दुःख होता है, वह मत होवे, श्रेष्ठ नहीं है। किसकी तरह? छाया और आतप में बैठनेवाले के प्रतिपालक कारणों से बड़ा भेद है। इसमें यही दृष्टान्त है, हों! यही दृष्टान्त दिया, इसमें जैसा दृष्टान्त है, उसमें वही है। यही गाथा ली है। देखो! इसमें अपने चलता अर्थ।

अर्थ - व्रतों के द्वारा देव-पद प्राप्त करना अच्छा है,... यह आत्मा के भानपूर्वक यदि व्रत हों, तब तो उसे शुद्धि की वृद्धि भी अन्दर हुई है और व्रत के परिणाम से उसे स्वर्ग मिलता है। किन्तु अव्रतों के द्वारा नरक पद प्राप्त करना अच्छा नहीं है... यह अशुभ से शुभ की विशेषता व्यवहार से बतलाने की यह व्याख्या है। समझ में आया? आत्मा के भान बिना अकेले व्रत आदि पालन करे, यह तो वह पुण्यबन्ध हो। उसमें उसे कोई आत्मा के जन्म-मरण का अन्त नहीं आवे। समझ में आया?

आत्मा सच्चिदानन्द निर्मलानन्द की दृष्टि और अनुभव बिना जो व्रत आदि के परिणाम करे, उसे आत्मा का कुछ लाभ नहीं; स्वर्ग आदि मिले, जाए उसमें। यह तो आगे कहेंगे। पहले तो जरा-सा ठीक कहेंगे, फिर कहेंगे - यह तो वासना का दुःख है। स्वर्ग में सुख कहा, वहा तो अपेक्षा कहा था, वरना वहाँ तो सुख की भ्रमणा है; वहाँ कोई सुख-बुख है नहीं।

कहते हैं जैसे छाया और धूप में बैठनेवालों में अन्तर पाया जाता है,... जैसे छाया में एक बैठा हो और एक धूप में - तड़के में बैठा हो; वैसे ही व्रत और अव्रत के आचरण व पालन करनेवालों में फर्क पाया जाता है। समझ में आया? दृष्टान्त देते हैं, हों! स्पष्ट कहते हैं।

विशदार्थ - अपने कार्य के वश से नगर के भीतर गये हुए तथा वहाँ से वापिस आनेवाले अपने तीसरे साथी की मार्ग में प्रतीक्षा करनेवाले... दो मनुष्य गाँव के बाहर निकले, दो। अब तीसरा, अभी गाँव में है। उसकी राह देखकर बाहर दो व्यक्तियों को बैठना है। एक व्यक्ति धूप में खड़ा रहता है, उस तीसरे से मिलने के लिये; एक व्यक्ति, जरा दूर बड़ है, बड़, मार्ग से थोड़ा दूर है, थोड़ा चलना पड़ता है। पहला धूप में खड़ा रहता है, उसकी अपेक्षा एक बड़ के नीचे मील दूर, आधे मील दूर वड़ है, वहाँ चलकर बैठना पड़े, परन्तु वह तीसरा आवे, तब तक दोनों को खड़ा रहना (पड़े)। एक धूप में खड़ा रहता है और एक छाया में खड़ा रहता है, मिलना तो है उससे-तीसरे से-शुद्धोपयोग से। समझ में आया ?

आत्मा में शुद्धोपयोग हो, तभी मुक्ति होती है। तब उसकी चारित्रदशा (होती है); उस बिना मुक्ति नहीं होती, परन्तु उस शुद्धोपयोग की प्राप्ति का जब तक उसे काल न आवे, तब तक सम्यग्दृष्टि, यदि शुभभाव में हो तो उसे स्वर्ग की छाया में बैठा कहने में आता है और अशुभराग में हो तो वह दुःख के स्थान में खड़ा रहा कहने में आता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : दोनों मिले नहीं ?

उत्तर : परन्तु मिलें कब ? उनमें एक खड़ा है छाया में; और एक धूप में (खड़ा है) - ऐसा कहते हैं। इतना शुभ-अशुभ में अन्तर डालना है न ? वह जरा धूप में सिकता है और वह छाया में बैठता - इतना यहाँ बताना है। फर्क बताना है न ? समझ में आया ? मिलना तो है उससे। शुद्धोपयोग के बिना आत्मा को चारित्र और शान्ति और मोक्ष तीन काल में नहीं है परन्तु आत्मा का दर्शन हुआ - सम्यग्दर्शन का भान, शुद्धता का भान (हुआ); (तत्पश्चात्) एक मनुष्य अशुभ में रहा करे तो उसे प्रतिकूल स्थान में अवतरित होना पड़ेगा। समझ में आया ? और शुभभाव में रहे तो उसे उसमें से पुण्य स्थान में-स्वर्ग आदि में जाए, वहाँ रहेगा - इतना पाप की अपेक्षा पुण्य के स्थान में फर्क व्यवहार से करने की बात बताते हैं। समझ में आया ?

अपने कार्य के कारण... आया न ? एक तो छाया में बैठा हुआ है, और दूसरा धूप में बैठा हुआ है - दो व्यक्तियों में जैसे बड़ा भारी अन्तर है, अर्थात् छाया में

बैठनेवाला तीसरे पुरुष के आने तक सुख से बैठा रहता है,... तीसरा जब तक न आवे, तब तक छाया में बैठा है। और धूप में बैठनेवाला दुःख के साथ समय व्यतीत करता है। लो! समझ में आया? धूप में बैठा है, उसे जरा आताप का दुःख है। व्यवहार से जरा अन्तर डालना है, हाँ! अशुभभाव की अपेक्षा शुभभाव में पुण्य है, उसे स्वर्ग की-बाहर की सुविधा है-इतना फर्क जरा बताना है, वरना वास्तव में तो वहाँ (भी) दुःख है - ऐसा कहेंगे। स्वर्ग में भी दुःख ही है, वहाँ कोई सुख-बुख है नहीं, परन्तु बाहर की अमुक सुविधा की अपेक्षा से उसे नरक के दुःख की अपेक्षा सुख की व्याख्या व्यवहार से की है। समझ में आया?

उसी तरह जब तक जीव को मुक्ति के कारणभूत.. मुक्ति के कारण-योग्य अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदिक प्राप्त होते हैं,.. अपने शुद्ध उपयोग की परिणति की प्राप्ति जब तक न हो, शुद्धोपयोग की विशेष उग्र (परिणति) और उस जाति के निमित्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, आदि नहीं मिलें। तब तक व्रतादिकों का आचरण करनेवाला स्वर्गादिक स्थानों में आनन्द के साथ रहता है। देखो! अभी व्यवहार की बात की है, हों! फिर इसे दुःख कहेंगे। समझ में आया? दो की अपेक्षा से बात है। पाप की अपेक्षा (पुण्य में) जरा-सा वहाँ (व्यवहार से अन्तर/फर्क बताते) हैं।

दूसरा व्रतादिकों को न पालता हुआ असंयमी पुरुष... सम्यग्दृष्टि तो होने पर भी, अशुभभाव में रहते रहने की अपेक्षा शुभभाव में ठीक है, व्रतादि की व्याख्या करनी है। समझ में आया? परन्तु उसमें व्रतादि आवे, तब आत्मा का पुरुषार्थ (और) उग्र शान्ति होती है। पाँचवें गुणस्थान में आत्मा की शान्ति (और) अन्तर आनन्द की वृद्धि हो गयी होती है। सम्यग्दृष्टि को चौथे गुणस्थान में आत्मा के आनन्द का आंशिक वेदन हो गया; पाँचवें में व्रत के विकल्प जब हों, तब वास्तव में तो शान्ति का आनन्द बढ़ गया होता है। पाँचवें गुणस्थान में दो कषाय (चौकड़ी) का अभाव है। सर्वार्थसिद्धि के देव से भी उसकी शान्ति (अधिक है)। उसे श्रावक कहते हैं और उसे व्रत व्यवहार से कहने में आते हैं। समझ में आया? आत्मा की शान्ति की छाया में तो गया है, परन्तु शान्ति की उग्रता की छाया जो शुद्धोपयोग की चाहिए, वह अभी है नहीं।

पुरुषार्थ की कचाश है, उसके कारण कहते हैं कि भाई! अशुभभाव में रहने की

अपेक्षा व्रतादि समिति का शुभभाव हो, तो उसके प्रमाण में वहाँ शुद्धि की वृद्धि भी है और शुभभाव में मरकर स्वर्ग आदि में रहेगा। समझ में आया ? व्यवहार की बात है, भाई ! नहीं तो आगे तो कहेंगे, इसी में कहेंगे (कि) स्वर्ग में क्लेश है, उस पुण्य के फल में; जैसे गर्म घी डाले, गर्म घी ! एक को अग्नि जलाये और एक को गर्म घी घांटे, दोनों जलनेवाले हैं, दोनों जलते हैं। यह दो के बीच - पुण्य और पाप के बीच की मात्र व्याख्या बताते हैं। दर्शनशुद्धि की बात तो इससे अत्यन्त भिन्न है। समझ में आया ? स्वर्गादिक स्थानों में आनन्द के साथ रहता है, दूसरा व्रतादिकों को न पालता हुआ असंयमी पुरुष नरकादिक स्थानों में दुःख भोगता रहता है। अतः व्रतादिकों का परिपालन निरर्थक नहीं, अपितु सार्थक है।

इसमें (मोक्षपाहुड़ की २५ वीं गाथा में) भी कहा है। देखो ! यह शब्द है - जैसे छाया का कारण वृक्षादिक है, उनकी छाया में जो बैठे वह सुख पावे और आताप का कारण सूर्य, अग्नि आदि है इनके निमित्त से आताप होता है जो उसमें बैठता है, वह दुःख को प्राप्त करता है, इनमें बड़ा भेद है। इस प्रकार ही जो व्रत, तप का आचरण करता है, वह स्वर्ग के सुख को प्राप्त करता है और जो इनका आचरण नहीं करता, विषय-कषायादिक का सेवन करता है, वह नरक के दुःख को प्राप्त करता है, इस प्रकार इनमें बड़ा भेद है। इसलिए यहाँ कहने का यह आशय है कि जब तक निर्वाण न हो, तब तक व्रत-तप आदिक में प्रवर्तना श्रेष्ठ है... जब तक सिद्धपद की प्राप्ति, चारित्र की उग्र पुरुषार्थ की (प्राप्ति) न हो, तब तक सम्यग्दृष्टि को अशुभ छोड़कर शुभव्रत में आना, इतनी बात है। समझ में आया ?

इससे सांसारिक सुख की प्राप्ति है और निर्वाण के साधने में भी ये सहकारी हैं। विषय कषायादिक की प्रवृत्ति का फल तो केवल नरकादिक के दुःख हैं, उन दुःखों के कारणों का सेवन करना यह तो बड़ी भूल है, लो ! कहो, समझ में आया ? यह तो रात्रि को, उस नरक का शब्द है न ? उसमें है या नहीं - इसके लिये देखा, भाई ! इसमें 'नरक' शब्द पड़ा है न ? यह मूल में इसमें भी मूल में है। इसमें तो है परन्तु इसमें भी मूल में है। मैंने तो (इसके लिये देखा कि) इसमें 'नरक' (शब्द) मूल में है या नहीं ? मूल में शब्द सब एक प्रकार के हैं। व्यवहार कहते हैं न ! देखो ! दोहा।

दोहा - मित्र राह देखत खड़े, इक छाया इक धूप।
व्रतपालन से देवपद, अव्रत दुर्गति कूप॥३॥

मित्र राह देखत खड़े,.. दो मित्रों में, एक मित्र जो नगर में से आया नहीं, उसमें दूसरे दो मित्र हैं, वे खड़े हैं। एक छाया में और एक धूप में खड़ा है। व्रतपालन से देवपद,... वैसे शुद्धोपयोग की रमणता-उग्रपना जब तक न आवे, तब तक सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक व्रत के शुभभाव, अव्रत की अपेक्षा से स्वर्ग की छाया, जैसी छाया कही ऐसी स्वर्ग के सुख की छाया कहने में आते हैं। अव्रत दुर्गति कूप। अव्रतभाव-पापभाव तो दुर्गति का कुआँ है। पाप से तो दुर्गति होती है। समझ में आया ?

शंका - यहाँ पर शिष्य पुनः प्रश्न करता हुआ कहता है - 'यदि उपरलिखित कथन को मान्य किया जायेगा...' अब कहते हैं, देखो! तो चिद्रूप आत्मा में भक्ति भाव (विशुद्ध अंतरंग अनुराग) करना अयुक्त ही हो जायेगा? तो इस शुद्ध चिद्रूप भगवान आत्मा में रुचि और रमणता करना तो व्यर्थ चला जाएगा, वह तो निरर्थक हो जाएगा। क्या कहा, समझ में आया इसमें ?

मुमुक्षु :

उत्तर : तथापि व्रत ही पालेगा और आत्मा में शुद्ध चैतन्यदृष्टि और अनुभव तो करेगा नहीं। ऐसी बात है। भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्यरूप, जिसकी दृष्टि में शुद्धता भासे और आत्मा के अनुभव की भक्ति हो, उसका नाम सम्यग्दर्शन है। तुम ऐसे व्रत का वजन दोगे तो फिर आत्मा की भक्ति करेगा कौन ? ऐ..ई.. !

चिद्रूप आत्मा में भक्ति भाव (विशुद्ध अंतरंग अनुराग)... चैतन्य भगवान आत्मा पवित्र आनन्दकन्द है, उसमें अन्तर में एकाग्रता किस प्रकार होगी ? तुम तो, व्रत के परिणाम के फल में स्वर्ग मिलेगा - ऐसा कहते हो। भगवान आत्मा अन्तर शुद्ध चैतन्य प्रभु का अनुभव दृष्टि और अनुभव का भाव होना, वही धर्म है; तो वह धर्म करेगा कौन ? - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहा...हा... ! धर्म तो वह है। यह (व्रत) तो पुण्यबन्ध का कारण है। व्रत का भाव, पुण्य है और अव्रत का (भाव) पाप है।

यह भगवान आत्मा.... ! देखो ! टीका में है या नहीं ? पीछे है न ? सत्यात्मनि चिद्रूपे

भक्तिर्भावविशुद्ध आन्तरोऽनुरागो अयुक्ता... है, देखो! संसारसुखे सिद्धे सत्यात्मनि चिद्रूपे भक्तिर्भावविशुद्ध आन्तरोऽनुरागो अयुक्ता... है न अन्दर ? इस तरफ है, चौथे पृष्ठ पर है। समझ में आया ? यहाँ तो विवेक बताना है कि व्रत के परिणाम तो शुभराग है। यदि उसमें ही रुक जाएगा तो इस भगवान आत्मा की भक्ति (अर्थात्) शुद्ध चिदानन्दमूर्ति प्रभु निर्विकल्प आनन्द की श्रद्धा-सम्यग्ज्ञान और चारित्र करेगा कौन ? - ऐसा शिष्य ने प्रश्न किया। करने का तो यह है। समझ में आया ?

सम्यग्दर्शन में आगे शुद्धता बढ़ने पर उसे व्रत के परिणाम आते अवश्य हैं, होते अवश्य हैं, परन्तु यह न हो तो ये अकेले व्रत के परिणाम क्या करें ? समझ में आया ? उन्हें सहकारी निमित्त भी नहीं कहा जाता। पुण्य को सहकारी कहा था न ? आत्मा अपने शुद्धस्वरूप निर्विकल्प आनन्द की निर्विकल्प दृष्टि के अनुभव की भक्ति के बिना उसके अकेले व्रत तो निमित्त-सहकारी भी नहीं कहलाते। समझ में आया ? आहा...हा... !

चिद्रूप आत्मा... ! फिर भाषा कैसी है ? चिद्रूप आत्मा। अर्थात् उन व्रत के विकल्परूप आत्मा नहीं। समझ में आया ? व्रत के परिणाम तो शुभराग है, वह आत्मा नहीं; अव्रत के परिणाम, पाप है, वह आत्मा नहीं। आहा...हा... ! समझ में आया ? चिद्रूप आत्मा ! वह तो ज्ञानस्वरूपी भगवान आत्मा है। ज्ञान, उसमें यह पुण्य का विकल्प, वह बन्ध का कारण है; पाप का विकल्प, बन्ध का कारण है; वह आत्मा नहीं। तुमने तो आत्मा-अनात्मा की बात की। आत्मा चिद्रूप भगवान में एकाग्र होना, वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है। उसका नाम ही मोक्ष का मार्ग है। जबकि तुम यहाँ व्रत का, स्वर्ग का वजन दोगे तो यह करेगा कौन ? समझ में आया ?

करना अयुक्त ही हो जायेगा ? मूल करने का तो यह है। अन्तर ज्ञानानन्द भगवान आत्मा में लीन दृष्टि-ज्ञान में निर्विकारी शुद्धि, आनन्द की वृद्धि करना, यही करने का है; यही मोक्ष का मार्ग और यही संवर-निर्जरा है। समझ में आया ? कारण कि आत्मानुराग से होनेवाला... देखो ! आत्मानुराग (कहा है)। अनुराग अर्थात् भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द प्रभु से अनुराग अर्थात् एकाग्रता से। अनुराग शब्द से इसमें एकाग्रता (कहना) है।

होनेवाला मोक्षरूपी सुख तो योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिरूप सम्पत्ति की

प्राप्ति की अपेक्षा रखने के कारण बहुत दूर हो जायेगा... समझ में आता है ? मोक्षरूपी सुखी तो योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिरूप सम्पत्ति की प्राप्ति की अपेक्षा रखने के कारण बहुत दूर हो जायेगा और बीच में ही मिलनेवाला स्वर्गादि-सुख व्रतों के साहाय्य से मिल जायेगा। तब फिर आत्मानुराग करने से क्या लाभ ? वह सुख तो कब मिले और यह स्वर्ग का सुख तो तुरन्त मिलेगा। फिर यह सिरपच्ची करना - आत्मा के ध्यान की और शुद्ध चैतन्य की... कौन करेगा ? उससे क्या लाभ ? समझ में आया ?

अर्थात् सुखार्थी साधारणजन आत्मानुराग की ओर आकर्षित न होते हुए व्रतादिकों की ओर ही अधिक झुक जायेंगे। समझ में आया ? जब तुमने इतना अधिक कहा (कि) व्रत से स्वर्गसुख मिलता है और वहाँ फिर आनन्द में रहता है और छाया में रहता है; फिर तो इस-आत्मा की भक्ति शुद्ध आनन्दकन्द की दृष्टि का अनुभव करेगा कौन ? देखो ! सुखार्थी साधारणजन। यह तो साधारण बात करनी है, हों ! मिथ्यादृष्टि की। समकिति को सुख का (प्रश्न नहीं होता।) सामान्य बात है।

सुखार्थी साधारणजन आत्मानुराग... भगवान आत्मा पवित्रधाम प्रभु, सिद्ध समान अपना पद है। उसमें आनन्द में लीन होना, उसका नाम मोक्ष का मार्ग है। वह कौन करेगा ? आकर्षित कौन होगा ? वहाँ व्रत में अटक जाएगा - ऐसा शिष्य का प्रश्न है। समझ में आया ? आत्मानुराग की ओर... अनुराग तो कहीं (वह तो) व्रत में चला जाएगा। ऐसे पालना और ऐसे पालना और ऐसे पालना, व्रत पालना... वह तो शुभराग है, पुण्य बन्ध का कारण है; वह कोई धर्म-वर्म - परमार्थ मुक्ति का उपाय नहीं है। मुक्ति का उपाय तो आत्मा के अन्तर में आनन्दस्वरूप भगवान का अन्तर अनुभव करना, उसमें आकर्षित (होना), उसका नाम मोक्ष है। आत्मानुभव की ओर आकर्षित न होकर, व्रतादि की ओर अधिक झुक जाता है। कहो, बसन्तलालजी ! यह पहले जो कहा था, वही सब लिखा है न ? आत्मा निर्विकल्प आनन्द कौन है, (वह) पड़ा रहा। व्रत पालो, समिति पालो, ऐसा करो, ऐसा करो - यह तो राग है। शुभराग में आत्मा पूरा पड़ा रहा। शुद्ध चिदानन्द प्रभु निर्विकल्प आत्मा की अन्तर्दृष्टि के अनुभव बिना संवर-निर्जरा शुरु नहीं होती। संवर-निर्जरा तीन काल में नहीं होती। यह तो पुण्य-बन्ध के कारण की व्याख्या है।

मुमुक्षु :

उत्तर : यह सब सामान्यजन हैं। कहो, समझ में आया ?

समाधान - यहाँ तो साधारण व्याख्या करनी है न! सम्यग्दृष्टि को तो भान है कि जब तक मेरी शुद्धता पूर्ण न हो... समझ में आया ? तब तक ऐसा शुभभाव, अशुभ से बचने के लिए होता है, अशुभ से बचने को शुभभाव होता है। उसे यहाँ उपदेश में विशेष नरक के पाप के (परिणाम) की अपेक्षा ऐसे (शुभ) परिणाम हों (तो वे) ठीक हैं - ऐसा कहने में आता है, परन्तु अकेला वहाँ वजन कोई दे दे (और) आत्मा पूरा रह जाये, तब तो हो गया। करने का तो वह है, वह तो रह जायेगा। व्रत का सुखार्थी (मानेगा कि) यह व्रत पालन कर स्वर्ग में जाऊँगा और फिर वहाँ रहूँगा, फिर धीरे-धीरे भविष्य में धर्म हो जायेगा। उसका समाधान करते हैं। देखो!

शंका का निराकरण करते हुए आचार्य बोले, व्रतादिकों का आचरण करना निरर्थक नहीं है (अर्थात् सार्थक है) इतनी ही बात नहीं किन्तु आत्मभक्ति को अयुक्त बतलाना भी ठीक नहीं है। दोनों बातें हैं। व्रत के परिणाम अशुभ से ठीक है, वह भी निरर्थक नहीं है और आत्मा की अन्तर में शुद्ध श्रद्धा आनन्दकन्द ज्ञाता-दृष्टा का अनुभव, वह अयुक्त नहीं है; युक्त है। वही वास्तव में तो युक्त है। करने जैसा तो वह है। देखो! आत्मभक्ति। देखो! आत्मभक्ति का अर्थ निश्चय सम्यग्दर्शन। आहा..हा..! समझ में आया ?

भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त शान्तरस का कन्द प्रभु की अन्तर एकाग्रता की भक्ति-आनन्द (होना), वह निश्चय सम्यग्दर्शन; अन्तर आत्मा का ज्ञान, निश्चयज्ञान; (और) आत्मा में लीनता-वीतरागता (होवे, वह) निश्चय चारित्र - इसका नाम आत्मभक्ति कहने में आता है। समझ में आया ?

गुरु-देव-शास्त्र की भक्ति, वह व्यवहार भक्ति है; यह निश्चय भक्ति है। भक्ति के दो प्रकार। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति तो परद्रव्य की भक्ति के ऊपर का लक्ष्य है, वह तो शुभभाव, पुण्यबन्ध का कारण है। भगवान आत्मा की भक्ति, वह संवर-निर्जरा और शुद्धता का कारण है। समझ में आया ?

आत्म-भक्ति को अयुक्त बतलाना भी ठीक नहीं। दोनों बात (की है) और

सम्यग्दृष्टि सहित अशुभ टलकर शुभ आवे, व्रत हो, उसे भी अयुक्त कहना, यह भी ठीक नहीं है। समझ में आया? इसी कथन की पुष्टि करते हुए आगे श्लोक लिखते हैं। लो! चौथा। यह भी इसमें है, हों! चौथी है न? उसमें २१ है, 'मोक्षपाहुड़' में २१ है।

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी।

यो नयत्याशु गव्यूतिं, क्रोशार्धे किं स सीदति॥४॥

अर्थ - आत्मा में लगा हुआ जो परिणाम भव्य प्राणियों को मोक्ष प्रदान करता है, उस मोक्ष देने में समर्थ आत्मपरिणाम के लिये स्वर्ग कितनी दूर है? न कुछ, वह तो उसके निकट ही समझो। अर्थात् स्वर्ग तो स्वात्मध्यान से पैदा किये हुए पुण्य का एक फलमात्र है। ऐसा ही कथन अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है। तत्त्वानुशासन में कहा है :- 'गुरुपदेशमासाद्य'

'गुरु के उपदेश को प्राप्त कर सावधान हुए प्राणियों के द्वारा चिन्तवन किया गया यह अनन्त शक्तिवाला आत्मा चिंतवन करनेवाले को मुक्ति और भुक्ति प्रदान करता है। इस आत्मा को अरहंत और सिद्ध के रूप में चिंतवन किया जाय तो यह चरमशरीरी को मुक्ति प्रदान करता है और यदि चरमशरीरी न हो तो उसे वह आत्म-ध्यान से उपार्जित पुण्य की सहायता से भुक्ति (स्वर्ग चक्रवर्त्यादिके भोगों) को प्रदान करनेवाला होता है।'

श्लोक की नीचे की पंक्ति में उपरलिखित भाव को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं-

देखो जो भार को ढोनेवाला अपने भार को दो कोस तक आसानी और शीघ्रता के साथ ले जा सकता है, तो क्या वह अपने भार को आधा कोस ले जाते हुए खिन्न होगा? नहीं। भार को ले जाते हुए खिन्न न होगा। बड़ी शक्ति के रहने या पाये जाने पर अल्प शक्ति का पाया जाना तो सहज (स्वाभाविक) ही है।

दोहा - आत्मभाव यदि मोक्षप्रद, स्वर्ग है कितनी दूर।

दोय कोस जो ले चले, आध कोस सुख पूर॥४॥

इस प्रकार से आत्म-शक्ति को जब कि स्वर्ग-सुखों का कारण बतला दिया गया, तब शिष्य पुनः कुतूहल की निवृत्ति के लिये पूछता है कि 'स्वर्ग में जानेवालों को क्या फल मिलता है?'॥४॥

गाथा - ४ पर प्रवचन

यत्र भावः शिवं दत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी।

यो नयत्याशु गव्यूतिं, क्रोशार्थं किं स सीदति॥४॥

अर्थ - आत्मा में लगा हुआ जो परिणाम... देखो! भगवान आत्मा शुद्ध आनन्दस्वरूप में लगा हुआ परिणाम-निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, जो निश्चयस्वभाव में लगा हुआ परिणाम भव्य प्राणियों को मोक्ष प्रदान करता है,... भव्य जीव को वह परिणाम, मोक्ष की प्राप्ति का कारण है और मोक्ष प्राप्त करता है। समझ में आया? उस मोक्ष देने में समर्थ आत्मपरिणाम के लिये... देखो! भगवान आत्मा अपने निर्विकल्प वीतरागी परिणाम से मोक्ष को प्राप्त करे, ऐसे वीतरागी परिणाम के लिये स्वर्ग कितनी दूर है? उसे स्वर्ग कितनी दूर है? न कुछ। बीच में स्वर्ग तो उसे मिलता ही मिलता है। सो कल्थी अनाज होवे तो सौ गाड़ी घास होती ही है, घास होती है। पुण्य तो घास है। खड़ को (हिन्दी में) क्या कहते हैं? घास-फूस... घस-फूस जहाँ सौ गाड़ी अनाज हो सौ खांडी.. सौ खांडी.. सौ खांडी.. अनाज (हो), वहाँ सौ गाड़ी घास-फूस तो होती ही है; ऐसे ही जहाँ आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान शान्ति (हुए) अन्तर स्वरूप शुद्ध चिदानन्द की श्रद्धा, ज्ञान की रमणता में मोक्ष हो, वहाँ बीच में स्वर्ग तो साधारण आवे ही, वह (ऐसा) कहते हैं। सुन न! वह तो साथ में पुरुषार्थ का ऐसा विकल्प ऐसा होता ही है - ऐसा कहते हैं, हों! आत्म परिणाम से कहते हैं परन्तु परिणाम की भूमिका में ऐसा विकल्प होता है। समझ में आया?

स्वर्ग कितनी दूर है? जो! मोक्ष देने में समर्थ आत्मपरिणाम के लिये स्वर्ग कितनी दूर है? न कुछ, वह तो उसके निकट ही समझो। अर्थात् स्वर्ग तो स्वात्मध्यान से पैदा किये हुए पुण्य का एक फलमात्र है। यह आत्मध्यान में पैदा किया हुआ (अर्थात्) जरा सा विकल्प बाकी रहा न थोड़ा? वह स्वर्ग तो उसके पुण्य का एक फल है। ऐसा ही कथन अन्य ग्रन्थों में भी पाया जाता है। तत्त्वानुशासन में कहा है:- 'गुरुपदेशमासाद्य'। लो! समझ में आया? यह तत्त्वानुशासन की १९६ गाथा है। तत्त्वानुशासन है न!

गुरुपदेशमासाद्य ध्यायमानः समाहितैः।

अनन्तशक्तिरात्माऽयं मुक्तिं भुक्तिं च यच्छति॥१९६॥

सम्यक् गुरु के उपदेश को प्राप्त.. देखो! भाषा यह है। सम्यग्ज्ञानी का उपदेश ऐसा होता है कि आत्मा के शुद्ध धर्म का ध्यान करके शुभराग हो, ऐसा उसे पहला उपदेश होता है। सम्यग्ज्ञानी है न? अष्टपाहुड़ में है, हाँ! यह गुरुपदेशमासाद्य शब्द है न? श्लोक है। अंदर पूरा श्लोक है, देखो! इसमें श्लोक है। गुरु के उपदेश को प्राप्त कर सावधान हुए... विशिष्टता तो यह है कि गुरु का उपदेश मुख्य ऐसा होता है कि प्राणियों के द्वारा चिन्तवन किया गया यह अनन्त शक्तिवाला आत्मा... गुरु ऐसा कहते हैं और ऐसा बताते हैं कि तू आत्मा का ही ध्यान कर, श्रद्धा, अनुभव कर। यह उनका उपदेश है। इससे मुक्ति और इससे संवर-निर्जरा हो—ऐसा गुरु का उपदेश ही ऐसा होता है। यह तत्त्वानुशासन है। यह तत्त्वानुशासन की गाथा है। कौन है? नागसेनमुनि है न? नागसेनमुनि। १९६। इसमें क्रमांक नहीं, इसमें १९६ है, देखो!

सम्यक् गुरु के उपदेश को प्राप्त हुए एकाग्र ध्यान मुक्त के द्वारा ध्यान किया जाता हुआ अनन्त शक्तियुक्त अर्हन् आत्मा मुक्ति और भुक्ति को प्रदान करता है। मुक्ति और भुक्ति। राग बाकी रहे उसे भुक्ति-स्वर्ग मिलेगा... संवर और निर्जरा-अन्दर शुद्ध भगवान आत्मा की निर्विकल्प दृष्टि और ध्यान किया, उससे मुक्ति मिलेगी। कहो समझ में आया? यहाँ अरहन्तरूप आत्मध्यान के बल से मुक्ति और भुक्ति की प्राप्ति होती है - ऐसा सूचित किया गया है। जिसको मुक्ति की और जिसको भुक्ति की प्राप्ति होती है, वह आगे बतलायेंगे। यह तो अरहन्त और सिद्ध का ध्यान कहते हैं। आगे व्याख्या की है। ठीक है, कहो, समझ में आया इसमें?

देखो! यहाँ क्या (कहते) हैं? गुरु के उपदेश को प्राप्त कर... वजन यहाँ है। तत्त्वानुशासन (के रचयिता) नागसेनाचार्य हुए हैं। सावधान हुए... गुरु ने इसे ऐसा कहा, ऐसा बताया कि तेरा आत्मा आनन्दकन्द शुद्ध है, इसका ध्यान कर, उसमें सावधान हो; पुण्य-पाप के परिणाम की सावधानी छोड़ दे। आ...हा...! समझ में आया?

दिगम्बर सन्त या दिगम्बर मुनि या केवलज्ञानी परमात्मा-धर्मात्मा जो सन्त-मुनि सच्चे हों अथवा सच्चे गुरु हों तो उनका उपदेश यही है कि आत्मा में सावधान होओ। पुण्य-पाप का विकल्प है, वह तो राग-राग है। रागरहित तेरी चीज शुद्ध चिदानन्द है,

उसमें दृष्टि लगा। स्वभाव... स्वभाव... स्वभाव... उसमें सावधान हो, यह उपदेश भगवान सन्तों का, गुरुओं का, मुनियों का यह उपदेश है। समझ में आया ?

गुरु के उपदेश को प्राप्त कर सावधान हुए प्राणियों के द्वारा... सावधान हुए प्राणियों द्वारा। जो आत्मा गुरु का उपदेश सुनकर (सावधान हुए) और वह उपदेश उन्होंने किया कि भगवान आत्मा, पुण्य-पाप के विकल्प और देह-वाणी से रहित—ऐसे शुद्ध प्रभु में तू ध्यान कर तो वह तेरा मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया ? ऐसे प्राणियों द्वारा **चिन्तवन किया गया...** कहीं गुरु द्वारा चिन्तवन किया गया नहीं, कहते हैं। वह चिन्तवन तो इसने किया। उपदेश (गुरु ने) दिया... अन्तर भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य का लक्ष्य कर, उसका ध्यान कर, उसकी दृष्टि, ज्ञान और लीनता कर।

ऐसे प्राणियों द्वारा चिन्तवन किया गया यह अनन्त शक्तिवाला आत्मा,... देखो ! भगवान आत्मा तो अनन्त शक्तिवाला है। अनन्त-अनन्त शक्ति है। एक-एक गुण की अनन्त शक्ति, ऐसी अनन्त गुण की शक्तिसम्पन्न प्रभु आत्मा है। जिसमें अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त प्रभुता, अनन्त स्वच्छता, अनन्त स्व-संवेदता—ऐसे अनन्त-अनन्त गुण जिसमें - आत्मा में पड़े हैं। ऐसे शक्तिवाले आत्मा का चिन्तवन करनेवाले को, ऐसे आत्मा की एकाग्रता करनेवाले को। 'चिन्तवन' शब्द से एकाग्रता। अकेले (विचार, विकल्प) नहीं। ऐसा। **भुक्ति और मुक्ति प्रदान करता है।** लो ! ध्यान करते-करते किंचित थोड़ा राग बाकी रह जाय तो उससे भुक्ति... भुक्ति (अर्थात्) स्वर्ग का सुख (मिलता है)। ॐकार में भी आता है न ? 'ॐ कार बिन्दु संयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनम् कामदं मोक्षदं चैव...' वहाँ भी दोनों बातें ली हैं। 'कामदं' जरा राग बाकी राग रह जाये, उसका स्वर्ग सुख मिलता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : दोष का फल स्वर्ग मिले ?

उत्तर : राग का फल स्वर्ग हुआ, दोष है न ? दोष। परन्तु वह यहाँ ध्यान करते-करते अधूरा ध्यान रहा, जो राग विकल्प उठाती—मैं पूर्ण करूँ... पूर्ण करूँ... पूर्ण करूँ... ऐसा विकल्प (उठा), उस विकल्प में पुण्य बँध जाये, स्वर्ग मिले। अन्तर आत्मा के आनन्द में एकाग्र हो उतनी ही निर्जरा और संवर होता है। कहो, समझ में आया ?

संवर-निर्जरा... मोक्षपाहुड़ २१ (गाथा)। क्या कहा है ? देखो ! **इस आत्मा को**

अरहंत और सिद्ध के रूप में चिन्तवन किया जाय तो यह चरमशरीरी को... देखो! भगवान आत्मा अरिहन्तस्वरूप है, अरिहन्तस्वरूप है और सिद्धस्वरूप है-ऐसे आत्मा को मुक्ति प्रदान करता है। चरमशरीरी होवे तो... और यदि चरमशरीरी न हो तो उसे वह आत्म-ध्यान से उपार्जित पुण्य की सहायता से भुक्ति (स्वर्ग चक्रवर्त्यादिक भोगों) को प्रदान करनेवाला होता है। लो! समझ में आया? पुण्य बाकी रहा। तत्त्वानुशासन में आता है न? कौन सी गाथा है? अरिहन्त का नहीं? अरिहन्त का ध्यान। पहले कह गये थे न अपने? अरिहन्त का ध्यान, वह शक्ति में अरहन्त नहीं हो तो ध्यान उसका... कौन सी? पता नहीं? कौन सी गाथा है? उसमें अर्थ किया था... उसमें है? पीछे... १९७ (गाथा)। मेरा तत्त्वानुशासन कहाँ गया? अरिहन्त का ध्यान करना, उसमें अरिहन्तपना है, शक्ति में अरिहन्त है, उसका ध्यान करते हैं। अभी भगवान अरिहन्त शक्तिरूप आत्मा है। वे कहे कि अरिहन्त नहीं और अरिहन्त का ध्यान करे तो व्यर्थ हो। नहीं।

अथवा भाविनो भूताः स्वपर्यायास्तदात्मकाः।

आसते द्रव्यरूपेण सर्वद्रव्येषु सर्वदा ॥१९२॥

ततोऽयमर्हत्पर्यायो भावी द्रव्यात्मना सदा।

भव्येष्वस्ते सतश्चाऽस्य ध्याने को नाम विभ्रमः ॥१९३॥

अथवा सर्व द्रव्यों में भूत और भावि स्वपर्यायों तदात्मक हुई द्रव्यरूप से सदा विद्यमान रहती हैं। शिष्य ने प्रश्न किया कि भगवान! अरिहन्त का ध्यान करे, वह तो मिथ्या है। आत्मा अरिहन्त तो है नहीं। समझ में आया? आत्मा अरिहन्त का ध्यान करे तो आत्मा तो अरिहन्त तो है नहीं, (वह तो) मिथ्याध्यान हुआ। तो कहते हैं, नहीं। खोटी बात है। आत्मा अरिहन्त है। क्यों है, देखो!

सर्व द्रव्यों में उनकी भूत और भावि स्वपर्यायों द्रव्यरूप से तदात्मक हुई सदा स्थिर रहती है। आत्मा अरिहन्त होनेवाला है, वह पर्याय अन्दर पड़ी है। १९२ है, हाँ! देखो! अन्दर चिह्न किया है। वह पुस्तक नहीं, यह दूसरी है। समझ में आया? इसमें तो मेरे चिह्न किये हुए हैं। भाविनो भूताः स्वपर्याया यह द्रव्य भगवान आत्मा, अरिहन्त और सिद्ध का ध्यान करे तो वह अरिहन्त और सिद्ध की पर्याय आत्मा में पड़ी है, अभी पड़ी है। समझ में आया?

मुमुक्षु : प्रगट पड़ी है ?

उत्तर : प्रगट नहीं, शक्तिरूप से। प्रगट अर्थात् शक्तिरूप से प्रगट ही है, शक्तिरूप से प्रगट ही है अर्थात् नहीं-ऐसा नहीं, ऐसा। क्या कहा ? नहीं, ऐसा नहीं। है... है... है... उसका प्रगटपना है। अन्दर आत्मा उस अरिहन्त का ध्यान करता है। समझे ? देखो !

भावि अरिहन्त पर्याय भव्य जीवों में सदा विद्यमान है। अरिहन्त का ध्यान करते हुए पुण्य-पाप विकल्प नहीं। वस्तु में अरिहन्तपद और सिद्धपद पर्याय में पड़ा है। वह सत् रूप है। सत् रूप है, देखो ! भाषा ऐसी। है, अन्दर है। अरिहन्त भगवान की पर्याय आत्मा में अन्दर वर्तमान है। समझ में आया ? अरिहन्त पर्याय के ध्यान में विभ्रम का क्या लाभ ? अपने आत्मा को अरिहन्त स्वरूप में जानने में विभ्रम की कोई बात ही नहीं। विभ्रम नहीं, निभ्रम है - भ्रमरहित है। भगवान मैं ही अरिहन्त हूँ, मैं ही सिद्ध हूँ, मेरी पर्याय में अरिहन्त-सिद्धपना है; बाहर से चीज आती नहीं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : अनन्त सिद्ध निकलते हैं।

उत्तर : अनन्त सिद्ध निकलते हैं। अनन्तानन्त केवलज्ञान की पर्याय (निकलती हैं)। क्या राग में, पुण्य में (वह) पर्याय पड़ी है ? निमित्त में पड़ी है ? अपनी एक समय की पर्याय में पड़ी है ? अरिहन्त पद में ध्रुव में पड़ी है - ऐसा कहते हैं, देखो ! समझे ?

यही भ्रान्ति के अभाव की बात अपने आत्मा के सिद्धरूप ध्याने के संबंध में भी समझना चाहिए। शंका का समाधान एक दूसरी सिद्धान्त दृष्टि से किया गया है। वह यह कि सर्व द्रव्य में उनकी भूत और भावि स्वपर्यायें द्रव्यरूप से तदात्मक हुई सदा स्थिर रहती है, सदा स्थिर रहती है। शाश्वत शक्ति अन्दर अरिहन्त-सिद्ध की पर्याय आत्मा में पड़ी है।

मुमुक्षु : आत्मा में बण्डल लगाकर रखी है ?

उत्तर : हाँ, बण्डल लगाकर रखा है। खोले इतनी देर है। बण्डल यह कागज के बण्डल ऐसे भी नहीं। अन्दर पड़ी है प्रगट... प्रगट सत् स्थिर, सदा स्थिर शाश्वत बिम्ब अन्दर अरिहन्त-सिद्धपद पर्याय आत्मा में पड़ी ही है।

द्रव्य से उसकी स्वपर्याय कभी जुदी नहीं होती। न द्रव्य भी स्वपर्याय से कभी

जुदा होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार भव्य जीवों में भावि अरहन्त पर्याय द्रव्यरूप से तदात्मक हुई सदा विद्यमान है। अथवा भव्य आत्मा में सदा स्थित, सत् रूप अरहन्त पर्याय के ध्यान में विभ्रम की कौन-सी बात है ?

मुमुक्षु :

उत्तर : यह सभी अन्दर शक्ति सब पड़ी है। सब एक की एक बात है। कारणपरमात्मा अरिहन्तपद पड़ा है, सिद्धपद पड़ा है, अनन्त है। आत्मा में अनन्त सिद्धपद भरा हुआ है - अनन्त सिद्धपद, अनन्त केवलज्ञान पद, अनन्त केवलदर्शन पद आत्मा में भरा हुआ है। बाकी क्या है ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :

उत्तर : यह कहाँ भ्रमणा में कहाँ आवे ? ऐसा कहते हैं। यहाँ व्यर्थ में चिल्लाता है, इसलिए कहते हैं अन्दर देखने को निवृत्त होता नहीं। या तो शरीर का रोग और या तो पाप के परिणाम और या तो पुण्य के परिणाम देखने में रुक गया है। मैं अन्दर कौन हूँ ? पता नहीं। समझ में आया ?

‘जहाँ द्रव्य की जिन स्वपर्यायों का उल्लेख है, वे द्रव्यांतर के संयुक्त बिना ही स्वभाव से होनेवाली वस्तु प्रदेश पिण्ड के रूप में... वस्तु प्रदेश पिण्ड के रूप में स्वभाविक द्रव्य पर्याय है। इनके विपरीत जो द्रव्यांतर से स्वयं से उत्पन्न होनेवाली प्रदेश पिण्डरूप पर्याय होती है, उन्हें विभाविक द्रव्यपर्याय कहते हैं।’ विकार आदि। ‘ये जीव और पुद्गल दोनों द्रव्य में होती है।’ संयोग पर्याय होती है, उसका द्रव्य में सदा अस्तित्व नहीं रहता। वह विकारी - ऐसा कहते हैं। उसके लिए मूल में ‘सर्वदा सत्’ ऐसे पदार्थ का प्रयोग किया गया है। नयी उत्पन्न होती है न, इसलिए इस प्रकार (कहा है।) उसकी टीका है, परन्तु पाठ में है, देखो न! भगवान आत्मा की जितनी शुद्धपर्यायें प्रगट (होती हैं), वे सब अन्दर पड़ी हैं। तीन काल में कहीं बाहर से आनेवाली नहीं हैं, वरना तो उसे द्रव्य ही कहने में नहीं जावे। समझ में आया ?

यहाँ भी यह कहा, देखो! समझ में आया ? क्या कहा ? देखो! इसमें क्या कहा ? जो पुरुष बड़ा भार लेकर एक दिन में सौ भोजन जाए तो भुवनतल में आठ कोष तक किसलिए

न जाए ? यह इसमें आ गया न ? श्लोक की नीचे की पंक्ति में उपरलिखित भाव को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं - यह बात जो अब कहेंगे, उसका दृष्टान्त इसमें मोक्षपाहुड़ में २१ (गाथा में) आयेगा। (गाथा) २१ में दृष्टान्त आयेगा। जो सौ योजन चलने की शक्ति है, उसे आधा योजन काटना क्या ? ऐसे आत्मा के पुरुषार्थ से अन्दर उग्र से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट की है और मोक्ष की तैयारी है, उसे अब स्वर्ग जाना हो तो कितना ? वह तो बीच में आये बिना रहे नहीं। उसका पुरुषार्थ, स्वभाव के प्रति है, बाकी राग रहता है, तो वह स्वर्ग में जाता है, उसकी कोई विशेषता नहीं।

विशेष कहेंगे।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ३

गाथा ४-६

गुरुवार, दिनाङ्क १७-०३-१९६६

फाल्गुन कृष्ण ११,

वीर संवत् २४९२

पूज्यपादस्वामी पहले हुए हैं। उन्होंने इष्टोपदेश रचा है। गाथा चौथी चलती है न ? चौथी का थोड़ा नीचे है, देखो ! श्लोक की नीचे की पंक्ति में उपरलिखित भाव को दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं - क्या कहते हैं इसमें जरा ? कि यह आत्मा है न आत्मा। सर्वज्ञ भगवान तीर्थकर परमेश्वर ने जो यह आत्मा है, वह भगवान ने देखा है। वह आत्मा तो आनन्द और शुद्धोपयोग ज्ञानमय आत्मा है। समझ में आया ? आत्मा जिसे कहते हैं, वह तो—सव्वणहुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं। (समयसार, गाथा-२४) सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकरदेव ने आत्मा को ज्ञान और आनन्दमय देखा है। यह शरीर, वाणी, मन तो सब जड़-मिट्टी है। पुण्य-पाप के भाव हों, वे आस्रव है-विकार है, आस्रवतत्त्व है। भगवान आत्मा, भगवान ने देखा, वह तो शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है।

(यहाँ) कहते हैं कि उसका जो ध्यान करे, अन्तर्दृष्टि और ज्ञान (करे), उसे मुक्ति मिले; और उसे स्वर्ग (मिलना) तो सरल है - ऐसा कहते हैं। जो सौ कोष, भार को सौ गाँव ले जाने की ताकत है, उस भारवाहक को आधे योजन या आधे मण ले जाना, वह तो सरल है। क्या कहा, समझ में आया ? सौ मण भार उठाकर एक दिन में चला जाए, उसे एक, आधे घण्टे में, पाव घण्टे में आधे मण उठाना तो सरल है।

इसी प्रकार जिसे आत्मा के शुद्धस्वरूप आनन्दमूर्ति आत्मा, आत्मा में आनन्द शुद्धस्वरूप की दृष्टि और ध्यान करने से शुद्धता-संवर-निर्जरा हो और उसे मुक्ति मिले, परन्तु वह मुक्ति मिलने से पहले उसे साधारण स्वर्ग का सुख तो बीच में आवे, क्योंकि आत्मा का जो ध्यान करते हुए गुण-गुणी के भेद का विकल्प उठे अथवा अरिहन्त और सिद्ध परमेश्वर ऐसा कहते हैं, ऐसे आत्मा को (कहते हैं) - ऐसा जो विकल्प उठे, ऐसे विकल्प में उसे पुण्य बँध जाता है। समझ में आया ? तो स्वर्ग तो उसे साथ में मिलता ही है। सौ कलशी अनाज हो, उसे सौ गाड़ी घास होता ही है। अनाज पके और घास न हो - ऐसा होगा ? अभी घास हुआ हो और अनाज न हो। तुम्हारे में खड़ (घास) को क्या कहते हैं ? छप्पनियाँ में अपने हुआ था न ? छप्पनियाँ में बाँटा हुआ था बाँटा। अनाज नहीं हुआ था। अनाज नहीं पका परन्तु छह-सात इंच वर्षा आयी थी। (संवत्) १९५६-५६ तब तो दश वर्ष की उम्र थी। (संवत्) १९५६ में भी खबर थी कि यह अनाज पका नहीं, परन्तु पाँच-छह इंच वर्षा आयी, इसलिए थोड़ी घास पकी, परन्तु जहाँ अनाज पके, वहाँ घास पके नहीं - ऐसा हो ? (नहीं होता।)

इसी तरह जिसे आत्मा की श्रद्धा और भान बिना व्रत आदि पाले तो उससे पुण्य बँधे तो उसे स्वर्ग आदि मिले-अकेला घास मिले। खड़ (घास)। समझ में आया ? यह सुना था, भाई ! उस समय, हों ! कि बाँटा हुआ है, ऐसा उस दिन सुनते थे। उस समय दश वर्ष की उम्र थी, (संवत्) १९५६ के साल। लोग कहते थे... ए... भगवानभाई ! ६६ वर्ष पहले की बात है। तब कहते कि वर्षा बहुत थोड़ी है, इसलिए अनाज पका नहीं, परन्तु थोड़ी बहुत घास हुई है। रीतसर का, रीतसर। बहुत नहीं वापस, साधारण, बाँटा कहते।

उसी तरह आत्मा के ध्यान बिना, भगवान परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव कहते हैं, ऐसा यह आत्मा, इसके अन्तर सम्यग्दर्शन और ज्ञान बिना अकेले व्रत आदि पाले, पूजा तथा भक्ति आदि करे (तो) पुण्य बँध जाए - घास हो घास; उसे मोक्ष नहीं मिले, उसे अनाज के कण नहीं पके। बसन्तलालजी ! उस छप्पनियाँ में, भाई ! वर्ष नहीं थी; फिर १९५७ में बहुत वर्षा थी। फिर १९५७ में बहुत वर्षा थी। धान का बहुत ख्याल नहीं। अपना बहुत ध्यान नहीं न। पढ़ते समय का ध्यान था। बहुत वर्षा हुई परन्तु तब छोटी उम्र (और)

बहुत ध्यान कुछ नहीं। तब तो अपना पढ़ने में ध्यान होवे न ? ग्यारह वर्ष की (उम्र) १९५७ का साल। अनाज भी इतना (हो) और घास भी इतनी (हो)।

वैसे ही आत्मा में सुकाल पके। आहा...हा... ! आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध आनन्दस्वरूप, दुःखरहित, विकाररहित, शरीर-कर्मरहित – ऐसा आत्मा, उसकी जिसे अन्तर सम्यग्दर्शन की आत्मभक्ति हुई, आत्मभक्ति की बात है। जमुभाई! सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकरदेव से कथित आत्मा, हों! इसके सिवाय अज्ञानी, आत्मा कहते हैं कि ऐसा आत्मा, आत्मा – वह नहीं। सर्वज्ञ प्रभु वीतरागदेव ने एक समय में तीन काल-तीन लोक देखें; ऐसे परमेश्वर की वाणी में जो आत्मा आया; ऐसे आत्मा को जाने और अनुभव करे, उसे सम्यग्दर्शन होता है। यह भक्ति होती है। जमुभाई! आहा...हा... !

कहते हैं कि अरे... ! जिसे आत्मा को भक्ति अर्थात् दृष्टि और सम्यग्दर्शन नहीं, ऐसे अकेले व्रत आदि, तप आदि क्रिया करे (तो) शुभभाव से उसे स्वर्ग आदि मिले, परन्तु फिर उसमें सुख माने। मिथ्यादृष्टि तो स्वर्ग में सुख मानता है, धूल में सुख मानता है।

मुमुक्षु – मानना ही पड़े न!

उत्तर – क्या माने ? धूल! ऐ... जेचन्दभाई! कहते हैं, मानना पड़े न! ऐसा कहते हैं। धूल में भी सुख नहीं है। स्वर्ग में सुख है ? यह अभी आगे अधिक कहेंगे। स्वर्ग में भी नहीं और इस धूल में पाँच-पचास लाख पैसा – इसमें पैसे में – धूल में सुख है ? ममता में मूढ़ होकर मानता है। यहाँ वासना कहेंगे।

आत्मा में आनन्द है। सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा शाश्वत् आनन्द की मूर्ति आत्मा है। आत्मा में आनन्द है। उसकी आनन्द की खबर नहीं। भगवान तो आत्मा में आनन्द कहते हैं और यह मानता है कि पैसे में, धूल में, स्त्री में और इस स्वर्ग में (सुख है।) ऐ..ई देवानुप्रिया! यह तुम्हारे से तर्क करते हैं। हाय... हाय... ! क्या करना क्या ? ऐसे देखो न, तुम्हारी भाभी ने कल पूछा था – कैसे है बहिन ? यह शरीर इसका काम किया करता है – ऐसा जवाब भी तुम्हारा ठीक नहीं आता। कल भाई! बहिन के पास गये थे न ? बीमार है न ! मणिभाई की बहू! वहाँ गये थे। वहाँ आये थे। कैसे है बहिन ? (तो कहा) यह तो इसका काम किया करता है। यह शरीर, मिट्टी है, जड़-पुद्गल है। यह पुद्गल, अजीव

तत्त्व है, तो अजीवतत्त्व की दशा, अजीव से हुआ करती है। क्या आत्मा के आधीन है ? (नहीं)। आत्मा रखे तो रहे - ऐसा है यह ?

बड़े महाराजा-राजा बहुत इसके रखवाले हों। देव को बहुत रखवाले हों, लो न! आयुस्थिति पूरी हो तो एकदम देह छूट जाती है, वह छूट जाती है। वहाँ कहाँ आत्मा था ? यह तो मिट्टी-धूल है, अजीवतत्त्व है। उसकी संभाल करने से रहता होगा ? मोहनभाई ! कैसे होगा ? ध्यान रखना ! यह पैर टूट गया, ऐसे पैर हो गया, तीन दिन तो असाध्य हो गये थे। पुद्गल है, बापू ! यह तो अजीव है, भाई ! तू तो आत्मा है। आत्मा तो ज्ञान और आनन्द है। उसमें उसकी भक्ति करे, श्रद्धा करे तो संवर हो, निर्जरा हो, मुक्ति हो और बीच में गुण-गुणी के भेद का विकल्प (उठे कि) परमेश्वर ने आत्मा ऐसा कहा है; ऐसा पहले स्मरण आवे, ऐसे विकल्प, में पुण्य बंध जाए कि जिस पुण्य में इसे स्वर्ग तो सहज ही मिल जाए; परन्तु उस स्वर्ग में, सम्यग्दृष्टि-धर्मी सुख नहीं मानता। आहा...हा... ! अरे... ! कुछ पता नहीं पड़ता।

यह मनुष्यदेह अनन्त काल में कठिनता से मिली है। इसमें क्या करने का है, यह समझे नहीं और ऐसे का ऐसा कषाय करके कषाय-राग-द्वेष करके होली (सुलगा कर) भिखारी चला जाता है। जैसे गलुडिया (कुत्ते का पिल्ला) मरे, गलुडिया समझ में आता है। कुत्ती का बच्चा; वैसे इस पिल्ले के (पास) पाँच-दश लाख रुपये हों धूल, जैसा पिल्ला जैसा भिखारी होकर मरकर चला जाता है। मलूकचन्दभाई !

यहाँ कहते हैं, देखो जो भार को ढोनेवाला अपने भार को दो कोस तक आसानी और शीघ्रता के साथ ले जा सकता है,... है दृष्टान्त ? दृष्टान्त देते हैं। भारवाहक मजदूर जिस भार को दो कोस तक सरलता से, सहज-सहज शीघ्रता से, उतावल से ऐसे ले जाता है। तो क्या वह अपने भार को आधा कोस ले जाते हुए खिन्न होगा ? उसे एक आधे कोस ले जाने में क्या खेद होगा ? सुडौल शरीर हो और दो मण, आधे मण सिर पर उठाना हो तो वह तो सरपट चला जाए, दौड़ता चला जाए। समझ में आया ?

भार को ले जाते हुए खिन्न न होगा। भार को उठाने से खेद नहीं करेगा। यह दृष्टान्त (हुआ) बड़ी शक्ति के रहने या पाये जाने पर... जहाँ भगवान आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव की श्रद्धा, शुद्धोपयोग की श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र में रमता हो - इतनी जिसे पुरुषार्थ

की ताकत है, (उसे) अल्प शक्ति का पाया जाना तो सहज (स्वाभाविक) ही है। उसमें स्वर्ग का पुरुषार्थ तो साधारण अन्दर आ जाता है। ओहो...हो... ! समझ में आया ? जहाँ आत्मा अन्दर शुद्धोपयोग का पुरुषार्थ / ताकत रखता है... मूल तो ऐसा कहते हैं, भाई ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्द की मूर्ति परमेश्वर ने कही और देखी तथा जानी; ऐसा जिसने अन्तर में आत्मा को अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है—ऐसा शुद्धोपयोग का आचरण पर्याय में प्रगट किया, उसे कहते हैं कि शुभउपयोगरूपी आचरण को बीच में साधारण हल्का मार्ग तो आये बिना रहेगा नहीं। आहाहा... ! समझ में आया ? जमूभाई !

मुमुक्षु :

उत्तर : अब यह भाई तो जोड़ी साथ में ही पड़ा हो। कहा न, उसे बुलाना नहीं पड़ता।

कहते हैं भार का लेनेवाला दो गाँव में... समझ में आया ? जो भार ले जाता है, वह भी शीघ्रता से ऐसे दौड़ता ले जाता है। वह आसानी से और शीघ्रता से दो, आसानी से अर्थात् सुख से सुख से और शीघ्रता से अर्थात् उतावल से एकदम ले जाता है। उसे कुछ भार नहीं लगता। तो क्या उसे आधा कोस ले जाने में खेद होगा ? नहीं, ऐसा। **बड़ी शक्ति के रहने या पाये जाने पर अल्प शक्ति का पाया जाना तो सहज (स्वाभाविक) ही है।** भगवान आत्मा, उसकी-आत्मा की भक्ति। जिसे अन्तर सम्यग्दर्शन-ज्ञान जगा, वह आत्मा की भक्ति हुई। उसे परमेश्वर की भक्ति का शुभराग आता है, गुण-गुणी के भेद का राग होता है। परमेश्वर ऐसा कहते, इस आत्मा का स्वरूप भगवान में ऐसा कहा है कि केवलज्ञान ऐसे प्राप्त होता है, ऐसे विकल्प, धर्मी जीव को आत्मा का अन्तर पुरुषार्थ करने में ऐसे विकल्प आते हैं। उस विकल्प में उसे साधारण पुण्य बँधे और स्वर्ग तो सहज मिल जाता है। जिसे मोक्ष मिलना सरल है, फिर स्वर्ग मिलना तो कहाँ महँगा है ? कहते हैं। समझ में आया ? **सहज (स्वाभाविक) ही है।** इसका दोहा किया है, लो !

आत्मभाव यदि मोक्षप्रद, स्वर्ग है कितनी दूर।

दोय कोस जो ले चले, आध कोस सुख पूर।।४।।

आत्मभाव यदि मोक्षप्रद,... भगवान आत्मा के अन्तर शुद्धस्वरूप की दृष्टि करने पर, ज्ञान करने पर जिसे मोक्षपद जहाँ सहज है। आत्मभाव यदि मोक्षप्रद,... आत्मा के शुद्धस्वभाव के उपयोग से, दृष्टि से, ज्ञान से उसे मोक्षप्रद तो सहज-सरल है तो स्वर्ग है कितनी दूर। मोक्ष जानेवाले आत्मा से, आत्मभक्तिवाले को स्वर्ग तो बीच में साधारण आयेगा। कहो, बसन्तीलालजी! समकित्ती जीव मरकर स्वर्ग में ही जाता है। आत्मा की शुद्धश्रद्धा और ज्ञान, भगवान कहते हैं वैसी दृष्टि करे, वह जीव मरकर अभी स्वर्ग में ही जाता है। अभी केवलज्ञान है नहीं, समझ में आया ?

जिसने आत्मा की श्रद्धा और ज्ञान किया है, वह (स्वर्ग में भी जाता है) भान किये बिना अकेले अज्ञानी व्रत, तप, क्रियाकाण्ड, दया, दान आदि करे तो वह थोड़ा खड़ (भूसा) बाँधता है। साधारण स्वर्ग जाता है। उसे धर्म नहीं होता, उसे मुक्ति नहीं होती, उसे संवर-निर्जरा नहीं होते। समझ में आया ? आहाहा... !

जिसे आत्मभाव यदि मोक्षप्रद,... भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य बिराजमान प्रभु आत्मा स्वयं है यह आत्मा। चैतन्य का सूर्य! ऐसे चैतन्य की जिसने भक्ति की और विकार की भक्ति दृष्टि में से छोड़ दी। क्या कहा समझ में आया ? उसे शुभभाव आवे, उसकी भक्ति छोड़ दी है। शुभभाव आवे अवश्य (परन्तु) रुचि है नहीं। अज्ञानी को शुभभाव आवे, उसमें रुचि है। शुभभाव हो, उसमें रुचि है कि हम पुण्य बाँधेंगे और हम स्वर्ग में जायेंगे और हम फिर अवतार लेंगे तो पुनः मनुष्य होंगे, सेठ होंगे, फिर भगवान के पास जायेंगे। समझ में आया ? उसे आत्मा का भान नहीं है।

धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव को तो आत्मा का भान है। अरे.. ! मैं आत्मा हूँ न! मेरा तो ज्ञान और आनन्दस्वभाव है न! मेरा आनन्द कहीं बाहर में नहीं है। भले गृहस्थाश्रम में समकित्ती हो, हजारों रानियाँ हों... संसार में तीर्थकर भगवान अरनाथ, कुन्थुनाथ, शान्तिनाथ चक्रवर्ती थे न ? छियानवें हजार रानियाँ थीं, अन्तर में आनन्द मानते, पर में नहीं; आनन्द तो मुझमें है। यह जरा सा आसक्ति का राग आता है, वह दुःख है... दुःख है... दुःख है। समझ में आया ? आहाहा... !

कहते हैं आत्मभाव यदि मोक्षप्रद, स्वर्ग है कितनी दूर। उसे स्वर्ग जाना, वह

कितनी दूर पड़ेगा ? वह तो अत्यन्त नजदीक में होता है । दोय कोस जो ले चले, आध कोस सुख पूरा । सुख पूरा ।

इस प्रकार से आत्म-शक्ति को जब कि स्वर्ग-सुखों का कारण बतला दिया गया... आत्मशक्ति को (कारण) बतलाया है, इसका अर्थ क्या ? कि आत्मा की भक्ति का स्वरूप श्रद्धा, ज्ञान होने पर, अन्दर अभी शुभराग आये बिना (रहता नहीं) । आत्मा है । जब ध्यान करने बैठे, पहले भान तो हुआ हो परन्तु जब स्थिर होने बैठे, तब उसे (विकल्प आते हैं) कि यह आत्मा है, यह चिदानन्द है, यह शुद्ध है, पूर्ण है, यह सामान्य है - ऐसा जो विकल्प उठता है, उस आत्मध्यानी को ऐसे विकल्प में स्वर्ग का साधन हो गया है । वह शुभराग, स्वर्ग का साधन होता है । समझ में आया ?

तब शिष्य पुनः कुतूहल की निवृत्ति के लिये पूछता है कि 'स्वर्ग में जानेवालों को क्या फल मिलता है?' समझ में आया ? आचार्य इसका स्पष्ट रीति से उत्तर देते हुए लिखते हैं -

आचार्य इसका स्पष्ट रीति से उत्तर देते हुए लिखते हैं -

हृषीकजमनातंकं दीर्घकालोपलालितम् ।

नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव ॥५॥

अर्थ - स्वर्ग में निवास करनेवाले जीवों को स्वर्ग में वैसा ही सुख होता है, जैसा कि स्वर्ग में रहनेवालों (देवों) को हुआ करता है, अर्थात् स्वर्ग में रहनेवाले देवों का ऐसा अनुपमेय (उपमा रहित) सुख हुआ करता है कि उस सरीखा अन्य सुख बतलाना कठिन ही है । वह सुख इन्द्रियों से पैदा होनेवाला आतंक से रहित और दीर्घ काल तक बना रहनेवाला होता है ।

विशदार्थ - हे बालक ! स्वर्ग में निवास करनेवालों को, न कि स्वर्ग में पैदा होनेवाले ऐकेन्द्रियादि जीवों को । स्वर्ग में, न कि क्रीड़ादिक के वश से रमणीक पर्वतादिक में ऐसा सुख होता है, जो चाहने के अनन्तर ही अपने विषय को अनुभव करनेवाली स्पर्शनादिक इन्द्रियों से सर्वांगीण हर्ष के रूप में उत्पन्न हो जाता है । तथा जो

आतंक (शत्रु आदिकों के द्वारा किये गये चित्तक्षोभ) से भी रहित होता है, अर्थात् वह सुख राज्यादिक के सुख के समान आतंकसहित नहीं होता है। वह सुख भोगभूमि में उत्पन्न हुए सुख की तरह थोड़े कालपर्यन्त भोगने में आनेवाला भी नहीं है। वह उल्टा, सागरोपम काल तक, आज्ञा में रहनेवाले देव-देवियों के द्वारा की गई सेवाओं से समय-समय बढ़ा-चढ़ा ही पाया जाता है।

‘स्वर्ग में निवास करनेवाले प्राणियों का (देवों को) सुख स्वर्गवासी देवों के समान ही हुआ करता है।’ इस प्रकार से कहने या वर्णन करने का प्रयोजन यही है कि वह सुख अनन्योपम है। अर्थात् उसकी उपमा किसी दूसरे को नहीं दी जा सकती है। लोक में भी जब किसी चीज की अति हो जाती है, तो उसके द्योतन करने के लिए ऐसा ही कथन किया जाता है, जैसे ‘भैया! राम रावण का युद्ध तो राम रावण के युद्ध समान ही था। रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।’

अर्थात्, इस पंक्ति में युद्ध सम्बन्धी भयंकरता की पराकाष्ठा को जैसा द्योतित किया गया है। ऐसा ही सुख के विषय में चाहिये।।५।।

दोहा - इन्द्रियजन्य निरोगमय, दीर्घकाल तक भोग्य।
स्वर्गवासि देवानिको, सुख उनही के योग्य।।५।।

शंका - इस समाधान को सुन शिष्य को पुनः शंका हुई और वह कहने लगा - “भगवन्! न केवल मोक्ष में, किन्तु यदि स्वर्ग में भी, मनुष्यादिकों से बढ़कर उत्कृष्ट सुख पाया जाता है, तो फिर ‘मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो जावे’ इस प्रकार की प्रार्थना करने से क्या लाभ?”

गाथा - ५ पर प्रवचन

हृषीकजमनातंकं दीर्घकालोपलालितम्।
नाके नाकौकसां सौख्यं नाके नाकौकसामिव।।५।।

अर्थ - स्वर्ग में निवास करनेवाले जीवों को स्वर्ग में वैसा ही सुख होता है, जैसा कि स्वर्ग में रहनेवालों (देवों) को हुआ करता है, ... ऐसा कहते हैं कि देव

को देव जैसा सुख है अर्थात् कि इन्द्रियजन्य के सुखवाले को इन्द्रियजन्य सुख है, मूल तो ऐसा कहना है, भाई! आत्मा का जो अतीन्द्रिय सुख है - ऐसा देव में सुख नहीं है। समझ में आया? अतीन्द्रिय आत्मा का सुख है। आत्मा मन, वाणी, और राग से भिन्न करके और जो आत्मा का आनन्द आवे ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द स्वर्ग में नहीं है, स्वर्ग की सुख की दशा में (नहीं है)। समझ में आया? स्वर्ग में जाये तो कैसा सुख हो? ऐसा पूछते हैं कि इसके जैसा हो, उपमा देनी है। क्या देना? अतीन्द्रिय सुख तो वहाँ नहीं। इस इन्द्रियजन्यवाले को इन्द्रियजन्य सुख मिले। आहाहा..!

अर्थात् स्वर्ग में रहनेवाले देवों का ऐसा अनुपमेय (उपमा रहित) सुख हुआ करता है... जरा-सा मनुष्य की अपेक्षा उसके सुख का वर्णन अधिक करते हैं (उपमा रहित) सुख हुआ करता है... उसे उपमा नहीं (कि) स्वर्ग के जीव को इतना सुख है। उस सरीखा अन्य सुख बतलाना कठिन ही है। उसके जैसा सुख दूसरे इन्द्रियों में, मनुष्यपने में है नहीं। मनुष्यपने की अपेक्षा से बात है, हाँ! अतीन्द्रियसुख की अपेक्षा से बात नहीं है। इन्द्रियसुख जो मनुष्यपने में है, उसकी अपेक्षा देव का सुख (अधिक है)। बहुत शुभभाव हुए होते हैं न? शुभभाव। अशुभभाव करे तो पाप बाँधे। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना, पाप (परिणाम है) और यह पुण्य-शुभभाव होवे तो उसमें पुण्य बाँधे। शुद्धोपयोग करे तो उसमें निर्जरा और मुक्ति का कारण होता है। समझ में आया? तो कहते हैं, उसका सुख तो (ऐसा है कि उसे) इन्द्रिय के मनुष्य के सुख की उपमा नहीं दी जा सकती - ऐसा कहते हैं। यह इन्द्रिय के सुख की उपमा, हाँ! वहाँ अतीन्द्रिय सुख तो है ही नहीं और उस सरीखा अन्य सुख बतलाना कठिन ही है। क्योंकि इन्द्रिय का सुख स्वर्ग का मिले ऐसा अन्यत्र - मनुष्यपने में नहीं है।

वह सुख इन्द्रियों से पैदा होनेवाला आतंक से रहित... उसमें विघ्न नहीं है। स्वर्ग के सुख को विघ्न नहीं है। यहाँ तो विघ्न आता है। राज्यादि का सुख हो तो दूसरा राजा आकर विघ्न करे, शत्रु विघ्न करे, वीर विघ्न करे। स्पष्टीकरण करेंगे, हाँ! आतंक से रहित और दीर्घ काल तक बना रहनेवाला होता है। स्वर्ग में सुख तो सागरोपम तक रहता है। सागरोपम! एक सागर किसे कहते हैं? एक सागरोपम में दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम होते हैं और एक पल्योपम में असंख्यात अरबों वर्ष होते हैं। समझ में आया? पल्योपम और

सागरोपम सुना है या नहीं ? नहीं सुना ? कैसे में सुना है ? भगवान परमेश्वर कहते हैं कि बहुतों को स्वर्ग में सुख सागरोपम का होता है । सागर अर्थात् समुद्र । जैसे समुद्र के बिन्दु का पार नहीं, वैसे इसमें वर्ष का उसे पार नहीं । इतना पुण्य बँधे और स्वर्ग में जाये तथा एक सागरोपम में दश कोड़ाकोड़ी पल्योपम (होते हैं) और एक पल्योपम में असंख्यात अरब वर्ष होते हैं ।

पहला देवलोक है न ? सौधर्म देवलोक । यह चन्द्र-सूर्य तो ज्योतिष है । ऊपर सौधर्म देवलोक है । देवलोक का नाथ आता है या नहीं ? भगवानभाई ! क्षमापना में आता है । तुम्हारे आता है या नहीं ? पहला सौधर्म देवलोक, दूसरा ईशान देवलोक नाम तो आवें, क्षमापना में । कौन जाने क्या होगा ? समझ में आया ? पहला सौधर्म देवलोक है, वहाँ बत्तीस लाख विमान हैं, उनका इन्द्र-शकेन्द्र-साहिब, उनका नाथ-राजा है, इन्द्र है एकावतारी है - एक भव में मोक्ष जानेवाला है और उसकी इन्द्राणी भी एक भव में मोक्ष जानेवाली है । अभी है । सौधर्म, ईशान इन्द्र आदि एकावतारी जीव हैं । सौधर्म की जो रानी - देवी है, वह भी एकावतारी है, दोनों वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष जानेवाले हैं । अभी शकेन्द्र सौधर्म देवलोक में है । समझ में आया ?

भगवान आत्मा के भक्त हैं और भगवान के भक्त हैं । दोनों आत्मा के भक्त हैं और ऐसे भगवान के भगत हैं । भगवान के भी भक्त हैं । एक सौधर्म देवलोक का एक भव में महाविदेह के असंख्य तीर्थकर का जो जन्म महोत्सव और केवल (ज्ञान) महोत्सव करता है । महाविदेह के, हाँ ! यहाँ का नहीं । यहाँ तो एक दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम में एक चौबीसी होती है । एक चौबीसी में ऐसे तो बहुत इन्द्र हो जाते हैं परन्तु वहाँ दो सागर की स्थिति है । आत्मा की भक्ति है और भगवान की भक्ति है । भगवान के पास जाते हैं महाविदेहक्षेत्र में भगवान जन्मे... महाविदेहक्षेत्र में अभी सीमन्धर परमात्मा तीर्थकररूप में समवसरण में बिराजमान हैं । करोड़पूर्व की आयु, पाँच सौ धनुष की देह, जमीन पर मनुष्यरूप से विराजमान हैं । समवसरण है, वहाँ इन्द्र जाते हैं । उस इन्द्र के एक भव में असंख्यात ऐसे तीर्थकर के जन्म, दीक्षा, केवल, और निर्वाण महोत्सव करते हैं । ऐसी भक्ति का शुभभाव होता है और आत्मभक्ति भी साथ में है, वहाँ स्वर्ग में उसे दोनों हैं । समझ में आया ?

यह तो भक्ति करके गया है। आत्मा की भक्ति - अनुभवदृष्टि करके स्वर्ग में गया है, उसके शुभभाव का फल बड़ा - दो-दो सागर का, पूरी (आयु है) वह सुख तो... आगे कहेंगे, हाँ! वासना... अज्ञानी ने माना है, ज्ञानी उसे (सुख) मानते नहीं। वापस यह कहेंगे।

मुमुक्षु : पहले अच्छा कहकर फिर खराब कहते हैं।

उत्तर : वह अच्छा नहीं है, उसकी व्याख्या बतलाते हैं। मनुष्य के सुख की अपेक्षा उसकी सुविधा अधिक है इतना। वहाँ भी यह की यह श्वेत धूल है, सब यह की यह है। वहाँ कहीं अमृत नहीं, अमृत तो आत्मा में है। समझ में आया ? परन्तु इस मनुष्य के प्राणियों को बहुत विघ्नवाला और अल्पकाल का सुख (होता है) ; उसकी अपेक्षा वहाँ विघ्नरहित और बहुत काल का (होता है)। यह व्याख्या अपेक्षा से अच्छा कहते हैं। बाकी अज्ञानी उसे सुख मानता है, सम्यग्दृष्टि उसे सुख नहीं मानता। जो आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान लेकर वहाँ गया है, उस सुख में उसे सुख मानता ही नहीं। आहाहा... ! समझ में आया ?

विशदार्थ - हे बालक!... विशेष अर्थ करते हैं। है न? स्वर्ग में निवास करनेवालों को न, कि स्वर्ग में पैदा होनेवाले एकेन्द्रियादि जीवों को। क्या कहते हैं ? स्वर्ग में तो एकेन्द्रिय भी है, स्वर्ग में है न ? सौधर्म देवलोक आदि ? वहाँ पृथ्वी के एकेन्द्रिय जीव हैं, उनका विमान है न ? विमान, वहाँ एकेन्द्रिय जीव है, वहाँ दूसरे वन हैं। समझे न ? नाटक है, वहाँ एकेन्द्रिय आदि जीवों को (सुख नहीं है)। वहाँ उत्पन्न हुए एकेन्द्रिय को नहीं। उस स्वर्ग में निवास करनेवाले को सुख है। इस मनुष्य की अपेक्षा उसे शुभ उपयोग का साधन सुख मिला हुआ है। इतना (कहना है)।

स्वर्ग में, न कि क्रीड़ादिक के वश से रमणीक पर्वतादिक में ऐसा सुख होता है,... स्वर्ग में जब हो, तब मनुष्य की अपेक्षा उसे सुख अधिक दिखता है। उस क्रीड़ादिक के वश रमणीय पर्वतादिक में जाये, वहाँ ऐसा सुख नहीं होता। वहाँ कौतुहलता का जरा सा ऐसा होता है न ? स्वर्ग में रहनेवाले जीव को सुख अधिक है - ऐसा कहना है। जो चाहने के अनन्तर ही अपने विषय को अनुभव करनेवाली स्पर्शनादिक इन्द्रियों से सर्वांगीण हर्ष के रूप में उत्पन्न हो जाता है। स्वर्ग के देव को सुख चाहने के अनन्तर ही... इच्छा हो। विषय का अनुभव करने की स्पर्शनादिक पाँच इन्द्रियों की।

देखो! 'आदि' है न? सर्वांगीण हर्ष के रूप में उत्पन्न... सम्पूर्ण अंग से उसे हर्ष-राग होता है। हर्ष अर्थात् राग। ऐसा यह इन्द्रियों का सुख है। यह सम्यग्दृष्टि आत्मा का भान करके, दृष्टि अनुभव करके, अभी शुभराग रहा; इसलिए स्वर्ग में गया, उसके सुख की व्याख्या बतलाते हैं। समझ में आया? कहो, इसमें समझ में आया?

यहाँ तो एक-एक अंग को जरा सा इन्द्रिय का सुख लगता है (-ऐसा) यहाँ कहते हैं। वहाँ तो पाँचों इन्द्रिय का - सर्वांगीण-ऐसा कहते हैं न? पाँचों इन्द्रिय का सुख - हर्ष उसे दिखायी देता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : दिखायी देता है ?

उत्तर : दिखता है, दूसरा क्या है वहाँ? धूल है।

आत्मिक सुख तो परमात्मा स्वयं आत्मा असंख्य प्रदेशी, अतीन्द्रिय आनन्द का कन्द आत्मा विराज रहा है। उसमें अन्तर की एकाग्रता से जो आनन्द आवे, ऐसा आनन्द तीन काल में दूसरे स्वर्ग आदि में भी नहीं और चक्रवर्ती में भी नहीं और धूल में भी नहीं, इसकी इज्जत और कीर्ति के बड़े ढेर पड़ें, उसमें भी नहीं। राग है, राग है, हर्ष है।

मुमुक्षु : वहाँ तो खाने का भी नहीं।

उत्तर : खाने का क्या काम है वहाँ? हजारों वर्ष में इच्छा हो तो तृप्ति होती है। कण्ठ में से अमृत झरता है। हजारों वर्ष में इच्छा हो, वहाँ कण्ठ में से अमृत झरता है। तृप्त... तृप्त... हो जाता है। अमृत अर्थात् धूल, हाँ! अपने अमी नहीं कहते? अमी... बहुत लूखा मुँह हो जाये। अमी कहते हैं। इसे बहुत अमी आवे। बहुत पुण्य किया है न, इसलिए इच्छा हो वहाँ अमृत (झरता है)। वह आत्मा का अमृत नहीं। आहाहा...!

सम्यग्दृष्टि धर्मी गृहस्थाश्रम में हो, उसे भी आत्मा के सम्यग्दर्शन का जो अतीन्द्रिय स्वाद आवे, ऐसा स्वाद इन्द्रिय के विषय में जहर, जिसमें - विषय में वह स्वाद होता नहीं। समझ में आया? इस मनुष्य के विषय के सुख में है, उसकी अपेक्षा किञ्चित् ठीक है - ऐसा बतलाकर फिर कहते हैं कि वासना का सुख संसार का है। अज्ञानी ने मानी हुई वासना है कि इसमें सुख है, (बाकी) सुखरूप है नहीं।

तथा जो आतंक (शत्रु आदिकों के द्वारा किये गये चित्तक्षोभ) से भी रहित

होता है,.... मनुष्य में तो सुख आदि पाँच-पचास लाख हो, राजा हो वहाँ कोई शत्रु आवे...
ऐई..! क्षोभ हो जाता है। क्या होगा ? राज्य का क्या होगा ? अमुक का क्या होगा ?
पैसेवालों को लो न! दो-पाँच-दस करोड़ आये हों, सम्हालना कैसे ? डालना कैसे ? करना क्या ?
कैसे करना ? उसे यह होली सुलगती ही होती है। कल्पना!

मुमुक्षु : उसकी व्यवस्था करे।

उत्तर : व्यवस्था करने का क्या है ? राग है। मलूपचन्दभाई! क्या होगा ? अरे!
होली सुलगती होती है। ऐसे से ऐसा और ऐसे से ऐसा और ऐसे से ऐसा, हर्ष नहीं। पूछो
न उसके लड़के को। परन्तु इसे इसके लड़के का पता है न! उसके पास दो करोड़ रुपये
हैं। वह एक बार सब कहता था। कहीं हर्ष (नहीं) मेरे पास तो दूसरा क्या कहे तब ? धूल
में भी नहीं तेरे दो करोड़ में, दस करोड़ में। मिट्टी है, धूल है। आहाहा..!

यहाँ तो कहते हैं - राजा का सुख भी विघ्नवाला है। देव का सुख, वह विघ्नरहित
है। इतनी बात करनी है। है तो इन्द्रिय का सुख, परन्तु मनुष्य के राजा आदि (के) सुख
(विघ्नवाला है)। राजा आदि बड़े राजा, देखो! समझ में आया ? कैसा राजा! देखो न,
अभी एक बड़ा नहीं था ? एक घण्टे में कितने लाख ? ढाई लाख। एक घण्टे में ढाई लाख
की आमदनी। उठा दिया, उठा दिया। इसे राज्य में वह निकलता... क्या कहलाता है ? तेल,
तेल का कुँआ। उसके बाप का राज्य छोटा था परन्तु उसके (राज्य में) ऐसे पेट्रोल के कुँए
निकले कि उसकी कितनी आमदनी! एक घण्टे में ढाई लाख की इतने चौबीस घण्टे, इतने
महीने और इतने वर्ष... बड़े करोड़ों... करोड़ों... करोड़ों... रुपये की (आमदनी)। उसके
कुटुम्बियों ने एकदम उठा दिया। यह तो अन्दर विघ्न (आया) बाहर के सुख में क्या है ?
इस देव के सुख को विघ्न नहीं है - ऐसा कहना है। देव का पुण्य का शुभभाव का सुख
है, उसे जितना काल होता है, उतने काल उसे विघ्नरहित होता है। इतनी बात सिद्ध करनी
है, हाँ! इस मनुष्य को तो चित्त में क्षोभ होता है।

अर्थात् वह सुख राज्यादिक के सुख के समान आतंकसहित नहीं होता है।
लो, गद्दी पर बैठा था। आज के समाचार-पत्र में ऐसा सुना था कि उसका भाई है, वह उसे
मार डालेगा। उसकी बहुत पीड़ा है, दुःख है। इसने इसके भाई को निकाल दिया था। रोग

भी बहुत (थे), सात रोग आये थे। धूल में भी (सुख) नहीं है। व्यर्थ में मेरा मानकर (भटकता है) कहते हैं कि ऐसी जहाँ प्रतिकूलता है, वैसी प्रतिकूलता स्वर्ग में नहीं है। आत्मा का ध्यान करके, जिसे जरा शुभभाव हुआ है, उसके पुण्य में ऐसा सुख वहाँ होता है।

वह सुख भोगभूमि में उत्पन्न हुए सुख की तरह थोड़े कालपर्यन्त भोगने में आनेवाला भी नहीं है। देखो! सब उपमा दी है। यह युगलिया है न? युगलिया। इस मेरु पर्वत के पास देवकुरु, उत्तरकुरु आदि (भोगभूमि में) युगलिया मनुष्य है। स्वयं जन्में बहिन और भाई और फिर होवे स्वयं पत्नी और पति। तीन-तीन पल्योपम का आयुष्य, तीन गाँव के ऊँचे मेरु पर्वत के पास (होते हैं)। भगवान तीर्थकर ने कहा है। इन युगलिया को कभी कमाना नहीं पड़ता। कल्पवृक्ष में (सब मिलता है)। उनका सुख भी थोड़े काल का है। तीन पल्योपम का, किसी को दो पल्योपम का, किसी को एक पल्योपम का है। इन्हें (देवों को) सागरोपम का है - ऐसा सिद्ध करना है न? अधिक सिद्ध करना है-इस अपेक्षा से। समझ में आया? भोगभूमि में उत्पन्न हुए सुख की तरह थोड़े कालपर्यन्त भोगने में आनेवाला भी नहीं है। यह तो सागरोपम के सुख की व्याख्या बतलानी है। वैसे तो श्रावक पल्योपम, दो पल्योपम जाता है परन्तु यहाँ तो एक उत्कृष्ट सुख की व्याख्या करनी है न!

वह उल्टा, सागरोपम काल तक,... इस स्वर्ग में सागरोपम, असंख्य अरब वर्ष तक इन्द्रियों के सुख (रहते हैं)। आत्मा का ध्यान, सम्यग्दर्शन करके शुभभाव हुए, उसके फल में ऐसा सुख उसे है। अज्ञानी को भी आत्मा के भान बिना शुभभाव से (पुण्य) होवे तो - ऐसा सुख तो होता है, परन्तु उसके पीछे उसे धब्बो नमा... वह स्वर्ग में से मरकर एकेन्द्रियादि में जाता है, मरकर पशु में जाता है। सम्यग्दृष्टि उनमें जाता (नहीं), वहाँ से मनुष्य होकर मोक्ष में जाता है। कहो, समझ में आया?

वह सुख भोगभूमि में उत्पन्न हुए सुख की तरह थोड़े कालपर्यन्त भोगने में आनेवाला भी नहीं है। वह उल्टा, सागरोपम काल तक, आज्ञा में रहनेवाले देव-देवियों के द्वारा की गई सेवाओं से समय-समय बढ़ा-चढ़ा ही पाया जाता है। कहते हैं कि आत्मा का ज्ञान और ध्यान करके, अनुभव करके जो शुभभाव से स्वर्ग में गया,

उसे आज्ञा में रहनेवाले देव-देवियों द्वारा सेवा (प्राप्त होती है)। खम्बा अन्नदाता! क्या चाहिए? हजारों देवियाँ, हजारों देव उसकी सेवा में हैं। समय-समय बढ़ा-चढ़ा... बढ़ा-चढ़ा अर्थात् क्या? बढ़ता ही बढ़ता सुख, ऐसा कहते हैं। अपने नहीं कहते? एक के बाद एक सुख का... है। समझ में आया?

‘स्वर्ग में निवास करनेवाले प्राणियों का (देवों को) सुख स्वर्गवासी देवों के समान ही हुआ करता है।’ यह तो इनके सुख जैसा इसे सुख है। इसे आत्मा का सुख नहीं और इसे उपमा मनुष्य के सुख की दी जा सके ऐसा नहीं। ऐसी दो बातें हैं। इस प्रकार से कहने या वर्णन करने का प्रयोजन यही है कि वह सुख अनन्योपम है। ऐसे इन्द्रिय का सुख मनुष्य के साथ उपमा नहीं दी जा सकती। अर्थात् उसकी उपमा किसी दूसरे को नहीं दी जा सकती है। लोक में भी जब किसी चीज की अति हो जाती है, ... बहुत बढ़ जाये। तो उसके द्योतन करने के लिए ऐसा ही कथन किया जाता है, जैसे ‘भैया! राम-रावण का युद्ध तो राम-रावण के युद्ध समान ही था। ऐसा कहते हैं न! वह तो उसके जैसा है, बापू! ‘रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव।’ महा भयंकर बताना होवे न! भयंकर युद्ध राम-रावण का युद्ध, वह राम-रावण के युद्ध जैसा। वैसा युद्ध दूसरे को होता नहीं। इसी प्रकार स्वर्ग का सुख, स्वर्ग के सुख जैसा, बस! इतना (कहना है)।

अर्थात्, इस पंक्ति में युद्ध सम्बन्धी भयंकरता की पराकाष्ठा को जैसा द्योतित किया गया है। ऐसा ही सुख के विषय में चाहिए। इतना सुख के विषय में जानना। यह भी ऐसा सुख है - ऐसा कहना है।

दोहा - इन्द्रियजन्य निरोगमय, दीर्घकाल तक भोग्य।
स्वर्गवासि देवानिको, सुख उन्ही के योग्य॥५॥

लो! यह इन्द्रियजन्य से उत्पन्न हुआ और निरोगता... वहाँ तो निरोग है न? इसकी जैसे वहाँ रोग नहीं है। आहा...हा...!

मुमुक्षु : वहाँ पक्षघात नहीं होता।

उत्तर : पक्षघात नहीं होता। वहाँ पैर काम न करे - ऐसा नहीं चलता। समझ में आया? जयचन्दभाई! परन्तु यह तो शोर मचाते जाएँ और पाप बाँधे, हों! यह तो आत्मा

का ध्यान सम्यग्दर्शन शुद्ध चैतन्य की प्रतीति की है, आत्मज्ञान में आनन्द माना है, उसे अभी शुभराग कुछ बाकी रह जाए और पुण्य बाँधे, उसकी व्याख्या है। समझ में आया ?

‘स्वर्ग में निवास करनेवाले देवों को, दीर्घ काल तक भोग्य’ बहुत काल तक वहाँ रहे, वे ‘सुख उन्हीं के योग्य’ लो! अब उसमें से शिष्य ने शंका उठाई, बहुत सुख की व्याख्या करके! इतना अधिक सुख! तब अब आत्मा की भक्ति और आत्मा का आनन्द और धर्म किसलिए करना? आत्मा की भक्ति करके क्या काम है? ऐसा सुख मिले तो बस है। समझ में आया? शिष्य को प्रश्न हुआ।

‘शंका : इस समाधान को सुन शिष्य को पुनः शंका हुई और वह कहने लगा - ‘भगवन्! न केवल मोक्ष में, किन्तु यदि स्वर्ग में भी, मनुष्यादिकों से बढ़कर उत्कृष्ट सुख पाया जाता है,...’ ‘केवल मोक्ष में नहीं...’ ऐसे कि मोक्ष में ही सुख है - ऐसा नहीं। आपके कथनानुसार तो मनुष्यादि से अधिक सुख देखने में आता है। स्वर्ग में तो बहुत सुख... बहुत सुख... बहुत सुख... ओहो...हो...!’ ‘तो फिर मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो जावे इस प्रकार की प्रार्थना करने से क्या लाभ?’ आत्मा का आनन्द प्रगट हो और मेरी मुक्ति हो - उसका क्या काम? शिष्य का प्रश्न है। तुमने सुख की बहुत व्याख्या की। मनुष्य से भी बढ़ा हुआ सुख! मोक्ष तो फिर एक ओर रहा। ऐसा सुख देव का! तो फिर मोक्ष का काम क्या है, इसमें ?

संसार सम्बन्धी सुख में ही सुख का आग्रह करनेवाले शिष्य को ‘संसार सम्बन्धी सुख और दुःख भ्रान्त हैं।’ यह बात बतलाने के लिये आचार्य आगे लिखा हुआ श्लोक कहते हैं -

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनां।

तथा ह्यु द्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवाऽऽपदि।।६।।

अर्थ - देहधारियों को जो सुख और दुःख होता है, वह केवल कल्पना (वासना या संस्कार) जन्य ही है। देखो! जिन्हें लोक में सुख पैदा करनेवाला समझा जाता है, ऐसे कमनीय कामिनी आदिक भोग भी आपत्ति (दुर्निवार, शत्रु आदि के द्वारा की गई

बेचेनी) के समय में रोगों (ज्वरादिक व्याधियों) की तरह प्राणियों को आकुलता पैदा करनेवाले होते हैं। यही बात सांसारिक प्राणियों के सुख-दुःख के सम्बन्ध में है।

विशदार्थ - ये प्रतीत (मालूम) होनेवाले जितने इंद्रियजन्य सुख व दुःख हैं, वे सब वासनामात्र ही हैं। देहादिक पदार्थ न जीव के उपकारक ही हैं और न अपकारक ही। अतः परमार्थ से वे (पदार्थ) उपेक्षणीय ही हैं। किन्तु तत्त्वज्ञान न होने के कारण - 'यह मेरे लिये इष्ट है - उपकारक होने से' तथा 'यह मेरे लिये अनिष्ट है-अपकारक होने से।' ऐसे विभ्रम से उत्पन्न हुए संस्कार, जिन्हें वासना भी कहते हैं - इस जीव के हुआ करते हैं। अतः ये सुख-दुःख विभ्रम से उत्पन्न हुए संस्कारमात्र ही हैं, स्वाभाविक नहीं। ये सुख-दुःख उन्हीं को होते हैं जो देह को ही आत्मा माने रहते हैं। ऐसा ही कथन अन्यत्र भी पाया जाता है - 'मुंचांग'।

अर्थ - इस श्लोक में दम्पतियुगलक वार्तालाप का उल्लेख कर यह बतलाया गया है कि 'वे विषय जो पहिले अच्छे मालूम होते थे, वे ही मन के दुःखी होने पर बुरे मालूम होते हैं।' घटना इस प्रकार है - पति-पत्नी दोनों परस्पर में सुख मान, लेटे हुए थे कि पति किसी कारण से चिंतित हो गया। पत्नी, पति से आलिंगन करने की इच्छा से अंगों को चलाने और रागयुक्त वचनालाप करने लगी। किन्तु पति जो कि चिंतित था, कहने लगा 'मेरे अंगों को छोड़, तू मुझे संताप पैदा करनेवाली है। हट जा। तेरी इन क्रियाओं से मेरी छाती में पीड़ा होती है। दूर हो जा। मुझे तेरी चेष्टाओं से बिलकुल ही आनन्द या हर्ष नहीं हो रहा है।' 'रम्यं हर्म्यं'

रमणीक महल, चन्दन, चन्द्रमा की किरणों (चाँदनी), वेणु, वीणा तथा यौवनवती युवतियाँ (स्त्रियाँ) आदि योग्य पदार्थ भूख-प्यास से सताये हुए व्यक्तियों को अच्छे नहीं लगते। ठीक भी है, अरे! सारे ठाटबाट से भर चाँवलों के रहने पर ही हो सकते हैं। अर्थात् पेट भर खाने के लिए यदि अन्न मौजूद है, तब तो सभी कुछ अच्छा ही अच्छा लगता है। अन्यथा (यदि भरपेट खाने को न हुआ तो) सुन्दर एवं मनोहर गिने जानेवाले पदार्थ भी बुरे लगते हैं। इसी तरह और भी कहा है -

'एक पक्षी (चिरबा) जो कि अपनी प्यारी चिरैया के साथ रह रहा था, उसे धूप में रहते हुए भी संतोष और सुख मालूम देता था। रात के समय जब वह अपनी चिरैया से बिछुड़ गया, तब शीतल किरणवाले चन्द्रमा की किरणों को भी सहन (बरदास्त) न

कर सका। उसे चिरैया के वियोग में चन्द्रमा की ठण्डी किरणें सन्ताप व दुःख देनेवाली ही प्रतीत होने लगीं। ठीक ही है, मन के दुःखी होने पर सभी कुछ असह्य हो जाता है, कुछ भी भला या अच्छा नहीं मालूम होता।’

इन सबसे मालूम पड़ता है कि इन्द्रियों से पैदा होनेवाला सुख वासनामात्र ही है। आत्मा का स्वाभाविक एवं अनाकुलतारूप सुख वासनामात्र नहीं है, वह तो वास्तविक है। यदि इन्द्रियजन्य सुख वासनामात्र-विभ्रमजन्य न होता तो संसार में जो पदार्थ सुख के पैदा करनेवाले माने गये हैं, वे ही दुःख के कारण कैसे हो जाते? अतः निष्कर्ष निकला कि देहधारियों का सुख केवल काल्पनिक ही है और इसी प्रकार उनका दुःख भी काल्पनिक है।६।।

दोहा - विषयी सुख दुःख मानते, है अज्ञान प्रसाद।
भोग रोगवत् कष्ट में, तन मन करत विषाद।६।।

गाथा - ६ पर प्रवचन

संसार सम्बन्धी सुख में ही सुख का आग्रह करनेवाले शिष्य को ‘संसार सम्बन्धी सुख और दुःख भ्रान्त हैं।’ अरे..! शिष्य सुन! संसार सम्बन्धी जितने पुण्य के सुख स्वर्ग में वर्णन किये, उस सुख का आग्रह करनेवाले शिष्यों, वह संसार सम्बन्धी सुख-दुःख तेरी भ्रान्ति है। पर में सुख-दुःख मानना, वह भ्रम है। ओहोहो...! उड़ा दिया सब क्षण में। यह तो आता है, मनुष्य की अपेक्षा दूसरा (होता है) ऐसी बात जरा बीच में बताई, परन्तु तू माने कि वहाँ यथार्थ सुख है... ऐसी मान्यता तो बहिरात्म मिथ्यादृष्टि की होती है। शुभ उपयोग में सुख मिले, वह सुख माने, वह तो मिथ्यादृष्टि मानता है - ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया ?

संसार सम्बन्धी सुख में ही सुख का आग्रह करनेवाले... देखो! सुख में ही आग्रह। वहाँ स्वर्ग में सुख है न? मनुष्य की अपेक्षा बहुत है न! ऐसा आग्रह करनेवाला शिष्य ‘संसार सम्बन्धी सुख और दुःख भ्रान्त हैं।’ यह बात बतलाने के लिये आचार्य आगे लिखा हुआ श्लोक कहते हैं-

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनां।
तथा ह्यु द्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवाऽऽपदि॥६॥

अर्थ - देहधारियों को... जो यह देह-मिट्टी के धरनेवाले जो जीव हैं, (उन्हें) जो सुख और दुःख होता है, वह केवल कल्पना (वासना या संस्कार) जन्य ही है। देखो! सम्यग्दृष्टि तो आत्मा में ही आनन्द मानता है। स्वर्ग में होवे तो आत्मा में आनन्द मानता है; पर में आनन्द नहीं मानता। मनुष्य में चक्रवर्तीरूप से समकिति होवे, भरत चक्रवर्ती लो न! भगवान के पुत्र-ऋषभदेव के पुत्र। 'भरत घर में वैरागी' — आता है या नहीं? हमारा सुख यहाँ (अन्तर में) है; इन रानियों में नहीं, राज्य में नहीं, आबरू में नहीं, कीर्ति में नहीं; हमारा सुख तो अन्तर आत्मा में है। ऐसे सम्यग्दृष्टि धर्मी आत्मा में आत्मा का सुख मानता है। अज्ञानी, बाहर के सुख के विषय आदि भोग के सुख को सुख, भ्रान्ति से-भ्रम से मानता है। ओहोहो..! समझ में आया ?

केवल कल्पना जन्य ही है। देखो भाषा! केवल कल्पना (वासना या संस्कार)... केवल (अर्थात्) नहीं और केवल कल्पना से मानता है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? पहले स्वर्ग के सुख का वर्णन बहुत किया। केवल कल्पना है। प्रभु! आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड आत्मा है। ऐसे आनन्द को छोड़कर, अज्ञानी विषय के - इस स्वर्ग के, इस चक्रवर्ती के या देव के या मनुष्य के - इनमें कल्पना-वासना, वास-खोटी गन्ध पड़ गयी है, वे इसे संस्कार अज्ञान के हो गये हैं। समझ में आया ?

देखो! जिन्हें लोक में सुख पैदा करनेवाला समझा जाता है,... जिन्हें लोक में सुख पैदा करनेवाला जानने में आता है; जैसे कमनीय कामिनी आदिक भोग भी.... कमनीय अर्थात् सुन्दर और रूपवान; कामिनी अर्थात् स्त्री और लक्ष्मी, मकान और आबरू आदि है न सब ? मकान ऐसे पाँच-पाँच लाख, दश-दश लाख के मकान हों, सुन्दर स्त्री हो, खाने-पीने के (साधन) हों, रेशमी गद्दे हों, खाने-पीने के ऐसे लड्डू और अरबी (के भुजिये) और श्रीखण्ड-पुरी बनाये हों, परन्तु कहते हैं कि उसमें यदि उसे अन्दर कुछ दुःख-चिन्ता हो तो (कहता है) मजा नहीं आया। समझ में आया ?

ऐसे कमनीय कामिनी आदिक भोग भी आपत्ति (दुर्निवार, शत्रु आदि के

द्वारा की गई बेचेनी).... देखो! इसमें कुछ ऐसा हो गया अन्दर में... आहाहा...! (वैसे समय में) रोगों (ज्वरादिक व्याधियों) की तरह प्राणियों को आकुलता पैदा करनेवाले होते हैं। लो! भोग भी आपत्ति के समय में... आपत्ति के समय। समझ में आया? (दुर्निवार, शत्रु आदि के द्वारा की गई बेचेनी)... बहुत साधन (होवे)... ए... दुश्मन आया। समझ में आया? 'राणपुर' में नहीं तुम्हारे? राजा किनारे क्रीड़ा करता था, दरबार क्रीड़ा करता था, उसमें शत्रु आया। शतरंज खेलता था। अरे! राजा! यह सेना आयी किनारे? किनारो छोटा गाँव है, राणपुर के पास है। उस ओर है न किनारो? यह सेना आयी किनारे। क्या मजा करे? हैं...! घर में अनेक रूपवान सुन्दर रानियाँ.... खड़ा हुआ। हैं...! देखो! यह धूल उड़े, आया यह, हों! इन सबको ले जाकर रानियों को ले जाएगा। उठा, फिर भगा। चिन्ता... चिन्ता... चिन्ता... हाय! हाय! पीछे कह गया कि वहाँ यदि मेरी ध्वजा गिरे तो समझना कि मैं हार गया। सहज ही ऐसा हुआ कि वहाँ गया। ध्वजा तो वहाँ किसी ने फाड़ी। इन लोगों ने जाना कि ओहो! पड़ी, रानियाँ कुएँ में पड़ी। धव... धव... कुआ है न ऊपर? बहुत बड़ा कुआ है। रानियों ने जाना कि राजा गया, हार गया। अब वह आधीन करेगा। जीवित रानियाँ कुएँ में (पड़ी)। देखो चिन्ता! क्षण में हर्ष था और क्षण में (दुःख आ गया।) समझे न? राजा क्रीड़ा करना छोड़ सेना आयी किनारे – ऐसा कहा। ऐ राजा! छोड़ खेल। यह देख सेना आयी किनारे। रानियों को ले जायेंगे, राजा को उठा लेंगे। चिन्ता... चिन्ता... चिन्ता... चिन्ता...

कहते हैं, ऐसे समय में दुर्निवार शत्रु आदि (अर्थात्) निवारण न किया जा सके ऐसे समय में, हों! ऐसे काल में शत्रु आदि, शरीर में रोग आदि (आवे), लो न! (ज्वरादिक व्याधियों) की तरह.... यह रोग जैसे आवे और इसे दुःख लगे ऐसा। प्राणियों को आकुलता पैदा करनेवाले होते हैं। समझ में आया? इसमें अभी तो इन चिन्ताओं का पार नहीं होता। यह कालाबाजार और देखो न, अभी तो कहीं चैन नहीं मिलती। अरे! इसे कैसे वह सरकार कहीं पकड़ेगी, क्या करेंगे? पाँच लाख कमायें, वे बताये नहीं। अब क्या करें? बतावे तो चौरासी हजार ले जावे। ऐसा कुछ कहते हैं न? अपने को बहुत पता नहीं, हों! ऐसा कहते हैं। एक लाख में चौरासी हजार, अधिक कहे तो, दश लाख पैदा करता है। थोड़ा-बहुत आवे थोड़ा-बहुत। हाय! हाय! अब क्या करना इसमें? चिन्ता... चिन्ता...

चिन्ता... सब पैसेवाले भी अन्दर से चिन्ता में फँस गये, मूढ़ हो गये होते हैं, हों! वे मुफ्त के बाहर में (सुखी) लगे।

मुमुक्षु : मोटर है।

उत्तर : मोटर होवे तो क्या करे ? कहा न, अन्दर ज्वाला सुलगती होती है। बाहर में बड़ी लाख की मोटर हो। क्या करेगा, क्या करेगा, कैसे पकड़ायेगा, पकड़ेगा। अरबपतियों को पिछले दरवाजे से भग जाना पड़ता है। अरे... ! पकड़ ले तो ऐसा, पकड़े (कि) देर भी नहीं लगे। इसमें तेरे पैसे-बैसे पड़े रहें। ये प्राणियों को आकुलता उत्पन्न करनेवाले सुख हैं, भाई! रोग की तरह, हों! रोग। यह सब भोग आदि सामग्री (आकुलता उत्पन्न करनेवाली है।)

यही बात सांसारिक प्राणियों के सुख-दुःख के सम्बन्ध में है। लो! यह अनुकूलता दिखे, वहाँ ऐसा विघ्न आवे, कोई चिन्ता आवे, शरीर में क्षय रोग लागू पड़ गया। हाय! हाय! अब ? एक व्यक्ति को कहा, ४८ वर्ष में नया विवाह किया... समझे न ? और कैंसर हुआ। दस लाख रुपये... यह तो बहुत वर्ष की बात है, हाँ! दस लाख रुपये, ४८ वर्ष में विवाह किया और कैंसर (हुआ)। डॉक्टर को कहे - भाईसाहिब! दूसरे को कहना नहीं, हाँ! मुझे कहना, मैं पचा लूँगा; बाहर कहना नहीं, हाँ! यह स्त्री है, लड़का छोटा है, सब चिल्लायेगे। ४८ वर्ष की उम्र, क्षय में मर गया। समझ में आया ? डूंगरसीभाई! डूंगरसी गुलाबचन्द! लीमड़ी... लीमड़ी डूंगरसी गुलाबचन्द संघवी, ४८ वर्ष में पैसा बहुत हो गया, दस लाख रुपये उस समय। यह तो ४० वर्ष की बात है। नया विवाह और पैसावाला व्यक्ति, इज्जत बड़ी विसाश्रीमाली। डॉक्टर कहे कैंसर हुआ है। हैं... ! निभनेवाला नहीं, हाय...हाय... ! इस बंगले का क्या करना, पैसे का क्या करना ? जैसा होना होगा, वैसा होगा परन्तु बाहर बात करना नहीं। अन्त में देह छूट गया। बेचारा आता, हाँ! (संवत्) १९८२ का चातुर्मास वहाँ बढवाण में था न! वहाँ आता। लीमड़ी से व्याख्यान सुनने (आवे) हाँ! १९८२ के चातुर्मास में लीमड़ी से व्याख्यान सुनने आवे।

कहते हैं यह सब सुख संसारी को रोग समान सुख-दुःख लगे, उस समय रोग जैसा लगे, कहते हैं। जब चिन्ता आयी हो तो हाय... हाय... !

मुमुक्षु : देव को ऐसी चिन्ता नहीं आती ।

उत्तर : यह तो कहा न ! यहाँ तो एक साधारण व्याख्या की है । भले देव को नहीं परन्तु यह तो साधारण व्याख्या है न ! देहधारी के सुख ऐसे हैं । उसे मृत्यु आवे तब लो ! देव को ऐसा पता पड़े की यह माला मुरझायी... हाय...हाय... ! ऐसे तो कितने ही देव यहाँ से जाते हैं, तू कोई नया नहीं है । कहाँ जाऊँगा ? भाईसाहब ! यहाँ से तो कोई मरकर एकेन्द्रिय में जाता है अथवा पशु में जाता है । देव को जहाँ समय आवे, आयुष्य पूर्ण हो, माला मुरझायी हुई दिखे, शरीर का तेज न दिखे... यह क्या हुआ ? कि आयुष्य पूर्ण होने को आया । अब ? असंख्य अरबों वर्ष यहाँ रहा हो । जायेगा कहाँ ? पशु में... हैं ! अर..र ! इस तिर्यच की, इस गधी की कूख में, हथिनी की कूख में (जाये) फिर रोवे, वह देव । अरे ! इसकी अपेक्षा एकेन्द्रिय में उत्पन्न होऊँ तो अच्छा - ऐसा विचार करे । यह नौ महीने गर्भ में रहना पड़ेगा, अर..र ! यह असंख्य अरब वर्ष यहाँ रहे इसकी अपेक्षा तो (एकेन्द्रिय में जायें तो अच्छा) वह मरकर एकेन्द्रिय में जाये । आहाहा... ! पृथ्वी में-हीरा में जाये, कोई सुगन्धित जल में जाये, वनस्पति में कोई फूल-फल में जाये । देव मरकर (वहाँ) जाये । उसमें है क्या ? धूल । समझ में आया ? आहाहा... !

इस आत्मा में आनन्द है, बापू ! अन्यत्र कहीं है नहीं । यह तेरा शुभभाव किया हो तो भी स्वर्ग में सुख है नहीं - ऐसा सिद्ध करते हैं । समझ में आया ? बाहर की जरा सुविधा कम हो, वहाँ शोर मचाये, हाँ ! जरा अनुकूलता आवे वहाँ तो फूल जाये, छाती फूल-फूल जाये... ओहोहो ! क्या है परन्तु ? सन्निपात है, सन्निपात ।

कहते हैं सुख तो आत्मा में है, भाई ! यह शुभभाव किया, समकित्ती को आया, उसे शुभभाव का फल आया परन्तु उसमें सुख मानता नहीं । अज्ञानी को (ऐसा लगता है) हाय...हाय.. ! शरीर अच्छा था, (तब) किया नहीं । अब यह हुआ, चिन्ता... चिन्ता... चिन्ता..., जले-सुलगे और नरक में चला जाये । नरक और निगोद ।

ये प्रतीत (मालूम) होनेवाले जितने इंद्रियजन्य सुख व दुःख हैं, वे सब वासनामात्र ही हैं । लो ! इस पैसे में, स्वर्ग में, मनुष्य में, चक्रवर्ती में, सर्वत्र जो कुछ इंद्रियजन्य सुख-दुःख है... देखो ! सुख-दुःख दोनों लिये, हों ! यह रोग आया, प्रतिकूलता आयी वह दुःख है, वह भी वासनामात्र है, वह दुःख है ही नहीं, तेरी मान्यता में दुःख है ।

रोग आया, प्रतिकूलता आयी (तो) कहते हैं, वह दुःख नहीं; तेरी कल्पना में (आता है कि) मुझे दुःख आया, इस तेरी मान्यता में दुःख है और अनुकूलता आवे, वह सुख है, वह तेरी कल्पना में सुख तूने माना है; (सुख) है नहीं। आहाहा!

वे सब वासनामात्र ही हैं। देहादिक पदार्थ न जीव के उपकारक ही हैं और न अपकारक ही।.... देखो! शरीर, स्त्री, कुटुम्ब, मकान, पैसा यह नहीं जीव को उपकारक (अर्थात्) ये उपकार करनेवाले नहीं। यह देह उपकार करनेवाली नहीं? बहुत से कहते हैं न? उपकार करता है। शास्त्र में-तत्त्वार्थसूत्र में आता है कि उपकार करे, ऐसा करे, वैसा करे... यह तो निमित्त हो, उसकी बात है। यह तो पुद्गल की बात है।

देहादिक पदार्थ - यह शरीर, वाणी, बाहर का पैसा, मकान, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, लक्ष्मी के हीरे के ढेर, ये पदार्थ उपकारक नहीं और अपकारक भी नहीं। यह नुकसान करनेवाले भी नहीं और लाभदायक भी नहीं। सत्य बात होगी? इस शरीर में रोग (आवे), वह कोई नुकसानकारक नहीं - ऐसा कहते हैं और शरीर में निरोगता, वह उपकारकारक -लाभदायक नहीं - ऐसा कहते हैं। समझ में आया जयचन्दभाई? पढ़ो तो सही, नीचे तो देखो। यह देहादिक... है दूसरी लाईन? देह अर्थात् शरीर, आदि अर्थात् स्त्री, लक्ष्मी, इज्जत, कीर्ति, टोपी, मकान, हीरा, माणिक, जवाहरात, मोटर यह न जीव को उपकारक है, यह उपकार करनेवाले हैं नहीं तथा देहादिक न अपकारक, यह नुकसान करनेवाले नहीं।

मुमुक्षु : यह तो स्वस्थ देह की बात है न! रोगी देह को....

उत्तर : परन्तु दोनों देह की बात है, पूरा देह लिया न, फिर प्रश्न (कहाँ है)? इसलिए तो पहले दो प्रश्न किये - निरोग देह आत्मा को उपकारक नहीं, सारोग देह आत्मा को अपकारक नहीं। दोनों की व्याख्या है या क्या व्याख्या है यहाँ? इसी प्रकार लक्ष्मी पाँच-पच्चीस लाख मिली, वह आत्मा को उपकारक नहीं और निर्धनता, वह आत्मा को नुकसानकारक नहीं। आहाहा! यह लड़के अच्छे पके, आठ बड़े योद्धा जैसे, छह-छह हाथ के लम्बे और यूरोपियन जैसे, यह आत्मा को नुकसानकारक भी नहीं और लाभदायक भी नहीं। शत्रु जैसे लड़के पकें तो कहते हैं कि वे नुकसानकारक नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। परद्रव्य आत्मा को नुकसानकारक नहीं है।

मुमुक्षु :

उत्तर : यह भ्रमणा घुसा डाली इसने – ऐसा कहते हैं न यह। डाली इसने, कहाँ से गिरे? नाक में विष्टा का गूँगा डाला, गोली!

भँवरा था न? भँवरा (उसे लगा) लाओ न कि यह मेरे जैसा लगता है। विष्टा की गोलीवाला था न! भँवरा कहे चल न मेरे फूल में। गुलाब के फूल के ऊपर लाया। लाने के बाद कहे – ऐ कैसी सुगन्ध है? वह भँवरा कहे देखो! यहाँ बहुत सुगन्ध है, वह कहे ऐसी की ऐसी लगती है। यह क्या? नाक में देखे तो छोटी मूँग जितनी विष्टा की गोली लाया और गुलाब के ऊपर बैठा, इसलिए विष्टा की गन्ध आती, गुलाब की गन्ध नहीं आती। समझ में आया?

इसी प्रकार भ्रम डालकर देखता है; इसलिए इसे पता नहीं पड़ता। अपकारक-उपकारक को माननेवाली भ्रमणा है। यह भ्रम की गोली इसने डाली है। कोई परपदार्थ अपकारक-उपकारक है नहीं। आत्मा का आनन्द, वह उपकारक है और राग-द्वेष, वह आत्मा को नुकसानकारक है; बाकी कोई बाहर में अपकारक-उपकारक है नहीं – ऐसी इसे श्रद्धा करके आत्मा का ज्ञान करना। विशेष कहेंगे। (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ४

गाथा-६

शुक्रवार, दिनाङ्क १८-०३-१९६६

फाल्गुन कृष्ण १२,

वीर संवत् २४९२

यह 'पूज्यपादस्वामी' का बनाया हुआ इष्टोपदेश है। छठवीं गाथा का विशद अर्थ। क्या कहते हैं? देखो! ये प्रतीत (मालूम) होनेवाले जितने इंद्रियजन्य सुख व दुःख हैं, वे सब वासनामात्र ही हैं। क्या कहते हैं? इन इन्द्रियों से इस शरीर में ठीक होवे तो मुझे सुख, शरीर में अठीक होवे तो मुझे दुःख; पैसा अनुकूल होवे तो सुख, पैसा न होवे तो दुःख – ऐसी कल्पना, अज्ञानी की वासनामात्र है। परवस्तु कोई सुख-दुःख का कारण नहीं है। समझ में आया?

आत्मा में आनन्द है — ऐसी जिसकी दृष्टि नहीं है; आत्मा में आनन्द है – यह धर्मदृष्टि है। धर्मी की दृष्टि आत्मा में आनन्द है। आत्मा ही स्वयं अनाकुल सच्चिदानन्द

सिद्धस्वरूप है — ऐसी जिसकी आनन्ददृष्टि है, उसे परपदार्थ में सुख-दुःख भासित नहीं होते। समझ में आया ? जिसकी धर्मदृष्टि हुई है; धर्मदृष्टि अर्थात् आत्मा का आनन्द स्वभाव है, आत्मा ही आनन्दस्वरूप है; आत्मा, वह स्वयं कहीं दुःखरूप नहीं है। वस्तु दुःखरूप हो नहीं सकती।

यह आनन्द है, अन्तर आत्मा में अनाकुल शान्तरस है। उसकी जहाँ दृष्टि है, धर्मदृष्टि हुई, वह पुण्य-पाप के भाव में भी सुख नहीं मानता और पर में भी सुख नहीं मानता तथा पर मुझे दुःख कारण है - ऐसा भी नहीं मानता। समझ में आया ? मात्र अज्ञानी, अपने आत्मा के स्वभाव की दृष्टि नहीं, जिसे धर्मदृष्टि नहीं; मैं शुद्ध चैतन्य हूँ और मेरा आनन्द मुझमें है — ऐसे श्रद्धा और ज्ञान जिसे सत्य नहीं, वह अधर्मदृष्टि-मिथ्यादृष्टि है।

ये प्रतीत (मालूम) होनेवाले जितने इंद्रियजन्य सुख व दुःख हैं, वे सब वासनामात्र ही हैं। इसे यह इंद्रियजन्य सुख-दुःख लगता है, वह मिथ्या वासना के कारण (लगता है।) समझ में आया ? इंद्रियों में, शब्द में, रूप में, रस में, गन्ध में, स्पर्श में, स्त्री में, मकान में, पैसे में, आबरु में (सुख लगता है।) वह तो परवस्तु है। धूल पर है। पर मुझे सुख-दुःख करनेवाला निमित्त है अथवा सुख-दुःख देता है, यह वासना ही मिथ्यादृष्टि की, अधर्मदृष्टि की, आत्मा के शुद्धस्वभाव की पराधीन दृष्टिवन्त की यह दृष्टि है। समझ में आया ?

जितने इंद्रियजन्य सुख व दुःख हैं, वे सब वासनामात्र ही हैं। स्त्री के शरीर में या इस शरीर में मुझे ठीक लगता है — इसका अर्थ यह हुआ कि वह पदार्थ और मैं दोनों एक हैं, इससे मुझे उसमें मजा (आता है।) ऐसी इसकी मिथ्या मान्यता पर को एक मानने से खड़ी हुई वासना, इसे सुखरूप शरीर और स्त्री, पैसा और मकान बाह्य पदार्थ अनुकूल - ऐसा यह अज्ञानी मानता है। आहाहा.. ! गुलाबभाई ! जरा सूक्ष्म सिद्धान्त है।

मुमुक्षु : बाहर की अनुकूलता....

उत्तर : बाहर में धूल में भी अनुकूलता नहीं। अनुकूलता कहना किसे ? अनुकूलता कहना किसे ?

भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव ने ऐसा कहा कि तेरा ज्ञान और तेरा आनन्द तुझमें हैं; पर में नहीं, क्योंकि जो भिन्न हो, उसमें

तेरा सुख-दुःख नहीं हो सकता। समझ में आया ? तथापि अज्ञानी, अपने में आनन्द है - ऐसा भूलकर, आनन्द है - ऐसा भूलकर; इन स्त्रियों के शरीर, पैसा, यह परपदार्थ मुझे इष्ट है, यह मुझे सुखरूप है - ऐसी मान्यता-मिथ्यात्व की वासना खड़ी करता है। आहाहा... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : कब की बात है ?

उत्तर : अभी की। कब की बात करते हैं ? ऐ... जयचन्दभाई ! कब की बात करते हैं यह ? आज प्रातः उकताहट लेकर आये थे। दो-चार दिन हो और उकताहट लेकर आवे। अब जीना रुचता नहीं। कहाँ जाना ? परन्तु बुढ़िया कह गयी है ? मोहनभाई ! बुढ़िया मर गयी तब थे या नहीं ? दोनों थे या नहीं ? आहाहा... ! कोई डालता नहीं और कोई निकालता नहीं - ऐसा यहाँ तो कहते हैं। इस परपदार्थ को मैं डालने जाऊँ - यह मान्यता वासना मिथ्याभ्रम अज्ञानी की है; क्योंकि जो परपदार्थ स्वतन्त्र है, उसका जाना-आना उसके स्वयं के ही कार्य के-पर्याय के कारण होता है। उसके बदले मूढ़ ऐसा मानता है कि मेरे कारण होता है; यह उसकी मान्यता मिथ्या वासना दुःखरूप है। आहाहा... ! समझ में आया ? कहो, चन्दुभाई ! क्या करना यह ? विषय तो ऐसा आया, देखो ! देहादिक पदार्थ न जीव के उपकारक ही हैं और....

मुमुक्षु : देह से तो धर्म होता है।

उत्तर : धूल में भी धर्म नहीं होता। देह से धर्म होता होगा ? इस मिट्टी से ?

आत्मा, ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव ने सर्वज्ञज्ञान में सव्वणहुणाणदिट्ठो उपयोगस्वरूप वह आत्मा भगवान ने देखा है। जानना-देखना अर्थात् जानने-देखने के स्वभाववाला भगवान आत्मा है - ऐसा भगवान ने देखा और तू ऐसा देख कि मैं तो जानने-देखनेवाला हूँ। समझ में आया ? तो दूसरे किसी पदार्थ (से) मुझे सुख-दुःख होता है - ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि को होती है, सम्यग्दृष्टि को रहती नहीं। आहाहा... ! गजब भाई ! धर्म और अधर्म की दृष्टि (में) पूरा अन्तर है।

देहादिक पदार्थ... देहादिक शब्द पड़ा है, हों ! शरीर हमें उपकारक है, निरोग है तो मुझे मदद करता है - ऐसा माननेवाला मूढ़ जीव है।

मुमुक्षु : परन्तु शरीर होवे तो उपवास हो, उपवास होवे तो धर्म हो ।

उत्तर : धूल में शरीर होवे तो उपवास होता नहीं । यह तो उसमें कदाचित् राग मन्द करे तो वह शुभभाव हुआ, वह तो पुण्य (हुआ) । वह उपवास भी नहीं है । उपवास तो, आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप है - उप-उसके समीप में बसकर शान्ति प्रगट करे, उसे भगवान उपवास कहते हैं, बाकी सबको लंघन कहते हैं । आहाहा... ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा वस्तु है या नहीं ? यह पदार्थ है या नहीं ? अरूपी भी वस्तु है या नहीं ? एक भव में से दूसरे, दूसरे में से तीसरे अनादि से भटका करता है - तो वस्तु पदार्थ है या नहीं ? उसमें अनन्त गुण हैं, शक्ति है । उसमें आनन्द, शान्ति, प्रभुता, स्वच्छता, विभूता आदि अनन्त गुण पड़े हैं । ऐसे आत्मा को जो न माने, ऐसे स्वीकार न करे तो उसे परपदार्थ देहादिक मुझे सुखरूप है - ऐसा अज्ञानी मानता है । सुख तो मैं हूँ । यह तुम्हारा फिर याद आया - मैं गीता हूँ यह (याद आया) । 'मैं गीता हूँ' - ऐसा शब्द बोली थी न ? लड़की, गीता तो मैं हूँ । हमारे पण्डितजी ने लड़की से प्रश्न किया था । उनके भतीजे की लड़की । पण्डितजी तो भारी परीक्षा करनेवाले; इसलिए (पूछा) तू वहाँ तेरी माँ को पहिचानेगी ? कि हाँ ! काका को पहिचानेगी ? कि हाँ ! तेरे पिता को ? हाँ ! गीता को पहिचानेगी ? यह क्या पूछते हो तुम ? गीता तो मैं यह रही । ऐई... !

यहाँ कहते हैं कि आनन्द तो मैं यह रहा । आहाहा... ! अरे.. ! भगवान ! तू आनन्द देखेगा कहाँ पर में ? शरीर में, पैसे में, अनुकूलता में, स्त्री में, मकान-महल में, पाँच लाख के मकान बनाये, उसमें (सुख मानेगा) ? गुलाबभाई ! यह बड़ी-बड़ी पुस्तकें गप मारने की बनाते हैं । भाई ! गप्प-गप्प, हों ! अन्दर कुछ तत्त्व नहीं होता । सरकार भी इनके जैसी सब मूढ़ हो, पास करनेवाले कैसे हों ?

मुमुक्षु : सरकार तो पुस्तक पास करती है ।

उत्तर : करे न । परन्तु उसमें मूढ़ ही मूढ़ सब इकट्ठे होकर करते हैं । पागल के अस्पताल में सब पागल ही पागल इकट्ठे होते हैं । मलूपचन्दभाई ! डॉक्टर भी पागल । डॉक्टर कहना किसे ?

यह भगवान आत्मा, देह के परमाणुओं से भिन्न, कर्म के रजकणों से भिन्न, और पुण्य-पाप के भाव कृत्रिम विकार हो, उससे भिन्न है । ऐसे आत्मा को आनन्दमय व

ज्ञानमय, प्रभुतामय और परमेश्वरमय और स्वच्छतामय मैं ही हूँ – ऐसा माने, वह वास्तविक डॉक्टर और वास्तविक वैद्य कहने में आता है। कहो, समझ में आया? यह डॉक्टर ऐसा कहे – तुझे यह दवा देता हूँ, तुझे अच्छा हो जाएगा, हों! तुझे अच्छा हो जाएगा। कहते हैं कि मूढ़ है – ऐसा कहते हैं यहाँ तो। ऐ... नवरंगभाई! यह बड़े डॉक्टर रहे, देखो न यह। भाई! तीन-तीन हजार महीने में कमाते हैं। ऐसा करे और ऐसा (करें), नाक का आपरेशन और... नाक के मुख्य है न? किसके? नाक के मुख्य सर्जन। आहाहा...!

अरे! भगवान! एक बात है कि तू कोई चीज़ है या नहीं? तू कुछ चीज़ है या नहीं? कोई भी चीज़ हो, उसमें उसकी शक्तियाँ और उसके गुण बसे होते हैं। वस्तु और वस्तु में वस्तु और वस्तु की शक्तियाँ और गुण न हों तो वह वस्तु ही न हो। यह रजकण मिट्टी है तो यह वस्तु है, तो इसमें गुण हैं। क्या (गुण हैं)? रंग, गन्ध, रस, स्पर्श है न? यह अवस्थाएँ होती हैं, यह सब उसकी शक्तियों का यह रूप है। तो आत्मा वस्तु है या नहीं? तो वस्तु है तो उसमें कोई शक्ति-गुण है या नहीं? इस आत्मा की शक्ति और गुण तो आनन्द, ज्ञान, शान्ति और प्रभुता – इसका गुण और शक्ति है। यह पुण्य-पाप हो, वह इसकी शक्ति नहीं, इसका स्वभाव नहीं। समझ में आया? खबर नहीं पड़ती, ऐसे अनादि से अन्ध (होकर भटकता है)।

कहते हैं, देहादिक पदार्थ न जीव के उपकारक ही हैं और.... जो मूढ़ जीव 'शरीर से सुखी तो सुखी सब बातें' — ऐसा जो मानता है, वह महा मूढ़ वासना से-मिथ्यात्व से मानता है – ऐसा कहते हैं। पूछे, न्याय करे। कोई तोलेगा या नहीं? ऐसे का ऐसे अन्ध का अन्ध चलेगा कुछ? आत्मा है या नहीं? दूसरी चीजों में जैसे गुण देखता है, यह हिलना, यह जड़ का, रंग का, रस का, स्पर्श का, यह उष्ण-शीतल – ऐसा देखता है या नहीं उसमें? वैसे आत्मा है या नहीं? तो आत्मा में कोई गुण है या नहीं? तो क्या गुण है – इसका पता है इसे?

आत्मा में ज्ञान है, आनन्द है, शान्ति है। शान्ति अर्थात् चारित्र। समझ में आता है? प्रभुता है, विभुता है, स्वच्छता है – ऐसी अनन्त शक्तियाँ इसमें पड़ी हैं। ऐसे आत्मा को इस प्रकार अपने में प्रभुता से और आनन्द से भरा तत्त्व हूँ – ऐसी दृष्टि न करके, जो परपदार्थ

से मुझे सुख होता है, देह मुझे उपकार करती है – यह मान्यता मुझे सुख दे, (इसमें) मुझे सुख, आत्मा दे – ऐसा नहीं रहा। देह मुझे सुख देती है – यह मूढ़ की वासना-मिथ्या कल्पना से मानता है। न्याय से-लॉजिक से कुछ समझेगा या नहीं या ऐसे का ऐसा अन्ध चला जाएगा ? कहो, बसन्तलालजी ! आहाहा... !

भाई ! तुझे पता नहीं। तेरा धर्म – ‘वस्तु सहावो धम्मो’ – वस्तु भगवान आत्मा में ज्ञान-आनन्द इसका धर्म-स्वभाव है। इस स्वभाव को न मानकर; मैं ज्ञान, मुझसे मेरा ज्ञान है, पर से नहीं; मुझसे मुझमें आनन्द है, पर से नहीं; मेरा विश्वास मुझसे है, पर से नहीं – ऐसा न मानकर, यह देह मुझे उपकारक है – ऐसा मानता है; पैसा मुझे उपकारक है, निरोगता मुझे लाभदायक है – यह मूढ़ पर में सुख की कल्पना मिथ्याभ्रान्ति से करता है, यह अधर्मभाव खड़ा करता है, जो आत्मा के धर्म-स्वभाव में नहीं है।

मुमुक्षु : पहले देव के सुख की व्याख्या करके फिर ऐसा कहा।

उत्तर : यह उड़ाया। यहाँ देव के सुख की बात की। इस मनुष्य की अपेक्षा कुछ वहाँ ठीक है, ठीक है – ऐसा बताकर वापस शून्य लगाया।

मुमुक्षु : उसका बहुत बखान किया था।

उत्तर : यह बखान किया था। कहो, समझ में आया ? आहाहा.. ! अरे.. ! भगवान ! तुझे तेरी कीमत नहीं और तू कीमत (महिमा) परपदार्थ को ! परपदार्थ को कीमत देता है। देह बहुत अच्छा, हों ! पैसा बहुत अच्छा ! परन्तु तू वास्तव में अच्छा या नहीं ? यह अपने नहीं। देह अच्छी होवे न तो ठीक... पुण्यशाली अच्छे... मूढ़ है,... ! समझ में आया ? वासनामात्र है, तेरी कल्पना मिथ्याभ्रम की है।

भगवान आत्मा, आनन्द और ज्ञान की मूर्ति अरूपी शीतल शिला... आत्मा शीतल अविकारी शिला चैतन्य की आनन्दकन्द पड़ी है। उसे अपने में, सुख और आनन्द और शान्ति न मानकर मूढ़ (जीव) देह, लक्ष्मी, इज्जत, स्त्री-पुत्री-परिवार – ये परपदार्थ हैं, इनमें मुझे सुख है (– ऐसा मानता है)। इसका अर्थ हुआ कि ये और आत्मा दो (को) एक माना; इसलिए कल्पना से खड़ा किया कि मुझे इनके कारण सुख है। आहाहा... ! नवरंगभाई ! समझ में आया ? आहाहा... !

धर्मी... धर्मी (बोले), ऐसे धर्मी हुआ नहीं जाता कि चलो, सामायिक की, प्रौषध किया, प्रतिक्रमण (किया)। यह धर्म नहीं है। समझ में आया? ऐ... भगवानभाई! भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतरागदेव आत्मा को ज्ञानमय, आनन्दमय कहते हैं और ऐसा है। वस्तु है तो कोई गुणमय है या गुणरहित है? तो शरीरवाला है आत्मा? शरीरवाला होवे तो शरीर भिन्न नहीं पड़े। यह तो (भिन्न) पड़ जाता है, एकदम भिन्न पड़कर कहीं चला जाता है। स्त्री... स्त्री पड़ी रहे और सब पड़ा रहे यहाँ। यदि इस वाला (शरीरवाला) होवे तो इसके साथ आना चाहिए। समझ में आया?

मुमुक्षु : थोड़े समय में....

उत्तर : थोड़े समय में भी कहाँ धूल में है? ऐसे भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। एक समय भी इसमें शामिल नहीं हुए। यह अज्ञानी की यहाँ बात करते हैं कि मूढ़ को स्वद्रव्य और परद्रव्य की भिन्नता का पता नहीं है; इससे देह मुझे सुखरूप है, उपकारक है - ऐसी उसकी मान्यता में खड़ी हुई वासना है, मिथ्याभ्रम खड़ा किया है। वापस यह शब्द 'वासनामात्र' कहकर कर्म से किया है - ऐसा नहीं कहा। यह तत्त्वज्ञान का अभाव है, इसलिए वासना खड़ी की है; कर्म से, कर्म से नहीं। आहाहा...! कर्म बिचारे जड़ परपदार्थ हैं। तू खड़ी करता है। आत्मा की शान्ति और आनन्दस्वरूप है, सच्चिदानन्द आत्मा स्वयं है - ऐसा परमेश्वर ने कहा है और ऐसा है। इसे न मानकर, देहादिक पदार्थ, जीव को उपकारक नहीं होने पर भी उपकारक मानता है।

है न? देहादिक... देह शब्द से शरीर, स्त्री, पुत्र, परिवार, पैसा, मकान, साबुन, मौसम्मी, लड्डू, चूरमा, गहने, वस्त्र... ऐई... क्या कहना यह तुम्हारे? घड़ी, पाँच सौ की घड़ी सोने का पट्टा डाली हुई। देखो! भाई! देखो तो सही, मैं कैसा सुन्दर हूँ! अर्थात् तू यह है? तू यह है? वह तो जड़ की दशा है; तो भी मैं ऐसा हूँ, इसका अर्थ कि शरीर की क्रिया, वह मेरी है - ऐसा माननेवाला है। समझ में आया? यह शरीर की अवस्था, वह मेरी, इससे मैं शोभता हूँ। मुझसे मैं शोभता हूँ (-ऐसा नहीं), मैं तो निस्तेज हूँ। आहाहा...! समझ में आया?

धर्मी नाम धरानेवाले भी, यह शरीर की क्रिया मुझसे होती है - ऐसा माननेवाले, यह

शरीर मुझे उपकारक होता है - ऐसा मानते हैं। शरीर होवे तो कुछ धर्म-क्रिया होवे, दया पले, व्रत पले - ऐसा माननेवाले सब मूढ़ मिथ्यादृष्टि, मिथ्यावासना का सेवन करते हैं - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा.. !

देहादिक पदार्थ न जीव के उपकारक ही हैं और न अपकारक ही। वापस नुकसान करनेवाले भी नहीं है। शरीर में रोग, निर्धनता, विधुरपना, बांझपना... समझ में आया ? विधुरपना, बांझपना, निर्धनपना या प्रतिकूल चीजें - ये आत्मा को अपकारक - नुकसानकारक है ही नहीं। परपदार्थ की प्रतिकूलता, वह आत्मा को नुकसानकारक है ही नहीं। मूढ़ ने माना है कि मुझे यह, मुझे यह (प्रतिकूलता है)। ऐसी कल्पना की वासना उसे अपकार-नुकसान करती है। वह परवस्तु नुकसान की कर्ता है ही नहीं। समझ में आया ? आहाहा.. ! यह दिशा सम्यग्ज्ञान की शिक्षा की है। समझ में आया ? आहाहा.. !

देखो ! कितना सरस आया है। भगवान ! तू तो आत्मा है न, प्रभु ! ये इन्द्रियाँ जड़-मिट्टी है। इनके लक्ष्य से तुझे कुछ ठीक लगे, यह तेरी वासना ही मिथ्यात्व है और ये इन्द्रियाँ तथा शरीर आदि अनुकूल हो और शरीर बाहर में बराबर अनुकूल काम दे अर्थात् मुझे अच्छा काम देता है, यह मूढ़ तेरी मान्यता है। वह तो जड़ की अवस्था है। तुझे क्या काम दे ? वह तुझे काम देती है ? देखो ! वह काम नहीं देता, और काम देता है, यह मान्यता ही मूढ़ जीव की है - ऐसा यहाँ तो कहते हैं। वह काम क्या दे ? वे तो उनके काम प्रमाण चले जाते हैं, वे जड़ पदार्थ हैं। जगत के अस्तित्व तत्त्व हैं, अजीव रजकण अस्ति सत् जगत के तत्त्व हैं। उसमें नयी-नयी अवस्था उत्पन्न हो, पुरानी अवस्था व्यय हो, अभाव (हो) उसका सत्त्वरूप से जाति बनाये रखे - वे जगत के तत्त्व हैं। उसमें उनके कारण, आत्मा को काम दे और वे न दे - यह बात ही कहाँ थी ? आहाहा.. ! नवरंगभाई !

वे चीजें अपने काम-रहित कब हैं ? कि तू तुझे काम दे ? प्रत्येक चीज में प्रतिक्षण अवस्था होती है, अवस्था होना उसका काम है। वह तुझे क्या काम दे ? समझ में आया ? आहाहा ! गजब बात, भाई ! परन्तु इसने कभी सुना नहीं बेचारे ने। आत्मा, रंक-भिखारी हो गया न... रंक... रंक मानो भिखारी, भिखारी। अरे ! मेरे इसके बिना चले नहीं, इसके बिना चले नहीं, इसके बिना चले नहीं... रंक ! ऐ... परवस्तु के बिना चले नहीं ? पर तो स्वतन्त्र

चीज है। समझ में आया ? मेरे आनन्द बिना मेरे चले नहीं - ऐसा जो आत्मा, इसके बिना (-पर के बिना) चले नहीं—यह वासना इसने मिथ्याभ्रम खड़ा किया है। समझ में आया ? ठीक होगा इसमें, छगनभाई !

देहादिक पदार्थ न जीव के उपकारक ही हैं... ये उपकारक करनेवाले नहीं। तेरी वासना मानती है कि ये मुझे उपकार करते हैं। न अपकारक ही। नुकसान करनेवाले नहीं। वे तो ज्ञेय हैं, ज्ञान में ज्ञात होनेयोग्य वस्तु है। वे तुझे नुकसान नहीं करते। तुझे ऐसा हो जाता है (कि) यह प्रतिकूल मुझे नुकसान (करता है)। यह तेरी कल्पना तुझे नुकसान करती है। आहाहा ! समझ में आया ? सच्चे ज्ञान बिना चौरासी में भटककर मर गया। दया, दान, व्रत, भक्तियाँ भी अनन्त बार की। भला क्या हुआ ? मैं कौन हूँ और कहाँ हूँ ? कैसे हूँ ? इसके भान बिना, ये क्रियायें राग की या पर की मुझे सुखरूप होती है - यह मान्यता मिथ्यात्व की वासना है - ऐसा कहते हैं। आहाहा.. ! समझ में आया ?

वैसे बोले कि जीव को अजीव मानना, यह मिथ्यात्व; अजीव को जीव मानना, यह मिथ्यात्व, बोले पहाड़े। समझे नहीं कुछ उसमें। अजीव की क्रिया मुझसे हो और मेरी क्रिया उससे हो, तब तो दोनों को एक माना। जड़ की दशा आत्मा से हो और आत्मा की दशा जड़ से हो, (तब तो) दो को एक माना। दूसरे को कर्ता माने तो मूढ़ है, कहते हैं। दूसरे जड़ की क्रिया मुझसे होती है - ऐसा माननेवला मूढ़ है - ऐसा यहाँ कहते हैं। शरीर आदि वस्तु है या नहीं ? परपदार्थ है या नहीं ? या तू ही है उसमें अकेला ? तू अलग है और वे भी अलग चीज हैं, दोनों भिन्न-भिन्न चीज है। अन्दर से चैतन्य चला जाता है। हो गया, यह पड़ा तो। यह रहा तो भी इससे और पड़ा रहा तो भी इससे। यह कहाँ तेरी चीज थी ? आहाहा... ! श्वास लो - (ऐसा) यह डाक्टर कुछ कहे। (जाँच) करनी हो न, (तब कहे)। जरा-सा ऊँचा श्वास लो। तुम्हारा वह चाहिए, अन्दर क्या कहलाता है ? तुम्हारा रणकारा। वह भी शक्ति नहीं होती, क्योंकि वह आत्मा की क्रिया ही नहीं है; वह तो जड़ की क्रिया है। आत्मा तो जाननेवाला और या मैं करूँ - ऐसा अभिमान / मिथ्यात्व करे, बाकी दूसरा कुछ करे नहीं। आहाहा... ! गजब बात भाई !

मुमुक्षु -

उत्तर - यह कौन करता था ? धूल ! तुम करते थे वहाँ ?

मुमुक्षु - दुकान किसकी होगी ?

उत्तर - दुकान जड़ की, अजीव की । आत्मा तो अरूपी है - रंग, गन्ध, रस रहित चीज है । इन रंग, गन्ध, स्पर्श में आत्मा आ गया ?

मुमुक्षु - संयोग है ।

उत्तर - संयोग है । संयोग का अर्थ क्या है ? पृथक् । संयोग शब्द क्या कहता है ? संयोग-पृथक् । संयोग अर्थात् पृथक् । एक यह अपृथक्; संयोग पृथक् है । गुलाबभाई ! यह अलग प्रकार की पाठशाला है । 'जीवीबेन' को बुलाया है या अपने आप आयी है ? कहो, समझ में आया इसमें ? आहाहा... !

अरे... ! भगवान ! ऐसी मनुष्यदेह तुझे मिली और दो द्रव्यों की एकताबुद्धि रहे, वहाँ तक इसे मिथ्यात्व-भाव टलेगा नहीं । यही बात करते हैं । ऐसे तो दूसरे प्रकार से करते हैं कि इसे उपकारकर्ता नहीं, परन्तु उपकारकर्ता मानता है, इसका अर्थ ही (यह है कि) दो द्रव्यों को एक मानता है । आहाहा... ! यह मिथ्यात्व सूक्ष्म शल्य, मिथ्यादर्शन सूक्ष्म शल्य इसे अनादि से चार गति में भटकाती है । नरक और निगोद, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, और पंचेन्द्रिय - इस भवा-भव, भवा-भव, भटका-भटक, भटका-भटक (करता है) । समझ में आया ?

कल एक आया था, वह पढ़ा ? क्या कहते हैं ? धर्मयुक्त पत्र है, उसमें कल आया था । भाई तब बैठे थे । गुलाबराय ! यह सुना न पहला ? सीधे मरकर सीधे यहाँ आयी है । लो ! जूनागढ़ में थी, लुहार की लड़की, ढाई वर्ष की, मरकर यहाँ आयी । आत्मा यह दिखता है या नहीं प्रत्यक्ष ? आत्मा वह का वही वहाँ था, वहाँ से यहाँ आया, यहाँ से वहाँ जायेगा । भटका-भटक (करता है) । ऐसे शरीर तो अनन्त ऐसे किये; भान नहीं होता कि मैं कौन हूँ और यह क्या होता है और क्या मानता हूँ ? समझ में आया ? शब्द है इसमें ? जेचन्दभाई ! सब है परन्तु अन्दर...

देहादिक पदार्थ न जीव के उपकारक ही हैं और न अपकारक ही।... अर्थात् नुकसान करनेवाले हैं । अतः परमार्थ से वे (पदार्थ) उपेक्षणीय ही हैं । क्या

कहा ? उपेक्षा करनेयोग्य अर्थात् जाननेयोग्य है। वे हैं - ऐसा जाननेयोग्य है। उपेक्षणीय - उपेक्षा करनेयोग्य है। मेरे हैं और मुझे ठीक पड़ते हैं, यह मेरे नहीं और मुझे पड़ते नहीं — ऐसा करनेयोग्य परपदार्थ नहीं है। आत्मा के अतिरिक्त के देह, वाणी, मन, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, पैसा, लक्ष्मी, कीर्ति — सब उपेक्षणीय अर्थात् उपेक्षा करने (योग्य है), अपेक्षा करनेयोग्य नहीं। अपेक्षा अर्थात् मुझे ठीक-अठीक है - ऐसा करनेयोग्य नहीं है, परन्तु उपेक्षा करनेयोग्य है कि है, उन्हें मैं जाननेवाला हूँ। समझ में आया ? आहाहा... !

अपेक्षा और उपेक्षा। यह मुझे सुखरूप है — ऐसी कल्पना, वह अपेक्षा हुई, मिथ्यात्व की हुई। यह मुझे दुःखरूप है - ऐसी कल्पना भी मिथ्यात्व की अपेक्षा से की। भगवान आत्मा जाननेवाला, ज्ञायक चैतन्यज्योत, चैतन्यसूर्य है। यह जगत - शरीर, वाणी, मन, सब कर्म पैसा, इज्जत-कीर्ति उपेक्षणीय अर्थात् जाननेयोग्य है, उपेक्षा करनेयोग्य है; आदर करनेयोग्य नहीं है। समझ में आया ? आहाहा... !

यह वासना तूने की है, इसलिए अब छोड़ — ऐसा कहने के लिये कहते हैं। यह वासना तूने खड़ी की है। क्यों की है - इसका न्याय देते हैं। आहाहा... ! परन्तु बाह्य पदार्थ के प्रतिकूलता के घेरे में घिरा हुआ, इसे ऐसा लगता है कि यह मुझे दुःख है। मूढ़ है, घिरा हुआ (कहते हैं परन्तु यह तो) बाहर है, यह सब तो पड़ी है, ऐसे की ऐसी है, अनादि की है। कब नहीं ? ये कहाँ नये तत्त्व हैं जगत के ? नये उत्पन्न हुए हैं ? अस्ति तत्त्व है। है, वह कभी नहीं था - ऐसा नहीं और है, वह कभी नाश हो - ऐसा नहीं। है, वह रूपान्तर हो; रहकर रूपान्तर, अवस्थान्तर, दशान्तर हो। ये तो जगत की चीजें हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु - दुःख देने आये हैं।

उत्तर - बिलकुल (नहीं) मूढ़, कौन कहता है दुःख ? दुःख कहना किसे ? जहाँ आनन्द है, उसे भूले तो यह मेरे हैं — ऐसा माने तो इसे इसकी दशा में दुःख होता है। दुःख नहीं उसमें, (पर में), दुःख नहीं स्वभाव में। आहाहा... ! आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है। उसे भूलकर, उसकी दशा में, 'यह मुझे उपकारक है, यह मुझे उपकारक है' — ऐसी वासना, वह दुःखरूप है। वस्तु दुःखरूप नहीं। भगवान ! इसका स्वभाव-आत्मा का (स्वभाव) दुःखरूप नहीं। इसका स्वभाव दुःखरूप हो नहीं सकता। वास्तविक तत्त्व हो, वह दुःखरूप होगा ? यह नयी दशा - वासना खड़ी करता है,

वह दुःखरूप है। आहाहा... ! समझ में आया ? ऐसा भी पाठशाला में नहीं आता होगा, नहीं ? भरतभाई ! आता होगा ? नहीं; सब गप्प मारते हैं, मानो।

मुमुक्षु - कर दिखाये...

उत्तर - कर दिखाये, वह सब समझने जैसा है। क्या कर दिखाये ? कर सकता नहीं; यह तो जाननेवाला है। ऐई... ! मैं करके दिखाता हूँ - यह मान्यता ही वासना मिथ्याभ्रम है - ऐसा यहाँ तो कहते हैं। गजब भाई ! यह पाठशाला तो अलग प्रकार की है। कहा न तुमने ?

मुमुक्षु : सबको शिक्षा दी हो वह साहित्य में सच्ची नहीं होगी ?

उत्तर : साहित्य में कहाँ से (होवे) ? गप्प-गोला मारकर साहित्यकार स्वयं गप्प-गोला मारनेवाला होता है। उस दिन आया नहीं था ? उस दिन तुम्हारे कौन ? बड़ोदरावाला। आया था न ? उस दिन यहाँ व्याख्यान में आया था। वह तो भूल गया बेचारा। यहाँ आया था। कहा, तुम सब गप्पे-गप्प मारनेवाले, वह बेचारा यहाँ आया था। तुम तो पहचानते नहीं होंगे ? बड़ोदरावाला... यहाँ बेचारा व्याख्यान में सुनने आया था। वहाँ भूराभाई के यहाँ आया था न ? भूराभाई के यहाँ आया था। वैसे तो नरम व्यक्ति परन्तु बेचारों को पता नहीं पड़ता। यह बात का ही पता नहीं पड़ता। सब होशियार नाम धरानेवालों ने सुना नहीं कि किसे कहना होशियारी और किसे कहना कमजोरी ?

यह होशियारी तो तेरी उसे कहें कि मैं ज्ञाता-दृष्टा और आनन्द हूँ, पर मैं मेरा ज्ञान नहीं, पर मैं मेरा आनन्द नहीं, पर के कारण मेरा विश्वास नहीं, पर अनुकूलता-प्रतिकूलता मेरी चीज में है ही नहीं—ऐसा जानना, मानना वह होशियारी कहलाती है, बाकी सब तो मूढ़ता कहलाती है। आहाहा ! गजब, परन्तु बदलना पड़े न लोगों को, हों ! बहुत बदलना पड़े, इसलिए लोगों को मुश्किल पड़ता है। पूर्व में ऐसा चला जा रहा हो, उसे वापस ऐसे मुँह फिराना पड़े, यही कहता हूँ। उसे सुनने को ही नहीं मिलता बेचारे को कि यह क्या है, यह... ?

अतः परमार्थ से वे (पदार्थ) उपेक्षणीय ही हैं। किन्तु तत्त्वज्ञान न होने के कारण... देखो ! तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्मा ज्ञानमूर्ति भगवान (है और) शरीर आदि परवस्तु

तो अजीव परतत्त्व है, दूसरे आत्माएँ वे दूसरे तत्त्व, दूसरे जीवतत्त्व हैं। ऐसे भिन्न तत्त्वों का भिन्न का ज्ञान नहीं होने के कारण। तत्त्वज्ञान न होने के कारण - 'यह मेरे लिये इष्ट है... देखो, यह भान नहीं होता। तत्त्वज्ञान चैतन्य का और तत्त्वज्ञान इसका (अर्थात् कि) वह जड़रूप (है—ऐसा) उसका भी ज्ञान चाहिए न! शरीर, वाणी, मन, आदि अजीव तत्त्व है। अन्दर लाख प्रतिकूलता हो तो वह उसमें होती है, आत्मा में है नहीं। आत्मा उसे छूता भी नहीं, आत्मा तो अरूपी है, यह तो रूपी है, रंग, गन्ध, रस, स्पर्शवाला यह तत्त्व है।

मुमुक्षु : व्यवहार से रूपी।

उत्तर : धूल में भी नहीं रूपी व्यवहार से। होवे कैसा रूपी? अरूपी कभी रूपी होता होगा? वह तो कर्म के निमित्त की अपेक्षा से कहने में आता है। अरूपी चैतन्य के अरूपी गुण और उसकी अरूपी पर्याय। यह आ गया नहीं नियमसार में? पहले आ गया। समझ में आया? यह गाथा ठीक आ गयी।

'यह मेरे लिये इष्ट है - उपकारक होने से'... देखो! यह मुझे ठीक है, मुझे उपकार करता है। ऐसा शरीर ऐसे विचारा हुआ काम दे। युवा अवस्था में (सोचा हुआ काम देता था) अब सोचा हुआ देता नहीं। देता नहीं न? तेरे लिये कुछ (नहीं) वह तो इसकी क्रिया होती है, इसके कारण। तब जवानी में इसके कारण होती थी, तेरे कारण बिल्कुल हराम... इसकी निरोगता रहती हो और जवानी रहती हो तो वह तो जड़ की-मिट्टी की दशा है। आहाहा!

मुमुक्षु : आरोग्यता

उत्तर : धूल में आरोग्यता पाले और मर जाता है, डॉक्टर भी मर नहीं जाता? ऐ... चन्दुभाई! क्या होगा? ये बड़ा डाक्टर कहलाता है, लो! यह दो-दो डॉक्टर बैठे हैं।

मुमुक्षु : ये आरोग्यता पाले तब...

उत्तर : मर गये। ये आरोग्यता कर-करके यह कितना करे तो भी अन्दर शरीर में हर्ष नहीं होता, यह शरीर तो दूसरी चीज है, चाहे जितना ध्यान रखे नहीं, कैसे होगा? यह भी डॉक्टर है। यह तो तुम, भाई! डॉक्टर कहलाते हैं बड़े राजकोट के! हैं बड़े सिर के फिरे हुए!

मुमुक्षु : आपरेशन नहीं कर सकते ।

उत्तर : कुछ नहीं होता, कुछ किया ही नहीं, यह बात ही खोटी है । एक रजकण भी, उसकी पर्याय अर्थात् अवस्था पलटे, वह उसके रजकण के कारण (पलटती है) दूसरे रजकण से भी जिसकी पर्याय पलटती नहीं तो आत्मा से पलटती है, यह मूढ़ ने मानी हुई बात है । समझ में आया ? आहाहा !

मुमुक्षु :

उत्तर : यह जड़ की है तो उसकी शक्ति बिना का इसने माना है । तत्त्व माना है । तत्त्व है या नहीं ? तत्त्व है या नहीं ? तो तत्त्व, वह भावरहित होता है ? मालिक मूढ़ होता है न, इसलिए मानता है मानो कि उसमें कोई शक्ति नहीं । एक-एक रजकण में एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड चले जाने की ताकत है । एक रजकण – पॉइण्ट, हाँ ! इसका अन्तिम (रजकण) यह तो बहुत रजकण एकत्रित हुए, उनका पिण्ड है । पॉइण्ट, अन्तिम पॉइण्ट जिसके दो टुकड़े नहीं हों, वह एक समय में चौदह ब्रह्माण्ड चला जाये ऐसी ताकत है— (ऐसा) भगवान कहते हैं । रजकण है न ? तत्त्व है या नहीं ? तत्त्व है या नहीं ? तत्त्व का सत्त्व कुछ होगा या नहीं ? तत्त्व में सत्त्वरहित सत्त्व होगा ? सत्त्व है, उसे सत्त्व नहीं, सत्त्व नहीं अर्थात् शक्ति नहीं, गुण नहीं, स्वभाव नहीं, सामर्थ्य नहीं – ऐसा कभी होता है ? समझ में आया ? इसी प्रकार रजकण भी सत्त्व है । तो उसमें उसका सत्त्व है, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, क्रिया रूपान्तर होना, उसका वह सत्त्व है; आत्मा का है नहीं । समझ में आया ?

यह मेरे लिये इष्ट है... यह स्त्री बहुत अनुकूल, मेरे बहुत अनुकूल है । दूसरे को होगा परन्तु मेरी स्त्री तो... आहाहा ! ...परन्तु मूढ़पना खड़ा करके आरोप डालता है उसमें ।

मुमुक्षु : होवे इसलिए कहे न ?

उत्तर : किसे होवे ? वह तो परद्रव्य है, वह तो परवस्तु है । उसकी भाषा आदि जड़ की है और उसका भाव है, वह तो तुझसे पर उसके आत्मा का भाव है । उसमें तेरा कहाँ से आ गया उसमें ? आहाहा !

यह मेरे लिये इष्ट है... ये मेरे सब अंगी हैं, अंगी हैं—ऐसा बोलते हैं या नहीं ? हमारे अंगी हैं, ये सब अंगी अर्थात् जैसे अंग है न यह मेरा ? अंगी का अंग – अवयव

(होवे) वैसे ये सब मेरे अंगी हैं, स्त्री, पुत्र, परिवार, पैसा, मकान (अंगी हैं)। धूल में भी नहीं। तू अंग और उसके अंगी ऐसा है यह? तेरा आत्मा अलग, उनका अलग, उसके बदले तेरे अंगी यह कहाँ से आ गया? समझ में आया?

यह तो सत्य की बात में असत्य को फोड़ना हो, उसकी बात है। अनादि से असत्य मानकर मूढ़ता का सेवन कर रहा है, उसे तोड़ना हो तो यह उसका एक उपाय है, बाकी तो दुःखी हो रहा है। साधु होवे तो मर गया ऐसा करके। मैंने यह किया और यह मैंने किया, और मैंने पर की दया पालन की... समझ में आया? व्रत का भाव पुण्य, वह मैंने पालन किया और मैंने किया, वह विकार का कर्ता होता है। समझ में आया? वह मूढ़ और मिथ्यादृष्टि (की) वासना मिथ्यात्व से खड़ा किया भाव है। आहाहा! गजब बात भाई!

‘यह मेरे लिये इष्ट है – उपकारक होने से’... वापस न्याय दिया। वह उपकारक है, कितना उपकार करता है?

मुमुक्षु : भगवान की वाणी कितना उपकार करती है?

उत्तर : उपकार करे, वह अपनी पर्याय को स्वयं करे, तब वाणी को (निमित्त) कहा जाता है। वाणी किसका उपकार करे? आहाहा!

‘यह मेरे लिये अनिष्ट है-अपकारक होने से।’ यह स्त्री, पुत्र, परिवार मेरे घर में जब से आये, तब से तो छह परखी घर में से पैसा गया, सब गया और यह हुआ। होली, व्यर्थ में मानता है, सुन न अब! इनके कारण कुछ नहीं, वह वस्तु तो पर है।

मुमुक्षु : होता है ऐसा।

उत्तर : होता कुछ नहीं। उसे निमित्त-कुदरती होना हो और उस प्रमाण हो, उसमें कोई इनके कारण हुआ है?

यह मेरे लिये अनिष्ट है... पैसा, वस्त्र में मानता है, हों! यह वस्त्र जबसे पहना तब से चैन नहीं, जला डालो। मकान ठीक (न होवे तो) उसका भ्रम पड़ जाता है। मकान बनाया हो न? पचास हजार-लाख का बनाया हो। इस मकान में आये, तब से रोग क्यों नहीं मिटता? नीचे कुछ होगा? मुर्दा दबाया होगा किसी ने? होता है या नहीं? ऐसे अज्ञानी मानता है, मूढ़ मानता है। आहाहा! परवस्तु मुझे अहितकर है, अपकारक है। यह अनिष्ट

मानकर ऐसा कहता है, यह बात ही एकदम झूठ है। अरे... ! भाई ! यह तो पूरे संसार का ओटलो जलाना हो, उसकी बात है। बापू ! संसार में भटकना हो, उसे यह बात जँचे ऐसी नहीं है।

ऐसे विभ्रम से उत्पन्न हुए संस्कार... देखो ! ऐसे विभ्रम से उत्पन्न हुए संस्कार। देखो ! विभ्रम से उत्पन्न हुए संस्कार, हों ! कर्म के कारण नहीं, पर के कारण नहीं। ऐसे विभ्रम से उत्पन्न हुए संस्कार... भ्रम से संस्कार उत्पन्न करता है। यह मुझे इष्ट है, इसलिए उपकारक है; यह अनिष्ट है, इसलिए अपकारक है, यह विभ्रम से संस्कार खड़ा करता है; कर्म के कारण नहीं, उस परपदार्थ के कारण नहीं। मिथ्यादृष्टि जीव, विभ्रम से उत्पन्न किये हुए (संस्कार) जिन्हें वासना भी कहते हैं – इस जीव के हुआ करते हैं। देखो ! इस जीव को – मूढ़ को वासना आदि हुआ करते हैं। समझ में आया ? आहाहा !

बड़ी-बड़ी दुकानें चलाता हो न ! बसन्तलालजी ! ऐसे पाँच-पाँच लाख की 'मूलजी जेठा मार्केट' कैसी-कैसी बड़ी दुकान चलती, वहाँ एक बार गये थे। वे सब मानो ऐसे बैठे थे, कैसे होशियार होंगे वहाँ ! नहीं ? दुकान पर बैठा हो और ऐसे गल्ला पड़ा हो और ऐसे बैठा हो, दो-पाँच लाख का माल (आता हो...) रेशम की गाँठें पड़ी हों, ग्राहक आवे तो, ऐसे राजा-रानी निकले हों और पाँच-पाँच, दस-दस हजार का ले जावे न... आहाहा ! प्रसन्न.. प्रसन्न.. हो गया ! मूढ़ है, कहते हैं। भाई ! इस परपदार्थ के मेले में तुझे क्या ठीक पड़ा ?

मुमुक्षु :

उत्तर : धूल, यह तो पाप का उदय हो तो ऐसा होता है। उसमें आत्मा के कारण क्या है ? पूर्व का पाप का उदय हो तो कमाने के बदले जाते हैं (नुकसान होता है)। उसमें क्या है ? उसमें आत्मा को, जावे तो अपकारक क्या है ? और आवे तो लाभदायक क्या है ? आहाहा ! यह बलखो भी निकालना लोगों को कठिन पड़ता है।

मुमुक्षु : अमल में रखे...

उत्तर : यह अमल में रखना। श्रद्धा में ले कि यह वस्तु मुझे नुकसान अथवा अपकारक अथवा लाभदायक है नहीं। मेरा आत्मा आनन्ददायक, वह लाभदायक है और

मैं विपरीत राग-द्वेष करूँ, वह मुझे नुकसानकारक है। बाकी कोई चीज लाभ या नुकसानकारक पर मैं है ही नहीं। आहाहा! इस जीव के हुआ करते हैं। देखो! इस जीव को वासनायें हुआ करती हैं, कर्म के कारण नहीं। वह कहते हैं विभ्रम। विभ्रम के कारण वासना।

मुमुक्षु : विभ्रम किससे होता है ?

उत्तर : विभ्रम स्वयं से होता है। किससे होता है क्या ?

मुमुक्षु : वह तो कर्म से होता है।

उत्तर : भ्रमरहित आत्मा भ्रम उत्पन्न करता है। कर्म के कारण होता है ? कर्म तो जड़ है, मिट्टी-धूल है। परद्रव्य तुझे नुकसान करेगा ? वासना उत्पन्न करेगा ? दोष उत्पन्न करेगा ? नहीं। ऐसा का ऐसा मूढ़ को माने, दर्शनमोहनीय का उदय हो तो आत्मा को भ्रम होता है। जड़ तुझे भ्रम कराता होगा ? यह परद्रव्य मुझे नुकसानकारक है - ऐसा माना।

मुमुक्षु : शास्त्र में आता है।

उत्तर : यह आवे वह तो निमित्त का कथन है। क्या आवे ? समझ में आया ?

अतः ये सुख-दुःख विभ्रम से उत्पन्न हुए संस्कारमात्र ही हैं, ... इतनी सब व्याख्या की, देखो! ये सुख-दुःख विभ्रम से उत्पन्न हुए संस्कारमात्र ही हैं, ... संस्कार में इसने कल्पना की है कि यह मुझे अनुकूल है, यह मुझे प्रतिकूल है। यह विभ्रम से तूने उत्पन्न किया है। यह संसार है। यह संस्कार, वह संसार है, वह दुःख है, वह भ्रम है, वही परिभ्रमण का कारण है। समझ में आया ?

स्वाभाविक नहीं। अब यहाँ कहना है। यह वस्तु स्वाभाविक नहीं, यह आत्मा का स्वभाव नहीं; यह तो संस्कार खड़े किये हुए विकृत भाव है, जो स्वभाव में नहीं है। स्वभाव में तो आनन्द और ज्ञान, शान्त निर्विकारी, सम्यक्श्रद्धा शान्ति उत्पन्न करे - ऐसा इसका स्वभाव है। यह (विकृति) उत्पन्न करे, ऐसा इसका स्वभाव नहीं परन्तु उत्पन्न करके भ्रम से मानता है। **स्वाभाविक नहीं।** यह संस्कार स्वभाव के नहीं। पर से हुए नहीं, स्वभाव के नहीं। विकार / विभ्रम पर्याय में नया अनादि से उत्पन्न किये जाता है और भटकता जाता है। चौरासी के अवतार-नरक और निगोद, किसी समय सेठ और किसी समय रंक तथा

किसी समय भिखारी और किसी समय नरक और किसी समय पशु... अनन्त काल से चार गति में भटककर मर गया। पच्चीस-पचास वर्ष जहाँ मनुष्यपना मिले और जहाँ यह कुछ मिले वहाँ.... आहाहा! (हो जाता है) धूल भी नहीं, सुन न अब, वह तो परचीज है। समझ में आया ?

ये सुख-दुःख उन्हीं को होते हैं, जो देह को ही आत्मा माने रहते हैं। देखो, भाषा ! इसका सारांश आया। यह सुख-दुःख की कल्पना उसे होती है कि जो परद्रव्य को निज मानता है, उसे। देह और परद्रव्य को अपना माने, तब यह मुझे उपकारक और अपकारक मान सकता है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : पर को निज मानने में क्या बाधा है ?

उत्तर : पर इसका था कब ? पर तो पृथक् रहे। पर पृथक् / भिन्न है। अनन्त पर-पदार्थ हैं, सब भिन्न-भिन्न (है), किसी का किसी में प्रवेश नहीं और कोई किसी को वास्तव में तो स्पर्श भी नहीं करते। आहाहा !

ये सुख-दुःख उन्हीं को होते हैं जो देह को ही आत्मा माने रहते हैं। देखो ! भाषा, सारांश में यह लिया कि शरीर वह मैं—ऐसा माननेवाले सभी पदार्थ अनुकूल, वह मुझे ठीक और प्रतिकूल, वह अठीक (ऐसा मानते हैं) हेतु तो वह देह मैं हूँ (ऐसा मानते हैं) यह है। परन्तु मैं आत्मा आनन्द-ज्ञान हूँ—ऐसी इसे आत्मा की-स्व की श्रद्धा और स्व का भान नहीं है। भूराभाई ! बात ऐसी है, हों ! लाख बात लोग करें वे सब खोटी-खोटी, सब गप्प है।

मुमुक्षु : इतने सब खोटे।

उत्तर : अनादि के अधिकतर खोटे ही होते हैं। चींटियाँ तो बहुत होती हैं, इसलिए कहीं सब मनुष्य हो गये ? नगरा चींटियों को बहुत होता है... नगरा समझते हो ? चींटियाँ नहीं होती ? प्रत्येक गाँव चींटियों का नगरा बहुत होता है। इसलिए सब मनुष्य हो गये ? ऐसे संख्या अधिक हो, इससे कहीं सत् हो गया ? समझ में आया ?

यह शब्द देखो ! अन्तिम सार कहा है, हों ! भगवान आत्मा मैं ज्ञान और आनन्द हूँ। देखो ! यह इष्टोपदेश ! पूज्यपादस्वामी का इष्टोपदेश। यह हितकारी उपदेश, यह हितकारी

उपदेश। पूज्यपादस्वामी दिगम्बर मुनि कहते हैं कि इसका नाम इष्टोपदेश कि परद्रव्य की क्रिया से मुझे लाभ-अलाभ माने, वह देह को ही अपना मानता है। समझ में आया ?

ऐसा ही कथन अन्यत्र भी पाया जाता है... दूसरे श्लोक का आधार लेते हैं। इस श्लोक में दम्पतियुगलक वार्तालाप का उल्लेख कर यह बतलाया गया है... पति-पत्नी दो थे, उनका एक दृष्टान्त देते हैं। अन्दर श्लोक है। 'वे विषय जो पहिले अच्छे मालूम होते थे, वे ही मन के दुःखी होने पर बुरे मालूम होते हैं।' दृष्टान्त देते हैं। जो पहले अच्छे लगते थे, स्त्री, पुत्र और यह पैसा, भोग, स्त्री, और आहाहा... कोमल हाथ सुणमाला और बोल मीठे... यह सब अच्छा लगता था। यह मन में कुछ चिन्ता हो, उस काल में वे ही चीजें दुःखरूप लगती हैं। ठीक है ? यह दृष्टान्त देते हैं, हों!

घटना इस प्रकार है - पति-पत्नी दोनों परस्पर में सुख मान, लेते हुए थे... सुखी मानकर सो रहे थे। हम सुखी हैं। पति किसी कारण से चिंतित हो गया। मन में एकदम विचार आया कि अरेरे! ये सट्टा किया है, इसमें निश्चित पाँच लाख जायेंगे। ऐ.. मलूपचन्दभाई! चले जायेंगे। अरे! अभी आयेगी, खबर पड़ेगी, कोई न कोई मेरा दुश्मन जगा है... हाय... हाय...! कल्पना... कल्पना... कल्पना... देखो! किसी कारण से चिंतित हो गया। समझ में आया ? कोई भी ऐसा कारण मन में उत्पन्न हुआ। पति-पत्नी दो हैं। साथ में सो रहे हैं, उसमें इसे चिन्ता उत्पन्न हुई। ओहो! अरे! या तो बीस वर्ष का लड़का हो और टीबी हुआ हो, ऐसा पत्र आया हो। समझ में आया ? इसमें आँख में से आँसू की धारा... भाई आती है। उसे टीबी का असर है। आहा! इस विचार में चिन्ता चढ़ गयी, चिन्तित (हो गया) कोई खोट गयी, चिन्तित हुआ कि लड़की विधवा या कोई अपने शरीर में से ऐसा विचार हुआ कि इस शरीर में कोई रोग लगता है। छह महीने से कुछ होता नहीं... निश्चित ऐसा कैसर होगा।

चिंतित हो गया। पत्नी पति से आलिंगन करने की इच्छा से अंगों को चलाने और रागयुक्त वचनालाप करने लगी।... अपने शरीर की चेष्टा करने लगी और वचन से मीठे-मीठे वचन बोलने लगी। किन्तु पति जो कि चिंतित था, ... वह तो चिन्ता में था, विचार में चढ़ गया था। आहाहा! क्या होगा ? पाँच लाख आये हैं, अपन ने

रखे हैं, एक घर के व्यक्ति को पता है और वह व्यक्ति अभी दुश्मन हो गया है। अब वह व्यक्ति यदि अभी ही किसी को लायेगा... यह क्या करता है अभी ? ले जाये तो ले जाये परन्तु फिर कैद में खोहसे। (पति) चिंतित था, कहने लगा 'मेरे अंगों को छोड़,... हे स्त्री ! छोड़ मेरा शरीर, मैं चिन्तित हूँ। भान नहीं तुझे ? अभी यह कहाँ कल्पना करता है ? तू मुझे संताप पैदा करनेवाली है। देखो ! सुख देनेवाली थी न ? कल्पना में चढ़ा है और (इसलिए कहता है) छोड़ दे अभी, अभी मुझे तुझसे हृदय में दुःख होता है। तुझसे (मुझे दुःख होता है) ऐसा कहता है देखो !

तू मुझे संताप पैदा करनेवाली है। और पहले कहता था न, यह मक्खन जैसा शरीर सुन्दर रूपवान ऐसा और वैसा हाथ फेरे वहाँ। आहाहा ! देखो न मधुर वचन बोले। छोटा लड़का बोले न ? ऐसे मँ... मँ... मँ... मँ... ऐसे वचन (बोले) आहाहा ! यह तू कहता था और यह मुझे ठीक है, कहाँ गया ? आहाहा ! मुझे छोड़। हट जा। तेरी इन क्रियाओं से मेरी छाती में पीड़ा होती है। देखो भाषा ! हों ! जब तेरे कारण सुख (लगता) था, अभी मुझे जहर जैसी लगती है, छोड़ दे। समय को पहचानती नहीं। कहाँ क्या है ? मुझे क्या होता है ? तुझे भान नहीं। दूर हो जा। मुझे तेरी चेष्टाओं से बिलकुल ही आनन्द या हर्ष नहीं हो रहा है।' तेरी चेष्टा और अनुकूलता में अभी मेरा लक्ष्य नहीं है। समझ में आया ? मेरा लक्ष्य अन्यत्र चढ़ गया है।

मुमुक्षु :मुझे हैरान करती है...

उत्तर : सुनेगा इसका अर्थ हुआ न ! यह आया, ऐसी भाषा आयी हैरान करती नहीं परन्तु मेरा लक्ष्य अन्यत्र है (तो कहता है कि) तू नुकसान करनेवाली है।

कहते हैं न यहाँ ? तू मुझे संताप पैदा करनेवाली है। हट जा। तेरी इन क्रियाओं से मेरी छाती में पीड़ा होती है। मुझे तेरी चेष्टाओं से बिलकुल ही आनन्द या हर्ष नहीं हो रहा है।' भाषा ऐसी ली है, देखा ? पहली उसकी मान्यता है, हों ! उससे नहीं, पहले वह मानता था कि यह मुझे अनुकूल है, फिर उस कल्पना में मान्यता बदल गयी। समझ में आया ?

दूसरा श्लोक है रमणीक महल, चन्दन, चन्द्रमा की किरणों (चाँदनी),...

यह साहित्यकार बहुत लड़ाते हों, हाँ! रंजन करके पुस्तक का पैसा लेना हो न! रमणीक महल, चन्दन, चन्द्रमा की किरणें (चाँदनी),... चाँदनी अर्थात् (चन्द्र का) प्रकाश होता है न? वेणु,... समझ में आया? ऊँचा बाँस आदि होता है न? फर्स्टक्लास ऐसा रंगा हुआ और रंग आदि (होवे) वीणा तथा यौवनवती युवतियाँ (स्त्रियाँ) आदि योग्य पदार्थ भूख-प्यास से सताये हुए व्यक्तियों को अच्छे नहीं लगते।... पेट में भूख कुरकुरिया बोलता हो ऐसे... ऐसे, उसमें यह सब अनुकूल उस समय अच्छा नहीं लगता। भाई! रोटी लाओ न अब। जो कुछ सूखा हो तो सूखा। सबेरे की रोटी है या नहीं? तू तो रोटी को साढ़े नौ करे, रात की पड़ी है या नहीं? लाओ रोटी। अन्दर पीड़ा-भूख लगती हो न? व्यक्तियों को अच्छे नहीं लगते। ये सब चीजें अच्छी लगती हों (परन्तु) पेट में भूख ऐसी हो, ऐसी हो... फिर अभी आशा न हो कि अभी कब होगी? आहाहा! अरे! तीन घण्टे में होगी? यह दूधपाक होगा। आज मामा के यहाँ भोजन का (निमन्त्रण) आया, वहाँ दो बजे दूधपाक होगा। हाय... हाय! यहाँ भूख लगी साढ़े नौ बजे और यह घर की महिला पकायेगी नहीं। अभी क्या? अपने को जीमने तो जाना है परन्तु जीमने दो बजे जाना है, किन्तु यहाँ भूख लगी उसका क्या करना अभी? परन्तु (अभी) खाओगे तो फिर वह दूधपाक कब खाया जायेगा? ऐ... छगनभाई! लड़के को भूखा रखे, पता है? ऐसा हो तो दो घण्टे पहले (रखे), भूखा रखे और घर में नहीं पकावे। यहाँ खाये, फिर वहाँ क्या खायेगा? आहाहा! यह सब देखा हुआ, देखा हुआ अनुभूत है, हों!

व्यक्तियों को अच्छे नहीं लगते। पेट में भूख लगी, त्रास लगी... आहाहा...! ठीक भी है, अरे! सारे ठाटबाट सेर भर चाँवलों के रहने पर ही हो सकते हैं। कहते हैं कि पेट में अनाज हो तो फिर दूसरा ठीक लगे, ऐसा अज्ञानी को भासता है। यह अच्छी चीज हो तो भी खराब लगती है। समझ में आया? ठाटबाट, सेर भर चावल पेट में कुछ पड़े हों न फिर कहे... हाँ... अर्थात् पेट भर खाने के लिए यदि अन्न मौजूद है, तब तो सभी कुछ अच्छा ही अच्छा लगता है। लो! और अन्यथा (यदि भरपेट खाने को न हुआ तो) सुन्दर एवं मनोहर गिने जानेवाले पदार्थ भी बुरे लगते हैं। यहाँ भूख लगी है, यहाँ आँख में अंधेरा आता है... समझ में आया? कल शाम को थोड़ा खाया था, पेट को ठीक नहीं था और यह ऐसी भूख लगी है और यह... उस समय अच्छी चीजें भी पेट में

पड़ा हुआ नहीं (और) भूख लगी है तो अच्छी नहीं लगती है। वे चीजें अच्छी-बुरी नहीं हैं, इसे अच्छी नहीं लगती। पहले अच्छी लगती थी, फिर अच्छी नहीं लगती। वे चीजें अच्छी लगती हों तो सदा अच्छी लगना चाहिए। समझ में आया? सिद्धान्त यह सिद्ध करना है।

यह चीज अच्छी-बुरी नहीं है ये चीजें पहले (अच्छी) मानी थी। आहाहा! जहाँ पेट में भूख या दूसरा कुछ हुआ तो ऊँ... हु...हु...हु... बस! हो गया। यह तो तेरी कल्पना थी। वे चीजें अनुकूल-प्रतिकूल हैं, इसलिए सुख-दुःख है - ऐसा नहीं है। ओहोहो! घबराया हुआ हो न घबराया हुआ? ऐसे वस्तु दे, वह तो दुश्मन अच्छी वस्तु देता हो तो इसे ऐसा लगता है कि यह जहर देता है, घबराये। मुझे क्या देते हो? दूध क्या? दूध में जहर नहीं न? इस चाय में कुछ डाला नहीं न?

राजा को बहुत डर होता है, हों! बड़ा राजा पहले कुत्ते को खिलाते हैं, बड़े राजा हो न? एक कुत्ता रखा हो, उस कुत्ते को पहले चखाते हैं। यदि न मरे तो खाते हैं। नहीं तो... ऐसे-ऐसे त्रास पड़े हुए को-इन मूढ़ों को सुखी कहा जाये? समझ में आया? जिसके खाने में भी पराधीनता का पार न हो। कुत्तेवाला बुलाओ, भाई! हम करोड़ के जमींदार हैं, किसी ने राज्य में खटपट से किसी ने कुछ किया हो तो? ऐसे बोले नहीं, भाषा ऐसी नहीं बोले परन्तु पहले अपन कुत्ते को चखायें। समझ में आया? रानी को पीने दो। राजा को पिलाने के लिये जहर का प्याला रानी ने तैयार किया हो राजा को पता पड़ गया, पियो पहले तुम। हाय... हाय...! देखो कुछ नहीं होगा पीले! ...पता पड़ जाये कि इसमें जहर है। समझ में आया? पीले! फिर पिया, मर गयी। क्या है परन्तु? किसे कहना अच्छा और किसे कहना बुरा? अच्छी रानी, रानी करता हो और उसे कहे कि अब जहर पी ले, अनिष्ट लगा (तो कहे) यह तो मार डालना चाहती है। समझ में आया?.....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ५

गाथा-६-७

शनिवार, दिनाङ्क १९-०३-१९६६

फाल्गुन कृष्ण १३,

वीर संवत् २४९२

कुन्दकुन्दाचार्य २००० वर्ष पहले हुए, उनके पश्चात् ये (पूज्यपादस्वामी) हुए हैं। महासमर्थ (थे), महाविदेहक्षेत्र में गये थे। महाविदेहक्षेत्र में भगवान विराजते हैं, वहाँ ये पूज्यपादस्वामी दिगम्बर मुनि, दर्शन करने गये थे, ये सब श्लोक सामने हैं, सामने हैं न श्लोक ? जैसे कुन्दकुन्दाचार्य, भगवान के पास गये थे। महाविदेहक्षेत्र में वर्तमान परमात्मा विराजते हैं, बड़ी आयु है। २००० वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, वैसे ये पूज्यपादस्वामी भी दिगम्बर मुनि महासमर्थ धर्मात्मा, भगवान के दर्शन करके आये और फिर यह शास्त्र कहे हैं।

मुमुक्षु :

उत्तर : यह कुछ पता नहीं, गये थे इतना। सामने है, देखो ! लिखा है, यह बताया था, सबेरे बताया था। 'विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः' (श्रवणबेलगोल शिलालेख १०८) शुरुआत करने से पहले शब्द है। श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धिर्जीयाद्विदेह-जिनदर्शनपूतगात्रः श्रवणबेलगोल शिलालेख १०८ है। शुरुआत में है, है न शुरुआत ? १०८ है बीच में। ऐसे दस हैं। एक, दो, तीन है न ? दसवाँ बोल है, उसमें यह है। विदेहक्षेत्र में भगवान विराजते हैं। वहाँ पूज्यपादस्वामी गये थे और फिर यह (शास्त्र) बनाया।

परमात्मा विराजते हैं, अभी वह के वही विराजते हैं। आयुष्य तो लम्बा है। करोड़पूर्व का आयुष्य है। समझ में आया ? एक पूर्व में कितने वर्ष जाते हैं ? (लाखों) संक्षिप्त ठीक किया। लम्बा आयुष्य है। एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्ष जाते हैं। ओहोहो... ! इसमें क्या है ? अनन्त काल गया, उसमें यह तो संख्यातवाँ काल है। एक पूर्व में सत्तर लाख करोड़, एक करोड़, दो करोड़ ऐसा नहीं। हजार करोड़ ऐसा नहीं, एक लाख नहीं। सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्ष का एक पूर्व कहलाता है - ऐसा एक करोड़ पूर्व का भगवान का आयुष्य है। सीमन्धर भगवान तीर्थकरदेव महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ परमेश्वर विराजते हैं। समझ में आया ? वर्तमान की बात चलती है न ?

चौबीस तीर्थकर तो मोक्ष पधारे, वे तो सिद्धपद हो गया। ये अरिहन्त पद में तो यहाँ

विराजते थे। जब महावीर भगवान आदि (थे), तब समवसरण में अरिहन्त पद में थे। अभी तो सिद्ध हो गये। णमो सिद्धाणं। यह सीमन्धर भगवान तो णमो अरिहन्ताणं में है, अभी अरिहन्त पद में हैं। चार कर्म नाश हुए हैं, चार कर्म बाकी हैं। समवसरण है, उपदेश चलता है, इन्द्र आते हैं। समझ में आया? घर का ठीक से पता न हो, उसमें पर की पंचायत इतनी सब कहाँ लगाना? मोहनभाई! आहाहा...! ये पूज्यपादस्वामी भगवान के पास गये थे। समझ में आया? वहाँ से आकर फिर ये शास्त्र रचे हैं।

छठी गाथा का चलता है, देखो! कहते हैं कि शरीर में, पेट में आहार न हो और रोग आदि हो, तब जो अनुकूल चीज लगती थी, वही इसे इसके अपने संस्कार के कारण प्रतिकूल लगती है—ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। यह इष्टोपदेश है। वासनामात्र से यह पर में सुख है, यह इसकी कल्पना है। स्त्री, शरीर, कुटुम्ब-परिवार, खाना-पीना, महल-मकान, ये सब मुझे सुखरूप हैं - ऐसा मूढ़ जीव अपनी वासना खड़ी करके मानता है। यह उसका स्वयं का उल्टा पुरुषार्थ है। कर्म का कारण नहीं—ऐसा इष्टोपदेश में कहते हैं। इसका नाम इष्टोपदेश। कर्म के कारण से है, यह उपदेश इष्टोपदेश नहीं है। समझ में आया?

मुमुक्षु : अभी आयेगा।

उत्तर : नहीं आयेगा, दूसरा आयेगा इसमें। इसमें नहीं आवे ऐसा। उपादान पहले से ले गये हैं, दूसरी गाथा से। उपादान के परिणाम और क्षणिक उपादान, हों! त्रिकाल उपादान नहीं। सोना अपने उपादान परिणाम से सोना होते-होते सोलहवान हो जाता है, निमित्त भले हों; इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अपने उपादान से ही कार्य कर रहा है। यह पहली, दूसरी गाथा से शुरु किया है अथवा पहली गाथा में शुरु किया था। भगवान परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ। कैसे परमात्मा? अपने पुरुषार्थ से स्वभाव को प्राप्त किया है। आया था या नहीं चन्दुभाई? पहली गाथा में। अपने पुरुषार्थ से जिन्होंने स्वभाव को प्राप्त किया है और इससे कर्म का अभाव हुआ। यह पहली गाथा में ही लिया था। पुरुषार्थ से प्राप्त किया है। इसका अर्थ यह कि पुरुषार्थ से उल्टा प्राप्त (करता है), संसार में उल्टा प्राप्त करता है। उल्टे पुरुषार्थ से उल्टा-विकारी प्राप्त करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से आत्मा की शान्ति प्राप्त करता है। यह तो इसमें सिद्धान्त आ गया। सब जगह कोई समान कथन... जैसे आता हो, वैसे आवे न। समझ में आया?

कहते हैं कि शरीर में, पेट (में) एक रोटी, सेर चावल पड़े हों तो यह सब ठीक लगता है और न हो तो सब (अठीक लगता है)। यह स्त्री प्रिय हो, सब अनुकूलता हो परन्तु अन्दर क्षुधा हो अथवा मस्तिष्क में दूसरी कोई चिन्ता चढ़ गयी हो... कहो, ठीक है या नहीं? चिन्ता अन्यत्र कहीं चढ़ गयी है, इसलिए यह सब लड़के हैं, स्त्री है, पैसा है, शरीर है,... मोहनभाई की अपेक्षा इनका शरीर अच्छा है परन्तु अन्दर कल्पना की जाल से (दुःखी होता है)। यह तो दृष्टान्त कहा।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! ऐसे दिखाव में देखो... दो व्यक्ति बताओ। यह तो इस चलने की अपेक्षा बात है। कहो, समझ में आया इसमें? धूल अच्छा हो या बुरा हो उसके साथ सम्बन्ध क्या है? आहाहा! इस आत्मा की नजर कर न, बापू! तू उल्टी नजर करता है, यह तेरा उल्टा पुरुषार्थ है, सुलटा करना वह तेरे हाथ में है। दूसरा कुछ (नहीं) दुनिया जड़ की उसके कारण वह तो अब हुआ ही करता है। उसकी कितनी सम्हाल रखने से वह रहेगा? लाख सम्हाल करेगा (तो भी) धूल होकर, राख होकर पड़ी श्मशान में चली जायेगी। वह कहीं तेरे रखने से रहे ऐसा नहीं है। ऐसा होगा? डॉक्टर! डॉक्टर रखते हैं या नहीं वहाँ? नहीं; धूल में चला जाता है। फूँ.... (होकर), नहलाया, धुलाया, खिलाया, सुलाया, मिलाया, यह सब किया तब क्षण के बाद अन्त में यह...! समाप्त! यह तो जड़ है, ये कहाँ आत्मा था? इसकी दशा क्या आत्मा के आधीन रहती है?

अज्ञानी को अपनी कल्पना में जब दुःख की कल्पना हो अथवा क्षुधा आदि का दुःख हो तब अनुकूल पदार्थ भी उसे ठीक नहीं लगते। वह अपनी वासना के कारण से। पदार्थ कोई वह वासना उत्पन्न नहीं कराते - ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। देखो! **‘एक पक्षी (चिरबा)...** कोई होगा। तुम्हारे ऐसा कुछ हिन्दी नाम आता है? चिरबा कौन होगा? **जो कि अपनी प्यारी चिरैया के साथ रह रहा था,...** कोई पक्षी (होगा)। वे दो पक्षी नहीं होते? चकबा होता है। रात्रि में अलग हो जाते हैं अथवा दूसरे दो बड़े जानवर आते हैं, जंगल में दोनों साथ रहते हैं। इतने-इतने (होते हैं) सारस! वे दोनों (साथ में) रहते हैं और फिर भिन्न पड़े तो ऐसे दुःख... दुःख... दुःख... दुःख... लगे। दो इतने-इतने बड़े होते हैं। हमारे तो जंगल में सब देखना होवे, बहुत देखा होवे न!

वह पक्षी अपनी प्रिय स्त्री के साथ रहता था। उसे धूप में रहते हुए भी संतोष और सुख मालूम देता था। दोनों जनें साथ में हों धूप में-धूप में हों, समझ में आया ? और धूप में रहने पर भी सन्तोष और सुख (का अनुभव करते थे)। दोनों जनें बस गलगलिया करते हों, बोले, चलें, छूकर अन्दर आवाज करें और... रात के समय जब वह अपनी चिरैया से बिछुड़ गया,... अपनी स्त्री से अलग पड़ा। रात्रि में इकट्ठे नहीं होते वे तो अलग रहते हैं। तब शीतल किरणवाले चन्द्रमा की किरणों को भी सहन (बरदास्त) न कर सका। वह शीतल ठण्डी ऐसी हवा आवे परन्तु उसे ठीक नहीं लगे। क्योंकि वह वासना (प्रेम) स्त्री के प्रति है न! उसके कारण (दुःखी होता है)। जो पदार्थ है वही है, साथ में स्त्री थी तो धूप में भी अच्छा लगता था। (अब) इस सर्दी में भी खराब लगता है। देखो! ऐसा कहते हैं। दोनों साथ-साथ में कहा न? चन्द्रमा की शीतल किरणें ऐसी होती हैं परन्तु स्त्री बिना उसे, आहाहा! (होता है)। इस वासना का उसे वास है, उसकी उल्टी वासना में गिर गया है।

उसे चिरैया के वियोग में चन्द्रमा की ठण्डी किरणें सन्ताप व दुःख देनेवाली ही प्रतीत होने लगीं। लो! यह मन में दुःख हो उसे लाख-करोड़ अनुकूलता हो (परन्तु) अन्दर बेचैनी (होती है) मुझे कुछ ठीक नहीं लगता (ऐसा बोलता है) समझ में आया ? आहाहा! कुछ धूल में भी नहीं परन्तु व्यर्थ की वासना खड़ी करके (दुःखी होता है)। समझ में आया ? ठीक ही है, मन के दुःखी होने पर सभी कुछ असह्य हो जाता है, कुछ भी भला या अच्छा नहीं मालूम होता।' मन में कल्पना... कल्पना... कल्पना... देखो न! आहाहा! समझ में आया ? हमारे था न? वह हेमचन्द नहीं ? मुम्बई। भूपेन्द्र डाईंग प्रिन्टिंग वर्क्स... उसे बेचारे को बहुत साधन था, पैसा, लड़के, स्त्री सब साधन था, बहुत साधन। उस समय पन्द्रह-बीस लाख होंगे, उस दिन! अभी तो बहुत हो गये, वह हेमचन्द। वह मेरे भाई होते हैं न! बड़े भाई का लड़का। उसे सब था परन्तु अन्दर से बारम्बार कहता, हों! वह बेचारा कहता। एक वह नहीं, गाँधी आया था ? गाँधी परिवार में नहीं ? वहाँ अपने राजकोट, एक भाई-बन्धु था। गाँधी कुटुम्ब में गुलाबचन्द गाँधी, गुजर गये न ? उनके कुटुम्ब में गाँधी है, वह यहाँ आता है, उनका भाईबन्धु था। मुझे हेमचन्दभाई ऐसा कहता कि भाई! इस मरने में कुछ दुःख होता होगा ? और मरकर कुछ पाप लगता

होगा - ऐसा पूछा करे। अपघात किया न? वहाँ पैसे थे, चार राजकुमार जैसे लड़के थे, पन्द्रह-बीस लाख रोकड़ थे, ढाई हजार की दिन की आमदनी थी। शरीर में रोग कुछ नहीं था, मन की चिन्ता उत्पन्न हुई, हाय... हाय...! ऐसा हो गया, ऐसा हो गया, ऐसा हो गया। ऊपर से गिरा दिया लो! मन में दुःख के कारण कुछ शान्ति नहीं। बाहर के पदार्थ वह के वही होने पर भी लगता नहीं और यदि मन में शान्ति होवे (तो) बाहर की प्रतिकूलता चाहे जितनी हो तो भी अकेला स्वयं शान्ति को वेदता है। दुनिया चाहे जहाँ हो, मैं मुझमें हूँ। समझ में आया?

इन सबसे मालूम पड़ता है कि इन्द्रियों से पैदा होनेवाला सुख वासनामात्र ही है। देखो! यह सिद्धान्त, यह करना है, हों! कर्म से नहीं, वासनामात्र है। यह इष्टोपदेश है। आत्मा में अन्दर में शान्ति, आनन्द है उसे आनन्द में दृष्टि न देकर (बाहर में सुख मानता है)। (उस आनन्द में दृष्टि दे) उसका नाम धर्म है। आत्मा आनन्दमूर्ति में दृष्टि करना, इसका नाम धर्म है। सम्यग्दर्शन धर्म, वह प्रगट न करके पर पदार्थ में अन्दर में वासना से मानता था। प्रतिकूलता आवे तब दुःख लगता है, यही प्रतिकूलता बाहर की हट जाये परन्तु अन्दर में कल्पना आयी (तो) अनुकूलता के समय भी दुःख लगता है। आहाहा!

कितने ही कहते हैं, अब इस मकान में रहना रुचता नहीं - ऐसा कितने ही बोलते हैं, हों! कौन जाने क्या होता है, कुछ चैन नहीं पड़ता। वह का वह पलंग, वह का वह मकान मुझे अच्छा लगता था, अब कौन जाने क्या होता है, क्या है, पता नहीं पड़ता। समझ में आया? फिर एक व्यक्ति को तो यहाँ तक बोलते (सुना कि) मेरी नरक की आयु बँध गयी होगी? वह फिर ऐसा कहता हमारे पास तो बहुत आते हैं या नहीं? नरक की आयु बँध गयी होगी? कहीं चैन नहीं पड़ता। यह सब सुविधा है, पैसा है, लड़के हैं। सब था, लो! यह परिणाम बिगड़ा ही करते हैं, अच्छे नहीं आते। नरक की आयु बँध गयी होगी? परन्तु नरक की आयु बँधना यह किसलिए व्यर्थ की कल्पना की? आहाहा!

भगवान आत्मा आनन्दकन्द सच्चिदानन्दस्वरूप है, उसमें दृष्टि दे, तुझे आनन्द आयेगा, यह विश्रामस्थल आत्मा है। समझ में आया? विश्राम लेनेवाले को विश्राम का स्थान यह है। लो! आता है या नहीं? निर्जरा अधिकार में नहीं आता? यह स्थाता का स्थान है। यह निर्जरा अधिकार में आता है। समझ में आया? २०३ गाथा में है, यह स्थाता का-

रहनेयोग्य रहने का स्थान आत्मा है। समझ में आया ? यह (आता) है। ठीक है। वे स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का स्थान नहीं हो सकनेयोग्य होने से... ये बाहर के राग-द्वेष हैं, वे रहनेवाले का स्थान नहीं-ऐसा कहते हैं। राग-द्वेष, पुण्य-पाप, इनका फल यह अपदभूत है, यह रहनेवाले का स्थान नहीं, यह भटकाव स्थान है। और जो तत्त्वभाव से (आत्मस्वभावरूप से) अनुभव में आता हुआ, नियत अवस्थावाला, एक, नित्य, अव्यभिचारी भाव (चैतन्यमात्र ज्ञानभाव) है, वह एक ही स्वयं स्थायी होने से स्थाता का स्थान अर्थात् रहनेवाले का स्थान हो सकनेयोग्य होने से पदभूत है। ओहोहो! आचार्य ने तो कितनी बात रखी है! कौन जाने कहाँ याद आया यह ? समझ में आया ? २०३ गाथा है, निर्जरा अधिकार।

क्या कहा ? भाई! तुझे स्थिररूप से रहना हो तो इस स्थाता का स्थान भगवान आत्मा है, अतीन्द्रिय आनन्द विश्राम स्थान आनन्द का धाम, वहाँ दृष्टि कर। स्थिरता, रहनेवाले को स्थान वह देगा। आहाहा! निर्जरा अधिकार है। समझ में आया ? अच्छी दुकान चलती हो तो फिर आधे में निकाल डाले और पूरी दुकान करे। साधारण चलती हो तो क्षण में सोनगढ़ जाये और क्षण में वहाँ जाये। फिर दुकान जम गयी हो तो वही रहे। इसी प्रकार यह स्थाता का स्थान भगवान आत्मा है। करते हैं न ? चन्दुभाई! आहाहा! शुभभाव का करे, यह करे उसमें से कुछ मिले नहीं। भगवान आत्मा ज्ञानानन्द का धाम, स्थिर होने का स्थान, रहनेवाले का रहने का स्थान आत्मा है। ए... गुलाबभाई! यह दूसरे प्रकार की बातें हैं, तुम्हारे सब मुम्बई के लिखावट से अलग प्रकार है। दूसरी प्रकार का अर्थ हुआ न ? भाई! दूसरा प्रकार अर्थात् विपरीत, उसकी अपेक्षा विपरीत। आहाहा!

भाई! कहते हैं, यह वासनामात्र है। सभी कुछ असह्य हो जाता है, कुछ भी भला या अच्छा नहीं मालूम होता। लो! उस स्त्री के वियोग में उसे ऐसी चन्द्र की किरण की शीत अनुकूलता सहन नहीं होती। सहन न कर सका। सहन कर सका नहीं। उस चन्द्र की किरण, उसकी सेवा कर सका नहीं। इसी प्रकार लाख स्त्री और अनुकूलता हो ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती लो न! छियानवें हजार स्त्री। ब्रह्मदत्त को छियानवे हजार स्त्री, बड़ा चक्रवर्ती, सात सौ वर्ष की आयु, मरते हुए... हाय! हाय!... रानी... रानी... रानी... करता (था) कैसा नाम कहा ? कुरुमति! हीरे के पलंग पर सोता था, हीरे का पलंग, हों! चक्रवर्ती (था)

सोलह प्रकार के देव तो सेवा करते थे, सेवा करते थे, चक्रवर्ती राजा। अभी के पुण्यहीन को इतने सब पुण्य होंगे या नहीं, जँचना कठिन पड़ता है। साधारण पुण्य है न लोगों के! समझ में आया? चक्रवर्ती है। वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र में भगवान विराजते हैं, वैसे चक्रवर्ती भी वहाँ विराजते हैं। महाविदेहक्षेत्र, चक्रवर्ती राजा समझ में आया?

जब कुन्दकुन्दाचार्य यहाँ से दर्शन करने गये थे न? संवत् ४९, २००० वर्ष हुए इनका - कुन्दकुन्दाचार्य का इतना छोटा शरीर (और) वहाँ तो पाँच सौ धनुष का (शरीर)। चक्रवर्ती ने पूछा, प्रभु! यह कौन है? तीड़ जैसा इतना शरीर! ऐसे चार हाथ का, वहाँ पाँच सौ धनुष (अर्थात्) दो हजार हाथ ऊँचा। वह चक्रवर्ती राजा। अपने यहाँ किया है, समवसरण में सब रखा है। यहाँ बाहर में मानस्तम्भ में रखा है। वहाँ चक्रवर्ती राजा है, मुनि को देखकर (पूछा कि) यह कौन? इतने छोटे मुनि! यह कौन नग्न मुनि? तीड़ जितना शरीर लगता है। भगवान के मुख में से निकला 'भरतक्षेत्र के सत्धर्म वृद्धि करा' सत्धर्म की वृद्धि करनेवाले ये आचार्य हैं। समझ में आया? क्या कहा?

कहते हैं आत्मा को जहाँ अन्तर में शान्ति नहीं उसे बाहर के पदार्थ कोई सुख उत्पन्न नहीं करते और आत्मा को जहाँ प्रतिकूलता हो (तथापि) अन्दर अकेला आनन्द है, समझ में आया? आहाहा! यह स्वयं की कल्पना का कारण है या बाहर का? ऐसा यहाँ कहते हैं। सच्ची बात ऐसी नहीं।

इन सबसे मालूम पड़ता है कि इन्द्रियों से पैदा होनेवाला सुख वासनामात्र ही है। आत्मा का स्वाभाविक एवं अनाकुलतारूप सुख वासनामात्र नहीं है, ... भगवान आत्मा अनाकुल आनन्द सहजस्वरूप आत्मा है, उसमें अन्तर्दृष्टि देने से अनाकुल स्वाभाविक, वासना नहीं परन्तु स्वाभाविक आनन्द प्राप्ति हो ऐसा स्थान आत्मा है। समझ में आया? अनाकुलतारूप सुख वासनामात्र नहीं है, वह तो वास्तविक है। समझ में आया? गुड़ के रव में से गिरता हुआ जो गुड़ निकले वह वास्तविक उसका स्वभाव है, इसी प्रकार आत्मा आनन्द का रव है। इसे क्या पता पड़े? ऐसा आत्मा? आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का रव, रव गुड का पिण्ड है। रव समझ में आता है? रव समझ में आता है? इतना नहीं आता? कोल्हापुर! इतनी भेलियाँ आती हैं, चार-चार मण की भेलियाँ (आती हैं) और आधे नम्बर का न? आधे नम्बर का कोल्हापुर का ऊँचा गुड़ होता है। बहुत ऊँचा!

आधे नम्बर का बहुत ऊँचा होता है। उसमें साबुन, धूल, बिल्कुल कुछ नहीं। एकदम रस, उसकी भेलियाँ (आवे)। इसी प्रकार आत्मा अकेला अतीन्द्रिय आनन्द रसकन्द की भेली है। यह व्यर्थ का विकार पुण्य-पाप, काम, क्रोध को उत्पन्न करके खारे रस में हैरान होता है। समझ में आया ? उसमें अन्दर नजर पड़े तो कहते हैं कि वह अनाकुलता का सुख है, वह वासनामात्र नहीं, अन्य तो कल्पित किया था, कल्पित किया था, यहाँ कल्पनामात्र नहीं परन्तु वास्तविक है। ऐसा कहना है। समझ में आया ?

इन्द्र को इन्द्रासन में, करोड़ों इन्द्रियाणियाँ (होती हैं)। लो ! करोड़ों इन्द्राणियाँ (होवें) कल्पना है। आत्मा में आनन्द है वह कल्पना नहीं परन्तु वास्तविक है। परन्तु इसे जँचे बिना कैसे जँचे ? मैं इतना बड़ा यह इसे जमता नहीं, दूसरे को बड़प्पन देने लगता है। ओहाहो ! तुम तो ऐसे... ओहोहो ! ओहोहो ! ऐसा कहता है। तुम तो ऐसे और तुम तो ऐसे... तुम तो ऐसे... तुम तो ऐसे... क्यों गुलाबभाई ? दूसरे तो अच्छे लोग, दूसरे अच्छे लोग। दूसरे अच्छे कैसे किसे इसका इसे पता नहीं होता, यह अच्छा अन्दर है या नहीं ? अन्दर वस्तु / पदार्थ है या नहीं ? चीज है या नहीं ? तत्त्व है या नहीं ? पदार्थ भावसहित पदार्थ है या खाली है ? परन्तु कभी उसकी नजर नहीं की है। नजर करने की जरूरत है ऐसा भी जाना नहीं है। आहाहा !

अनाकुलतारूप सुख वासनामात्र नहीं है, ... समझे न ? कौन ? आत्मा का सुख ? वह तो वास्तविक है। यदि इन्द्रियजन्य सुख वासनामात्र-विभ्रमजन्य न होता तो संसार में जो पदार्थ सुख के पैदा करनेवाले... न्याय देते हैं। संसार में जो पदार्थ सुख के पैदा करनेवाले माने गये हैं, ... माना है, माना है, हों ! वे ही दुःख के कारण कैसे हो जाते ? वह की वह स्त्री सुख का कारण मानकर वास्तविक कारण (कहे कि) मर न अब ! चैन आने दे, ऐसा बोले, हों ! क्या हो गया फिर ? यह तो तूने सुख का कारण कल्पा था, यह फिर उसे कल्पना में दुःख का कारण माना यह तेरी कल्पना है ऐसा कहते हैं। परपदार्थ कोई सुख-दुख देते नहीं, देखो यह इष्टोपदेश ! आहाहा ! मावा और चूरमा के लड्डू और सर्दी में सबेरे सालनपाक बनाया हो, डेढ़ सौ रुपये का सेर ऊँचा डालकर, मूसलीपाक और सालनपाक डालकर... उसमें छह डिग्री का बुखार (आवे)... डाक्टर

कहे कुछ खाना नहीं, हों! परन्तु यह बनाया वह... कि नहीं, अभी महीने-दो महीने कुछ नहीं खाना। ऐ डाक्टर! डाक्टर तो खाने को कहे, हों! वैद्य इन्कार करे।

ऐसा तो नहीं कहे, ऐसा खाने को नहीं कहे, तरल लेना... लेना, शक्ति घटे नहीं, शक्ति घटे नहीं ऐसा रखना, थोड़ा-थोड़ा लेना परन्तु वह सालनपाक नहीं लेना (भले) दो सौ रुपये का बनाया हो, घर में चार लोग (होवें) और सबको सर्दी में पाव सेर-पाव सेर निश्चित करके खाना हो दो सेर बनाया हो। हाय.. हाय! अब ?

मुमुक्षु :

उत्तर : हाँ, हाँ, निश्चित किया हो। इतना देना चाहिए कोई ज्यादा न ले जाये, कोई कम न ले जाये, सब व्यवस्थित होता है न? सब होता है। यह सब देखा है न, सब हुआ है। समझ में आया? घर में होवे तब व्यवस्थित रखना। अब उसमें आया हो बुखार और वह बुखार ऐसा आया हो छह-छह डिग्री कठोर! खाना नहीं, हों! उसमें आठ दिन का हुआ हो... क्या कहलाता है तुम्हारे? वह लम्बा चलता है वह? मुद्दतियो क्या कहते हैं उसे? टाइफाइड! उसमें पन्द्रह दिन टाइफाइड चला अब? पन्द्रह दिन क्या? डेढ़ महीने तक कुछ खाना नहीं, हों! परन्तु यह दो महीने का बनाया (इसका) क्या करना? आहाहा! लड़का-बड़का मर जाये न दो महीने का बनाया हो तो चुपचाप खा ले। फिर कोई फेंक दिया जाता है? परन्तु इसका क्या करना? यह पचे नहीं इसका। आहाहा! ये सुख के पैदा करनेवाले माने थे, वह तेरी वासना से दुःख का कारण तूने माना है, भाई! परवस्तु कुछ सुख-दुःख का कारण है ही नहीं। भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का कारण है। उल्टा पड़ा (तो) विकार की वासना का कारण होता है, कहते हैं। वह यह इष्टोपदेश है। देखो! समझ में आया?

अतः निष्कर्ष निकला कि... सार निकला। देहधारियों का सुख केवल काल्पनिक ही है... देह के धारण करनेवालों का बाहर के संयोग में सुख-दुःख मानना, वह कल्पना की मान्यता है, वास्तविक वह स्वरूप है नहीं। और इसी प्रकार उनका दुःख भी काल्पनिक है। देखो! शरीर में रोग, क्षय (होवे) ए... हाय! ए... मर गये। मानो ऐसा हो गया। मर गया क्या? तूने कल्पना की है, दुःख काल्पनिक है ऐसा कहते हैं। शरीर

में रोग हुआ, शरीर में क्षय लागू पड़ा, यह सुलगा... क्या कहलाये वह क्षय ? फेफड़ा... फेफड़ा.. ! फोटो लिया (उसमें आया) । जाली पड़ गयी है, बापू ! हैं... तीसरे नम्बर से आगे गया है, पहले नम्बर में होवे तो अभी उपाय कर सकते हैं । अभी तक ध्यान नहीं रखा ? कुछ होता था परन्तु ऐसा का ऐसा व्यापार का धन्धा, फुर्सत रही नहीं । तीसरे नम्बर (थर्ड स्टेज) गया है । स्त्री को कहना नहीं, हों ! अब थोड़े दिन में मरनेवाले हो । ऐ... आहाहा ! ये शरीर आदि के दुःख वह दुःख नहीं, कल्पना मानकर बैठा, उल्टी-उल्टी... यह भाषा तो बोलता है । इसी प्रकार उनका दुःख भी काल्पनिक है । देखो ! यह इसका श्लोक—

दोहा - विषयी सुख दुःख मानते, है अज्ञान प्रसाद।
भोग रोगवत् कष्ट में, तन मन करत विषाद।।६।।

ये विषय के सुख, इन्द्रियों के सुख-दुःख मानते (हैं वे) अज्ञानी कल्पना से मानते हैं । यह अज्ञान का प्रसाद है, मूढ़ता की मेहरबानी है, यह मूढ़ता की मेहरबानी है । तुम सब टाइप में ऐसे शब्द डालते होंगे न ? यह शौकीन है न ! इसके धन्धे में होता है न ! शब्द का मिलान करे । कक्का आवे तो कक्का के साथ आवे । 'अ' आवे तो 'अ' आवे 'ब' आवे तो 'ब' का मेल खाये तो ऐसा सब व्यवहार, व्यवस्था इस बात में... तो यह साहित्यकार कहलाये, पुस्तक बनानेवाला कहलाये ।

मुमुक्षु : भाव की धारा बनी रहे ।

उत्तर : भाव तो ठीक परन्तु यह भाषा की रचना में सब रचना, समरूप आनी चाहिए । कहीं-कहीं व्यवा आवे कहीं-कहीं नना आवे, कहीं-कहीं ममा आवे, कहीं-कहीं मै मा व्यवस्थित आवे तब यह रचना करनेवाला साहित्यकार कहलाये ।

यहाँ तो कहते हैं कि पर में अज्ञान के प्रसाद से तूने कल्पना करके माना है । भोग रोगवत् कष्ट में,... शरीर में दुःख आवे या रोग आवे तब भोग रोगवत् लगते हैं । ज्ञानी को भोग रोगवत् लगते हैं और इसे रोगवत् लगते हैं (इन) दोनों में अन्तर है । धर्मी को आत्मा के आनन्द का पता है कि मैं अतीन्द्रिय आनन्द हूँ उसे भोग के समय भोग रोग जैसे लगते हैं । आहाहा !

अरे ! कोई उपसर्ग आया । धर्मी सम्यग्दृष्टि जीव, आत्मा के स्वभाव का-आनन्द

का अनुभव है, उसे हों! ऐसा भान करे कि रोग छोड़ा, भोग छोड़ा, कुछ छोड़ा नहीं, धर्म छोड़ा है। समझ में आया? जिसे सम्यग्दर्शन में आत्मा के आनन्द का अनुभव हुआ है, उस आनन्द के अनुभव के समक्ष भोग रोग जैसे अन्दर में लगते हैं। उसे अन्दर दुःख-उपसर्ग लगता है। इसी प्रकार अज्ञानी को बाहर के कष्ट के समक्ष कल्पना के कष्ट के समक्ष अनुकूल भोग उसे रोग जैसे लगते हैं, दुःख लगते हैं। समझ में आया? तन मन करत विषाद। लो! खेद करता है, खेद करता है।

शंका - ऐसा सुन शिष्य पुनः कहने लगा कि 'यदि ये सुख और दुःख वासनामात्र ही हैं तो वे लोगों को उसी रूप में क्यों नहीं मालूम पड़ते हैं।' आचार्य समझाते हुए बोले -

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।

मत्तः पुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः॥७॥

अर्थ - मोह से ढका हुआ ज्ञान, वास्तविक स्वरूप को वैसे ही नहीं जान पाता है, जैसे कि मद पैदा करानेवाले कोद्रव (कोदों) के खाने से नशैल-बे-खबर हुआ आदमी पदार्थों को ठीक-ठीक रूप से नहीं जान पाता है।

विशदार्थ - मोहनीयकर्म के उदय से ढका हुआ ज्ञान वस्तुओं के यथार्थ (ठीक-ठीक) स्वरूप का प्रकाशन करने में दबी हुई सामर्थ्यवाला ज्ञान, सुख, दुःख, शरीर आदिक पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है। परस्पर में मेल रहने पर भी किसी विवक्षित (खास) पदार्थ को अन्य पदार्थों से जुदा जतलाने के लिये कारणीभूत धर्म को (भाव को) स्व असाधारण भाव कहते हैं! अर्थात् दो अथवा दो से अधिक अनेक पदार्थों के बीच मिले रहने पर भी जिस असाधारण भाव (धर्म) के द्वारा किसी खास पदार्थ को अन्य पदार्थों से जुदा जान सके, उसी धर्म को उस पदार्थ का स्वभाव कहते हैं।

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है - 'मलविद्ध'

'मल सहित मणि का प्रकाश (तेज) जैसे एक प्रकार से न होकर अनेक प्रकार से होता है, वैसे ही कर्मसम्बद्ध आत्मा का प्रतिभास भी एक रूप से न होकर अनेक रूप से होता है।'

यहाँ पर किसी का प्रश्न है कि -

अमूर्त आत्मा का मूर्तिमान कर्मों के द्वारा अभिभव (पैदा) कैसे हो सकता है?

उत्तरस्वरूप आचार्य कहते हैं कि -

‘नशे को पैदा करनेवाले कोद्रव-कोदों धान्य को खाकर जिसे नशा पैदा हो गया है, ऐसा पुरुष घट पट आदि पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान सकता, उसी प्रकार कर्मबद्ध आत्मा पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है। अर्थात् आत्मा व उसका ज्ञान गुण यद्यपि अमूर्त है, फिर भी मूर्तिमान कोद्रवादि धान्यों से मिलकर वह बिगड़ जाता है। उसी प्रकार अमूर्त आत्मा मूर्तिमान् कर्मों के द्वारा अभिभूत हो जाता है और उसके गुण भी दबे जा सकते हैं।।७।।’

शरीर आदिकों के स्वरूप को न समझता हुआ आत्मा शरीरादिकों को किसी दूसरे रूप में ही मान बैठता है।

दोहा - मोहकर्म के उदय से, वस्तुस्वभाव न पात।
मदकारी कोदों भखे, उल्टा जगत लखात।।७।।

गाथा - ७ पर प्रवचन

अब शिष्य प्रश्न करता है। शंका - ऐसा सुन शिष्य पुनः कहने लगा कि ‘यदि ये सुख और दुःख वासनामात्र ही हैं तो वे लोगों को उसी रूप में क्यों नहीं मालूम पड़ते हैं।’ लोगों को क्यों नहीं पता पड़ता ? तुम कहते हो कि कल्पनामात्र है। समझ में आया ? सुख-दुःख कल्पनामात्र है। यह इन्द्रिय के विषय मानी हुई वासना से ही माना है, खोटी गन्ध उठी है तो लोगों को क्यों पता नहीं पड़ता ? लोगों को उसी रूप में क्यों नहीं मालूम पड़ते हैं।’ वह जिस प्रकार से सुख-दुःख की बात कल्पना से मानी हुई है, वह लोगों को क्यों पता नहीं पड़ता ? आचार्य समझाते हुए बोले - यह श्लोक इन्होंने रखा है, भाई ! चर्चा में। देखो ! कर्म के कारण (होता है)।

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।

मत्तः पुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः।।७।।

विशिष्टता तो क्या है ? मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि। यह शब्द पड़ा है। अज्ञानी-कर्म के पाक में मोह से जुड़ा हुआ (इस) स्वभाव की शुद्धता, असाधारण अपना धर्म, उसे पाते नहीं। क्या कहा ?

है अन्दर, यह आयेगा अन्दर, अन्दर है, आयेगा। स्वभाव है न ? स्वभावं लभते न हि। अपना असाधारण धर्म। असाधारण स्वभावं लभते न हि। का अर्थ — असाधारण अर्थात् आनन्द आत्मा में है ऐसे स्वभाव को प्राप्त नहीं करता। मोहेन संवृतं ज्ञानं यह मोह अर्थात्... यह मोहेन शब्द में टीकाकार ने कितना (स्पष्टीकरण) किया है ? मोहेन मोहनीयकर्मणो विपाकेन ऐसा शब्द है। विपाक अर्थात् कर्म के फल में अन्दर दुःख में जुड़ गया। समझ में आया ? इससे इसे परवस्तु में सुख-दुःख है ऐसा भासित हो जाता है। पर में सुख-दुःख भासित हो जाता है। कल्पना से भासित होता है ऐसा कहते हैं। विपाकेन कर्म के पाक में जुड़ने से। भगवान आत्मा के स्वभाव को अप्राप्त करता हुआ - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

अपना जो ज्ञान और आनन्द असाधारण स्वभाव है, उसे मिथ्यादृष्टि उसके आत्मा के आनन्द को और ज्ञान को प्राप्त नहीं करके मोहकर्म के पाक में जुड़ जाता है। स्वभाव से विभाव में जुड़ जाता है। समझ में आया ? आहाहा ! परन्तु पहले से उपादान से बात की है कि उपादान तेरे परिणाम से ही तुझे मुक्ति होती है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के निमित्त होते हैं। इस प्रकार यहाँ उपादान तेरा है और बाद में कहेंगे, ३२ वीं गाथा में है न ? कि कर्म का और शरीर का उपकार तू करता है, तब तेरा अपकार होता है। समझ में आया न ? ऐसा है कुछ। ३२ है न ? ३२, उपकार, उपकार। यह तो कर्म, कर्म के काल में... यह तो यह है, देखो ! ३२ वीं है न ? पर के उपकार करने को छोड़कर अपने उपकार करने में तत्पर हो जाओ। 'परोपकृतिमुत्सृज्य, स्वोपकारपरो भव।' ३२, ३२ (गाथा)। उसका अर्थ 'परोपकृतिमुत्सृज्य', तू पर का उपकार करता है, कर्म बाँधने में कर्म का तू उपकार करता है यह सब है अन्दर, हों ! समझ में आया ? 'परस्य कर्मोणो देहादेर्वा अविद्यावशात्' देखो ! भाई ! है, इसमें टीका में है, ऐई ! 'परस्य कर्मोणो देहादेर्वा अविद्यावशात् क्रियमाणमुपकारं' तेरे स्वरूप के भान बिना अविद्या के कारण तू कर्म

का उपकार करता है अर्थात् अज्ञान से कर्म बाँधता है, ऐसा। अज्ञान से कर्म बाँधकर उपकार उसे होता है। देह का उपकार होता है कि देह को रखूँ ऐसा देह को उपकार होता है। तेरा अपकार होता है और तेरा उपकार कर तो उसका अपकार होता है, वह तेरे हाथ के अधिकार की बात है। समझ में आया ? इसे आगे सब लेंगे।

पर कहिये कर्म अथवा शरीरादिक, इनका अविद्या-अज्ञान अथवा मोह के वश से जो उपकार किया जाता रहा है, उसे विद्या सम्यग्ज्ञान अथवा वीतरागता के अभ्यास से छोड़कर प्रधानता से अपने (आत्मा के) उपकार करने में तत्पर हो जाओ। ३२ में है। समझ में आया ? एक जगह क्या कहा ? दूसरी जगह इससे कुछ विरुद्ध कहें ? क्या कहा, समझ में आया इसमें ? तू अज्ञानभाव करके कर्म बाँधता है और शरीर को उसमें रखना चाहता है, वह तू उनका उपकार करता है और तुझे होता है अपकार, तुझे होता है नुकसान। और तू तेरा ध्यान करे तो तुझे होगा उपकार और उन्हें होगा अपकार। शरीर का चाहे जो होता हो, वह हो। आहाहा! कर्म बँधेंगे नहीं यह कर्म का अपकार हुआ। चन्दुभाई!

मुमुक्षु : किसी की सेवा करता होवे तो....

उत्तर : कौन सेवा करता था ? कौन करता है ? कौन कहा ? पर की सेवा का भाव करता है वह पर का उपकार करता है अर्थात् अपना नुकसान करता है। सेवाभावी हैं न ये सब ? सब पुस्तकें लिखनेवाले (ऐसा) मानो दुनिया का सेवाभाव करते हैं। पैसा पैदा करें यह मूल तो इसके लिये होता है।

मुमुक्षु : शौक....

उत्तर : यह शौक मोह का है, मूढ़ता का शौक है, यह तो यहाँ कहते हैं। आत्मा का उपकार करनेवाला पर का उपकार नहीं करता अर्थात् कर्म आदि नहीं बाँधता और शरीरादि का वह कुछ करने नहीं लगता। उसे पर का कुछ करने का विकल्प नहीं है क्योंकि कर नहीं सकता। अपना करनेवाला अपने आत्मा का उपकार करता है। मैं ज्ञानानन्द हूँ ऐसे श्रद्धा-ज्ञान करता हुआ अपना उपकार स्वयं करता है। पर का अपकार अर्थात् पर का ध्यान नहीं रखता पर का होना हो वह होगा, मेरे आधीन कुछ है नहीं। कहो समझ में आया इसमें ? यह तो इसके साथ जरा मिलान करने को वर्णन किया। समझ में आया ?

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।

मत्तः पुमान्पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः॥७॥

यह दृष्टान्त ऐसा ही समझना। अर्थ – मोह से ढका हुआ ज्ञान,... देखो! विपाक से, हों! मूल तो यह है न? इसका अर्थ यह है कि भगवान आत्मा अपने स्वभाव की ओर का लक्ष्य करके अपना विकास करना चाहिए, उसे छोड़कर मोह के पाक में जुड़ने से अपने विकास को रौंदता है, बस! यह बात है। आहाहा! अब सुन न! एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य का तीन काल में कहीं होता होगा? यह तो बात ली है। दूसरे बोल से उपादान परिणाम से तो बात ली है। उपादान के परिणाम, हों! ध्रुव नहीं, वर्तमान उपादान की जो पर्याय प्रगट करे, उसे बाह्य के अनुकूल निमित्त होते ही हैं। एक कारण होवे तो दूसरे कारण होते ही हैं। उसे दूसरे कारण का इन्तजार नहीं करना पड़ता। स्वतन्त्र उपादान के परिणाम अपने हैं। समझ में आया?

यहाँ भी अपने शुद्ध उपादान के परिणाम को – लाभ को छोड़कर अशुद्ध उपादान में मोह के वश पड़ा आत्मा... ढका हुआ ज्ञान,... अपने ज्ञान के विकास को ढँक देता है अथवा अपने विकास में पर्याय को प्रगट होने को छोड़ देता है – ऐसी है बात तो (इसका आधार) देकर अज्ञानी कहता है (देखो) मोह के कारण ऐसा है। इष्टोपदेश में ऐसा लिखा है। कल बीस पृष्ठ का आया था। अरे! भगवान बापू! यह क्यों तुझे ठीक लगता है? जड़कर्म मुझे नुकसान करता है यह तुझे अच्छा लगता है परन्तु मैं मुझे नुकसान करूँ तब कर्म निमित्तमात्र कहलाता है। यह इसे अच्छा नहीं लगता। नहीं, यह दूसरा मुझे नुकसान करता है। आहाहा! ए..। पोंगा है? दुनिया में भी ऐसा कहते हैं, नहीं! दस वर्ष का लड़का हो और उसकी माँ के पास जाये (और कहे) माँ, मुझे उसने मारा, तो (पूछे) कौन? कि अमुक.... वह तो आठ वर्ष का है, तू तो दस वर्ष का है। पोंगा तुझे मार गया। शिकायत लेकर जाये तो उसकी माँ उसे ऐसा कहे – परन्तु तू दस वर्ष का वह आठ वर्ष का, तुझे मार गया? मारने तो लगा था। उसने मारा तो पत्थर ऐसा (मारा) परन्तु फिर लगा नहीं, इसलिए रोता-रोता माँ के पास आया।

इसी प्रकार (यहाँ कहते हैं)..... आत्मा है या नहीं तू? तुझे कर्म नुकसान करावे?...

तू बैठा है या नहीं ? नवरंगभाई ! कर्म विचारै कौन भूल मेरी अधिकाई । कर्म तो रंक, बेचारे जड़ हैं... तू चैतन्यमूर्ति आत्मा (और) तुझे वह जड़ हैरान करे ? ऐसा राग लेकर आयेगा ? मूर्ख है ? वे तो हैरान करते नहीं । तू तुझे हैरान करता है और तू (कहता है कि) वे मुझे हैरानपना कराते हैं ऐसा राग लेकर आया है । भगवान कहते हैं कि चल... चल... समझ में आया ? मूलचन्दभाई समझ में आया या नहीं इसमें ?

मोह से ढका हुआ... देखो ! अपने स्वभाव का असाधारण धर्म जो करना चाहिए वह प्रगट नहीं किया - ऐसा है न पाठ - 'स्वभावं लभते न हि' वास्तविक स्वरूप को वैसे ही नहीं जान पाता है,... वास्तविक स्वरूप, देखो ! स्वभाव है न ? भगवान ज्ञानानन्द प्रभु की श्रद्धा ज्ञान में आत्मा की शान्ति की प्राप्ति को प्रगट करना चाहिए ऐसा न करके कर्म के वश और आधीन होकर, 'कर्म के वश' शब्द है, हाँ ! ऐसा आगे आयेगा । ३२ (गाथा में) ऐसा है । 'वश' शब्द पड़ा है, किसी जगह संक्षिप्त शब्द किया हो, संक्षिप्त हो गया इसलिए कर्म से हो गया ? पहली बात उपादान से कह गये हैं । 'उपादानयोगेन-कारणेन' समझ में आया ? आहाहा ! कौन जाने ? कैसे झगड़े डाले न अन्दर कि लोग बेचारे उलझ जाते हैं । सोनगढ़ कहता है वह सच्चा होगा ? या वे अमुक कहते हैं वह सच्चा होगा ? ऐसे बेचारे उलझन में पड़ जाते हैं । आहा ! मुश्किल से स्वतन्त्र होने का काल (आया) उसमें यह परतन्त्र (होने की बात अच्छी लगे कि) मुझे कर्म हैरान करते हैं । यह बात सच्ची, लो ! आहाहा !

बाहर की चीजें मिलें, न मिलने में कर्म निमित्त अवश्य परन्तु विकार करने में तुझे कर्म विकार कराता है ? अविकारी भगवान आत्मा का स्वभाव श्रद्धा-ज्ञान में नहीं लेता इसलिए विकार के भाव को तू तेरे अपराध से करता है । आहाहा ! यह बात है । कहो, बसन्तलालजी ! तुम्हारे यहाँ बहुत झगड़ा चलता है । कलकत्ता और इन्दौर और चारों ओर । आहाहा ! भाई ! परन्तु बापू ! तुझे रुचता कैसे है ? कर्म मुझे नुकसान (करे) जड़, रजकण, मिट्टी, धूल मुझे हैरान करे यह बोलते हुए तुझे शर्म नहीं लगती ? समझ में आया ? मिट्टी, धूल, मुझे हैरान करती है... ऐला... ! तू चैतन्यमूर्ति आत्मा, इसे कर्म मिट्टी-धूल हैरान करे, यह तुझे बोलते हुए कल्पना करते हुए शर्म नहीं आती ? नवरंगभाई ! भाई ! तू उल्टा पड़ा है, स्वभाव की सावधानी नहीं करता और पर में सावधानी होती है इसलिए स्वभाव को

प्राप्त नहीं करता - ऐसी बात है। आहाहा! दूसरी चीजें तो जगत में सब पड़ी है। पड़ी है तो तुझे क्या काम है? तेरा तेरे उपादान से काम तुझे लेना है या कोई दूसरा तुझे कर दे ऐसा है? आहाहा!

‘वास्तविक स्वरूप को वैसे ही नहीं जान पाता है, जैसे कि मद पैदा करानेवाले कोद्रव (कोदों) के खाने से नशैल-बे-खबर हुआ आदमी पदार्थों को ठीक-ठीक रूप से नहीं जान पाता है।’ ‘मद पैदा करानेवाले कोद्रव (कोदों) के खाने से नशैल-बे-खबर...’ कोदों खाते हैं न? वह भान भूल जाता है, उसमें यह स्वयं की योग्यता है उसमें कोदों तो निमित्तमात्र है। एक पदार्थ दूसरे को तीन काल-तीन लोक में नुकसान नहीं करता। समझ में आया?

मुमुक्षु : कोद्रव अर्थात् ?

उत्तर : यहाँ कोई अनाज होता है, मदवाला अनाज होता है। होता है, मीठा मद निकलता है, कुछ होगा, उसका कुछ नहीं।

उसे खाकर के खाने से नशैल-बे-खबर हुआ.. भान भूल जाता है। अपनी पर्याय में अपना भान भूल गया, स्वयं का कारण है, हों! वह नहीं करता। नशैल-बे-खबर हुआ आदमी पदार्थों को ठीक-ठीक रूप से नहीं जान पाता है। जैसा पदार्थ का स्वरूप है, वैसा नहीं जान सकता है। कहो, समझ में आया? बहुत नशीली चीज होती है न? शराब आदि हैं। वे तो अन्दर निमित्त हैं, वे तो निमित्त हैं। आत्मा अपने स्वभाव का भान भूले अर्थात् बेभान होवे तब उसे-कोद्रव को निमित्त कहा जाता है। यह तो उपादान की बात पहले से कह गये हैं। समझ में आया? जगह-जगह... भाव तो अलग-अलग समझाना होवे तो अलग-अलग गाथा ले या नहीं?

विशदार्थ - मोहनीयकर्म के उदय से ढका हुआ ज्ञान... देखो! पाठ में उदय से है, हों! यहाँ आत्मा शुद्ध आनन्दकन्द की ओर का पाठ, आत्मा शुद्ध आनन्द, अतीन्द्रिय आनन्द का पाक प्रगट न करता हुआ आत्मा कर्म के पाक में जुड़ने से, उसके वश हो जाने से ऐसा चिदानन्द भगवान आत्मा के आधीन न होकर, आठ कर्म के पाक के आधीन होकर ज्ञान ढंक जाता है। ज्ञान में यथार्थता नहीं रहती है।

वस्तुओं के यथार्थ (ठीक-ठीक) स्वरूप का प्रकाशन करने में दबी हुई सामर्थ्यवाला ज्ञान,... लो! ज्ञान ढँक गया। स्वरूप का प्रकाशन करने में दबी हुई सामर्थ्यवाला ज्ञान, सुख, दुःख, शरीर आदिक पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है। देखो! क्या कहते हैं? भगवान आत्मा अपने शुद्धस्वभाव की श्रद्धाज्ञान को स्वाधीन न होकर, अपना असाधारण स्वभाव जो दूसरों में नहीं, राग-द्वेष में नहीं, शरीर कर्म में नहीं - ऐसे अपने स्वभाव को नहीं प्राप्त करता हुआ... समझ में आया? इस मोह के वश में-आधीन होता हुआ, ऐसा जो दबा हुआ ज्ञान, विलुप्त हुआ ज्ञान, वह सुख-दुःख को नहीं जानता। यह सुख-दुःख किसे कहना? शरीर क्या है? उसके स्वभाव को ज्ञान जान नहीं सकता। शरीर, मिट्टी, जड़ है वह तुझे सुख-दुःख नहीं देता परन्तु अज्ञान में दब गया है। शरीर का स्वरूप ज्ञेय है, मैं ज्ञाता हूँ ऐसा नहीं जानता। सुख, दुःख संयोग दे, अनुकूल प्रतिकूल संयोग, वह तो बाहर की चीज है। परन्तु अपने ज्ञान को ढँक दिया, इससे वह अज्ञानी सुख-दुःख की वास्तविकता को देख-जान नहीं सकता। कहो, समझ में आया इसमें? आहाहा!

दबा हुआ सामर्थ्यवाला है न? स्वरूप का प्रकाशन करने में दबी हुई सामर्थ्यवाला ज्ञान,... भाई! दबी हुई सामर्थ्यवाला... यह भी उल्टी सामर्थ्य है न? आहाहा! समझ में आया? देखो! दृष्टान्त दिया है न? एक पत्थर था, बड़ा पुरुष-आकार पत्थर था, रात्रि में चार बजे, तीन बजे वहाँ गया। पत्थर पुरुषाकार था किसी ने कहा होगा, स्त्री को संकेत किया होगा, वह (नहीं थी) वहाँ दिखा पुरुष, ऐ...! तू यहाँ कौन? पत्थर के सामने गुत्थमगुत्था होकर... पत्थर (उसके ऊपर) गिरा (तो बोलने लगा) भाईसाहब! उठ जाओ, उठ जाओ, मैं हारा। परन्तु वह तो पत्थर है, परन्तु कहाँ उठ जाओ, उठ जाओ? उजाला (हुआ और उसे पता पड़ा कि) ओ...य यह तो पत्थर है। इसी प्रकार कर्म को चिपटा स्वयं और कर्म को कहता है भाईसाहब! हट जाओ, हट जाओ, हाँ! नुकसान करता चला जा, विकारी भाव करके कर्म को किया तूने और कहता है, अरे! मुझे कर्म ने दबाया, कर्म ने दबाया, तुझे दबाया नहीं, व्यर्थता क्यों (हैरान होता है)? समझ में आया? पत्थर के साथ गुत्थमगुत्था व्यर्थ में... आहाहा!

कहते हैं मोहनीय कर्म के उदय से थका हुआ, वश हो गया, स्वरूप का प्रकाशन करने में दबी हुई सामर्थ्यवाला ज्ञान,... वह देव के स्वरूप को न जाने, वह गुरु के स्वरूप को न जाने, शास्त्र के स्वरूप को न जाने, आत्मा के धर्म को न जाने, शुद्धता को न जाने, पुण्य के परिणाम को भी वह न जाने। वास्तविक ज्ञान दब गया हो तो पुण्य के परिणाम को धर्म माने। समझ में आया ?

पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है। परस्पर में मेल रहने पर भी... देखो! क्या कहते हैं ? किसी विवक्षित (खास) पदार्थ को अन्य पदार्थों से जुदा जतलाने के लिये कारणीभूत धर्म को (भाव को) स्व असाधारण भाव कहते हैं! जैसे भगवान आत्मा, राग-द्वेष से जरा मलिन दिखता है। कर्म के निमित्त में, संयोग में (दिखता है) परन्तु आत्मा का असाधारण स्वभाव तो आनन्द और ज्ञान है। समझ में आया ? परस्पर में मेल... साथ में है। इस प्रकार राग-द्वेष साथ में है, शरीरादि साथ में है और आत्मस्वभाव भी साथ में दिखता है।

किसी विवक्षित (खास) पदार्थ को अन्य पदार्थों से जुदा जतलाने के लिये कारणीभूत धर्म को (भाव को) स्व असाधारण भाव कहते हैं! अर्थात् दो अथवा दो से अधिक अनेक पदार्थों के बीच मिले रहने पर भी जिस असाधारण भाव (धर्म) के द्वारा किसी खास पदार्थ को अन्य पदार्थों से जुदा जान सके, उसी धर्म को उस पदार्थ का स्वभाव कहते हैं। यह व्याख्या की है। स्वभाव का अर्थ किया, दूसरे पद का। दूसरा पद है न ? 'स्वभावं लभते न हि' समझ में आया ? किसी लड़के ने झगड़ा किया हो और किसी के लड़के पर झगड़ा डाल दे, दोनों इकट्ठे हैं न ? किसका दोष था उसे नहीं देखता। इसी प्रकार यह आत्मा और राग-द्वेष साथ में, कर्म साथ में, शरीर साथ में, उसमें मेरा असाधारण स्वभाव राग से भिन्न है ऐसा स्वभाव राग में और पर में नहीं है ऐसे असाधारण आत्मा का ज्ञानानन्दस्वभाव, उसके साथ पुण्य-पाप शरीर, कर्म से मिले हुए जीव में अपने असाधारण स्वभाव को दो भान में भिन्न कर नहीं सकता। समझ में आया ?

यह इष्टोपदेश है, इसलिए यह लिया है। इष्टोपदेश किसे कहना ? हितकर, प्रियकर उपदेश किसे कहना ? कि तू तेरी भूल से भटकता है ऐसा उपदेश, वह हितकर है। कर्म

के कारण भटकता है यह उपदेश हितकर नहीं है। इसमें अपने को शुद्ध होने का कहाँ रहा ? समझ में आया ? जैसे पर-पदार्थ से तुझे नुकसान होता है यह उपदेश हितकर नहीं है; पर-पदार्थ से तुझे लाभ होता है, यह उपदेश हितकर नहीं है। तेरे विपरीत भाव से तुझे अहितकर होता है, यह उपदेश हितकर है कि जिससे उल्टे पुरुषार्थ को छोड़कर स्वभाव का पुरुषार्थ करे। आहाहा! समझ में आया ?

किसी खास पदार्थ को अन्य पदार्थों से जुदा जान सके,... भगवान् आत्मा... ! विकारी परिणाम आस्रव तत्त्व है, अजीव तत्त्व-शरीर, कर्म आदि; अपना तत्त्व ज्ञान, आनन्द आदि। ये दोनों इकट्ठे होने पर भी, असाधारण स्वभाव से आत्मा भिन्न पड़ता है। इसे यह वैभानजी अपने असाधारण स्वभाव को या इसका असाधारण, इसका रागादिस्वभाव को, कर्म आदि का स्वभाव इन दोनों को भिन्न नहीं कर सकता।

फिर से कहते हैं यह आत्मा, इसका असाधारण अर्थात् दूसरे में नहीं रहा हुआ भाव, आत्मा में ज्ञान और आनन्द है, वह दूसरे राग-द्वेष के भाव में नहीं है, शरीर में नहीं है, कर्म में नहीं है, स्त्री में नहीं है, पुत्र में-पर में नहीं है, वह अपना असाधारण अर्थात् अपने में ही हो और दूसरे में न हो - ऐसा आत्मा का स्वभाव ज्ञान और आनन्द, उसे पर से भिन्न नहीं कर सकता। और अपने से पर का भी असाधारण विकार या दुःख का कारण कर्म आदि परचीज है उसका असाधारण जो स्वभाव है, उसे भी अपने से भिन्न नहीं करता, इसका कारण कि मोह से ढँका हुआ ज्ञान विपरीत हो गया है इसलिए। आहाहा! समझ में आया ?

दो चीजें इकट्ठी पड़ी हों परन्तु परीक्षा करना न आवे तो एक को दूसरे में खता डाले। समझ में आया ? इसी प्रकार आत्मा अपना असाधारण अर्थात् दूसरे में नहीं ऐसा गुण-शान्ति आनन्द और ज्ञान, राग-द्वेष में नहीं, ऐसा मलिन मैल वह आत्मा में नहीं। कर्म और शरीर अजीव है, वह अजीवपना आत्मा में नहीं। वह उनमें ही है। आहाहा! मलिनस्वभाव असाधारण विकार का; जड़स्वभाव कर्म शरीर का असाधारण (स्वभाव); चैतन्यस्वभाव ज्ञान और आनन्द का असाधारण स्वभाव। मोह के वश पड़ा हुआ अज्ञानी इन ऐसे पदार्थों के स्वभाव को भिन्न नहीं जान सकता। दो को एक मानता है ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

यह तो न्याय से बात चलती है। गुलाबभाई! लॉजिक से चलती है या नहीं? या ऐसे के ऐसे चटरपटर होकर चलती है कुछ? न्याय से तो बात चलती है, भले संक्षिप्त भाषा है,

लोगों को कुछ पकड़ना चाहिए न ! इसे पकड़ना है या नहीं ? या किसी से समझे ऐसा है ? आगे इनकार करेंगे । किसी से नहीं समझता, यह स्वयं समझे तब दूसरे को निमित्त कहा जाता है । यह समझने में स्वतन्त्र है, विपरीतता करने में यह स्वतन्त्र है । अनन्त तीर्थकर आवे तो भी समझ जाये ऐसा नहीं है । समझ में आया ?

मुमुक्षु :

उत्तर : यह बात आगे कहेंगे । आत्मा का गुरु आत्मा ऐसा आगे कहेंगे । सब बात आयेगी, इसमें तुम्हारे जितने बोल हैं, उसमें कोई बाकी नहीं रखेंगे । यह जैन का उपनिषद् है । वास्तविक तत्त्व का यह गागर में सागर भरा हुआ इष्टोपदेश है । गागर में सागर भर दे... समझ में आया या नहीं ? ऐसे संक्षिप्त ५१ श्लोक हैं । उनमें सब तत्त्व है । वीतराग सर्वज्ञ का कहा हुआ संक्षेप में बहुत तत्त्व भर दिया है, उसमें यहाँ अन्त में यह कहना चाहते हैं । साथ में भी दूसरे भाव हो और साथ ही अपना भाव है परन्तु मूढ़ हुआ जीव दोनों के भाव को अलग नहीं कर सकता । यह इसकी अपनी कमजोरी है, अलग करे तो अपना गुण है । समझे न ? इसमें कोई दूसरा कर दे - ऐसा नहीं है । (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ६

गाथा-७-८

रविवार, दिनाङ्क २०-०३-१९६६

फाल्गुन कृष्ण १४,

वीर संवत् २४९२

यह इष्टोपदेश, पूज्यपादस्वामी कृत है । सातवीं गाथा चलती है । पहले आ गया, देखो ! मोहनीयकर्म के उदय से-आया है न ? उसका दृष्टान्त देते हैं । मोहनीयकर्म में क्या कहा ? आत्मा (का) अपना स्वभाव शुद्ध और आनन्द है, तथापि मोहकर्म के उदय के आधीन हुआ आत्मा अपने और पर के असाधारण भिन्न स्वभाव को जान नहीं सकता । समझ में आया ? नशे में चढ़े हुआ प्राणी स्त्री को माँ कहे और माँ को स्त्री कहे । नशा नहीं करते ? शराब, शराब पीनेवाले को पता नहीं कि यह मेरी माँ है । स्त्री के, बहिन, पुत्री के, माँ के और सबके वस्त्र समान देखे तो बहिन को स्त्री कह दे, स्त्री को बहिन कह दे और स्त्री को माँ कह दे । वास्तविक उस स्त्री का स्वभाव माँ का, स्त्री का, पुत्री का कौन है, उसे वह अलग नहीं कर सकता ।

इसी प्रकार आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप का लक्षण आनन्द और ज्ञान होने पर भी, मोह के आधीन हुई दशा, वह अपना ज्ञान-आनन्दस्वभाव असाधारण है, वह राग में, विकार में, शरीर में वह स्वभाव नहीं है - ऐसा वह अलग नहीं कर सकता। समझ में आया ? मिथ्यादृष्टि के कारण; मोहकर्म तो निमित्त है, उसका उसमें उदय है, उसके आधीन हुआ अनादि का आत्मा अपना ज्ञान और आनन्द, वह उसका स्वभाव है, (उसे नहीं जानता) असाधारण अर्थात् वह स्वभाव अन्यत्र नहीं हो सकता। जानना, जानना यह इसका स्वभाव है और अतीन्द्रिय आनन्द इसमें स्वभाव है - ऐसा मिथ्यादृष्टि, कर्म के निमित्त में आधीन हुआ, अपना स्वभाव जो असाधारण दूसरे में नहीं, ऐसे स्वभाव को दूसरे पदार्थ से भिन्न करके स्वयं को पहचान नहीं सकता। कहो, समझ में आया इसमें ?

इसी प्रकार राग और द्वेष, पुण्य और पाप के मलिनभाव, वह असाधारण, उनका स्वभाव दुःखरूप है। समझ में आया ? शुभ और अशुभराग का दुःख लक्षण, दुःखस्वरूप है, वह उसका असाधारण अर्थात् उनका दुःखरूप स्वभाव धर्म है। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है। गुलाबरायजी ! टाइप में लिखा हो, अभी तो सब पूरा अलग प्रकार का आता है। यह सम्यक् टाइप है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा वस्तु है न! उसका मूल स्वभाव तो ज्ञान है, जानना वह है। राग करना या शरीर आदि मेरे (है), ऐसा मानना, वह उसका स्वभाव है ? समझ में आया ? और शरीर तथा विकार का वह स्वभाव है कि आत्मा में सुखरूप हो और ज्ञान करे ? समझ में आया ? भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागदेव ने केवलज्ञान से इस आत्मा को ज्ञानस्वभावी देखा और पुण्य-पाप को दुःखस्वभावी देखा तथा शरीर को परभावी देखा; पर / पृथक्भावरूप से देखा। उसे अज्ञानी मिथ्यात्व के वश हुआ, अपना ज्ञानस्वभाव आनन्द भिन्न है, ऐसा पृथक् नहीं कर सकता। विकार के भाव दुःखरूप हैं, उन्हें असाधारण ऐसा जो स्वभाव है, मेरा नहीं, ऐसा वह मिथ्याज्ञानी अनादि से उस भाव को पृथक् नहीं कर सकता।

शरीर, वाणी, मन, स्त्री, कुटुम्ब अत्यन्त पर है परन्तु मिथ्याभ्रम के कारण अज्ञानी मूढ़ जीव मोह में वश हुआ, स्वभाव का आधीनपना छोड़कर, वे मेरे हैं, मुझे व्यवस्था देनेवाले हैं, वे मेरी सुविधा, सेवा मुझे सुखरूप हैं, ऐसा मूढ़ जीव मिथ्यात्वभाव में, जो

जिसका स्वभाव ऐसा नहीं, स्वयं को सुख दे, ऐसा उनका स्वभाव नहीं। समझ में आया ? बसन्तलालजी ! आहा...हा... ! शरीर, वाणी, कर्म, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, मकान जो परवस्तु है, उनका स्वभाव आत्मा को ज्ञान करावे या सुख दे, ऐसा उनका स्वभाव नहीं है, तथापि अज्ञानी मिथ्यात्व मूढ़पने के कारण मोहरूप से मोह में वश हुआ वे स्वभाव मुझे सुखरूप हैं, पुण्य-पाप के भाव दुःखरूप, वे मुझे सुखरूप हैं और आत्मा आनन्द और ज्ञानरूप है, उसका उसे भान नहीं है।

देखो ! यह इष्टोपदेश ! यह तो अनादि का इसे नशा चढ़ा है, यह तो उसका दृष्टान्त है। क्षण-क्षण में नया कर्ता है या नहीं ? पागल, पागल हो गया है, कहते हैं। पागल ! तेरा कौन और पर कौन ? विभाव कौन, स्वभाव कौन ? और संयोग कौन ? ऐसा आचार्य कहते हैं। समझ में आया ? इसमें आया था न ? क्या भाई हमारे साहित्यकार कल बोले थे न, 'मोहेन संवृतं ज्ञानं, ज्ञानं संवृतं मोहेन।' समझ में आया ?

किन्तु जिसने ज्ञान द्वारा आत्मा को जाना है और मोहवश नहीं हुआ, वह आत्मा में ज्ञान और आनन्द मेरा और मुझमें है, ऐसा मानता है। ये पुण्य-पाप के भाव मुझे दुःखरूप हैं, सुखरूप नहीं। शरीर, वाणी, परपदार्थ मुझे सुविधा देनेवाले अर्थात् सुख देनेवाले बिल्कुल नहीं हैं, वैसे ही परपदार्थ मुझे दुःख देनेवाले बिल्कुल नहीं हैं। इस प्रकार ज्ञान से जिसने आत्मा को मोह से पृथक् करके जाना है, वह सम्यक्ज्ञानी अपना आनन्द और ज्ञान आत्मा में जानता है; पुण्य-पाप में वह आनन्द और ज्ञान नहीं जानता और परपदार्थ मुझे सुविधा या असुविधा दें, ऐसा उनका स्वभाव है, ऐसा वह नहीं जानता। प्रेमचन्दजी ! ओहोहो ! समझ में आया ? कहो, मोहनभाई ! मोहनभाई के सामने नजर गयी इसमें।

असाधारण भाव (धर्म) के द्वारा किसी खास पदार्थ को अन्य पदार्थों से जुदा जान सके, उसी धर्म को उस पदार्थ का स्वभाव कहते हैं। आया न कल ? भाई ! इसका महासिद्धान्त रखा है। इष्टोपदेश इसका नाम है, हितकर उपदेश इसका नाम है। आत्मा को ज्ञान और आनन्द के लक्षण से आत्मा को पहचानना, वह इष्ट-हितकर है और इस आत्मा के असाधारण स्वभाव को न पहचानकर, विकारीभाव और पर मुझे सुख-दुख देनेवाले अथवा पुण्य-पाप मुझे सुखरूप हैं, परवस्तु मुझे अनुकूल-प्रतिकूल है, ऐसा

मानना अहितकर है। यह इष्टोपदेश ऐसा बताता है। समझ में आया ? इसलिए कोई परपदार्थ मुझे हितकर है या अहितकर है, यह वस्तु का स्वरूप नहीं है और पुण्य-पाप के भाव मुझे सुखरूप हैं, ऐसा पुण्य-पाप के भाव का स्वभाव नहीं है और आत्मा दुःखरूप है या आत्मा ज्ञाता के अतिरिक्त दुःखरूप को परिणमे, ऐसा उसका स्वभाव है - ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। समझ में आया ?

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है-... दृष्टान्त देते हैं। 'मल सहित मणि का प्रकाश (तेज)... मणि है मणि ऊँची, लाख-दो लाख की ऊँची मणि आती है न ? तेजवाली तेज, जैसे एक प्रकार से न होकर.. मणि का प्रकाश वास्तविक स्वभाव को एकरूप है। मणि का स्वरूप तो प्रकाशरूप एक है परन्तु एकरूप भासित नहीं होता। क्यों ? अनेक प्रकार से होता है,.. प्रकाश (तेज) जैसे एक प्रकार से न होकर अनेक प्रकार से होता है,.. 'मल सहित' यह शब्द है। क्या कहा ? है न पहला शब्द ? जो मणि है, स्फटिकमणि ऊँची (कीमती) होती है न ? वह मलसहित होने से उसकी एकरूपता की प्रकाशता उसमें दिखाई नहीं देती। मल के कारण उसमें अनेकरूपता-मल की विविधता दिखाई देती है। समझ में आया ? मलसहित, मलसहित मणि। दो-दो 'म म' आये। तुम्हारे साहित्यकार... मलसहित मणि, ऐसा आया न ? मलसहित मणि, वापिस दो-दो अक्षर दोनों। पहला मल और यह मणि। मणि रत्न, वह मलसहित होने से एक प्रकार से न होकर अनेक प्रकार से होता है,.. इस मल के विविध प्रकार से उसका सम्बन्ध करने से मणि विविध प्रकार से मलसहित भासित होती है।

वैसे ही... वास्तव में मणि का स्वभाव तो एकरूप भासित होना, वह है परन्तु मल सहित होने से उसके सम्बन्ध में जुड़ने से मणि की एकता की एक प्रकार की अविविधता जो चाहिए, वह दिखायी नहीं देती परन्तु विविधता दिखायी देती है। मलवाली मणि दिखायी देती है। समझ में आया ? जैसे स्फटिक, स्फटिक रत्न है, वह स्वच्छ है परन्तु साथ में काले-लाल फूल के डंक के निमित्त के संग में उसमें काली-लाल झाँई विविध प्रकार से संग से दिखायी देती है। वह मणि का, उस स्फटिक की पर्याय का वैसा धर्म उसका है। समझ में आया ? मल से नहीं, डंक से नहीं। स्फटिक को लाल डंक से अन्दर

प्रवाह पड़ेगी, वह स्फटिक का स्वभाव है, लड़की के नीचे उसे रखो, वहाँ नहीं पड़ेगा, उसका स्वभाव नहीं। उसके अन्दर प्रवाह नहीं पड़ेगा।

मुमुक्षु : इसकी शक्ति दे न ?

उत्तर : बिल्कुल शक्ति-वक्ति कौन देता होगा ? इससे शक्ति वहाँ जाती होगी ? स्फटिकमणि में लाल फूल के डंक के निमित्त से अभी अन्दर लाल आदि झाँई दिखायी देती है, वह फूल के कारण नहीं, उसकी अपनी योग्यता के कारण दिखायी देती है।

मुमुक्षु : फूल न हो तो दिखायी नहीं देती।

उत्तर : फूल न हो तो उस समय स्वयं की योग्यता नहीं है, परन्तु फूल के कारण यदि होवे तो लकड़ी को रखने से उसमें दिखना चाहिए। अग्नि का और लकड़ी का दृष्टान्त तो बहुत बार देते हैं न ? दियासलाई तीन इंच की इतनी होती है। बीड़ी पीते हैं यहाँ जितना गर्म हो, (उतना) उस ओर तीन इंच में वह गर्म नहीं होता, उस लकड़ी का ऐसा स्वभाव नहीं है। लोहा पाँच हाथ का लम्बा होगा और दो ही अंगुल यदि अग्नि में पड़ा होगा, ऐसा छोर पकड़ना होगा यहाँ तो, यहाँ तक गर्म होगा। वह अग्नि के कारण नहीं, लोहे के वाहक स्वभाव के कारण है, भाई ! ठीक है ? गुलाबभाई ! यदि अग्नि के कारण हो तो दियासलाई यहाँ सुलगते, यहाँ गर्म होना चाहिए, अग्नि वहाँ भी है। अग्नि को वाहक लेने का लकड़ी का स्वभाव नहीं है। समझ में आया ? अमरचन्दभाई ! वरना कोई बीड़ी पी नहीं सकता। आगे तीन आँटे होते हैं और लोहे का पाँच हाथ का सरिया होता है, ऐसा का ऐसा सब सफाई कितनी होती है ! देखा है न ?

मुमुक्षु :

उत्तर : हमने जिन्दगी में कभी पी नहीं, हों ! हमने तो पीनेवालों को देखा है। एक बार दस बारह वर्ष की छोटी उम्र में कोई पीता था, इसलिए कहे - एक फूँक लो न, एक जरा सी फूँक (लो) विद्यालय में पढ़ने जाते थे, एक जरा सी ली और ऐसी लगी, ऐसी और... फिर पूरी जिन्दगी में नहीं। कभी नहीं। कभी नहीं, हों ! परन्तु पीते हों उन्हें देखा है। ऐसे... क्या होगा ? पावर चढ़े तो उसमें बादशाही लगती होगी। एक पारसी कहता था न ? भाई ! रामजीभाई का... पारसी कोई कहता था। शराब पियो, फिर बादशाही दिखती

है। राजकोट का होगा? अमीरी विचार आवे। कोई था वहाँ राजकोट का कोई (था) मूर्ख! आहा...हा...!

यहाँ कहते हैं, मलसहित मणि अपनी योग्यता के कारण अर्थात् मल के कारण नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। यह लिखा है, **मलसहित मणि का प्रकाश..** अर्थात् मलसहित कब हुआ? उसमें जुड़ा है, इसलिए। मणि में एकता नहीं दिखती परन्तु विविधता दिखती है। वैसे ही **कर्मसम्बद्ध आत्मा का प्रतिभास भी..** भगवान आत्मा... वह (मणि) मैल के साथ सम्बन्ध (करे), इसी प्रकार कर्म के साथ आत्मा सम्बन्ध करता है, इसलिए उसका ज्ञान और आनन्द का एकरूप नहीं दिखता। उसके सम्बन्ध में विविधता भ्रम और राग-द्वेष आदि की विविधता से दिखता है। समझ में आया?

देखो! यह इष्टोपदेश, पूज्यपादस्वामी (का रचित) है। समझ में आया? उन्हें बहुत लब्धि थी, भगवान के पास गये थे। सीमन्धर भगवान महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं, वहाँ गये थे, वहाँ से आकर यह (शास्त्र) लिखा। वस्तु का स्वभाव ऐसा है, सर्वज्ञ परमेश्वर कहते हैं और हम भी उस अनुसार जानते हैं। कहो, समझ में आया?

वैसे ही **कर्मसम्बद्ध..** देखो! **कर्मसम्बद्ध आत्मा का प्रतिभास भी..** सम्बन्ध है न? वह (मणि) मलसहित है तो यहाँ सम्बन्ध है। ऐई... पण्डितजी! भई! हमारे शब्द जरा जोड़ना होवे तो... पहले में मणि मलसहित है, यहाँ कर्मसम्बद्ध है। समझ में आया? उनका सम्बन्ध किया है न? **‘कर्मविद्वात्मविज्ञप्तिस्तथा नैकप्रकारतः’** (संस्कृत टीका में) अन्तिम शब्द है न? विद् अर्थात्? लो, यह विद् अर्थात् पण्डितजी इंकार करते हैं, अर्थात् स्वयं इसके अन्दर मल में मणि जुड़ गया और यहाँ भी कर्म में (आत्मा) जुड़ गया। इस प्रकार जो ज्ञानानन्दस्वरूप मैं हूँ, ऐसा अन्तर न देखकर कर्म के सम्बन्ध में जुड़ा; इसलिए उसे एकरूपता नहीं दिखायी देती। समझ में आया?

कर्मसम्बद्ध आत्मा का प्रतिभास भी एकरूप से न होकर अनेकरूप से होता है। कहो, समझ में आया? दोष तेरा है, ऐसा कहते हैं। इसमें यह ऐसा कहते हैं। तू परपदार्थ का सम्बन्ध करता है। सम्बद्ध असंग पदार्थ पर से भिन्न तू है, तथापि पर के साथ सम्बन्ध करता है, इसलिए तुझमें एकरूपता ज्ञाता-दृष्टा, आनन्द की (दशा) चाहिए, वह दिखती नहीं। शशीभाई! आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : कर्म चिपट जाते हैं ।

उत्तर : चिपटता-विपटता कोई कुछ नहीं, उसकी पर्याय उसमें परिणमती है। चिपटे ऐसा (कुछ नहीं है) कर्म जड़ पदार्थ है, उसकी पर्याय से वह परिणम रहा है, इस पर्याय से यह परिणम रहा है, दोनों का ऐसा, ऐसा सम्बन्ध करता है (और) बीच में विविधता उत्पन्न करता है - ऐसा कहते हैं ।

मुमुक्षु :

उत्तर : न, न, नहीं ।

मुमुक्षु :

उत्तर : नहीं, उसके कारण नहीं, अपनी योग्यता के कारण है। इसीलिए तो कहा न! स्फटिक में, स्फटिक में लाल होने की योग्यता स्वयं की योग्यता है, कहीं फूल के कारण नहीं है। फूल के कारण हो तो इस लकड़ी में फूल रखो तो अन्दर झाँई आना चाहिए। इसकी योग्यता नहीं है, ऐसी लकड़ी में योग्यता नहीं है कि अग्नि को ले ले, खींचे। लोहे में शक्ति है (परन्तु) अग्नि के कारण नहीं। इसी प्रकार कर्म के कारण नहीं, कर्म आत्मा को हनन करे, ऐसा कर्म में स्वभाव नहीं और आत्मा कर्म के कारण घाता जाये, उसके कारण घाता जाये, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। स्वयं के कारण घात हो, ऐसा उसका भाव-योग्यता पर्याय में है ।

मुमुक्षु : कर्म कुछ करता ही नहीं ।

उत्तर : क्या करे ? धूल करे, कर्म तो परद्रव्य है ।

मुमुक्षु : भगवान ने कर्म का नाश किसलिए किया ?

उत्तर : उन्होंने कहाँ किया है ? उन्होंने तो विकार का नाश (किया), वह भी स्वभाव की एकाग्रता होने पर। वस्तु के आनन्दकन्द में अन्तर रहने पर विकार की उत्पत्ति नहीं हुई, उसे विकार का नाश किया, ऐसा कहने में आता है और विकार का नाश होने पर कर्म के रजकण उनके कारण नष्ट हुए, वे आत्मा ने नष्ट किये, ऐसा व्यवहार से, उपचार से कहने में आता है। कहो, समझ में आया ? ए... बसन्तलालजी ? क्या करना ? तुम्हारे सम्प्रदाय में यह सब बहुत चलता है ।

अब प्रश्न उठा यहाँ पर किसी का प्रश्न है कि -

अमूर्त आत्मा का मूर्तिमान कर्मों के द्वारा अभिभव कैसे हो सकता है? आत्मा तो अमूर्त है। रंग, गंध, रस, स्पर्शरहित अरूपी चैतन्यघन विज्ञानघन तत्त्व अरूपी है। जिसमें रंग, गंध, रस, स्पर्श, यह जड़ का तो उसमें है नहीं। उसमें मूर्तिमान कर्मों.. कर्म तो मूर्त हैं। रंग, गंध, रस, स्पर्शवाले कर्म हैं, उसे कर्मों के द्वारा अभिभव (पैदा) कैसे हो सकता है? मूर्तिमान कर्मों द्वारा-ऐसे मूर्तिमान जड़ पदार्थ द्वारा अभिभव कैसे उत्पन्न होता है? समझ में आया?

उत्तरस्वरूप आचार्य कहते हैं कि - 'नशा को पैदा करनेवाले कोद्रव-कोदों धान्य को खाकर जिसे नशा पैदा हो गया है,... समझ में आया? नशा पैदा करनेवाले कौदव-धान्य को खा करके जिसे स्वयं नशा पैदा हो गया है... नशा उत्पन्न होने की जिसकी योग्यता है, उसे नशा पैदा करते हैं - ऐसा कहा जाता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : नशा पैदा करनेवाले कौदव लिखा है।

उत्तर : करनेवाला अर्थात् करता है, तब करनेवाला है, ऐसा कहने में आता है। समझ में आया? पर क्या करे? पर, परपदार्थ उनके अपने में स्वतन्त्ररूप से स्वयं के स्वचतुष्टय से प्रत्येक पदार्थ परिणमित हो रहा है। स्वचतुष्टय अर्थात्? जो वस्तु है, वह द्रव्य-वस्तु; उसकी त्रिकाली शक्तियाँ, भाव वह उसका गुण; वर्तमान अवस्था-हालत, वह पर्याय और उसका सारा अवगाहन-चौड़ाई, वह क्षेत्र। उसमें प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में अस्ति है; परद्रव्य के क्षेत्र-काल-भाव से प्रत्येक नास्ति है। समझ में आया?

इस अंगुली का यह द्रव्य, इसका क्षेत्र-चौड़ाई, इसकी यह अवस्था इतनी और गुण इसका रंग, गन्ध आदि शक्ति। वह स्वयं में है, वह इस द्वारा नहीं, इस द्वारा नहीं, इसके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव इसमें हैं। इसमें इसके नहीं और इसमें इसके नहीं। दोनों भिन्न-भिन्न काम करते हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक आत्मा, प्रत्येक रजकण अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अस्ति में रहे हुए, बसे हुए बदलते हैं। दूसरे के कारण कुछ है नहीं; दूसरे, दूसरे के अपने परिणामन और टिकना - काम कर रहे हैं। आहा...हा... ! समझ में आया?

मुमुक्षु : इसका असर होता है या नहीं ?

उत्तर : यह असर स्वयं मूढ़ होकर मानता है। इसलिए यह कहता है कि मुझे असर है, ऐसा कहता है। कहो, समझ में आया ? इसके लिये तो यह बात लेते हैं, भाई ! तेरा सम्बन्ध तूने छोड़ा है और तूने पर का सम्बन्ध किया है। पर का सम्बन्ध तूने किया, इसलिए तुझसे भूल हुई है। तेरी भूल में अन्य चीज निमित्त कहलाती है। समझ में आया ? भाषा तो चाहे जो हो अन्दर। क्या है अन्तिम 'कैर्मदनकोद्रवैः' इतना है न ? 'यावत् स्वभावमनासादयन्' ऐसा है न ? 'विसदृशान्यवगच्छतीति' बस, ठीक है। कहा न यह ? 'यावत् स्वभावमनासादयन्' अपने स्वभाव को नहीं जानता और 'विसदृश' को अपना मानता है। विपरीत है, अपने से विपरीत है, उसे अपना मानता है। कहो, समझ में आया ?

यहाँ तो मुझे, जिसे नशा पैदा हो गया है, ... इस पर जरा वजन था। जिसे मद उत्पन्न हुआ है। मद किसी को उत्पन्न न होता हो, उसकी बात नहीं है। समझ में आया ? उसके सम्बन्ध में नशा उत्पन्न होता है, उसे उसकी विविधता भाषित होती है। आहा...हा... ! ऐसी बात है परन्तु भूल करे स्वयं और किसी प्रकार भी कर्म में कर्म के कारण भूल हो, ऐसा डालने को अनादि से मथता है। अपने को आप भूलके हैरान हो गया। अपना शुद्ध आनन्दस्वभाव भूलकर, विकार से हैरान हुआ है। यह हैरान गति किसी ने करायी है, ऐसा कहता है (परन्तु) ऐसा है नहीं क्योंकि हैरानपना स्वयं से स्वतन्त्ररूप से करे तो ही हैरानपना स्वतन्त्ररूप से मिटा सकता है। न्याय तो ठीक है न ? समझ में आया ? यदि स्वयं अपराध करे, स्वतन्त्ररूप से अपराध करे तो वह स्वतन्त्ररूप से स्वभाव के आश्रय से अपराध का नाश कर सकता है परन्तु अपराध परपदार्थ करावे तो वह तो होवे तब तक करावे, इसलिए इसे मिटाने का अधिकार नहीं रहता। ऐसा नहीं हो सकता। समझ में आया ?

इसमें / शरीर में रोग हुआ, उसका क्या करना ? वह कर्म के कारण हुआ या नहीं ? ऐसा कहता है यह। शरीर में हुआ परन्तु उसमें इसे क्या हुआ ? वह तो जड़ में है। समझ में आया ? साथ में किसी हरिजन का घर सुलगा, उसमें इसे क्या है घर में ? इसी प्रकार यह किसी का घर यहाँ जड़ में सुलगता है परन्तु कहता है कि मुझे होता है। अब यह मूढ़ता इसकी है या शरीर के कारण है यह ?

मुमुक्षु : मेरापन उत्पन्न क्यों होता है ?

उत्तर : यह उत्पन्न किया इसलिए। कहा न अन्दर ? जिसका अपना स्वभाव जो ज्ञानानन्द है, प्रभु आत्मा ज्ञान-जाननेवाला जिसका लक्षण है, ऐसे स्वभाव को न जानता हुआ राग और पुण्य और शरीर मेरा; जो स्वभाव इसका नहीं ऐसा माना है। इसलिए यह चार गति में भटक रहा है। आहा...हा.... ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :

उत्तर :कहाँ था ?देखे ऐसा कि कुछ लगता है। मेरा है, ऐसा वह मानता है ? वह तो मुझे होता है, ऐसा मानता है, सुलगे यहाँ तो कहे मुझे हुआ। यहाँ कोई पैर नहीं चले तो (बोलता है) हम परवश हो गये। भाई ! हम तो पहले स्वतन्त्र थे। तू अर्थात् कौन... ? शरीर की-रजकण की अवस्था उसके कारण नहीं होती थी, तब कहे हम तब स्वतन्त्र थे, अब परतन्त्र हुए। तू परतन्त्र हुआ या वह तो उसकी दशा हुई है ? करता है विपरीत मान्यता और डालता है जड़ के ऊपर। यह दोष कब टलेगा ? और कब दोष इसे समझ में आयेगा ? आहा...हा... !

ऐसा पुरुष घट पट आदि पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान सकता,.. देखो ! जिसे नशा पैदा हो गया... समझ में आया ? वह घट-पट आदि पदार्थों के स्वभाव को नहीं जानता। यह पीलिया नहीं होता ? पीलियावाला सफेद घट को पीला देखता है। दीवार सफेद है, उसे पीली देखता है। वह दीवार के कारण है ? पीलिया के यहाँ पीले रजकण आँख में हैं तो उसे पीला दिखता है, वह स्वयं की ऊँधारी के कारण है। इसी प्रकार इसे अपना स्वभाव जाननहार ज्ञानमूर्ति आत्मा (हूँ), ऐसे स्वभाव को न जानकर, राग और परपदार्थ मेरे हैं, ऐसी मान्यता से परपदार्थ को देखता है। उनमें फेरफार होवे तो कहता है ए...ई... ! मुझे फेरफार हो गया। उसमें कुछ अनुकूलता आ गयी तो कहता है मुझे अनुकूलता आ गयी। मूढ़ स्वयं मिथ्यात्वभाव खड़ा करता है।

मुमुक्षु :

उत्तर : यही कहते हैं। यह मेरापन माना। वह नहीं और मेरा माना है, यही इसकी मूढ़ता और महादुःख का कारण है।

मुमुक्षु : यह मेरापन निकालता नहीं ।

उत्तर : परन्तु निकाले कौन ? किया किसने है ? किया है किसने कि निकाले दूसरा ? लोक में कहा जाता है कि 'गोर परणावे पछि घर हल्वीदे ?' लोकों में ऐसा कहा जाता है । अपने कहा जाता है या नहीं ?

ऐसा पुरुष.. नशे में आया हुआ पुरुष । समयसार में एक दृष्टान्त दिया है कि जो पुरुष अरतिभाव में है और उसने कोई शराब पी हो तो उसे चढ़ती नहीं । चढ़ती ही नहीं । न चढ़े परन्तु वह न चढ़े, ऐसी उसकी योग्यता है । उस जीव को प्रीति नहीं, प्रेम नहीं और किसी कारण से किसी ने पिलायी, (उसे) नशा नहीं चढ़ता । ऐसा समयसार में पाठ है । इसी तरह अज्ञानी को भान नहीं है 'मैं कौन हूँ ?' इसलिए कर्म के निमित्त का नशा स्वयं ने ले लिया है । धर्मी को वह नशा नहीं चढ़ता । मैं जाननेवाला हूँ, मैं चैतन्य हूँ, मेरी सत्ता के अस्तित्व में ज्ञान और आनन्द है, मेरा ज्ञान और आनन्द पर की सत्ता में नहीं है । इसलिए पर की सत्ता मुझे सुखरूप हो या परसत्ता मुझे दुःखरूप हो, ऐसा मेरी सत्ता में नहीं और पर में ऐसा नहीं । ऐसा ज्ञानी जानता हुआ, ज्ञान में सन्तोष रखकर आनन्द का वेदन करता है । अज्ञानी, पर के कारण मुझे सुखदायक है, यह मुझे हैरान (करता है), ऐसा मानकर दुःख का वेदन करता है । कहो, समझ में आया ? वह विपरीत मान्यता हो गयी है न ? - 'शरीर से सुखी तो सुखी सर्व बातें' - ऐसी विपरीत मान्यता कर ली है । साहित्यकार.... 'शरीराद्यं खलु धर्म साधनम्' आता है न ? लोगों में व्यवहार है । यह तो इसमें - पुरुषार्थसिद्धियुपाय में आता है । निमित्तरूप से है । शरीर आद्यं खलु... धूल में भी आद्यं नहीं है । यह तो मिट्टी-धूल है । मिट्टी के रजकण हैं, उन्हें पता भी नहीं कि हम कौन तत्त्व हैं ? इसे पता है कि मैं ज्ञान हूँ, वह जड़ है । उन्हें तो पता भी नहीं कि मैं जड़ हूँ और यह साथ में ज्ञान है, उन्हें तो पता भी नहीं ।

जिसके अस्तित्व में - होने में ज्ञान है, वह ज्ञान अपने अस्तित्व को जानता है और जिसके होने में (अस्तित्व में) ज्ञान नहीं, उसे भी यह ज्ञान जानता है कि वह पर है । जिसके - रजकण में होने में (अस्ति में) ज्ञान नहीं, वह अपनी अस्ति को - हयाती को नहीं जानता और साथ में ज्ञानवाला तत्त्व अस्ति-हयाती है, उसे यह नहीं जानता परन्तु कौन जाने, ऐसी विपरीत मान्यता कर डाली है अन्दर से । समझ में आया ?

कर्मबद्ध आत्मा पदार्थों के स्वभाव को नहीं जान पाता है। अर्थात् आत्मा व उसका ज्ञान गुण यद्यपि अमूर्त है.. भगवान आत्मा और उसका ज्ञानस्वभाव अमूर्त है। फिर भी मूर्तिमान कोद्रवादि धान्यों से मिलकर.. देखो! मिलकर। ऐसा जुड़ गया न अन्दर? वह बिगड़ जाता है। उसकी दशा स्वयं के कारण बिगड़ जाती है। उसी प्रकार अमूर्त आत्मा मूर्तिमान् कर्मों के द्वारा.. ऐसा स्वयं के द्वारा न रहा, फिर पर के द्वारा गिर गया। समझ में आया? अभिभूत हो जाता है.. भगवान आत्मा स्वयं को भूलकर कर्म के रस्ते, उदय के पाक में चढ़ जाता है, घाता जाता है। समझ में आया? और उसके गुण भी दबे जा सकते हैं। गुण अर्थात् पर्याय, हों! अपनी ज्ञातापने की अवस्था की पर्याय है। वह कर्म के लक्ष्य में चढ़ा हुआ जीव अपनी निर्मल पर्याय को भूल जाता है। निर्मल पर्याय होनी चाहिए, (उसे) भूल जाता है और विकार को खड़ा करता है, भ्रम को खड़ा करता है। वह भ्रम चार गति के परिभ्रमण का कारण है। समझ में आया?

शरीर आदिकों के स्वरूप को न समझता हुआ.. शरीर का स्वभाव तो जड़ परमाणु मिट्टी है। आवे-जावे पुद्गल है, रजकण जुड़े और गले। पुद्गल = पुद् (अर्थात्) ये रजकण जुड़े और गलें अर्थात् छूटें, वह तो उनका स्वभाव है। आत्मा तो भिन्न स्वभाव है। शरीर आदि ऐसे, पैसे, स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी (आदि)। न समझता हुआ आत्मा शरीरादिकों को किसी दूसरे रूप में ही मान बैठता है। जैसा है, वैसा नहीं मानता परन्तु जो इसका नहीं है, उसे अपना मानता है। यह इसका अपना दोष है।

दोहा - मोहकर्म के उदय से, वस्तुस्वभाव न पात।

मदकारी कोदों भखे, उल्टा जगत लखात।।७।।

मोहकर्म के उदय के पाक में भगवान आत्मा अपना पाक-आनन्द के पाक को भूलकर.. वह तो आनन्द का क्षेत्र है, आनन्द... आनन्द... अतीन्द्रिय आनन्द का क्षेत्र - धाम पूरा स्वभावभाव है। उसे भूलकर इस कर्म के निमित्त में जुड़ने से उस कर्म के उदय से, वस्तुस्वभाव न पात। अपने ज्ञातादृष्टा वस्तुस्वभाव को नहीं मानता; विकारीभाव दुःखरूप है, उसके भाव को वह नहीं जानता। शरीर आदि परपदार्थ स्वयं के कारण परिणमन कर बदलकर टिक रहे हैं - ऐसे उनके स्वभाव को भी यह नहीं जानता। कहो, ठीक है?

कौन जाने कैसा कर्म लगा है, जैन में तो ऐसा हो गया है। उन अन्यमतियों को ईश्वर रोके, ईश्वरकर्ता। इन्हें कर्मकर्ता। उनको चैतन्यकर्ता तो इन्हें जड़कर्ता। नवरंगभाई! किसी प्रकार से भी अज्ञानी मूढ़ को कर्म से आत्मा में कुछ होता है, ऐसा इसे मनवाना है और मानना है। जगत् का कर्ता ईश्वर माने, ईश्वर चैतन्य है। है नहीं कोई, जगत् स्वतन्त्र तत्त्व है। स्वतः सत् हो, उसका कोई कर्ता नहीं हो सकता, तथापि ईश्वर कर्ता माने। यह चैतन्य स्वयं भूल करे और अज्ञानी कहे कर्म मुझे भूल कराते हैं, उसे अचेतन जड़ उसका भगवान (हो गया)। समझ में आया? ईश्वर कर्ता छोड़ दिया और जड़ कर्ता मान लिया। समझ में आया? शशीभाई!

मोहकर्म के उदय से, वस्तुस्वभाव न पात। आत्मा की शान्ति के उदय से अपना स्वभाव और पर का (स्वभाव) जान सकने का इसका स्वभाव है – ऐसा न जानकर, अपनी नजरें स्वसन्मुख न करके, जिस चीज की उपेक्षा करनी चाहिए, उसकी अपेक्षा में जुड़कर अपना और पर का वास्तविक स्वभाव वह (नहीं) जान सकता, पकड़ नहीं सकता। समझ में आया?

मदकारी कोदों भखे, उल्टा जगत लखात। जगत् का जैसा स्वरूप है वह नहीं जान सकता। इसी अर्थ को आगे के श्लोक में स्पष्टरीत्या विवेचित करते हैं— लो!

इसी अर्थ को आगे के श्लोक में स्पष्टरीत्या विवेचित करते हैं—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।

सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते॥८॥

अर्थ – यद्यपि शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि सब अन्य स्वभाव को लिये हुए पर-अन्य हैं, परन्तु मूढ़ प्राणी मोहनीयकर्म के जाल में फँसकर इन्हें आत्मा के समान मानता है।

विशदार्थ – स्व और पर के विवेकज्ञान से रहित पुरुष शरीर आदिक परपदार्थों को आत्मा व आत्मा के स्वरूप ही समझता रहता है। अर्थात् दृढतम मोह से वश प्राणी देहादिक को (जो कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव लक्षणरूप हरेक प्रकार से आत्म स्वभाव से भिन्न

स्वभाववाले हैं) ही आत्मा मानता है और दृढ़तर मोहवाला प्राणी, उन्हीं व वैसे ही शरीरादिक को आत्मा नहीं, अपितु आत्मा के समान मानता रहता है।

दोहा - पुत्र मित्र घर तन तिया, धन रिपु आदि पदार्थ।
बिल्कुल निज से भिन्न हैं, मानत मूढ़ निजार्थ॥८॥

गाथा - ८ पर प्रवचन

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः।

सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते॥८॥

आहाहा! देखो, इसमें लेंगे। 'दृढतममोहाविष्टो' 'दृढतममोहाविष्टश्च' ऐसा है न अन्दर दो जगह ? टीका... टीका...। हम अपने थोड़ी टीका देख लें, अपने को कहाँ ऐसी संस्कृत आती है ? परन्तु अन्दर एक शब्द क्या पड़ा होगा ? देखो ! है न ? 'दृढतममोहाविष्ट' अन्तिम से दूसरी लाईन 'दृढतममोहाविष्ट' और तीसरे में बीच में 'दृढतममोहाविष्टश्च' दृढ़ मोह और आयुष्य में पहला, अन्दर में फँस गया। अर्थ में ऐसा है देखो।

मोहनीयकर्म के जाल में फँसकर.. है न यह अर्थ ? इसका अर्थ है, भाई ! हिन्दी में अर्थ में है। क्या कहते हैं ? कि यद्यपि यह शरीर जड़ मिट्टी अजीवतत्त्व प्रत्यक्ष है और दिखता है बहुतों को ऐसे आत्मा चला जाता है और शरीर जला डालते हैं। शरीर और आत्मा एक होवे तो ऐसा नहीं बने। अलग चीज, वह अलग रहे; एक हो वह अलग पड़े नहीं। अलग है, शरीर, मिट्टी अभी भी अत्यन्त भिन्न है, अत्यन्त मुर्दा है यह तो। मृतक कलेवर में अमृतस्वरूप भगवान बिराजता है। समझ में आया ? आता है न कर्ताकर्म में ? ९६ गाथा, ९६ गाथा में आता है। अमृतचन्द्राचार्य (कहते हैं) इस मृतक कलेवर में अमृत भगवान अ-मृत। यह (शरीर) मृत और यह (आत्मा) अमृत। यह मृतक कलेवर - मुर्दा, मुर्दा, यह अचेतन है। इसमें यह भगवान अमृतस्वरूप चिदानन्द भगवान विराजता है (परन्तु) भान नहीं होता। मृतक कलेवर, यह मेरा, (ऐसा मानता है)।

मुमुक्षु : जीव को इतने शरीर होते हैं।

उत्तर : यह तो निमित्त से कथन होता है न। इसे शरीर कब थे ? सम्बन्ध में कौन है, उसे बतलाते हैं। इतनी पर्याप्ति होती है और इतने शरीर होते हैं और इसे आठ कर्म होते हैं और आठ कर्मवाला जीव। आठ कर्मवाला जीव अर्थात् ? यह तो निमित्त का ज्ञान है। अनन्त गुणोंवाला जीव, यह वास्तविक है। समझ में आया ? वह तो व्यवहार से सम्बन्ध किसका है ? सम्बन्ध में व्यवहाररूप से कौन है ? उसका ज्ञान कराते हैं। समझ में आया इसमें ? आहा...हा... !

जगत को कर्म ने हैरान किया, यह बहुत अच्छा लगता है इसे... यह स्वयं निर्दोष ठहरे। टोडरमलजी कहते हैं, तू तो महन्त रहना चाहता है और जहाँ-तहाँ तू कर्म का दोष निकालता है, यदि जैन नीति को माने, वीतराग की नीति को माने तो हराम को दोष तू कैसे मान सकता है ? ऐसी अनीति नहीं हो सकती। टोडरमलजी कहते हैं। जहाँ-तहाँ मूढ़ ने (मेरापन मान रखा है) समझ में आया ? लिखा है तुमने ? ३१३ (पृष्ठ) देखो ! कहते हैं 'तत्त्वनिर्णय करने में किसी कर्म का तो दोष है नहीं परन्तु तेरा ही दोष है; तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है' यह दोष तो कर्म के कारण होता है, कर्म के कारण होता है... बापू! मोहकर्म का उदय हो तो मिथ्यात्व होता है, चारित्र का उदय हो तो राग होता है... मूढ़ है... मिथ्यादृष्टि की मूढ़ता कहीं...

'तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादिक को लगाता है' दोष तू करे और कर्म में लगावे, कर्म का उदय आया, इसलिए हमारे हुआ, मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि-पापी है, वीतराग की आज्ञा को नहीं मानता। 'परन्तु जिन आज्ञा माने...' देखो ! जिन आज्ञा तो ऐसी है कि कर्म के कारण दोष है नहीं; तेरे कारण दोष है-ऐसी जिन आज्ञा है।

मुमुक्षु : ज्यादा दोष करता है।

उत्तर : यह तो दुनिया में कहते हैं। ज्यादा दोष करता नहीं क्या, दुनिया तो स्वयं दोष करती है।

'परन्तु स्वयं तो जिन आज्ञा माने...' इसका अर्थ क्या है ? 'तो ऐसी अनीति सम्भव नहीं'। ऐसी अनीति करता है ? दोष तू करे और कर्म मुझे कराता है, कर्म के कारण दोष है, ऐसा तू अन्याय करता है। वीतराग की आज्ञा का शत्रु, क्रोधी है, क्रोध करनेवाला। आज्ञा

पर तू अनीति करता है। बसन्तलालजी ! जहाँ-तहाँ मूढ़ ऐसा मानता है। दर्शनमोह के उदय से आत्मा को मिथ्यात्व होता है। यह तो निमित्त का कथन है। तू करे, तब उसे निमित्त कहा जाता है। धूल में भी कोई कराता नहीं... ! महामिथ्यात्व की मूढ़ता है और फिर मानता है कि हम धर्मी हैं। धर्मी कहाँ से लाया ?

जैन संस्कृति के अभ्यासी। जैन संस्कृति तो, राग मेरा ऐसा दोष माने, जाने तो राग को स्वभाव की दृष्टि से मिटा सके परन्तु राग और विकार पर करावे तो किसके आश्रय से उसे मिटाना ? समझ में आया ? जो करावे, उसका आश्रय लेना मिटाने के लिये ? क्या करना क्या ? स्वयं पर का आश्रय लेकर दोष करे तो स्वयं स्व का आश्रय लेकर दोष मिटावे। सिद्धान्त का न्याय समझना पड़ेगा या नहीं ? गुलाबभाई !

‘तुझे विषय-कषायी रहना है, इसलिए ऐसा झूठ बोलता है। तुझे मोक्ष की सच्ची अभिलाषा..’ देखो ! छूटने की अभिलाषा हो तो बंधा हुआ अपने से हूँ, ऐसा निर्णय करना चाहिए। यदि सच्ची मोक्ष की-छूटने की अभिलाषा हो तो, मैं छूटने का इच्छुक हूँ तो इसका अर्थ कि मैं ही स्वयं मुझसे बंधा हुआ हूँ तो छूटने का इच्छुक कहलाता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : बहुत जवाबदारी डाली।

उत्तर : बहुत जवाबदारी डाली सिर पर। यह तो समझकर बोलते हैं।

मुमुक्षु : छूटने का इच्छुक तब कहलाये कि.....

उत्तर : तब कहलाये कि मैं स्वयं मेरे भाव से बंधा हुआ हूँ तो उसे छूटने का अभिलाषी यथार्थतः (कहा जाता है)। ठीक है, समझ में आया ? बंधावे पर और छूटने का अभिलाषी स्वयं हो - दोनों का मिलान कहाँ खायेगा ? बहुत अच्छी बात ली है।

मुमुक्षु :

उत्तर : छुड़ावे, हो गया, तुझे तो कुछ करना नहीं, तू तो धुली हुई मूली जैसा अलग महन्त रहे।

‘इसलिए ऐसी युक्ति किसलिए बनाता है ?’ संसार के कार्यों में अपने पुरुषार्थ से सिद्धि होती न जाने तो भी वहाँ पुरुषार्थ द्वारा उद्यम किया करता है, यहाँ पुरुषार्थ गुमा बैठा,

इससे ऐसा ज्ञात होता है कि मोक्ष को देखादेखी... 'छूटने का अभिलाषी हो तो मैं मुझसे बँधा हुआ हूँ, ऐसा तुझे निर्णय होना चाहिए। समझ में आया ? बहुत बात ली है। टोडरमलजी ने तो इतनी बात ली है परन्तु उसे कौन समझे ? किसी को फुर्सत नहीं होती निवृत्ति की।

क्या कहते हैं ? देखो ! ८ वीं (गाथा) का अर्थ – यद्यपि शरीर,.. अन्य स्वभाव को लेकर है। क्या कहते हैं ? पहले अन्तिम शब्द लेना यद्यपि शरीर, सब अन्य स्वभाव को लिये हुए पर-अन्य हैं,.. ऐसा लेना। है न अन्तिम शब्द। इसी-इसी में पहली लाइन। यद्यपि यह शरीर अन्य स्वभाव के कारण, जड़ स्वभाव के कारण शरीर है। इसलिए पर / अन्य है। इस जड़स्वभाव को लेकर शरीर है, आत्मा को लेकर नहीं। है या नहीं इसमें शब्द ? यद्यपि शरीर, सब अन्य स्वभाव को लिये हुए पर-अन्य हैं,.. समझ में आया ? यहाँ से शुरु किया है न स्वयं ? अन्य स्वभाव को लिये हुए पर-अन्य हैं,.. क्या कहा ? शरीर का तो जड़ अचेतनस्वभाव, अन्य स्वभाव है। अचेतनस्वभाव है, तेरा तो चेतनस्वभाव है। वह अचेतनस्वभाव पर है। वह पर और उसकी क्रिया, उसकी दशा होने पर 'मुझे होता है' और उसकी क्रिया और दशा होने पर 'मैं उसे करता हूँ'; अन्य स्वभावी चीज को, मुझसे यह होती है; अन्य स्वभावी चीज को, मुझे सुखरूप होती है (ऐसी) मान्यता मूढ़ है। समझ में आया ?

अन्य स्वभाव को लिये.. समझे न ? क्या तुम्हारी भाषा है ? अन्य स्वभाव को लिये.. अर्थात् अन्य स्वभाव के कारण। अन्य स्वभाव को लिये अर्थात् अन्य स्वभाव के कारण वह जड़ है। तेरे स्वभाव के कारण उसमें शरीर में बिल्कुल नहीं। मिट्टी धूल है। उसके स्वभाव से उसमें रोग है, उसके स्वभाव से उसमें निरोगता, उसके स्वभाव से उसका चलना, उसके स्वभाव से उसका रुकना, उसके स्वभाव के कारण वह अचेतन है।

परन्तु मूढ़ प्राणी मोहनीयकर्म के जाल में फँसकर.. देखो ! मोह में फँसकर, आत्मा में रहकर नहीं। इन्हें आत्मा के समान मानता है। शरीर को ठीक होवे न, तो अपने को ठीक पड़े। मूढ़ ! दोनों को एक मानता है। उसे ठीक होवे तो मुझे ठीक, इसका अर्थ दोनों एक हैं। उसमें अनुकूलता न होवे तो मुझे अनुकूलता नहीं, इसका अर्थ हुआ कि दोनों को एक माना है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : बहुत कठिन पड़ता है ।

उत्तर : कठिन पड़ता है । कहते हैं पागल हो गया है, पागल ? जो चीज अन्य स्वभाववाली है, तेरे स्वभाववाली नहीं, दूसरी भाषा से लो । जो जड़ अन्य स्वभाववाला स्वरूप है, तेरे स्वभावस्वरूप वह नहीं, उसे तू, मुझे सुख-दुःख का कारण वह होता है, और उसके कारण मुझे सुख-दुःख है अथवा वे मेरे हैं, यह तो तेरी मूढ़ता है । समझ में आया ? यह बहुत कठिन पड़ता है, हों ! कहते हैं कि बापू ! शरीर और आत्मा के बीच तो स्वभावभेद है । शरीर और आत्मा के बीच स्वभावभेद है और तू ऐसा माने कि हम दोनों एक हैं, मूढ़ है । यह तेरी मूढ़ता तुझे दुःख का कारण है ।

इसी तरह घर... घर... यह बँगला - पाँच लाख का बड़ा बँगला हुआ हो, पचास हजार का बनाया हो । खिड़की-दरवाजे ऐसे ठीक से श्रृंगार कर... क्या कहलाता है ? पॉलिश । नानचन्दभाई ! पॉलिश-वॉलिश (किया हो) । नानचन्दभाई के घर में देखो, सब पॉलिश हो दादरा-बादरा... एक बार देखा था । ऐसा भी परन्तु उसमें से निकलना कठिन पड़े, हों ! एक इनका घर और एक उसका घर... छबीलभाई का, राजकोट... छबील के पिता का क्या नाम, विलासभाई । हमारे तो बहुत देखने का होता है न ! वहाँ सब ऐसी-ऐसी लकड़ियाँ साफ, दादरा साफ, पॉलिश... सब पॉलिश-पॉलिश और ऐसे गोल चक्कर लकड़ी के बैठने के रखे हों न ! कुर्सी के ऊपर बैठे उसे गोल... क्या कहते हैं उसे ? टेबल । उसमें कपड़ा ऐसा लटकता (हो), ऐसा लटकता हो, उसमें ऊपर वह होता है न... आहा..हा... ! उसमें से निकलना लोगों को कठिन पड़ेगा ।

मुमुक्षु : नानचन्दभाई के घर में देखो तो ऐसा हो तो हिम्मतभाई के घर में देखो तो क्या होगा ?

उत्तर : उनके घर में उतरे थे । हमने तो वह घर देखा है । धूल में भी नहीं, आहाहा ! उसमें शरीर को ऐसा मानो हमने रखा है, ऐसा मानते हैं न ! साबुन से धोते हैं, सबेरे टाईम-टेबिल... चाय, रोटी, दाल, भात, शाक, कढ़ी, खिचड़ी, पापड़, खेरा, खेरिया, खेरा आता है न ? खेरा, क्या कहलाता है ? वह पापड़ । ऐसा पापड़ घी में तला हुआ पापड़, यह अभी होता है । ऐसा बहुत होता है... उसमें से इस शरीर को पोषण किया हो, ऐसा माना हो, माना

हो, हों! आहाहा..! अरे..रे! यह शरीर, अरे...रे! यह शरीर... क्या धूल परन्तु यह तो अन्य स्वभाववाली चीज है, अन्य स्वभाववाली चीज है। तेरे स्वभाववाली चीज यह कहाँ थी? समझ में आया? आहाहा!

देखो न! इस राजकोट में सोमचन्दभाई के लड़के की बहू... सोमचन्द खारा... छोटी उम्र ३९ वर्ष की थी। चार वर्ष से यहाँ से पक्षघात (लकवा) हुआ। कभी हजारों में किसी को होता होगा ऐसा। इतना यहाँ से पक्षघात। यहाँ से, यहाँ से, हों! पेशाब एक ओर नली में चला जाये, एक ओर विष्टा चली जाये। उसे पूछो, देखो तो मुँह पर कोई दिन खेद नहीं। बहिन कैसे हो? आत्मा का कहो, आत्मा का कहो, बस! मुझे ठीक है। कैसे हो? एक ही बात, भाई! बीच में आता है न? ऐसे दो, चार, पाँच दिन में वहाँ जाते हैं, साथ में रास्ता है न! रामजीभाई को उस ओर है न? परन्तु बाई को ऐसा (हुआ) कौन जाने युवा महिला, फिर भी उसके मुँह में साढ़े चार, चार वर्ष से ऐसा... तीन-तीन घण्टे लड़के की तरह फिरावे... वरना कीड़े पड़ जायें। उसे कुछ नहीं, सुनने का भाव अवश्य। कुछ लिखाया था... छपाकर ऐसे सामने लेख रखा था। उसमें लिखा था, वह पढ़ा करे, बस! पढ़ा कर, विचारे। यह होली सुलगी उसमें उसे कहाँ बुझाने जाये। वह तो अन्य स्वभावी चीज है। जेचन्दभाई! यह स्त्री का जीव और यह आदमी का जीव।

कहते हैं कि अभी तो भान नहीं, तथापि इस प्रकार की दरकार कम की हो, अब क्या हुआ? होवे तो हो। तीन-तीन घण्टे लड़के और पति शरीर को घुमाते हैं, हों! इतना (चल) सके नहीं। स्वयं आप न कर सके, तीन घण्टे न फिरावे तो यहाँ सब कीड़ें पड़ें। क्या करना? वह तो अन्य स्वभावी चीज है तो उसमें वह होकर खड़ा रहेगा। तुझे क्या करना है उसमें? अन्य स्वभाववाली अन्य वस्तु, अन्य गुणवाली, अन्य पर्यायवाली, उसे तेरे अन्य गुण और अन्य पर्याय में तुझे क्या करना है? और उसे क्या तुझे मानना है? आहाहा! आहाहा!

मुमुक्षु :

उत्तर : वह पण्डित तो ऐसा कहता है कि नहीं और व्यर्थ में मानता है, इसलिए दुःखी होता है। मोहनीयकर्म के जाल में फँसकर.. ऐसा तो कहते हैं। जाल में फँसकर

अन्य स्वभाववाले को यह मेरा मानता है। आत्मा के समान मानता है। ऐसा कहा न? उसका अर्थ समान (मानता है)। मैं ऐसा यह, ऐसा। मैं आत्मा हूँ, ऐसा शरीर है, समान मानता है। इसलिए हुआ है न! इन्हें आत्मा के समान मानता है। ऐसा है। समझ में आया? 'स्वानि प्रपद्यते' ऐसा है न? है न, देखो न, मूल में है न! 'मूढः स्वानि प्रपद्यते' 'सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते' पाठ ही ऐसा है। बहुत सरस बात ली है।

मुमुक्षु : अपने जैसा भी नहीं, स्वयं ही।

उत्तर : स्वयं यह तो मैं ही.. यहाँ तो सब समान अर्थात् सरीखे। मैं और ये दोनों समान ही हैं। उसमें फिर भिन्नता क्या? आहा...हा...! वह जाति अलग, भाई! तेरी जाति अलग (है) न, भगवान! तू चैतन्य आनन्द का नाथ सनाथ है न! ये सब जड़ स्वभाव के सनाथ हैं। उसमें जड़स्वभाव सहित हैं। सनाथ हैं अर्थात् सहित हैं। तू चैतन्य ज्ञान आनन्द का सनाथ है अर्थात् सहित है। ये दोनों समान किस प्रकार होंगे? समझ में आया? ये मेरे किस प्रकार तू मान सकेगा? आहाहा!

इसी प्रकार घर,.. घर... घर... घर की बात। वह खस की फैशन। घर में कराया हो। दस-दस लाख के बंगले। गोवा में है न? कैसे? खुशालदास, शान्तिलाल खुशालदास अपने प्रेमचन्दभाई के मामा का लड़का है। दस-दस लाख के दो बड़े बंगले। चालीस करोड़ का आसामी, अपना दशाश्रीमाली। गोवा, गोवा है न? मार डाले किन्तु, हों! आहा...हा...! जाये उसके घर में तो आलू की सब्जी दी, आलू की सब्जी। उनके बहनोई गये थे, यह कहे - हम यह नहीं खाते हैं। (उन्होंने पूछा) क्यों इसमें जीव गिर गये हैं? अरे.. अरे..! मार डाले न! मद कैसा! आहा...हा...! भाई! वह चीज पर है, प्रभु! परस्वभावी, परगुणवाली, परपर्यायवाली, परकार्यवाली, बापू! उसे अपना मानना अर्थात् दोनों एक होकर मानना, इसका अर्थ कि दोनों समान हैं, ऐसा मानना, वह मूढ़ (मोहनीय की) जाल में फँसा हुआ मानता है। आहा...हा...! समझ में आया?

इसी प्रकार धन,.. धन को... लक्ष्मी। पाँच-दस लाख की पूँजी (होवे तो) बापू! हम ऐसे ये! धन होवे तो प्राण रहे, वरना प्राण न रहे। धूल भी हो, धन अन्य स्वभाववाला, घर अन्य स्वभाववाला, धन अन्य स्वभाववाला, उसे अपना माने कि यह लक्ष्मी आवे तो

ठीक चले, बापू! वरना प्राण चले जायें। मूढ़ है। लक्ष्मी ग्यारहवाँ प्राण... अज्ञानी परस्वभाववाली चीज को, मोहजाल में फँसा हुआ मूढ़ उस पर को अपना मानता है और मानकर मिथ्यात्व सेवन कर दुःखी हो रहा है। इसलिए तेरा (अपना) मानना छोड़ दे, इसके लिये बात करते हैं। विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ७

गाथा-८-९

सोमवार, दिनाङ्क २१-०३-१९६६

फाल्गुन कृष्ण १५,

वीर संवत् २४९२

यह इष्टोपदेश, आठवीं गाथा (चलती है)। सत्यस्वरूप क्या है और सत्यस्वरूप में असत्यरूप मानते हुए कैसे मोह करके दुःखी होता है, उसकी यह व्याख्या है। आठवीं गाथा का अर्थ, देखो! यद्यपि शरीर,.. यह शरीर परद्रव्य है।

मुमुक्षु : कब ?

उत्तर : अभी। फिर कब क्या ? यह किसका ? यह तो जड़ है, मिट्टी है।

मुमुक्षु : वह तो जीव चला जाये तब ?

उत्तर : परन्तु जीव चला कहाँ जाये ? जीव जाये कहाँ ? अन्यत्र जाये तो दूसरा शरीर (मिले)। जाना कहाँ था ?

इसीलिए तो शब्द पड़ा है, देखो! अन्दर आता है न ? सर्व द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव लिया है न ? शरीर का सर्वथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अन्य स्वभाव है। शरीर का, ठीक ! पहला शरीर शब्द है या नहीं ? यह आज उकताकर आये थे। सिर फोड़ूँ, कल तो मर जाऊँ... यह तो दो दिन हो और हुआ। दो दिन हों और कुछ मोह का भूत लगे, मोह !

मुमुक्षु : आपने तो कहा मोह का ?

उत्तर : यहाँ यह मोह की तो बात चलती है। यह शरीर जड़ है, मिट्टी रजकण है, अजीवतत्त्व है, उसका द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आत्मा से सर्वथा अन्य स्वभावी है। अन्य स्वभावी। समझ में आया ?

मुमुक्षु : यह इतना सब मोह किसका आ गया ?

उत्तर : यह मोह आया, किया इसलिए आ गया। कहाँ आ जाये ? तुम यह मोह अन्दर से खड़ा करते हो।

मुमुक्षु : परन्तु आ कहाँ से गया ?

उत्तर : हाँ, मोह को, खड़ा कैसे हो गया व्यर्थ का अपने आप ? करे स्वयं।

मुमुक्षु : घर में आ कैसे गया ?

उत्तर : करता है स्वयं, आता कहाँ है ? करता स्वयं और फिर आ गया कहाँ ? इसका अर्थ क्या ? यह तो यहाँ कहते हैं। आहा...हा... !

कहते हैं कि शरीर के रजकण-रजकण, यह परमाणु है यह तो, यह कहीं एक वस्तु नहीं, बहुत रजकणों का समूह है तो प्रत्येक शरीर का एक-एक रजकण आत्मा के स्वभाव से उसके द्रव्य का स्वभाव अन्य है, क्षेत्र अन्य है, उसकी दशा अन्य है और उसका भाव / गुण भी अन्य है। तथापि मूढ़ ये मेरे मानकर उनका रक्षण करूँ और उनसे ठीक होवे तो मुझे ठीक और अठीक होवे तो मुझे अठीक, उसमें रोग होवे तो अठीक, यह मिथ्यादृष्टि पाखण्डभाव करके अनादि से ऐसा भटक रहा है। समझ में आया ?

शरीर,.. देखो ! घर,.. मकान। उसका द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अत्यन्त भिन्न है। इस आत्मा का स्वभाव आनन्द और ज्ञान है, उसका क्षेत्र यहाँ आत्मा में, उसकी दशा वर्तमान पर्याय में, उसकी शक्ति-गुण त्रिकाल वे स्वयं में हैं वे तो। परन्तु वह स्वयं कौन है, इसके भान बिना इस शरीर के मोह में और घर के मोह में 'मेरे अथवा मेरे जैसे, ये मेरे जैसे मेरी जाति के हैं'—ऐसा मानकर जिसके घर में परद्रव्य है, वह वस्तु ही पर है, क्षेत्र, काल, भाव अत्यन्त (भिन्न है)। मोह में **जाल में फँसकर..** स्वयं उसमें फँसता है। अनादि से मूढ़ अपने वस्तु के स्वभाव को भूलकर उसमें फँसता है। जीव वहाँ फँसा। घर। ऐसे स्त्री।

धन,.. धन, वह लक्ष्मी। लक्ष्मी के रजकण, रजकण आत्मतत्त्व से (भिन्न है) उसका द्रव्य अर्थात् वस्तु, उसका क्षेत्र अर्थात् चौड़ाई, उसका काल अर्थात् लक्ष्मी की दशा-अवस्था और भाव अर्थात् उसकी शक्ति—सब आत्मा के स्वभाव से लक्ष्मी का अन्य

स्वभाव है परन्तु मूढ़ उस लक्ष्मी को नहीं... गया तो अरे...रे! हाय! हाय! (गया) आवे तो (प्रसन्न होता है) वह परद्रव्य को स्वद्रव्य मानकर मूढ़ पर में हितबुद्धि से भटक रहा है। आहा...हा...! उसे पता नहीं (कि) क्या स्व है और क्या पर है।

मुमुक्षु : मेहनत करके कमाया...

उत्तर : मेहनत कौन कमाता था ? धूल। तूने राग किया था। कमाया कब ? पैसे कब इसके थे ? इसके बाप के थे ? इसके थे ? कहो, पूनमचन्द के हैं पैसे ? या उसके पिता के हैं ? आहा...हा...! यहाँ तो एक द्रव्य जो वस्तु अपनी है, वह अपने अतिरिक्त के अन्य पदार्थ के जितने सर्वथा भिन्न स्वभावी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव हैं, उन्हें ठीक होवे तो कुछ भी अन्दर उल्लास आवे, अठीक होवे तो (द्वेष) आवे, वह सब मोह-मिथ्यात्वभाव करके, पर को अपना मानकर महा अधर्म-पाप उत्पन्न करता है और अधिक पाप का सेवन करके उससे दुर्गति में अधिक जायेगा - ऐसा करता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा! लक्ष्मी, परन्तु लक्ष्मी तो धूल है, तेरी चीज़ कहाँ थी ?

मुमुक्षु : यह कमाऊँ न ?

उत्तर : कमाऊँ कब ? धूल में भी कमाऊँ नहीं। इसने राग किया था। वह चीज़ तो उसके कारण आयी है। क्या राग के कारण आयी है ? समझ में आया ? राग का भाव तुझमें है और उसकी अवस्था और उसका भाव उसमें है, उसकी अवस्था और उसका भाव उसमें है। वह क्या तेरे कारण आती है ? परवस्तु को और स्व को अत्यन्त भिन्नता है, ऐसा न मानकर दोनों को एक मानकर मिथ्या बुद्धि, असत्य बुद्धि, पाप बुद्धि, दुःख बुद्धि, नये पाप को उत्पन्न करती है और फिर माने कि हमने ठीक किया। आहा...हा...!

स्त्री,... स्त्री का आत्मा और उसका शरीर अत्यन्त अन्य स्वभावी है। इस आत्मा का स्वभाव यहाँ है, उसका स्वभाव उसके आत्मा में है। इस जड़ के उसके शरीर का स्वभाव जड़ में। दोनों अत्यन्त भिन्न हैं, तथापि यह स्त्री मुझे सुख देती है, प्रतिकूल होवे तो दुःख देती है-ऐसा मूढ़ मिथ्या मान्यता, पाखण्ड बुद्धि, भ्रम उत्पन्न करके नये अनन्त पाप नये बाँधता है। आहा..हा...! गजब बात, भाई!

मुमुक्षु : हमारी एक बात भी रहनेवाली नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुम्हारी नहीं, दुनिया की पूरी की।

मुमुक्षु : यह बात तो ठीक है परन्तु घर के ऊपर तो राग होता है न...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यही कहते हैं। वह परद्रव्य है या स्वद्रव्य है ? वह परपदार्थ है या स्वपदार्थ ? यह प्रश्न (है) मेरा।

मुमुक्षु : घर के-कुटुम्ब के तो अपने कहलाते हैं न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : घर का कब इसके पिता का था इसका किसी का ? द्रव्य ही पर का है। वह आत्मा कहाँ से (तेरा हुआ) ? अभी दूसरा दृष्टान्त देंगे। कहीं से आया और कहीं चला जाता है। वह तेरे कारण आया नहीं और तेरे कारण जायेगा नहीं। मूढ़ व्यर्थ में परद्रव्य में अपना मानकर, महा असत्य बुद्धि सेवन कर, नयी प्रतिकूलता खड़ी करता है। आहा..हा.. ! कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु : दूसरे को नहीं थे और हमारे लड़के हुए ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु किसके लड़के ? लड़का कैसा ? उसे इसने उत्पन्न किया है ? उसके-लड़के के आत्मा को उत्पन्न किया है ? उसके शरीर को उत्पन्न किया है इसने ? शरीर तो जड़ है। आत्मा जड़ को उत्पन्न करे ? आत्मा उसके आत्मा को उत्पन्न करे ? उत्पन्न किया अर्थात् क्या ?

मुमुक्षु : जनक कहलाता है न !

पूज्य गुरुदेवश्री : जनक अर्थात् क्या ? वह तो निमित्तरूप से बोला जाता है। आत्मा तो उसका है और शरीर उसका है। उसके रजकण जड़ हैं। इस आत्मा ने उसे उस पदार्थ को बनाया होगा ? लड़के के आत्मा को इसने बनाया है ?

मुमुक्षु : इस अधिक गहरे पानी में किसलिए उतरना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हो गया। नहीं गहरे में उतरना हो तो गहरा भटके। कैसे ? भलीभाँति गहरा भटके।

यहाँ तो स्व और परद्रव्य के बीच के विवेक की बात करते हैं। जिसे स्व और पर के विवेक की भिन्नता भासित नहीं होती, वह पर को अपने समान अथवा स्वयं वह है—ऐसा मानकर हैरान होकर चार गति में अनन्त काल से भटक रहा है। समझ में आया ?

इसी प्रकार पुत्र,.. लो! उस पुत्र का आत्मा अलग, उसके कर्म अलग, उसका शरीर अलग, उसके रजकणों का पदार्थ, पदार्थ ही भिन्न है। उसमें तेरा पदार्थ कहाँ से आ गया वह ?

मुमुक्षु : पदार्थ भिन्न हो, तब तो पुत्र कहलाता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु किसका पुत्र ? इसने पुत्र को उत्पन्न किया है ? उसके आत्मा को उत्पन्न किया है ? भ्रम, वह भ्रम। आठ पंसेरी की भूल - एक मण में आठ पंसेरी। अर्थात् ? पूरी-पूरी (भूल है)। यह तो वस्तु स्वतंत्र जगत के तत्त्व हैं। अजीव या जीव अनन्त दूसरे जगत के अस्तित्ववाले पदार्थ हैं। तू भी अस्तित्ववाला पदार्थ है तो इस अस्तित्ववाले का वह अस्तित्ववाला कहाँ से हो गया ? समझ में आया ?

पुत्र, मित्र,.. प्रिय मित्र, ऐसा बोले वहाँ ऐसा-ऐसा ऐसे दोनों सायंकाल इकट्ठे हों, ऐसे घूमने गये हों और... आहा..हा.. ! उसमें बैठा हो ऐसे, ओहो.. ! मानो एक-दूसरे... कुछ नहीं, तू कोई और यह कोई है परन्तु व्यर्थ में हैरान हो गया है।

मुमुक्षु : उसके साथ अन्तरंग की बातें करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; दोनों व्यक्ति एक साथ बैठकर अन्तरंग की बातें करते हैं। फिर ऐसी व्यक्तिगत कहनी हो तो कान में कहे। गुलाबभाई! यह मूर्खता, वह भी कोई कम है ? कहते हैं। कहाँ परवस्तु... वह मरकर वहीं का वहीं एक जरा सा ऊ..हु.. हुआ, परन्तु क्या हुआ ? अरे ! मैं अकेला हूँ न, भाई ! अन्दर बहम नहीं पड़ जाये दूसरे को ? कि यह थे और इसे यह हुआ ? परन्तु वह परद्रव्य है। शरीर परवस्तु है, उसकी अवधि से वहाँ शरीर रहता है, उसकी अवधि से आत्मा अपने काल से रहता है, तेरे कारण और तेरे भाव से बिलकुल नहीं रहता। आहा..हा.. ! कहो, समझ में आया ?

शत्रु.. लो ! जगत में कौन शत्रु है ? दूसरा प्रतिकूल मानता है। शत्रु का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न है। वह कहाँ तुझे नुकसान करता है ? तथा हैरान भी कहाँ करता है ? और हित भी कहाँ करता है ? हैरान-हित कोई परद्रव्य नहीं करता। तेरे भाव में आत्मा ज्ञानानन्द स्वभाव को भूलकर, 'यह मुझे नुकसान, यह मुझे लाभ करता है' - ऐसी मान्यता अर्थात् भ्रमणा को, मात्र भ्रमणा को घोंट रहा है। असत्य की भ्रमणा को घोंट रहा है। उसका फल

तो विपरीत बन्ध के पड़कर अनन्त काल से चार गति में भटकने के आते हैं। आहा..हा.. !

शत्रु आदि सब अन्य स्वभाव को लिये हुए.. देखो! सबको पहले से ले लेना। शरीर अन्य स्वभाव को लिये हुए, घर अन्य स्वभाव को लिये हुए, स्त्री, पुत्र, मित्र अन्य स्वभाव को लिये हुए,.. यह उनका अन्य स्वभाव जड़ का और आत्मा का दूसरा है। अन्य हैं,.. आत्मा से बिलकुल भिन्न है। कैसे होगा इसमें? फावाभाई! मनहर के आत्मा के कारण तो इसे कुछ ठीक होता है या नहीं? कोई बोले कि बापू.. बापू करे तो ठीक होता है या नहीं? अब बापू! तुम खर्च करो, खर्च करो, दो-पाँच हजार, हों! मेरी वह नहीं रखना।

मुमुक्षु : दो-पाँच हजार न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब तो दो-चार लाख खर्च हुए हों, वह दो-चार लाख दे दे ? कहो, समझ में आया ? सब धूल और धाणी व्यर्थ की ममता.. ममता... ममता... पैसा भी कोई और पुत्र भी कोई परचीज। वह चीज भिन्न है और यह चीज भिन्न है। इसके द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव (भिन्न हैं)। यहाँ 'सर्वथा' शब्द प्रयोग किया है न ? सर्वथा शब्द है, देखो! अन्दर में अर्थ में आयेगा।

परंतु मूढ प्राणी मोहनीयकर्म के जाल में फँसकर.. हों! कर्म के कारण नहीं। कर्म परद्रव्य है। जाल में फँसकर.. देखो! है न ? 'स्वानि प्रपद्यते' यह मानता है, स्वयं मानता है, ऐसा कहना है न ? अर्थात् मानता है, इसलिए हो गया, समाप्त हो गया। यह मोह के कर्म के वश पड़ा है। इन्हें आत्मा के समान मानता है। भाई! हम और शरीर एक हैं। दोनों एकसाथ में साथ हैं, साथ कब था ? तू तो अनन्त काल का है और यह तो नया आया है। तू अनन्त काल का अनादि का है और यह तो नया आया है। वह कब था ? रजकण तेरे पास थे कब ? अन्य भव में दूसरे रजकण थे, अन्य भव में तीसरे थे। अब यह तो वे रजकण आते और जाते हैं। वे तो भिन्न-भिन्न हैं परन्तु यह उनके अवयव देखकर ये मेरे अवयव, ऐसी आँखें गोल चक्क और यह और यह, मुँह और अंतरडुं और यह लाल यह कुण्डल जैसे कान और गरुड़ जैसा नाक और आँखें हिरण के जैसी आँखें और मुँह चन्द्रमा जैसा... धूल जैसा और वैसा साहित्यकार लिखते हैं न ऐसा ? भाई! '....' लिखें,

हों! साहित्यकार कवि जब कवित्त करते हैं (तब ऐसा लिखते हैं)। पूरणसिंह! यह पैर कैसा? केले के थम्ब जैसा। वह केले का होता है न? थम्ब। केले का थम्ब। हाथ ऐसा मुलायम... धूल में भी नहीं। यह पाखाने का थम्ब है। यह विष्टा और पेशाब रहे, उसका थम्ब है। आहा..हा..! अरे रे! इसे आत्मा कौन? और परद्रव्य कौन? (इसका) पता नहीं होता और परद्रव्य को अपना मानकर मूढ़ होकर बड़े दुःख पर पड़ रहा है। आहा..हा..! समझ में आया?

विशदार्थ – स्व और पर के.. देखो! स्पष्टीकरण यह है न मूल तो। 'स्वपरविवेक-ज्ञानहीनः' है न मूल तो? स्व और पर के विवेक अर्थात् भिन्नता। आत्मा स्व और शरीर, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी पर-दोनों के विवेक, विवेक अर्थात् भिन्नता, भिन्नता के ज्ञान से रहित। दोनों भिन्न-तीनों काल भिन्न हैं, तथापि दोनों की भिन्नता के भानरहित मूढ़ शरीर आदिक पर पदार्थों को आत्मा व आत्मा के स्वरूप ही समझता रहता है। यह हम हैं और या वह हमारा स्वरूप है, हम एक ही जाति हैं और हमारा अंग है न! लोग नहीं कहते हैं कि भई! डण्डा मारने से पानी कहीं अलग पड़ता है? डण्डा मारने से पानी (भिन्न नहीं पड़ता), इसी प्रकार यह सब हम एक ही हैं, बापू! हम एक अंगी कहीं भिन्न पड़ते हैं? भिन्न ही है। अब सुन न! डण्डा मारने से पानी क्या, पानी के रजकण-रजकण भिन्न हैं, पानी के रजकण-रजकण भिन्न हैं। प्रत्येक पॉइन्ट – रजकण-रजकण का अस्तित्व और पानी का सत्, एक-एक रजकण पॉइन्ट भिन्न-भिन्न है। किसी रजकण का सत् किसी रजकण रूप के सत् रूप से अस्तित्वरूप नहीं होता। किसी की मौजूदगी, किसी की मौजूदगी में प्रविष्ट होकर अस्तित्व नहीं रखता। आहा..हा..! पता नहीं होता कि स्व क्या और पर क्या?

स्व और पर के विवेकज्ञान से रहित पुरुष शरीर आदिक पर पदार्थों को आत्मा व आत्मा के स्वरूप ही समझता रहता है। अर्थात् दृढ़तम मोह से वश.. देखो! दृढ़तम (लिया है)। यहाँ तो मिथ्यादृष्टि की बात है, हों! सम्यग्दृष्टि पर को अपना अंश (भी) नहीं मानता। गृहस्थाश्रम में रहने पर भी, लाखों स्त्रियाँ होने पर भी, राजपाट में पड़ा होने पर भी, एक अंश भी यह मेरी चीज़ नहीं है; मैं तो ज्ञान और आनन्द हूँ। मात्र मुझमें जरा असक्ति का राग का अंश होता है, वह मेरी कमजोरी का पाप है परन्तु उस चीज़ के कारण मुझे सुख है या वह चीज़ मेरी है—ऐसा सम्यग्दृष्टि गृहस्थाश्रम में रहने पर भी

(मानता नहीं है)। समझ में आया? एक अंश भी मेरे आत्मा के अतिरिक्त राग भी मेरा नहीं है, वह बन्ध का कारण और उत्पन्न हुआ विकार दुःखरूप है तो दूसरी चीज़ तो मेरी है नहीं।

सम्यग्दृष्टि धर्मी स्त्री को देखकर सुख नहीं मानता। आहा..हा..! समझ में आया? शत्रु को देखकर दुःख नहीं मानता। वह परद्रव्य मुझे दुःखदायक है? नहीं; परद्रव्य दुःखदायक नहीं हो सकता। तेरी विपरीत मान्यता तुझे दुःखदायक है और सुलटी मान्यता-आत्मा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप का भान तुझे सुखदायक है; इसके अतिरिक्त कोई परपदार्थ सुखदायक-दुःखदायक है ही नहीं। कहो, समझ में आया इसमें? आदि शब्द में सब लिया है। हमारा देश। देखो न! देश के लिये मरते हैं या नहीं? ज्ञानानन्दस्वरूप स्वयं है, उसे अपनी अस्ति का भान नहीं है। वह पर-अस्तिवाले पदार्थों से सुख और दुःख की कल्पना करके मिथ्याभ्रम में (भटक रहा है)। भ्रमणा का फल क्या होगा? भ्रमण। भ्रमणा का फल भ्रमण - चौरासी का अवतार है। आहा..हा..!

कहते हैं कि मोह से वश प्राणी देहादिक को (जो कि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव लक्षणरूप हरेक प्रकार से).. अर्थात् अर्थ है न? (आत्म स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले हैं).. कहाँ भगवान आत्मा! वह तो ज्ञान, आनन्द, शान्ति, श्रद्धास्वरूप आत्मा है। बहुत तो अन्दर उसकी एक समय की पर्याय में विकार करे परन्तु फिर भी वह विकार कहीं उसका स्वरूप नहीं हो जाता। जिसका स्वरूप होता नहीं, उसे अपना मानना, उसका नाम भ्रम है। विकार के परिणाम को भी अपना मानना, वह भ्रमणा है। आहा..हा..! इसकी भूल की इसे खबर नहीं पड़ती। यह भूल होगी? यह भूल होगी? या यह मेरा गुण है? है भूल और माने गुण। अब वह भूल किस प्रकार निकले इसे?

प्रत्येक चीज़ शरीर आदि, देश आदि या शत्रु-मित्र आदि के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, लक्षण.. सबके लक्षण ही भिन्न हैं। (उसे) आत्मा मानता है और दृढ़तर मोहवाला प्राणी,.. वापस साधारण दृढ़मोह नहीं, आसक्ति का नहीं जरा सा; यह तो दृढ़तर मोहवाला प्राणी। ओहो..! शरीर की अनुकूलता हो न, बापू! तो अपने को ठीक पड़े, हों! उस जड़ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव ठीक रहे तो तुझे ठीक पड़े, इसका अर्थ क्या? वह तो मिट्टी है, अजीवतत्त्व है, रूपीतत्त्व है, मूर्ततत्त्व है; तू अमूर्ततत्त्व है, दोनों तत्त्व-तत्त्व की जाति ही अलग है। जाति भिन्न और दूसरी जाति तुझे लाभदायक हो (यह तेरी भ्रमणा है), भ्रमणा।

समझ में आया ? पढ़े-गिने को भी अन्दर में यह भ्रमणा पड़ गयी है । परवस्तु से हमें ऐसा होता है, हम परवस्तु के काम कर देते हैं ।

मुमुक्षु : ऐसा पढ़ाते हैं ।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा पढ़ाते हैं । मूढ़ पढ़ा हो, ऐसा पढ़े न ! समझ में आया ?

सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतरागदेव जिन्हें एक समय में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान है, वे भगवान तो कहते हैं और ऐसा है कि अनन्त पदार्थ है न, भाई ! तू एक ही है जगत में ? तो अनन्त हैं, वे अनन्त पदार्थ प्रत्येक अपने स्वभाव के कारण रहे हुए हैं तो उनका स्वभाव उनमें, तेरा स्वभाव तुझमें । तेरे स्वभाव को वे मदद करें, नुकसान करें - ऐसा तीन काल में नहीं होता । आहा..हा.. ! तथा उनके स्वभाव को तू मदद करे, दूसरे द्रव्य की सेवा करके उसकी मदद करूँ, धूल में भी नहीं है । कौन सेवा करे ? भारी बात कठिन, भाई ! यह इसकी सेवा से ये मर गये कितने ही सुधरे हुए ऐसे । अपन सबकी सेवा करते हैं । सेवा अर्थात् क्या ? इस शरीर में रोग हो, उसे तू मिटा नहीं सकता और दूसरे की सेवा करने गया ?

मुमुक्षु : जनसेवा, वही प्रभु सेवा ।

पूज्य गुरुदेवश्री : जनसेवा की व्याख्या क्या ? जन अर्थात् क्या ? वह तो परद्रव्य है । उसकी सेवा अर्थात् क्या ? उसकी दशा ? उसकी दशा तो उससे होती है । ये सब ऐसे के ऐसे भटके न ? तुम सब आधे-आधे कपड़े पहिनकर घूमते थे । ये घूमते थे । उसमें ऐसा कि हम कुछ सेवा करते हैं, हम ऐसा करते हैं, ऐसा । सादा वस्त्र और अमुक ऐसी सेवा करते हैं । धूल में भी नहीं । सादा वस्त्र तो उसका-जड़ का है । समझ में आया ?

मुमुक्षु : ऐसी बात सुनना नहीं रुचती ।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनना नहीं रुचती । सच्ची बात, बात सच्ची है । इन सब बहुतों को पावर चढ़ गया है न ! कोई किसी की सेवा नहीं कर सकता । हैं ? तेरी पच्चीस वर्ष की जवान स्त्री मर जाये, तू बीस वर्ष का हो, मर जाये तो राख न सेवा (करके) । तुझे मार डालने का भाव है ? तब भाव में तुझे रखने का भाव है । तेरे भाव से वहाँ कुछ नहीं होता । इसी प्रकार तेरे भाव से पर में-दूसरे द्रव्य में हो जाता होगा ?

पच्चीस वर्ष का प्रिय पुत्र मरता हो। ऐसे लेह.. लेह... करता हो दो वर्ष का विवाहित (हो) भरपूर जवान जैसी स्त्री छोड़कर (मरता हो)... हाय.. हाय.. ! अर र! इसकी अपेक्षा विवाह नहीं किया होता (तो अच्छा था) ऐसा कहे। विवाह किया हो, तब तो ऐसा कहे लाहो ले लेते हैं परन्तु जहाँ छह महीने हुए (वहाँ पता पड़ा) क्षय है, क्षय (टीबी) का असर हो गया है। हैं... ? टीबी है। कितने समय से ? थोड़ी टीबी। शुरु होगी, फिर विवाह किया। बोला नहीं। हाय! हाय! अरे! तीसरे नम्बर में गया। हाय! हाय! क्या है ? वह तो परद्रव्य है, बापू! वह परवस्तु है। आत्मा भी भिन्न और उसके (शरीर के) रजकण भी भिन्न उससे लहावा लेने गया, वह मिथ्यात्व का लहावा लिया। लावा नहीं आता ? लावा निकलता है न ? ज्वाला-अग्नि। गुलाबभाई! आता है या नहीं परदेश में ? पर्वत में से ज्वाला (निकलती है)। यह तूने स्वयं अज्ञान की ज्वाला अग्नि की निकाली। यह मेरे और हमने लहावा लिया, हों! अन्तिम-पहला हमारे था न। इसलिये अन्तिम लहावा ले लिया। छगनभाई! मूढ़ ऐसा बोलते हैं न, पाँच व्यक्ति बैठे हों सामैया को अपने अन्तिम-पहला और तुम्हारे पास पूँजी-पैसा है। तुम्हारे कहाँ दूसरी सन्तान थी ? अपने पाँच-सात कहाँ है ? महिलायें फुरसत में हों, इसलिए ऐसा बोलें। पाँच-सात अपने कहाँ है ? सात-पाँच अर्थात् कोई अधिक है ? यह एक लड़का था। बहुत अच्छा, लो ! परन्तु पुत्र तेरा कहाँ था ?

मुमुक्षु : तो किसका था ?

पूज्य गुरुदेवश्री : लड़का उसके आत्मा का, शरीर उसके जड़ का। तेरा कब था उसमें ? अब क्या करना इसमें ? मोह ने मार डाला जगत को। मिथ्या दृढ़तर मोह, महामिथ्यात्वभाव। समझ में आया ? आहा..हा... !

उन्हीं व वैसे ही शरीरादिक को आत्मा नहीं, अपितु आत्मा के समान मानता रहता है। समझ में आया ? हमारे जैसे ही हैं, ये सब हम ही हैं, एक ही हैं। भिन्न कहाँ हैं ? हमारी इच्छानुसार चलता है, देखो ! लो ! इच्छा हो, तब ऐसा चलता है। काम होता है या नहीं इच्छानुसार ? नहीं, नहीं। सुन तो सही ! ये क्रिया तेरी इच्छा से नहीं होती, तुझे भान नहीं है। आहा..हा.. ! उसकी अवस्था, उसका स्वभाव उसमें है। उसकी अवस्था का ऐसा होना, वह स्वभाव तुझसे अन्य स्वभावी है। इसलिए वह तुझसे होता है, यह हराम बात होवे तो, ऐसा कहते हैं। आहा..हा.. !

उसमें यह खाने बैठा हो और रोटी और ठीक से घी में तली हुई पूड़ी (हो) और आमरस बढ़िया हो। समझे न? जमादार आम का बड़ा ऊँचा आता है न? लालचोल। ऐसे खाता हो, तब मानो कि ओहो..हो..! मानो बैकुण्ठ में बैठा हो जैसे! मूढ़ है। वह तो जड़ है, मिट्टी है, रजकण-धूल है। उसकी अवस्था से तुझे सुख होता है, यह तूने कहाँ से माना? आहा..हा..! समझ में आया? गजब बात!

तब समकिति ऐसा नहीं मानता हो तो खाना छोड़ देता होगा? खाता ही कब है? सुन तो सही, तुझे पता नहीं है। वह तो जड़ की क्रिया होती है, उसे देखता है। अज्ञानी, जड़ की क्रिया होती है, उसे 'मैं करता हूँ' ऐसा मानता है। मान्यता में अन्तर है। आहा..हा..! अपितु आत्मा के समान मानता रहता है। 'स्वानि' है न? 'स्वानि प्रपद्यते' ऐसा है न? शरीर और लक्ष्मी को अपनेरूप मानता है। अरे! बापू! वह परवस्तु है। तुझे - उसे कहीं आगे-पीछे कोई मेल नहीं है। समझ में आया? यह दृष्टान्त अब देते हैं। देखो! फिर देंगे।

दोहा - पुत्र मित्र घर तन तिया, धन रिपु आदि पदार्थ।

बिल्कुल निज से भिन्न हैं, मानत मूढ़ निजार्थ॥८॥

है? आठवाँ श्लोक है, आठवाँ। हिन्दी, भाई! हिन्दी, गुलाबभाई! 'पुत्र मित्र घर तन तिया,' तिया अर्थात् स्त्री, तन (अर्थात्) शरीर। घर, 'धन रिपु' रिपु अर्थात् दुश्मन 'आदि पदार्थ' देह, कुल, कुटुम्ब सब लिया। 'बिल्कुल निज से भिन्न हैं,' सर्वथा तेरे आत्मा से भिन्न है, तुझे और उन्हें कोई मेल और सम्बन्ध नहीं है। परन्तु ऐसा चिपटा है न! इसे सुविधा और मुझे नहीं। जब सुविधा हो, तब (कहता है) मुझे सुविधा और हम सुखी और यह दुःखी। मूढ़ है, दोनों प्रकार से। आहा..हा..! समझ में आया? किसे सुविधा? परद्रव्य के कारण आत्मा को सुविधा? तेरा स्वभाव भिन्न, उसका स्वभाव भिन्न। उसके कारण तुझे सुविधा कहाँ से आयी? और उसकी प्रतिकूलता के कारण तुझे प्रतिकूलता-असुविधा कहाँ से आयी? स्पर्श नहीं करता न! वह द्रव्य तुझे स्पर्श नहीं करता, तू उसे स्पर्श नहीं करता। क्योंकि सब-सब भिन्न में अपनी मर्यादा में सब रहे हुए हैं। उसमें उससे मुझे ठीक और उससे मुझे अठीक-यह मान्यता मिथ्यादृष्टि ने मूढ़ में से उत्पन्न की है। आहा..हा..! समझ में आया? 'बिल्कुल निज से भिन्न हैं,' बिल्कुल वापस सर्वथा कहा न? 'मानत मूढ़ निजार्थ।'

उत्थानिका - शरीर आदिक पदार्थ जो कि मोहवान् प्राणी के द्वारा उपकारक एवं हितू समझे जाते हैं, वे सब कैसे हैं, इसको आगे श्लोक में उल्लिखित दृष्टांत द्वारा दिखाते हैं -

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे।

स्वस्वकार्यवशाद्द्यांति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे॥१॥

अर्थ - देखो, भिन्न भिन्न दिशाओं व देशों से उड़-उड़कर आते हुए पक्षीगण वृक्षों पर आकर रैनबसेरा करते हैं और सबेरा होने पर अपने-अपने कार्य के वश से जुदा-जुदा दिशाओं व देशों में उड़ जाते हैं।

विशदार्थ - जैसे पूर्व आदिक दिशाओं एवं अंग, बंग आदि विभिन्न देशों से उड़कर, पक्षीगण वृक्षों पर आ बैठते हैं, रात रहने तक वहीं बसेरा करते हैं और सबेरा होने पर अनियत दिशा व देश की ओर उड़ जाते हैं - उनका यह नियम नहीं रहता कि जिस देश से आये हों, उसी ओर जावें। वे तो कहीं से आते हैं और कहीं को चले जाते हैं - वैसे ही संसारीजीव भी नरकगत्यादिरूप स्थानों से आकर कुल में अपनी आयुकाल पर्यन्त रहते हुए मिल-जुलकर रहते हैं, और फिर अपने अपने कर्मों के अनुसार, आयु के अंत में देवगत्यादि स्थानों में चले जाते हैं। हे भद्र! जब यह बात है, तब हितरूप से समझे हुए, सर्वथा अन्य स्वभाववाले स्त्री आदिकों में तेरी आत्मा व आत्मीय बुद्धि कैसी? अरे! यदि ये शरीरादिक पदार्थ तुम्हारे स्वरूप होते तो तुम्हारे तदवस्थ रहते हुए, अवस्थान्तरों को कैसे प्राप्त हो जाते? यदि ये तुम्हारे स्वरूप नहीं, अपितु तुम्हारे होते तो प्रयोग के बिना ही ये जहाँ चाहे कैसे चले जाते? अतः मोहनीय पिशाच के आवेश को दूर हटा, ठीक-ठीक देखने की चेष्टा कर॥१॥

दोहा - दिशा देश से आयकर, पक्षी वृक्ष बसन्त।

प्रात होत निज कार्यवश, इच्छित देश उडन्त॥१॥

गाथा - ९ पर प्रवचन

उत्थानिका - शरीर आदिक पदार्थ जो कि मोहवान् प्राणी के द्वारा.. मोहवान

प्राणी द्वारा, हों! उपकारक एवं हितू समझे जाते हैं,.. ऐसे मूढ़ जीवों से वे जीव वे सब मुझे उपकारक हैं, हमारे हेतु हैं, वे हमारे समझने में आते हैं, वे सब कैसे-कैसे हैं? वे किस प्रकार हैं? उसका दृष्टान्त है। इसको आगे श्लोक में उल्लिखित दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं -दृष्टान्त बताते हैं।

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसन्ति नगे नगे।

स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे॥९॥

अर्थ - देखो, भिन्न भिन्न दिशाओं.. रात्रि में आते हैं न? पाठशाला में भी पहले ऐसा आता था, भाई! पाठशाला में आता था। अब कौन जाने (क्या होगा)? दलपतराम के समय में एक श्लोक आता था। दलपतराम कवि थे न? कदड़ा। 'कवि दलपतराम डाह्याभाई' साठ वर्ष पहले जब हम पढ़ते थे, तब वे दलपतभाई (थे)। फिर उनके पुत्र थे। नानाभाई है न? वे तो यहाँ आये थे न, नानाभाई यहाँ आये थे और दूसरे भाई थे, वे सब मिले थे, हमें सब मिले थे न! उनके साठ वर्ष मनाये थे। नानाभाई के। (संवत्) १९९२ का वर्ष (था)। मर गये। कहते हैं। वह उसमें आता था कि 'एक पंखी मेलो उड़ी आकाशे आव्यो...' ऐसा कुछ आता है, ऐसा आता था। लो! अब आ गये शब्द, लो! ऐसा उसमें आता था। 'पंखी मेलो उड़ी, आकाशे आव्यो..' पंखी मेला उड़कर आकाश में आया। बैठा, सबेरा हुआ, वहाँ सब-सब चले जाते हैं। सबेरा हो वहाँ कहाँ से आये, वहाँ (ही) जाना ऐसा नियम नहीं है। चाहे जहाँ से आये और चाहे जहाँ (जाते हैं)। बारह घण्टे एक साथ बैठें तो भी एक दूसरे के सामने देखा करते हैं, रात्रि को खाते तो नहीं। बगुला बैठा हो, बगुली बैठी हो, कोई दूसरा बैठा (हो)। सौ-सौ, दो-दो सौ इकट्ठे हों, हों! हम वहाँ गये थे न (वहाँ) बहुत इकट्ठे थे। यह वह खाण्डवाला कौन कहलाता है? वढ़वान नातालिया! उसके मकान में हम उतरे थे न! छट्टी साल में। पीछे खाली और बड़ा वृक्ष (था), इतने जानवर, इतने जानवर आते। पीछे कोई रहता नहीं था। यह करोड़पति 'नातालिया कान्तिभाई'। गुजर गये न? डॉक्टर, कान्तिभाई डॉक्टर, नानालालभाई के दामाद गुजर गये। बड़े करोड़पति गृहस्थ थे। वहाँ हम उतरे थे। पीछे वृक्ष खाली मकान खाली, कोई व्यक्ति नहीं इतने पक्षी आते शाम होवे तो वहाँ कोलाहल हो, हजारों (पक्षी) रात पड़े वहाँ चुप हो जायें। सबेरा होने पर वापस कहाँ से आये और कहाँ गये, उसका मेल

कुछ नहीं। एकदम चारों ओर से उड़ने लगें। ऐसा दृष्टान्त पहले आता था, हों! पुस्तक में आता था।

यहाँ ऐसा कहते हैं कि भिन्न भिन्न दिशाओं व देशों से.. दिशा भिन्न और देश भिन्न। भिन्न-भिन्न देश और दिशा में से वृक्ष में उड़कर (आते हैं)। उड़-उड़कर.. पक्षी ऐसे-ऐसे करते आते हैं न? गति करते (आते हैं)। पक्षीगण वृक्षों पर आकर रैनबसेरा करते हैं.. रैनबसेरा—रात्रि में निवास करते हैं। कहीं से आया और कहाँ का कहाँ (जाता है)? बारह घण्टे एक साथ बैठते हैं और सबेरा होने पर... जहाँ सबेरा हो अपने-अपने कार्य के वश से... वापस किसी के कारण नहीं। वह ऐसा उड़ता है तो ऐसे जाना-ऐसा भी नहीं, अपनी इच्छा प्रमाण वे ऐसे उड़कर चले जाते हैं, वह उड़कर (चला जाये) यह उड़कर चला जाये। फिर कहाँ से आये थे, जहाँ से आये, वहाँ जाना - ऐसा भी नहीं।

अपने-अपने कार्य के वश से जुदा-जुदा दिशाओं.. वापस दिशा भी अलग। जिस दिशा से (आये हों वह) दिशा भी पड़ी रहे। आये हों पूरब से, चले जायें पश्चिम में। देश भी अलग। आये हों दूसरे देश में से। समझे न? देखो न! वे जानवर नहीं आते? कहाँ से आते हैं। मुम्बई (में) बहुत आते हैं। किस दिशा से वह जानवर आते हैं? लाखों जानवर, शाम को आते थे। मुम्बई में हम देखते थे न! यहाँ भी आते हैं। कुंजरा! कुंजरा आते हैं, यहाँ सर्दी में चार महीने आते हैं। फिर चले जाते हैं। हजारों, लाखों कहीं चले जाते हैं। कहीं बहुत-दूर हजारों गाँव चले जाते हैं, हजारों गाँव चले जाते हैं। कुंजरा आते हैं।

मुमुक्षु : यहाँ आते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यहाँ आते हैं न! पूरे देश में आते हैं, वर्षों से आते हैं। यहाँ तो हमने बहुत (देखे हैं)। यहाँ दामनगर में भी तालाब है, वहाँ तो पूरे दिन पड़े होते हैं। पूरे दिन ढेर (पड़े होते हैं)। मैं पहले वहाँ जाता था न, समयसार पढ़ने। बहुत दूर, एक मील दूर, बड़ा गड्ढा था, वहाँ जाता था। कोई मनुष्य नहीं हो। वहाँ एक मील दूर, शंकर का मन्दिर और उसकी इस ओर इतने कुंजरा.. कुंजरा.. कुंजरा वहाँ पड़े रहते हैं। फिर रात्रि को खाने निकलते हैं। दिन में पड़े रहते हैं। बहुत गर्म हो न शरीर! परन्तु कहाँ से आये और कहाँ (जाये), उसका मेल नहीं होता, ऐसा। वृक्षों पर आकर रैनबसेरा करते हैं.. उस रात्रि

का निवास करते हैं। और सबेरा होने पर अपने-अपने कार्य के वश से जुदा-जुदा दिशाओं व देशों में उड़ जाते हैं।

विशदार्थ - जैसे पूर्व आदिक दिशाओं.. पूर्व में से कोई पक्षी चला आवे। कोई अंग, बंग आदि विभिन्न देशों से.. चले आवें। बहुत दूर से, हों! मुम्बई में एक पक्षी आता है, बहुत दूर से आता है। वहाँ (कोई) कहता था। कांग्रेस के हाउस में थे न? वहाँ उस कोने में से आते थे। बहुत (दूर) देश (में से) हजारों गाँव से आते थे। शाम को ऐसे लाईनसर आते थे। अंग, बंग आदि विभिन्न देशों से उड़कर, पक्षीगण वृक्षों पर आ बैठते हैं, रात रहने तक वहीं बसेरा करते हैं.. बारह घण्टे बैठते हैं, शाम पड़ने से सबेरे तक। और सबेरा होने पर अनियत दिशा.. लो! दिशा का निश्चित नहीं कि किस जगह जाना। जहाँ उड़ने की इच्छा हुई, वहाँ चला गया। अनियत.. अर्थात् इस दिशा में जाना, ऐसा कोई निश्चित नहीं। अनियत दिशा व देश की ओर उड़ जाते हैं.. दिशा और देश दोनों। इस देश में से आये, इसलिए इस देश में जाना और इस दिशा से आये, इसलिए इस दिशा में जाना - ऐसा कुछ नहीं।

उनका यह नियम नहीं रहता कि जिस देश से आये हों, उसी ओर जावें। वे तो कहीं से आते हैं और कहीं को चले जाते हैं - वैसे ही संसारीजीव भी नरकगत्यादिरूप स्थानों से आकर.. समझ में आया? आहा..हा..! एक बार वह प्रश्न किया था, कहा न? हमारे यह आनन्दजी, मनसुख की जब सगाई की न? 'चित्तल'! तब हम वहाँ थे न? (संवत्) १९८७, ८६ का अमरेली (था) तब नानालालभाई आये थे। सगाई हुई, वहाँ उन्होंने पूछा कि यह क्या (होगा)? (मैंने कहा) यह कन्या आयी होगी थोर में से और यह पति आया होगा कोई नरक में से, कोई मेल नहीं। समझ में आया? यह किससे (इकट्टे हुए)? ऐसा कुछ उन्होंने प्रश्न पूछा था। ऐसा कि यह सम्बन्ध होगा न? कहा, सम्बन्ध कुछ नहीं होता। एक स्त्री आयी कहीं से-थोर में से मरकर आयी हो और वह (वर) कहीं से मरकर आया हो तीड़ में से। दोनों यहाँ इकट्टे (हो गये)। कर्म की योग्यता के ऐसे द्रव्य, क्षेत्र, काल हों (तो) सम्बन्ध हो जाता है। ऐसा कुछ लेना-देना नहीं होता। कुछ लेना और देना नहीं होता। आहा..हा..! समझ में आया?

'चित्तल' में प्रश्न हुआ था। ऐसा कि ये सब इकट्टे (हुए तो कुछ पूर्व का सम्बन्ध

होगा न)। (कहा) - कुछ नहीं होता। एक मरकर कहीं से आवे (और) एक मरकर कहीं से आया हो। समझे न? एक कहीं से मरकर पक्षी (हुआ) हो और वह फिर मनुष्य हुआ हो। एक टिड्डी हो, कहीं जीव खाता हो, उसमें से मरकर स्त्री हुआ हो। ऐसे दोनों इकट्ठे हों, उसमें क्या है परन्तु? धूल और धाणी कुछ नहीं। एक-दूसरे का सम्बन्ध लेना और देना कुछ नहीं होता परन्तु जहाँ पच्चीस वर्ष इकट्ठे रहें, यह बारह घण्टे इकट्ठे रहते हैं। ये (पक्षी) रात में बारह घण्टे रहते हैं, यह पच्चीस-पचास वर्ष इकट्ठे रहें वहाँ मानते हैं कि ये सब अपने हैं। धूल में भी तेरे नहीं, सुन न अब! आहाहा! कहाँ का आया और कहाँ गया?

अरे! मेरे पुत्र, मेरे पुत्र करे। बाप हो तो (ऐसा बोले), अरे! यह लड़का यदि होता न तो मुझे मरण में ठीक पड़ता, अवसर से परदेश में भेजा। ठीक! परन्तु तेरा पुत्र कहाँ था? ऐसे के ऐसे भ्रमणा के पोटले खड़े करके, जानबूझकर मूढ़ परद्रव्य के स्वभाव में मुझे ठीक पड़ता है और अठीक मानकर भटक रहा है। अपनी जाति की खबर नहीं होती। मैं एक आत्मा ज्ञान और आनन्दकन्द हूँ, मेरा स्वभाव तो ज्ञान और आनन्द है। वह मेरा ज्ञान और मेरा आनन्द मुझमें से आता है। कोई किसी के निमित्त में से नहीं आता। इन इन्द्रियों से ज्ञान नहीं आता, इन्द्रियों से सुख नहीं आता तो बाहर में से कहाँ से आता था? समझ में आया?

कहते हैं संसारीजीव भी नरकगत्यादिरूप.. कोई नरक में से आया हो, लो! कोई पशु में से आया हो। घर में दस व्यक्ति हों, कोई नरक में से आया हो, कोई पशु में से आया हो, कोई पक्षी में से आया हो। समझे न? कोई टिड्डी में से आया हो, कोई चींटी मरकर महिला हुई हो-स्त्री हुई हो, कोई देव मरकर भूतड़ा-बूतड़ा में से मरकर आया हो। घर के दस-बारह लोगों में (ऐसा हो)। अलग-अलग नरकगत्यादिरूप स्थानों से आकर कुल में अपनी आयुकाल पर्यन्त रहते हुए.. वे पक्षी चार पहर वृक्ष में रहते हैं। यहाँ इसका आयुष्य जितना हो, लेकर (आया हो), उतने काल यहाँ रहता है।

मुमुक्षु : ऐसी बात सुनकर बहम पड़ जाये न।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसे बहम नहीं पड़ता। इसके लिये तो कहते हैं कि बहम कर अब। कोई तेरा तीन काल में नहीं है। आहाहा! उनके सामने ऐसे टकटकी लगाकर देखता (रहे) मरते भी (ऐसा) हो। पैंतीस वर्ष की स्त्री और वह चालीस वर्ष का हो और मरता

(देखे)। अरे रे! अब क्या करोगे तुम? दूसरा विवाह करोगे? ये तीन लड़के हैं न! हाय! हाय! दो-पाँच लाख की पूँजी हो और वह (स्त्री) पैंतीस वर्ष में मरती हो और यहाँ चालीस वर्ष हो (तो ऐसा लगता है कि) यह निश्चित नया विवाह करेगा। ये तीन लड़के बेचारे गरीब यदि वह ऐसी कठोर आवे तो ये बेचारे... यह भी नहीं माने और वह भी नहीं माने। व्यर्थ के फिर रोते हैं। वह भी रोता है और वह भी रोती है। आहाहा!

मुमुक्षु : अब करना क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : छोड़ दे। पर मेरे और पर के कारण मुझे सुख-दुःख होता है, यह मान्यता छोड़ दे। आहाहा!

आयुकाल पर्यन्त.. वे (पक्षी) चार पहर रहते हैं। यह तो थोड़ा (काल) भी उसमें रहता है। उसमें क्या है? **मिल-जुलकर रहते हैं,..** लो! आयुपर्यन्त तक घर में दस व्यक्ति, पन्द्रह व्यक्ति साथ रहे। एक-दूसरे एक-दूसरे लड़कियाँ और लड़कियाँ और भाई तथा छोटे और बड़े इसे हो न, यह मेरा छोटा भाई है, यह मेरी बहिन है और यह बड़ी बहिन है और यह छोटी बहिन है... कुछ नहीं होता तेरा और कुछ नहीं होता तू उनका। कोई नहीं होता तेरा और तू नहीं होता किसी का। तेरा तू और उनका वह। आहाहा! परन्तु भ्रमणा ने मार डाला है न! ये इकट्ठे हों, फिर एक-दूसरे चले जायें। उसमें क्या है ?

और फिर अपने अपने कर्मों के अनुसार,.. देखो! ये इकट्ठे हुए, पाँच-पच्चीस (वर्ष) आयुष्य प्रमाण रहे और जैसे वापस भाव किये और कर्म बाँधे, (उन्हें भोगने को) उड़कर चले जाते हैं। उनकी गति कोई नरक में गया और कोई पशु में गया और कोई चींटी में गया और कोई चींटा में चला जाता है। कोई लेना या देना नहीं है। समझ में आया? यह तो स्व-पर पदार्थ भिन्न है। उन्हें एक मानना, वह मिथ्यात्व है, यह बताते हैं, भाई! स्व और परपदार्थ दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। उन्हें मेरा मानना और मुझसे सुख-दुःख उन्हें होता है और उनसे सुख-दुःख मुझे होता है, यह तेरी पाप की भ्रमणा है, मिथ्यात्व का पाप है - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : पर का नहीं कर सकता, ऐसा इसमें कहाँ आया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर नहीं सकता, ऐसा इसमें कहाँ नहीं आया ? इसका स्वभाव

इसका। वह तू कहाँ कर सकता है उसे ? स्त्री और पुत्र सेवा करे। धूल भी नहीं करते, अब सुन न ! वह तो राग इसमें करते हैं, देह की क्रिया देह के कारण होती है। इस देह को उसकी क्रिया छूती भी नहीं। सेवा कौन करता था तेरी ? परन्तु इसने पागलपन का सन्निपात किया है न ! सन्निपात के... भूल गया, भूल गया। सत्य क्या है और असत्य क्या सेवन करता हूँ ? (यह भूल गया)।

मुमुक्षु : यह पागलपन तो महापुरुष के अतिरिक्त कोई निकाल नहीं सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : महापुरुष हुए बिना, यह निकाल सकता ही नहीं। ठीक न ! शशीभाई ! आहाहा ! रंक हुआ, रंक – भिखारी। आहाहा ! दीवार के पास जाकर माँगे, यह दीवार गिरना नहीं, हों ! नहीं तो मैं मरूँगा। परन्तु अब तू वहाँ से हट जा न ! आहाहा !

कहते हैं कि अपने आयुकालपर्यन्त सब इकट्ठे रहते हैं। फिर अपने कर्म अनुसार... आहाहा ! एक थाली में जीमनेवाले, तू देख ! एक थाली में जीमनेवाले श्रेणिक राजा, उनका पुत्र अभयकुमार, उनकी रानियाँ... एक घर में जीमनेवाले। श्रेणिक मरकर नरक में गया, अभयकुमार स्वर्ग में गया, कितनी ही रानियाँ त्यागी होकर स्वर्ग में गयीं। कहाँ इकट्ठे और किसे लेना या देना ! आहाहा !

सीताजी, लक्ष्मण और राम, लो ! तीनों इकट्ठे रहनेवाले। तीनों वनवास में गये। ओहो ! राम और लक्ष्मण, राम और सीताजी की लक्ष्मण सेवा करते हैं। जंगल में, वन में चार-चार कोस (चले), उघाड़े पैर, सीताजी का शरीर कोमल, (सीताजी कहती है) थक गयी हूँ, अब मैं नहीं चल सकती। (लक्ष्मण कहते हैं) – बैठो माता ! यहाँ बैठो। मैं फूल लेकर आता हूँ, फूल ले आकर फूल को (बिछा दूँ) जंगल में से मण-दो मण फूल ले आते हैं (और) बिछाकर बैठते हैं। सीताजी और राम। स्वयं प्रतिदिन भोजन बनाते हैं, लक्ष्मण स्वयं ! वासुदेव – तीन लोक के धनी। कला भी सब आती है न ! राजकुमार थे न ! सब कला (आती थी)। सूखी लकड़ियाँ लाकर रोटी-दाल, सब्जी, चावल, पानी... ऐसा बनाते हैं। इस प्रकार फूल, वृक्ष की खबर होती है कि इस दाल में डालेंगे तो अधिक और ऐसा होगा। वे भाई लक्ष्मण ! मरकर गये नरक में, सीताजी गये स्वर्ग में, राम गये मोक्ष में। आहाहा ! सबके परिणाम सब हैं, उसमें किसी को लेना देना नहीं है।

रामचन्द्रजी मोक्ष पधारे, सीताजी अभी स्वर्ग में है, अभी बारहवें देवलोक में है, लक्ष्मण नरक में है। सीताजी को ऐसा लगा कि अरे! मेरा देवर ऐसा था, मेरी सेवा करता था न! अर र! नरक में (गया) ? वहाँ लेने गये। उठावे किसे? पिण्ड (बन गया)। जैसे पारे का हिरण पारा भिन्न पड़ जाये, वैसे ये लेने गये तो ऐसे टुकड़े हो गये। हे देव! तुम वहाँ वापस जाओ। हमारे पाप से हम नरक में आये हैं, यह तुम नहीं छुड़ा सकते हो। आहाहा! अभी नरक में है और सीताजी स्वर्ग में है। नहीं छुड़ा सकते हो। जाओ, तुम्हारी तो दया है परन्तु हमारे पाप के उदय में तुम क्या करोगे? लाखों, अरबों, अरबों वर्ष, असंख्य अरब वर्ष नरक में रहेंगे। आहाहा! वे वहाँ सब, दो सौ, हजार वर्ष तक ऐसा जरा... शरीर का वह और यह वासुदेव। एक बाण में मारा रावण को और एकदम एक चक्र चलाया, वहाँ रावण का... वह भी अभी नरक में पुकार-पुकार करता है।

मुमुक्षु : रावण जैसा पाप किया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्या कहा? यह किसकी बात चलती है? ले! लक्ष्मण की बात चलती है या नहीं? वासुदेव थे। निदान किया हो, मरकर नरक जाये, वह सब पूर्व में निदान किया हो। ये रामचन्द्रजी सगे भाई, जिनकी सेवायें की, वे स्वयं मोक्ष पधारे, सीताजी स्वर्ग में है। जिसके-जिसके जैसे भाव किये, वे स्वतंत्र (किये हैं)। किसी को लेना-देना नहीं होता। कहो, समझ में आया?

छोटा भाई था। छोटे को बहुत रोग हुआ, फिर बड़े भाई ने उसकी सेवा करके अण्डे खिलाये, अण्डा और विंडा खिलाये। मरकर गया (नरक में)। बड़ा (भाई) नारकी हुआ, वह छोटा परमाधामी हुआ। नरक में मारने आया। अरे.. भाई! मैंने तेरे लिये पाप किये हैं! किसने कहा था, तू मेरे लिये कर। समझ में आया? छोटे भाई के रोग के लिये उससे पूछे बिना चुपचाप अण्डे और अमुक (खिलाया)। डॉक्टर कहे - खिलाओ। नहीं तो वह है। मक्खन के साथ मिलाकर थोड़ा-थोड़ा अण्डे का रस देना। वह मरकर नरक में गया, बड़ा भाई, सेवा की वह (नरक में गया) और (छोटा) मरकर परमाधामी हुआ। मरते समय जरा परिणाम कुछ ठीक हुए कि अर..र! ऐसा रोग और यह! परमाधामी उस नारकी को मारने आता है। मार पछाड़... भाईसाहब परन्तु तेरे लिये (पाप किये थे)। (तब छोटा भाई कहता

है), अपन कहाँ एक हैं ? जेचन्दभाई ! ऐसा एक बार नहीं, हों ! ऐसा अनन्त बार (हुआ है) । यह भी अनादि का है । यहाँ कहाँ वहाँ इतने में आ गया है ? मोरबी में आया और इतने वर्ष से (रहता है), वह आत्मा इतना है ? नहीं । आहाहा !

भाई ! तू तेरे द्रव्य की नजर कर न ! भाई ! ऐसा कहते हैं कि तेरा द्रव्य पड़ा है, प्रभु ! वस्तु है न ! भाई ! वह आनन्द और ज्ञान के भण्डार से भरपूर है, उसकी तो नजर कर, उसका तो विश्वास कर कि मैं आत्मा ही हूँ, शान्त और आनन्द हूँ । इस परपदार्थ के साथ मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है । आहा..हा.. ! इसने कभी भी विपरीतता-विपरीतता छोड़ी नहीं और अविपरीतता की नहीं । बाहर में कुछ मान लिया, कुछ नीति और कुछ नैतिक कर्तव्य और लोगों की सेवा को, या तो कोई दया-दान की वृत्ति की क्रिया और और कुछ हुआ वहाँ... ओहोहो ! हमने तो बहुत किया अब । जाओ भटकने ।

मुमुक्षु : दूसरे नहीं करते, ऐसा किया न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं किया, क्या करते थे अब ? समझ में आया ? कहते हैं अपने अपने कर्मों के अनुसार, आयु के अंत में देवगत्यादि स्थानों में चले जाते हैं । कोई देव में जाये, अरे ! लड़का देव में जाये, बाप नरक में जाये । आहाहा ! अभयकुमार, ऐसे दोनों को कितना प्रेम ! अभयकुमार बहुत बुद्धिशाली था, बहुत बुद्धि । तुम्हारी बहियों में नहीं लिखते ? अभयकुमार की बुद्धि होओ ! बहुत बुद्धिवाला (था) । पिताजी की ऐसी चेष्टा जान ले । शोक में हो तो चेष्टा (देखकर पूछे) क्यों पिताजी, क्या है ? कहने जैसी बात हो तो कहो, बापूजी ! मैं उसका स्पष्टीकरण कर दूँगा । भाई ! तुझसे मुझे अलग क्या होगा ? बात करे । वह मरकर नरक में गया । हाय ! हाय ! चौरासी हजार वर्ष की स्थिति में नरक में है, अभी श्रेणिक राजा पहले नरक में है । सात नरक हैं न वहाँ । कम से कम दस हजार वर्ष की स्थिति (होती है), यह चौरासी हजार में है । अभयकुमार स्वर्ग में गया । किसका करना इसमें ? कहते हैं । एक व्यक्ति कहता है कि यह महाराज का सुने तो व्यापार के व्यापार...

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु धन्धा कौन कर सकता है ? तू करता है तो धन्धा तो उसके

कारण से-जड़ के कारण से चलता है, क्या तुझसे चलता होगा ? ऐई ! गुलाबभाई ! बहियां-वहियां गुलाबभाई करते होंगे ? बिलकुल नहीं । यह बही जड़ है । जड़ की पर्याय से रचित है । इसे आत्मा करे ?

मुमुक्षु : बुद्धि काम करे...

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में, बुद्धि यहाँ रही और बही वहाँ रही । बुद्धि घुस गयी वहाँ ?

मुमुक्षु : कैसे लिखे...

पूज्य गुरुदेवश्री : लेख उसके कारण से-जड़ के कारण से होते हैं ।

मुमुक्षु : इतनी सरस बातें...

पूज्य गुरुदेवश्री : सरस की व्याख्या क्या ? जड़ के परमाणु की उस अवस्था के काल में वह अवस्था होती है । मूढ़ मानता है कि मेरे कारण होती है । यह महाभ्रमणा असत्य की सेवन करता है - ऐसा कहते हैं ।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह तो वह का वह भाव है । वहाँ अन्दर परमाणु की अवस्था होनी हो, वैसी होती है । वह जड़ की अवस्था है, क्या आत्मा की है ? हाथ ऐसे-ऐसे हो जाये, ऐसे सर्दी का मौसम हो न ठीक से...

मुमुक्षु : अक्षर बारीक...

पूज्य गुरुदेवश्री : लिखे अब । एक कलम भी ऐसे चले, वह आत्मा का अधिकार नहीं है । अंगुली ऐसे चले, वह आत्मा का अधिकार नहीं है । वह जड़ की अवस्था है । यह आत्मा तो ज्ञान करे या अभिमान करे कि मैंने किया । दूसरा कुछ है नहीं ।

मुमुक्षु : हमारे शास्त्र हमारे पास लिखाये ऐसा कहते हैं ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें, यह सब बातें । बहुत सब हमने देखे हैं । उनकी सब पोल उघाड़ें तो सब समझने जैसे होते हैं । कहो, समझ में आया ? आहाहा !

अरे ! स्व और पर । बापू ! तू और पर कौन है, इसकी तुझे खबर बिना (अटक रहा है) । पर की चीजें उनके कारण आकर खड़ी रही, उनके कारण अवधि पूरी होने पर चली

जायेगी। आहाहा! स्त्री मरकर स्वर्ग में जाये, पति मरकर नरक में जाये। इसमें किसका करना? समझ में आया? पति के परिणाम बुरे हों (तो) नरक में जाये, स्त्री के परिणाम ठीक हों तो स्वर्ग में जाये। उसमें सम्बन्ध क्या लेना और देना? कहो, यह बात ठीक होगी? आहाहा! बापू! तेरी पर से भिन्नता तुझे भासित नहीं होती और तुझसे वे भिन्न, ऐसा तुझे भासित नहीं होता। है, वैसा भासित नहीं होता? भिन्न हैं, वे तुझे भिन्न भासित नहीं होते तो अब तुझे सुख का कारण हो किस प्रकार? आहाहा! समझ में आया?

उस फकीर ने नहीं कहा था? 'नूरजहाँ'! उसका तेज था न रानी का? जहाँगीर अन्दर बैठा था। एक फकीर ने सुना होगा कि इसकी रानी बहुत सुन्दर है। बंगले के द्वार-द्वार बन्द होंगे। उसे कुछ लब्धि होगी कोई तो अन्दर गया। राजा और रानी बैठे थे। बहुत सुन्दर थी। नूरजहाँ जगत का तेज सब वहाँ (था)। उसके एक-एक अवयव में कोमलता.. कोमलता.. कोमलता.. कोमलता.. कोमलता.. कोमलता.. उसका नाम रूप। दूसरा क्या रूप था? यह अवयव और यह सब यह एक-एक पोर और एक-एक यह और एक-एक वह तो उसका दिखाव। बहुत सुना था, गया, बैठा, ऐसा देखा। ऐसे बैठे थे। ऐसा कहा - क्यों साँई ऐसा क्यों किया? (फकीर कहता है) मैंने सुना था कि तेरी रानी बहुत रूपवान है परन्तु मुझे नहीं लगी। साहेब! हमारी दृष्टि से रूपवान, तुम्हारी दृष्टि से नहीं। मेरी-जहाँगीर की दृष्टि से इसे देखो। तेरी दृष्टि कहाँ से लाना? प्रेम की दृष्टि से देखो तो इसमें रूप दिखेगा। तुम्हें प्रेम नहीं और तुम इस दृष्टि से देखो तो रूप नहीं दिखेगा। इसी प्रकार विपरीत दृष्टि से देखे और यह मेरा मानता है। सुलटी दृष्टि से देख तो वे तेरे हैं नहीं। आहाहा!

कहते हैं चले जाते हैं। हे भद्र! जब यह बात है, तब हितरूप से समझे हुए,.. हितरूप समझे न? यह सब हमारे हितरूप के ही हैं। स्त्री, पुत्र... आहाहा! क्या हमारा हित, बापू! दूसरे की स्त्री होगी परन्तु मेरी अलग, यह तुम्हें पता नहीं पड़ेगा। व्यर्थ का मूढ़ है, पागल है। धूल में भी नहीं, सुन न! मूर्ख का बड़ा पिण्ड एकत्रित किया है। कहते हैं जब यह बात है, तब हितरूप से समझे हुए, सर्वथा अन्य स्वभाववाले स्त्री आदिकों में तेरी आत्मा व आत्मीय बुद्धि कैसी? अरे! यदि ये शरीरादिक पदार्थ तुम्हारे स्वरूप होते तो तुम्हारे तदवस्थ रहते हुए, अवस्थान्तरों को कैसे प्राप्त हो जाते? तो यदि

तेरा हो तो तेरी अस्ति में उनकी अवस्थान्तर होकर चले जाते हैं, ऐसा कैसे बने? समझ में आया? तेरे हों तो तेरे रहने पर भी, तू बैठा होने पर भी वे अवस्थान्तर करके चले जाते हैं। तेरे हों, वे ऐसे कैसे फेरफार हों? भान नहीं होता तुझे। तुम्हारे तदवस्थ... तेरी अस्ति रहते हुए - ऐसा कहते हैं। अवस्थान्तरों को कैसे प्राप्त हो जाते? लो! बैठा हो और रोग में सड़े, यह बैठा हो और वह रोग में सड़े। क्या करे परन्तु अब? आहाहा!

यदि ये तुम्हारे स्वरूप नहीं अपितु तुम्हारे होते तो प्रयोग के बिना.. तेरे व्यापार बिना वे ये जहाँ चाहे कैसे चले जाते? तेरी इच्छा के बिना जहाँ इनकी इच्छा और जहाँ कर्म है, उस अनुसार चले जाते हैं। तेरे प्रयोग से जाते हैं? तेरी इच्छा से जाते हैं वहाँ? (नहीं), तो किसका मान बैठा है तू? अतः मोहनीय पिशाच के आवेश को दूर हटा, ठीक-ठीक देखने की चेष्टा कर। देखो! भाई! मोहनीय के पिशाच / भूत को छोड़ और तू तथा पर दोनों भिन्न-भिन्न हैं, उन्हें ठीक-ठीक देखने की दृष्टि कर तो तुझे विवेक होगा और तो तुझे भान होगा तो तुझे दुःख मिटेगा और सुख होगा।

विशेष कहेंगे...

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ८

गाथा-९-१०

बुधवार, दिनाङ्क २३-०३-१९६६

चैत्र शुक्ला १,

वीर संवत् २४९२

पृष्ठ १२, इष्टोपदेश। पूज्यपादस्वामी, दिगम्बर मुनि हुए हैं। उन्होंने जगत के हित के लिये यह (शास्त्र) बनाया है। नौंवे श्लोक पर से थोड़ा लो। देखो! नौवाँ श्लोक है न?

दोहा - दिशा देश से आयकर, पक्षी वृक्ष बसन्त।

प्रात होत निज कार्यवश, इच्छित देश उडन्त॥१॥

थोड़ा इसके ऊपर है। अरे! यदि ये शरीरादिक पदार्थ तुम्हारे स्वरूप होते.. देखो! क्या कहते हैं? यह शरीर तो जड़ है। मिट्टी, धूल, पुद्गल है और स्त्री, कुटुम्ब, परिवार का आत्मा भिन्न है। लक्ष्मी आदि अपने से भिन्न है। कपड़ा, लक्ष्मी, कीर्ति (भिन्न है)। कीर्ति भी जड़ है। जो आवाज निकलती है वह। शरीरादिक.. आदि शब्द में यह सब

है। पदार्थ तुम्हारे स्वरूप होते.. यदि आत्मा का स्वरूप शरीररूप हो, लक्ष्मीरूप हो, पैसा, आबरू-कीर्ति, स्त्री, कुटुम्बरूप हो तो तुम्हारे तदवस्थ रहते हुए,.. तू तो यहाँ रहता है और अवस्थान्तरों को कैसे प्राप्त हो जाते? रूपान्तर कैसे हो जाते? कहो, समझ में आया? तेरी चीज़ नहीं है। तू तो ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप है। उसे भूलकर जो शरीरादिक परपदार्थ हैं, वे तेरे रहते हुए भी रूपान्तर हो जाते हैं। शरीर में रोग होता है। आत्मा है और शरीर नाश हो जाता है, वृद्धावस्था आ जाती है, जीर्ण हो जाता है, आँख में फूला पड़ता है, कान बहरा हो जाता है, आँख फूट जाती है। यह शरीर तो जड़ है, मिट्टी है। शरीर के रजकण की कोई भी अवस्था तेरी है ही नहीं। समझ में आया? तेरी हो तो तेरी स्थिति रहते वह कैसे बदल जाती है? ऐसा कहते हैं। कहो, ठीक होगा?

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह नहीं। तुम कहो, ऐसा नहीं। तुम तो शरीर में रोग के कारण दुःख मानते हो, यही मूढ़ता है, यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो आत्मा से शरीर परपदार्थ है तो उसकी अवस्था आत्मा के आधीन नहीं है। आत्मा है और शरीर की अवस्था बदल जाती है, आत्मा हो और लक्ष्मी चली जाती है, आत्मा हो और स्त्री, कुटुम्ब, परिवार चले जाते हैं। वह तेरी चीज़ नहीं है, वह परचीज़ स्वतन्त्र है। कहो, समझ में आया? ऐई!

अवस्थान्तर.. तेरी इच्छा हो कि निरोग रहूँ, वह रह सकता है? इच्छा है कि मैं मर जाऊँ, तो मर सकता है? वह तो देह की स्थिति पूरी होनी होगी, तब देह छूट जायेगी और मैं लम्बे काल जिऊँ, तेरी इच्छा से जीवन है? शरीर की स्थिति जितने काल रहनी है, उतने काल रहेगी, तेरी इच्छा से बिल्कुल नहीं रहेगी। ऐसे भिन्न पदार्थ में अपना कार्य मानता है तो मूढ़ चार गति में भटकने के कर्म बाँधता है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

शरीरादिक पदार्थ तुम्हारे स्वरूप होते.. भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप शुद्ध चैतन्यमूर्ति है। उसमें जो पुण्य-पाप के भाव विकार होते हैं; दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, वह तो विकार है; वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है। समझ में आया? भगवान आत्मा चिद्घन आनन्दकन्द है और दया, दान, व्रत, काम-क्रोध के परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे तो विकार हैं, आस्रव हैं। समझ में आया? दया, दान, व्रत-भक्ति

के परिणाम उत्पन्न होते हैं, वे पुण्यरूपी आस्रव हैं। वे आत्मा नहीं, आत्मा का स्वरूप नहीं। आहा..हा..!

यहाँ पूज्यपादस्वामी यह कहते हैं कि तेरी चीज़ भिन्न है और पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे तो आस्रवतत्त्व है। तू तो ज्ञायकतत्त्व चैतन्यमूर्ति है; अतः पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति और काम, क्रोधादि भाव, दोनों भाव होकर आस्रवतत्त्व है, बन्ध का कारण है। समझ में आया? समझ में नहीं आता। अनन्त काल से यह बात ली नहीं। ऐसे का ऐसा (चला है)। प्रभु! तू तो ज्ञानानन्दस्वरूप ज्ञान चैतन्य का सूर्य आत्मा है और अनाकुल आनन्द की मूर्ति आत्मा है। भगवान ने तो 'सर्व्वणहुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो' भगवान तो कहते हैं कि तेरा जानपना, जानना-देखना तेरा उपयोग लक्षण है, वह तेरा आत्मा है और पुण्य-पाप के भाव (हों), वह आत्मा नहीं। वे तो आत्मा के स्वरूप से भिन्न विकार हैं। ये शरीर आदि पर तो कहीं रह गये। आहा..हा..! शरीर से मैं क्रिया करूँ, शरीर से मैं दूसरे का उपकार करूँ, शरीर से दूसरे को मारूँ, अपकार करूँ... मूढ़ है। शरीर तो पर है, उसकी क्रिया क्या तेरे आधीन होती है? समझ में आया? शरीर ऐसा लट्ट (मजबूत) होवे तो भी उसके कारण से है।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ माना था? मूढ़रूप से सत्ताप्रिय प्रकृति पोषण की थी। किया कहाँ था? धूल में। अभिमान किया था कि मैं शरीर रखता हूँ, अच्छा है। वह मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि, पापी है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। (किसी श्रोता को आते हुए देखकर कहा) नजदीक आओ, यहाँ जगह है। पीछे लड़के हैं, उन्हें धूप में बैठना पड़ता है। यह बात तो इनकार करते हैं। अभी तक रहा, वह शरीर तो शरीर के कारण रहा है। यह बात तो करते हैं। लाख बात परन्तु अन्दर समझ में नहीं आती। हटती नहीं। अभी तक किया। क्या किया? धूल किया था अभी तक? क्या किया था? समझ में आया?

शरीर का एक-एक रजकण, प्रत्येक रजकण अपनी पर्याय से परिणमन करता है, आत्मा से बिल्कुल नहीं। आहा..हा..! क्या जड़ के स्वरूप में चैतन्यस्वरूप प्रविष्ट हो जाता है कि जिससे उसे बनावे? और जड़ की पर्याय क्या आत्मा में प्रविष्ट हो जाती है कि आत्मा

को बना दे ? आत्मा को लाभ कर दे या नुकसान कर दे ? भान नहीं, भान । मूढ़ अनादि काल का (भटक रहा है) ।

मुमुक्षु : अभी तक तो इच्छा प्रमाण कैसे चला है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहाँ चला है ? अभी समझते नहीं । अभी भी इस मिथ्यात्व का ऐसा लकड़ा घुस गया है, ऐसा लकड़ा (बहुत विपरीतता)... बहुत पक्का कर डाला है, बहुत पक्का । यह तो निकलना बहुत कठिन, भाई ! इतने-इतने उपदेश आये, परन्तु इससे एक अक्षर कुछ जरा भी बात को समझते नहीं ।

मुमुक्षु : बुखार आता था, तब कहाँ इच्छा थी तो भी आता था ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कहते हैं कि अभी तक कैसे चला ? परन्तु चला उसके कारण । यह बात तो चलती है । इसके कारण रहा था । तुम्हारे कारण कब चला था ? हजार, लाख बार बात तो चलती है, हजार बार, परन्तु मिथ्याबुद्धि ऐसी सेवन की है न, ऐसी सेवन की है न... हमने यह रखा, अभी तक चला है । यह तो यहाँ इनकार करते हैं । पहले भी शरीर निरोग रहा, वह जड़ के कारण से; अपने आत्मा के कारण से नहीं और यह रोग रहे, वह आत्मा के कारण से नहीं । यह तो बात चलती है । ऐसा घूँट गया है । ऐसा घूँट गया है न... ओहो..हो.. ! इतने वर्ष से सुनते हैं, परन्तु अन्दर एक मचक खाता नहीं ।

मुमुक्षु : ऐसा उपदेश है, तथापि उपदेश का असर क्यों नहीं होता ?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रत्यक्ष दिखता है या नहीं ? क्या आशय है, यह बात जरा भी पकड़ते नहीं । एक ही बात का गत काल में अभिमान किया है न ! अभी तक किया था न, अभी तक किया था न... परन्तु क्या किया था ? ऐई ! मोहनभाई ! क्या किया था ? इन मोहनभाई ने इसे अभिमान करने का सौँपा था । कर तू, भटक चार गति में, मुझे क्या है ? परन्तु यह करे क्या ? उसने किया था अभिमान । शरीर की क्रिया करता था ? इसके भाई हैं, दो भाई हैं । समझ में आया ? राम और लक्ष्मण । राम गये मोक्ष में, लक्ष्मण गये नरक में । उन्हें याद किया था, उन्हें याद किया था, हों !

यहाँ तो कहते हैं, भाई ! तू आत्मा है । आत्मा में जिसकी मौजूदगी है, अस्ति है, उसमें तो ज्ञान-आनन्द की मौजूदगी है । उसमें यह पुण्य-पाप के राग होते हैं, वे उसकी

मौजूदगी, स्वरूप में नहीं है। वे तो विकृतभाव हैं। वह विकृतभाव अज्ञानी अज्ञान से उत्पन्न करता है। अपने स्वरूप में विकार नहीं है। समझ में आया ? आहा..हा.. ! अपना ज्ञानानन्द चैतन्य ज्योति सूर्य ज्ञानमूर्ति प्रभु में तो पुण्य-पाप का राग, विकल्प, विकार उसमें है ही नहीं। परन्तु अज्ञानी अनादि काल से अपनी अस्ति, मौजूदगी के भान बिना, अपनी विकार पर्याय पर लक्ष्य है तो नये-नये राग-द्वेष, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, मिथ्यादृष्टि में विकल्प उठाकर मैंने काम किये, ऐसा अज्ञानी मानता है। आहा..हा.. ! भारी कठिन बात।

यहाँ तो इससे और दूसरी बात करते हैं। तेरी अस्ति है और शरीर में रोग आता है, शरीर में निरोगता रहती है, जीर्णता होती है, क्षयरोग होता है तो तेरी अस्ति होते हुए कैसे होता है ? वह परपदार्थ है। वह पर है तो उसकी अवस्था का होना उसके आधीन है, तेरे आधीन नहीं। अभी तक हम कर सकते थे। क्या धूल कर सकता था ? अभी तक अभिमान किया था। मिथ्यादृष्टिपने का अभिमान (किया कि) मैंने शरीर को ऐसा रखा, मैंने स्वाधीनरूप से ऐसे काम किये। ऐसे मिथ्याभाव, भ्रमणाभाव, पाखण्डभाव किये थे। दूसरा इसने कुछ नहीं किया। ऐई.. धर्मचन्दजी !

मुमुक्षु : ये तो अमेरिका जा आये।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी अमेरिका गया नहीं। कौन कहता है ? तुमको अभी अभिमान है ? कहने में भी तुमको अभिमान है। कहने में ऐसा कहे, मैं अमेरिका गया था, वह भी अन्दर महा अभिमान है। कौन अमेरिका जाये ? धूल जाये। वह तो शरीर गया। आत्मा अपने क्षेत्रान्तर से जाता था। शरीर उसके क्षेत्रान्तर से जाता था। आत्मा शरीर को ले जाता है और शरीर आत्मा को ले जाता है, (ऐसा) तीन काल में नहीं होता। समझ में आया ? भाई ! बहुत सूक्ष्म बात है। ऐसा इसे अभिमान (है कि) मैं अमेरिका गया था। ये दूसरे नहीं गये, मैं अमेरिका गया था। धूल में भी गया नहीं आत्मा। मिथ्यात्व में गया था, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : यह सत्य बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सत्य बात होगी अभी। आहा..हा.. !

मुमुक्षु : उफान बाहर निकलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभिमान सेवन किया है, मैं अमेरिका जाऊँ। अमेरिका कौन धूल जाता था ? आत्मा जो है, वह अपनी योग्यता से एक देश से दूसरे देश (में) क्षेत्रान्तर होता है और शरीर भी उसकी योग्यता से क्षेत्रान्तर होता है। आत्मा शरीर को क्षेत्रान्तर करे, अन्यत्र ले जाये, (यह मान्यता) मूढ़ है। यह तो बात करते हैं। तेरा पदार्थ परपदार्थ की अवस्था करता है, यह मान्यता मूढ़ मिथ्यादृष्टि की है। समझ में आया ? छगनभाई ! आहाहा ! ये भी सब बाहर जा आये हैं। बहुत भटकने गये थे न ? कहाँ ? रंगून और ब्रह्मदेश।

अरे ! भगवान ! कहते हैं कि, भाई ! सुन तो सही, प्रभु ! शान्त तो हो। तेरा स्वरूप तो प्रभु चैतन्य है न ! वह चैतन्य सत् है, वह कभी नाश होता है ? कभी नया उत्पन्न होता है ? वह तो है ही। ऐसी चीज़ की तुम्हें खबर नहीं और तुम्हारे पास में जो निकट में पदार्थ है, उसका रूपान्तर होता है तो मानता है कि मैं हूँ तो रूपान्तर हुआ। तू है और रूपान्तर हुआ तो तू है और चला कैसे जाता है ? समझ में आया ? शरीर-मिट्टी-धूल है, अजीवतत्त्व है। उसका रहना, टिकना, बोलना, हिलना, चलना, खाना, पीना, वह सब जड़ की क्रिया है। आत्मा बिल्कुल किंचित् इसमें नहीं कर सकता। आहा..हा.. ! समझ में आया ? अनादिकाल का परपदार्थ का अभिमान (किया), पर का अभिमान... अभिमान... अभिमान.. (किया)। समझ में आया ? हम तो लोहे के व्यापार किये। लाखों रुपये कमाये, ऐसा किया। लो ! इसने किया था, देखो ! दस लाख, बारह लाख कमाये। सरकार को सौंप दिया। दो-ढाई लाख रहे। सरकार सब ले गयी। ढाई, दस लाख में से। कौन ले ? कौन दे ? खबर नहीं। यह तो रजकण जगत के पदार्थ अस्तिरूप से सत् रूप से जड़ हैं। उन जड़ का जड़रूप से रहकर रूपान्तर होना, वह जड़ का स्वभाव है। वह तेरे कारण रूपान्तर होता है, लक्ष्मी कहीं जाती है और लक्ष्मी यहाँ आती है, वह तेरे कारण (आती-जाती है, यह) बिल्कुल मिथ्या बात है। यह कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा.. ! मैं हूँ तो पर की दया पलती है, यह मूढ़ मानता है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। तू है और शरीर की, पर की अवस्था होना, वह तो उसके आधीन है। उसका आयुष्य हो तो शरीर रहता है, आयुष्य न हो तो शरीर छूट जाता है। क्या तेरे कारण उसका आयुष्य रहता है ? तू पर का स्वामी है कि मैंने पर की दया पाली, मैंने पर को मारा ? (ऐसा मानता है)। तूने भाव किये, भाव तूने किये, परन्तु भाव से पर

में कुछ कार्य हुआ, यह बिल्कुल शत-प्रतिशत मिथ्या बात, पाखण्ड है। समझ में आया ? ऐई! बसन्तलालजी! भाई! तत्त्व तो ऐसा है। आहा..हा..! देखो न!

तुम्हारे तदवस्थ रहते हुए,.. तू आत्मा तो अन्दर है और वह अवस्थान्तर को कैसे प्राप्त हो गया ? तेरा हो और तुझसे रहता हो तो शरीर कैसे ऐसा हो गया ? और तेरी हो तो स्त्री क्यों चली जाती है ? तेरी हो तो, पत्नी हो, और पति क्यों चला जाता है ? क्या पत्नी तेरी है ? क्या पति तेरा है ? वह तो परचीज़ है। मूढ़ पत्नी ऐसा मानती है कि मेरा पति है। मूढ़ है। परद्रव्य तेरा पति कहाँ से आया ? समझ में आया ? गुलाबभाई! यह तो दूसरी बात है, बापू! यह तो बहुत सूक्ष्म बात है। आहाहा!

कहते हैं कि भाई! तेरी चीज़ दूसरी, यह दूसरी चीज़। दूसरी चीज़ें रहना या न रहना, वह तेरे आधीन नहीं हैं। तू मानता है कि मेरे आधीन वह रही है। मूढ़ है। तेरे आधीन रहती हो तो तू रहते हुए वह चीज़ क्यों चली जाती है ? स्त्री चली जाये, पुत्र चला जाये, लक्ष्मी चली जाये, इज्जत चली जाये, सब चला जाता है।

मुमुक्षु : न जाये उसे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : न जाये, उसे उसके कारण रही है, वह यहाँ कहते हैं। चीज़ रहे तो उसके कारण रहती है। क्या तेरे कारण रहती है ? शरीर ऐसा रहना, लक्ष्मी रहना, बंगला रहना, मकान रहना, वह तो उसके कारण से-जड़ के कारण से है। क्या आत्मा के कारण से वह चीज़ रहती है ? वह तो परचीज़ है। समझ में आया ? नेमीदासभाई का दृष्टान्त नहीं था ? गुलाबभाई का पता नहीं ? बहिन (संवत्) १९८७ में अकेली थीं। कंचन को नहीं था और वह कंचन भी नहीं था। उसे खबर है। यह फिर तुमने बाद में कहा, मैं कहनेवाला था। १९८७ में अकेले, अकेले थे। पैसे भी नहीं। होंगे पाँच-सात हजार। पाँच हजार और व्यक्ति बहुत बड़ा इज्जतदार और बिल्डर के साथ और सबके साथ बड़ा काम करनेवाला। तुम्हारे काका मनमोहनदास के साथ। हमें खबर है। (संवत्) १९७६ के वर्ष। कोई नहीं होता, अकेला और अकेला। उसके कारण आता हो तो उस समय क्यों नहीं था ? अब आये तो कंचनबाई आयी और सोना पाँच-सात-दस लाख आया। तीन तो बंगले दो-दो लाख के। पति-पत्नी दो व्यक्ति हैं।

मुमुक्षु : होशियारी तो तब भी थी ।

पूज्य गुरुदेवश्री : होशियार थी । होशियार से आता है और जाता है ? धूल में है । वह तो पूर्व के पुण्य के कारण आता है, वह भी निमित्त है । वह चीज़ आती है, जाती है, वह स्वयं के कारण से आती है, जाती है । पूर्व के पुण्य के कारण आती है, जाती है—ऐसा कहना भी निमित्त का व्यवहार है । आहा..हा.. ! एक-एक रजकण स्वतन्त्र है । वह अपनी पर्याय करने में स्वतन्त्र है । क्या तेरे कारण उसमें कुछ होता है ? समझ में आया ?

यदि ये तुम्हारे स्वरूप नहीं अपितु तुम्हारे होते तो प्रयोग के बिना ही ये जहाँ चाहे कैसे चले जाते ? तेरा तो उन्हें नाश करने का भाव नहीं, तेरा तो रखने का भाव है तो क्यों चले जाते हैं ? तेरे प्रयोग बिना, भाई ! तुझे उसमें कुछ करना नहीं । शरीर चला जाता है । देखो, वह तो जड़-मिट्टी है । प्रयोग तो नहीं, शरीर का नाश करने का प्रयोग है ? सफेद बाल हो गये । यह ठीक कहते हैं, लो ! तुझे सफेद बाल करने थे ? वह तो जड़ है, मिट्टी है ।

मुमुक्षु : शीर्षासन करने पर भी बाल सफेद हो गये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो जड़ की दशा है । क्या आत्मा शीर्षासन कर सकता है ? यह यहाँ कहते हैं । शीर्षासन में ऐसे शरीर उल्टा हुआ, वह भी आत्मा की इच्छा बिना स्वतन्त्र हुआ है । वह जड़ की अवस्था है और नहीं होना, वह भी जड़ की अवस्था है । आत्मा से पर में कुछ नहीं होता । मुझसे पर में होता है, यह मान्यता जड़ और चैतन्य को एक मानने की भ्रमणा है । आहा..हा.. ! समझ में आया ?

देखो ! तुम्हारे होते तो प्रयोग के बिना.. शरीर का नाश करने का भाव है ? कहते हैं । स्त्री का नाश करने का भाव है ? अन्दर में प्रयोग है न ? प्रयोग अर्थात् तुझे कुछ करने का भाव नहीं, ऐसा । तेरे प्रयोग बिना, तेरी इच्छा नहीं कि शरीर चला जाये, शरीर में रोग आवे, स्त्री चली जाये, परिवार चला जाये, मकान चला जाये, इज्जत चली जाये, तेरी इच्छा है ? सुन तो सही । प्रयोग बिना वे जहाँ चाहे कैसे चले जाते ? जैसे उनकी परिणति, पर्याय होनेवाली है, वैसे होती है । तेरी इच्छा से उसमें होता है ? तू उनका रक्षक है ? और तू उनका भक्षक-नाशक है ? बिल्कुल मिथ्या बात है । तेरा तत्त्व और परतत्त्व की भिन्नता का तुझे भान नहीं है । समझ में आया ?

साधु, त्यागी होकर भी ऐसा माने कि शरीर अच्छा हो तो धर्म अच्छा होगा। (वह) मूढ़ है। समझ में आया ? आहार अच्छा हो तो हमारे परिणाम अच्छे होंगे, मूढ़ है। ऐसा कहाँ से लाया ? आहार तो जड़ है। खाने से हुआ, ऐसा है ही नहीं, वह तो निमित्त का कथन है। आहार तो जड़ है। क्या जड़, आत्मा के परिणाम बिगाड़ता है ? तू बिगाड़ता है, तब जड़ को निमित्त कहने में आता है। क्या आहार, परिणाम बिगाड़ता है ? समझ में आया ? सूक्ष्म बात है, भाई ! आहा..हा.. !

जहाँ चाहे कैसे चले जाते ? तेरी इच्छा बिना आहार किस प्रकार नहीं आता ? क्यों आहार ले ? ले और उल्टी हो जाये। इच्छा तो हुई कि मैं लूँ और लिया। लिया क्या, वह तो उसके कारण आया है।

मुमुक्षु : तो फिर आहार लेना या नहीं लेना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आहार कौन ले सकता है ? पुद्गल को ले सके और छोड़ सके, यह मान्यता मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव की है। धर्मी जीव की ऐसी मान्यता नहीं होती। आहा..हा.. ! छगनभाई ! क्या करना इसमें ? आहा..हा.. ! लोगों में भी नहीं कहते ? 'दाने-दाने में खानेवाले का नाम है' आता है या नहीं ? दाने-दाने में खानेवाले का नाम का अर्थ क्या है ? उसका अर्थ क्या ? जो अनाज के-रजकण के पुद्गल परमाणु पिण्ड यहाँ आनेवाले हैं, वे आयेंगे; नहीं आनेवाले, नहीं आयेंगे। तेरी इच्छा से बिल्कुल काम नहीं होता। ओहो..हो.. ! परन्तु गजब अभिमान ! मैंने ऐसा किया, पहले कैसा स्वाधीन था ? पहले ऐसा खा सकता था, पहले ऐसा शरीर चला सकता था। कौन चलाता था ? आत्मा ? आत्मा चला सकता था ?

मुमुक्षु : देखने में तो ऐसा आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन देखने में आता था ? वह तो मूढ़ मानता था। ऐसा देखने में नहीं आता। समझ में आया ?

मुमुक्षु : जगत से निराली बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वीतराग की बात जगत से निराली है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर परमात्मा, जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक प्रत्यक्ष देखे। सब पदार्थ भिन्न-भिन्न देखे। कोई पदार्थ दूसरे भिन्न पदार्थ को रख सके, नाश कर सके, दूर हटा सके,

ऐसे लकड़ी है, उसे दूर हटा सके—ऐसी आत्मा में आत्मा नहीं है। समझ में आया ? आहा.. ! ऐसे ऊँचा ले सके, ऐसी आत्मा में ताकत नहीं है। तुझसे ऊँचा होता हो तो जब इच्छा होवे, न हो तो ऊँ... ऊँ... हो जाता है। होता है या नहीं ? सर्दी के दिनों में शीत होती है या नहीं ? (हाथ) ऐसा हो जाता है। ऐसे लेने जाये तो (ले नहीं सकता)। गर्म करो, गर्म करो, (ऐसा कहता है)। भाई ! वह जड़ की पर्याय है। तेरा काम नहीं। तेरे प्रयोग बिना वह चीज़ ऐसी होती है, उसकी तुझे खबर नहीं पड़ती ? तेरी इच्छा नहीं कि तेरा ज्ञान काम नहीं करता कि मुझे ऐसा होता है, तथापि ऐसा होता है, इसका अर्थ क्या ? समझ में आया ? शरीर में ऐसा होता है, वह शरीर की पर्याय के कारण होता है। तेरे कारण पर में बिल्कुल नहीं होता। भाषा-वाषा कौन करे ? गुलाबभाई ! ऐसा कहते हैं। सुधरा हुआ व्यक्ति हो, बहुत होशियार भाषण करे। वह कहे, महावीर और वे दोनों एक हैं। उसके प्रमुख ऊपर (बैठे हों)। कल तो सुनकर मुझे बहुत हो गया। अरे ! यह जैन ही नहीं। कहा, इसे तो जैन की खबर नहीं। ऐई ! झीणबेन कहा गये ? बेन को बात करनी चाहिए न !

वह कहे महावीर ऐसा कहते हैं कि मोहम्मद वे पक्के जैन हैं। मोहम्मद ऐसा कहे कि महावीर पक्के मुसलमान हैं। अर र ! यह वाणी सुन न ? यह वाणी ? जैन के कुल में आर्य मनुष्य भी ऐसा विचारे कि एक मुसलमान और कहाँ महावीर, कहाँ ख्रिस्ती ईशु और कहाँ महावीर ? कहाँ महावीर केवलज्ञानी एक समय में तीन काल तीन लोक के जाननेवाले और कहाँ वह माँस खानेवाला। अन्त में कहे, ईशु कि गाय का माँस लाओ। कहो, वह उसे जैन कहे और यह उसे क्रिश्चियन कहे। भाई ने बात की, भाई ने बात की, तब मुझे खबर पड़ी की ओय यह तो पोलमपोल लगती है। यह तो पोला बजता लगता है। आहा..हा.. ! इतना भी जीवन में अन्तर व्यवहार से पाड़ने की ताकत नहीं, उसे धर्म कब होगा ? और कल्याण कब होगा ? कहाँ सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा एक समय में तीन काल-तीन लोक ज्ञान में आ गये हैं। कहाँ केवली और कहाँ ईशु ? मरते हुए कहे, गाय का माँस लाओ। आहा..हा.. ! कहाँ मोहम्मद और कहाँ महावीर ? समझ में आया ? कहाँ माँस खानेवाले प्राणी नरक में जानेवाले और (कहाँ) भगवान एक समय में मोक्ष अनुभव करनेवाले ? आहा..हा.. ! कुछ बात सुनते हुए... समझ में आता है ?

उसे आत्मा का विवेक कब हो, वह कहते हैं। तुझे आत्मा और दूसरे आत्मा और

दूसरे परमाणु भिन्न-भिन्न तेरे प्रयोग बिना, उनमें आना-जाना हो जाता है। तेरे कारण नहीं। समझ में आया? प्रयोग के बिना ही ये जहाँ चाहे कैसे चले जाते? उस पक्षी का दृष्टान्त दिया न? पक्षी का दृष्टान्त नहीं दिया? शाम को पक्षी आये, किस देश में से और किस दिशा से? किस देश में से और किस दिशा में से पक्षी आये? और सबेरे किस दिशा में और किस देश में चले जाते हैं? ऐसे एक पदार्थ कहाँ से आया और कहाँ चला जाये? समझ में आया?

मोक्षमार्गप्रकाशक में दृष्टान्त दिया है। एक पागल था, पागल। वह पागल गाँव के बाहर निकल गया। गाँव में था, बाहर गया। बड़ी नदी थी। नदी समझते हो? पानी भरा है। वह पागल था। मोक्षमार्गप्रकाशक में टोडरमलजी (कहते हैं)। बाहर पत्थर पर बैठा था। वहाँ नौ बजे, साढ़े नौ बजे एक राजा आया, राजा। पहले तो हाथी पर चलते थे न? अभी रेल हो गयी। राजा आया दस बजे, कहीं देशान्तर जाना होगा। पच्चीस-पचास कोस, तो वहाँ पड़ाव डाला कि यहाँ भोजन करेंगे, पानी है, नदी है। पागल कहे कि ओहो! लोग आये, रानी आयी, यह मेरी रानी आयी। घोड़े आये तो कहे, मेरे घोड़े आये। हाथी आये तो कहे मेरे हाथी आये। ओहो..हो..! ठाठ-बाट जम गया। फिर भोजन करके विश्राम किया चार बजे चलने लगे, (तब वह पागल कहे) पूछे बिना कैसे जाते हो? अरे! पूछे बिना कैसे जाते हो? यह मूर्ख लगता है। पागल है? हम तो हमारे कारण आये थे और हमारी अवधि पूरी होने से हम चले जाते हैं। तुझे क्या अधिकार है हमें कहने का? अरे! तुम हमारे हो न! मैं बैठा हूँ और तुम आये हो या नहीं? मैं पहले से बैठा था और तुम (बाद में) आये, तो पूछे बिना कैसे जाते हो? यह तो पागल लगता है।

इसी प्रकार एक आत्मा किसी दूसरे भव में से एक कुल में आया। आया और बड़ा हुआ और पूर्व के पुण्य के कारण अथवा किसी कारण से दूसरे स्त्री, पुत्र, लक्ष्मी, इज्जत, कीर्ति, वह जैसे राजा आया वैसे वे चीजें आयी। आयी और जैसे अवधि पूरी हो और चली जाती है। अरे! कैसे चले जाते हो? परन्तु हम कहाँ तेरे हैं कि नहीं जायें? मरे तो फिर सिर फोड़े। अरे! मेरी स्त्री मर गयी। परन्तु हम कहाँ तेरे कारण आये थे? हमारे पुण्य की प्रकृति और स्थिति थी, उस कारण से हम आये थे, हमारी स्थिति पूरी हुई तो हम चले जाते हैं। तेरे कारण हम आये ही नहीं और तेरे कारण हम जाते नहीं। आहा..हा..!

यह कहते हैं न ? देखो ! प्रयोग के बिना ही ये जहाँ चाहे कैसे चले जाते ? तेरी स्थिति से यदि आते हों तो तेरे रहते हुए वे चले कैसे जाते हैं ? शरीर बिगड़ जाये, सब चले जाते हैं । स्त्री, वि.., वे तो परपदार्थ हैं । तेरे कारण आये हैं और तेरे कारण जाते हैं ? एकदम मिथ्या बात है ।

मुमुक्षु : लोग आश्वासन किस प्रकार से देते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : तेरा ज्ञान, आनन्द है, वह आश्वासन ले । तू ज्ञाता है, भगवान ! तू तो जानने-देखनेवाला है । है तो जानो, न हो तो भी जानो । जानने-देखनेवाली तेरी चीज़ भिन्न है, वे चीज़ें भिन्न हैं । यह समाधान कर ले, ऐसी बात है । मोहनभाई ! आहा..हा.. ! और कैसे हुआ ? श्वास कैसे डाला ? तुम्हारे क्या है ? (उसे ऐसा होता होगा कि) यह तो सब झूठ निकलता है । तुम्हारी अस्ति में लड़के अलग पड़ गये या नहीं ? तुम्हारी अस्ति में उनके पास तुम्हारी अपेक्षा कैसे बढ़ गये या नहीं ?

मुमुक्षु : वह तो प्रसन्नता से किये थे ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कारण से करता था, मुफ्त में किया है ? यह सब समझने जैसा है । कहो, समझ में आया ? मुझे सब खबर होगी न ! क्या कारण है ।

अतः मोहनीय पिशाच के आवेश को दूर हटा.. अरे आत्मा ! मोहनीय पिशाच भूत का तुझे भूत लगा है । आहा..हा.. ! तुझे मिथ्यात्व का भूत लगा है कि मैंने परचीज़ों में ऐसा किया था, अब मैं नहीं कर सकता । मिथ्यात्व का भूत लगा है, उस पिशाच के आवेश को दूर हटा । आवेश छोड़ दे, प्रभु ! तू तो ज्ञान है न ! तू तो आनन्द है न ! परचीज़ को मैंने किया था और रखा था, छोड़ दी, ऐसा कैसे मानता है ? छोड़, छोड़ ।

ठीक-ठीक देखने की चेष्टा कर । देखो ! क्या कहते हैं ? मोहनीय पिशाच के आवेश को दूर हटा ठीक-ठीक देखने की.. ठीक-ठीक का अर्थ जैसा उसका स्वभाव है, वैसा देख । उसके कारण से आये और उसके कारण से जाते हैं, ऐसा स्वभाव है । ऐसा जैसा है, वैसा देख । ठीक है ? देखो ! क्या कहते हैं ? मोहनीय पिशाच के आवेश को दूर हटा.. भाई ! तेरी चीज़ तो भिन्न है न, भाई ! ओ..हो.हो.. ! सर्वज्ञ भगवान तो एक पुण्य के विकल्प को भी छोड़कर वीतराग हो गये । महाव्रत के परिणाम आये थे, पहले मुनि थे

तो महाव्रत के परिणाम (हुए थे), वह तो राग है। दया, दान, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, वह तो राग है। उस राग को भी छोड़कर वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर हो गये। समझ में आया ? वे परमेश्वर कहते हैं कि तुझे परपदार्थ का भूत लगा है। मिथ्यात्व का पिशाच (लगा है) तो देखने में नहीं आता। तेरी देखने की दृष्टि सच्ची नहीं है। हमारे कारण आये हैं और हमारे कारण चले जाते हैं। हम जितनी व्यवस्था करते हैं, उस प्रमाण में रहते हैं, हमारी व्यवस्था ठीक न हो तो चले जाते हैं। (ऐसा माननेवाला) मूढ़ है।

मुमुक्षु : व्यवस्था भूत करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवस्था कर नहीं सकता, फिर प्रश्न कहाँ है ? पर की स्वतन्त्र पदार्थ की व्यवस्था तू कर सकता है ? बसन्तलालजी ! यह सब होशियारी तब कहाँ गयी ? भाषा कैसी की है ! देखो न !

मोहनीय पिशाच के आवेश को दूर हटा, ठीक-ठीक देखने की चेष्टा कर। इसका अर्थ कि उनके कारण आते हैं और उनके कारण रहते हैं और उनके कारण से जाते हैं। तू तो जाननेवाला-देखनेवाला है, ऐसी दृष्टि कर। इसके बिना तेरी स्वतन्त्र की श्रद्धा सच्ची नहीं होगी और उसके बिना तेरा कल्याण नहीं होगा। कहो, बराबर है ?

दोहा - दिशा देश से आयकर, पक्षी वृक्ष बसन्त।

प्रात होत निज कार्यवश, इच्छित देश उडन्त।।९।।

दिशा देश से आयकर.. किसी दिशा और किसी देश, ऐसा। किसी दिशा और किसी देश। वहाँ से आकर पक्षी वृक्ष बसन्त वृक्ष में रहते हैं। **प्रात होत सबेरा पड़ने पर निज कार्यवश,** अपने कार्यवश, किसी के कारण से नहीं, कोई नहीं। किसी को पूछते नहीं कि अब हम जाते हैं, कहाँ जाते हैं। **निज कार्यवश, इच्छित देश उडन्त।** जहाँ इच्छा है, उस दिशा और देश में पक्षी चले जाते हैं। ऐसे भगवान तेरा आत्मा कहाँ से आया, दूसरा कहाँ से आता है, उसकी स्थिति प्रमाण रहता। स्थिति पूरी होने पर चले जाते हैं। तुझे और उन्हें कोई सम्बन्ध है नहीं। समझ में आया ?

उत्थानिका - आचार्य आगे के श्लोक में शत्रुओं के प्रति होनेवाले भावों को 'चे हमारे शत्रु हैं' 'अहितकर्ता हैं' आदि अज्ञानपूर्ण बतलाते हुए उसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं, साथ ही ऐसे भावों को दूर करने के लिये प्रेरणा भी करते हैं -

विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति।

त्र्यंगुलं पातयन्पद्भ्यां स्वयं दडेन पात्यते॥१०॥

अर्थ - जिसने पहिले दूसरे को सताया या तकलीफ पहुँचाई है, ऐसा पुरुष उस सताये गये और वर्तमान में अपने को मारनेवाले के प्रति क्यों गुस्सा करता है? यह कुछ जँचता नहीं। अरे! जो त्र्यङ्गुल को पैरों से गिरायगा वह दण्डे के द्वारा स्वयं गिरा दिया जायेगा।

विशदार्थ - दूसरे का अपकार करनेवाला मनुष्य, बदले में अपकार करनेवाले के प्रति क्यों हर तरह से कुपित होता है? कुछ समझ में नहीं आता।

भाई! सुनिश्चित रीति या पद्धति यही है कि संसार में जो किसी को सुख या दुःख पहुँचाता है, वह उसके द्वारा सुख और दुःख को प्राप्त किया करता है। जब तुमने किसी दुसरे को दुःख पहुँचाया है तो बदले में तुम्हें भी उसके द्वारा दुःख मिलना ही चाहिये। इसमें गुस्सा करने की क्या बात है? अर्थात् गुस्सा करना अन्याय है, अयुक्त है। इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जो बिना विचारे काम करनेवाला पुरुष है, वह तीन अंगुली के आकारवाले कूड़ा-कचरा आदि के समेटने के काम में आनेवाले 'अंगुल' नामक यंत्र को पैरों से जमीन पर गिराता है, तो वह बिना किसी अन्य की प्रेरणा के स्वयं ही हाथ में पकड़े हुए डण्डे से गिरा दिया जाता है। इसलिए अहित करनेवाले व्यक्ति के प्रति, अपना हित चाहनेवाले बुद्धिमानों को, अप्रीति, अप्रेम या द्वेष नहीं करना चाहिए॥१०॥

दोहा - अपराधी जन क्यों करे, हन्ता जनपर क्रोध।

दो पग अंगुल महि नमे, आपहि गिरत अबोध॥१०॥

गाथा - १० पर प्रवचन

अब दूसरी बात (करते हैं)। अब आचार्य आगे के श्लोक में शत्रुओं के प्रति

होनेवाले भावों को 'ये हमारे शत्रु हैं' 'अहितकर्ता हैं' आदि अज्ञानपूर्ण बतलाते हुए.. लो, समझ में आया ? 'यह मेरे शत्रु हैं' मूढ़ है, शत्रु कहाँ से आया ? वह तो परवस्तु है। परवस्तु शत्रु कहाँ है ? यह मेरा अहित करता है। परवस्तु अहित करती है ? तेरी मान्यता विपरीत है कि मेरा अहित करता है, यह मान्यता तुझे अहित करता है। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

एक व्यक्ति कहता था, भाई! नहीं! दो-तीन भाई इकट्ठे थे। फिर ५०-५५ वर्ष की उम्र हुई (तब कहे), कमा-कमाकर कमर टूट गयी। नाम नहीं लेते। फिर कहे कि ये छोटे भाई कहते हैं कि समान बाँट दो। अपने पिता बैठे हैं, पिताजी बैठे हैं और भाग किये नहीं। तूने भले कमाया परन्तु तीन भाईयों के भाग समान कर। हाय.. हाय.. ! परन्तु यह ५५ वर्ष तक कमर टूट गयी। अब छोटे से बड़े हुए। अभी तक मैंने पाप किये। अब मेरी कमाने की ताकत रही नहीं और तुम कहते हो समान भाग करो। भाई! भाग नहीं करे तो कौन करे ? लाओ समान (भाग)। ए.. मोहनभाई! फिर वह आकर मुझसे बात करे। यहाँ तो बहुत बात करते हैं या नहीं ? बड़ा भाई था। वैसे तो लाखोंपति (था)। वहाँ मुम्बई में बड़ी दुकान थी। अरे! मैंने इतना-इतना धन्धा किया, उम्र हो गयी, वृद्धावस्था हो गयी, कमर ऐसी हो गयी। भाई कहते हैं कि समान भाग करो। परन्तु दो भाग मेरा और दो आधे भाग (इनके), ऐसा करो तो ठीक। (वे लोग कहे) समान तीन भाग करो। अब मेरी कमाने की शक्ति कम हो गयी और वृद्धावस्था हो गयी। ये लोग तो जवान हैं। यह तो संसार ऐसा है, भाई! संसार तो ऐसा ही है। क्या करना ? तुमने कमाया, वह तुम्हारी ममता के लिये किया था। लड़कों के लिये किया था ? तुम्हारे भाईयों के लिये किया था ? ममता की थी। कमाना तो पुण्य के कारण आता है। तुमने तो ममता की थी, ममता। चीज़ आने-जानेवाली है, वह तो पूर्व के पुण्य के कारण से आती है, जाती है। तेरे कारण आती-जाती है ? हाय.. हाय.. ! अब ?

मुमुक्षु : पारिश्रमिक.....

पूज्य गुरुदेवश्री : पारिश्रमिक नहीं, तीन भाग समान करो। पिताजी बैठे हैं, कहे। समान भाग (करो)। पाँच लाख होवे तो डेढ़-डेढ़ लाख समान दो। पचास हजार के भाग फिर करो। नहीं एक भी। भाई बड़े। नहीं आवे वह.... मलूपचन्दभाई! बापू! यह तो सब

सबके स्वार्थी अपनी इच्छा प्रमाण सब चलता है। दूसरा पदार्थ तेरी इच्छा प्रमाण चले, ऐसा कहाँ से आया ? आहा..हा.. ! कौन करे ? ममता है।

शत्रुओं के प्रति होनेवाले भावों को 'ये हमारे शत्रु हैं' 'अहितकर्ता हैं' आदि अज्ञानपूर्ण बतलाते हुए उसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं, साथ ही ऐसे भावों को दूर करने के लिये प्रेरणा भी करते हैं -

विराधकः कथं हंत्रे जनाय परिकुप्यति।

त्र्यगुलं पातयन्पद्भ्यां स्वयं दडेन पात्यते॥१०॥

'विराधकः' जिसने पहिले दूसरे को सताया.. वह विराधक। अपकार करे, वह विराधक। जिसने पहिले दूसरे का अपकार किया हो, भाव में, हों! उसे उसके पाप के कारण से अपकार हो गया हो, उसका नाम विराधक। संस्कृत में है न? भाई! देखो! 'अपकारकर्ता जनः' पहिली लाईन है। अन्दर संस्कृत है। यहाँ तो ऐसा कहना है कि जिसने पहिले दूसरे को सताया.. जिस अपराधी प्राणी ने दूसरे प्राणी को पहिले पाप करके सताया, निमित्त हुआ। तकलीफ पहुँचायी है, ऐसा पुरुष उस सताये गये और वर्तमान में अपने को मारनेवाले के प्रति क्यों गुस्सा करता है? क्या कहा? तूने पूर्व में उस प्राणी को सताया था और तेरे कारण वह दुःखी हुआ था। समझ में आया? तकलीफ हुई थी। अब वह प्राणी तुझे तकलीफ देता है। गुस्सा क्यों करता है? भाई! ऐसी बात ली है। सताये गये और वर्तमान में अपने को मारनेवाले के प्रति क्यों गुस्सा करता है? तेरे कारण उसे नुकसान हुआ था। निमित्त से कथन है, हों! वह तुझे नुकसान करने आया तो गुस्सा क्यों करता है? वह तो अदल-बदल हो गयी। समझ में आया? यह तो सब निमित्त के कथन हैं, हों! तेरा भाव उसे नुकसान पहुँचाने का था और उसे पाप के उदय से नुकसान पहुँचा, तो वह तुझे नुकसान पहुँचाने आता है। ऐसे भाव करता है और तेरे पाप का उदय ऐसा प्रतिकूल हो तो पर के प्रति गुस्सा क्यों करता है? नम्बर से... लड़के नहीं कहते? खेलते हैं न? ऐसे उठाकर नहीं खेलते। लड़के एक-दूसरे को उठाते हैं न? आज मेरा नम्बर, फिर अभी तेरा नम्बर आयेगा। तू मुझे उठाना।

ऐसा कहते हैं कि जिस जीव ने दूसरे को सताया, वह प्राणी तुझे सताता है (तो) गुस्सा क्यों करता है? समझ में आया? ऐई! आता है या नहीं? लड़के खेलते हैं, तब क्या

कहलाता है ? आता है, भाई! हमारे समय में वह था, लड़के को ऐसे ऊपर उठावे। दाव लेना पड़े, देना पड़े। ऐसा कुछ था अवश्य ? बहुत वर्ष की बातें हैं। यह व्यवहार से बात की है, हों! तूने ऐसे भाव किये थे कि दूसरे को नुकसान पहुँचा दूँ और उसका पाप का उदय था तो नुकसान पहुँचा और उस प्राणी को ऐसा (भाव) आया कि इसे नुकसान कर दूँ।

फिर से, जिससे नुकसान हुआ, उसे नुकसान कर दूँ। तो कहते हैं कि वह नुकसान करने का भाव उसका हुआ और तुझे नुकसान करने, मारने आया तो गुस्सा क्यों करता है ? तूने किया था, वैसा वह करता है। ऐई!

सताये गये और वर्तमान में अपने को मारनेवाले के प्रति.. है न ? क्यों क्यों गुस्सा करता है ? यह कुछ जँचता नहीं। यह बात हमें कुछ जँचती नहीं, ऐसा कहते हैं, आचार्य ऐसा कहते हैं, भाई! तूने दूसरे को नुकसान पहुँचाया था, अब दूसरा तुझे नुकसान पहुँचाता है। यह तो अदला-बदली होती है, इसमें गुस्सा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। तूने पाँच गाली दी थी तो वह सामने पाँच गाली देता है, ऐसा कहते हैं। क्या है तुझे ? ऐसा दृष्टान्त देकर पर जो प्रतिकूलता देता है, उसके प्रति गुस्सा नहीं करना। (इस गुस्से के भाव को) छुड़ाने के लिये बात करते हैं। समझ में आया ?

शरीर में प्रतिकूलता हो, लक्ष्मी चली जाये, ऐसा हो। कोई प्राणी उसमें निमित्त हो गया। समझ में आया ? तू भी उसके नुकसान में निमित्त हुआ था, तो गुस्सा क्या करना ? पर के प्रति गुस्सा करना नहीं। हमारी इज्जत लूट ली, तूने पहले उसकी इज्जत लूटी होगी। समझ में आया ? अरे ! हमारी इज्जत लुट गयी। हमारा सब खुला पड़ गया, हमारा खेल खत्म हो गया। बाहर में हमारे पास पूँजी, दौलत बहुत थी, मोभो... मोभा को क्या कहते हैं ? हिन्दी में क्या कहते हैं ? (अभिमान)। अभिमान नहीं, अभिमान नहीं। ऐसा स्थान / प्रतिष्ठा इतनी जमी हुई थी कि हम ऐसे पाँच लाख, दस लाख, पच्चीस लाख के आसामी हैं। अन्दर में इतना नहीं था। ऐसा मोभा रखा था, स्थान रखा था। उसमें दूसरे ने खोल दिया कि इसके पास कुछ नहीं है। हैं ! यह तो व्यर्थ का (दिखाव) करता है, अन्दर एक टके ब्याज लेता है। पैसा-टका के ब्याज से लेकर दस-दस लाख को निभाता है। हैं ? भाई ! तूने किसी का ऐसा किया होगा, तो वह तुझे करता है, उसमें क्या है ? गुस्सा क्या करना ? समझना, ज्ञान करना कि ऐसा होता है, जगत में ऐसी चीज़ होती है। ऐसी समता करके आत्मा का ज्ञान

करना, समता करना, गुस्सा हटाना, यह बात करते हैं। आहा..हा.. ! समझ में आया ? यह तो उपदेश की व्याख्या है न।

यह कुछ जँचता नहीं। अरे! जो त्र्यंगुल को पैरों से गिरायगा वह दण्डे के द्वारा स्वयं गिरा दिया जायेगा। ऐसा कोई कचरा ऐसे हाथ में डण्डा रखा हो, फिर नीचे से पैर से हटा दे। नीचे से दो पैर से डण्डा हटा दे तो डण्डा पकड़कर पड़े। समझ में आया ? क्या कहा ? कोई त्र्यंगुल ऐसा हथियार है कि वह नीचे से कचरा काटे और यहाँ से डण्डा पकड़ा हो। दो पैर उठाकर हटायेगा तो तू भी नीचे गिर पड़ेगा। तुझे ही तुझसे नुकसान होगा, दूसरे से नुकसान होगा नहीं। समझ में आया ?

दूसरे का अपकार करनेवाला मनुष्य, बदले में अपकार करनेवाले के प्रति क्यों हर तरह से कुपित होता है ? कुछ समझ में नहीं आता। समझ में आया ? यह एक परस्पर की बात करते हैं। इस प्राणी के प्रति न किया हो परन्तु पूर्व में कोई पापभाव इसने किया हो और दूसरे को बाहर में कोई नुकसान हुआ हो तो वही प्राणी अथवा दूसरा प्राणी तेरे पाप के उदय के काल में वह प्रतिकूलता देने आता है तो गुस्सा क्या करना ? वह कोई (कुछ) कर नहीं सकता, पर मेरा नुकसान नहीं कर सकता। मैंने दूसरे का नुकसान किया नहीं। ऐसा मानकर गुस्सा छोड़ना, ज्ञाता-दृष्टा रहकर समाधान करना, समाधान करना, गुस्सा करना नहीं - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

भाई! देखो! कुछ समझ में नहीं आता। भाषा तो ऐसी ही आवे न! समझ में तो आता है भान बिना का परन्तु भाषा तो ऐसी ही करे न! कुछ समझ में नहीं आता, क्या करता है यह ? अर्थात् ? समझते हैं कि बुरा करता है। ऐसा बोलते हैं या नहीं ? यह क्या करता है, परन्तु यह ? अरे! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को करे ? किस प्रकार करे ? क्या उस द्रव्य की पर्याय का स्वरूप काल नहीं था कि दूसरा द्रव्य उसे करावे ? नहीं। दूसरा द्रव्य आवे तो ही होता है। क्या होता है ? दूसरे द्रव्य में उसके स्वरूप से होता है या परस्वरूप से होता है ? अपने-अपने स्वरूप से प्रत्येक में पर्याय होती है। दूसरा द्रव्य उसमें क्या लाभ रख सकता है ? बड़ा पण्डित होकर सिर घुमा गये हैं, लो ! आहा..हा.. !

शरीर की पर्याय चलती है, देखो ! पर्याय है, वह तो शरीर की है। वह अपने स्वरूप से है, अपने स्वरूप से है। उसमें आत्मा की इच्छा हुई तो इच्छा अपने स्वरूप से हुई है।

वह (शरीर) उसके स्वरूप से है। इच्छा परस्वरूप में घुसकर क्या करे? इच्छा निमित्त होकर इस शरीर की पर्याय का स्वरूप किस प्रकार करे? क्योंकि शरीर का स्वरूप परस्वरूप है। इच्छा परस्वरूप, उस परस्वरूप का किस प्रकार करे? समझ में आया? इच्छा उसमें घुस जाती है? इच्छा का स्वरूप यहाँ प्रविष्ट होकर शरीर की क्रिया करता है? मूढ़ है। वह तो शरीर की पर्याय है। आहा..हा..! समझ में आया?

खाने की इच्छा हुई। समझ में आया? वह पर्याय का जड़स्वरूप है, उसमें इच्छा ने अपना क्या स्वरूप डाला कि उसके होंठ हिलाये?

मुमुक्षु : दाँत हिलाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : दाँत किसके हैं? दाँत जड़ की पर्याय है। उसमें ऐसा ही होता है। इच्छा ने क्या दाँत की पर्याय में कोई स्वरूप डाल दिया? कि आत्मा में दाँत ऐसे-ऐसे किये? आहा..हा..! समझ में आया? इच्छा दाँत को हिला नहीं सकती, ऐसा कहते हैं। इच्छा अपने विकृत स्वरूप में रहनेवाला भाव है और यह स्वरूप है, वह जड़स्वरूप है। अतः इच्छा का स्वरूप जड़स्वरूप में प्रविष्ट हो जाता है कि जड़ को बनावे। आहा..हा..! लोगों को बहुत सूक्ष्म पड़ता है। समझ में आया?

भाई! सुनिश्चित रीति या पद्धति यही है.. देखो! **भाई!** सुनिश्चित रीति या पद्धति यही है कि संसार में जो किसी को सुख या दुःख पहुँचाता है, वह उसके द्वारा सुख और दुःख को प्राप्त किया करता है। ऐसा होता है। यह तो एक सिद्धान्त है, हों! यही (नुकसान) पहुँचावे, ऐसा कुछ नहीं, परन्तु दूसरे द्रव्य को दुःख देने का भाव हुआ और दूसरे द्रव्य में ऐसा दुःख देने का भाव हुआ तो अदल-बदल हुआ। उसमें तुझे गुस्सा करने का कहाँ रहा? आहा..हा..!

यहाँ तो परपदार्थ तेरे पदार्थ में कुछ नुकसान नहीं कर सकता और तू भी दूसरे को (नुकसान नहीं कर सकता)। परन्तु तेरा भाव नुकसान करने का था और उसके पाप के उदय से नुकसान हुआ तो उसे ऐसा भाव हुआ कि इसे नुकसान कर दूँ। इससे तेरा नुकसान नहीं होता। समता रख... समता रख, शान्ति कर। आहा..हा..!

अरे! अभी तक लड़कों का ऐसा पालन-पोषण किया, जिसके लिये हैरान हो गये।

साठ वर्ष हो गये। अब कहते हैं कि विवाह हुआ, अलग कर दो। क्यों? मेरी माँ को और पत्नी को मिलान नहीं खाता, बनती नहीं। हाय... हाय..! क्लेश करती हैं, वापस ऐसा कहे। मेरी माँ को और यह किसी की लड़की है न? दोनों को मेल नहीं है, मेल नहीं खाता, अतः बापू! हमें अलग कर दो। तू यह क्या बोलता है? कहो, समझ में आया या नहीं? बहाना ले स्त्री का, अलग होना है। आहा..हा..!

रवारी थे। कहा नहीं था? रवारी था, उसके लड़के का लड़का था। लड़के का लड़का। राजकोट के पास गाँव है। हम गये थे। लड़का था बावड़ जैसा, परन्तु उसके पिता का पिता होशियार, गाँव में बहुत इज्जतदार। तब हम गये थे, तब दोनों अलग पड़े। घर में से वह लड़का और लड़की बहू (अलग हुए) उसके पिता का पिता ८० वर्ष का और उसकी माँ। आहा..हा..! अरे! लड़के तेरे लिये यह सब किया। ८०-८० वर्ष के हुए और हमारे सफेदी में तू धूल डालता है। इस गाँव में गरासिया हमको पूछते हैं और तू अलग करता है। बबूल के पेड़ जैसा तू, तुझे कोई पत्नी हो सकती है? तेरी स्त्री मेरे कारण है, ऐसा कहे। लड़का ऐसा जड़ जैसा था। तुझे यह स्त्री नहीं होती। इज्जत के कारण (मिली है)। रवारी इज्जतदार था। शाम को अलग पड़ा। दामसिया-वामसिया आधा टूटा-टूटा अलग कर दिया। परन्तु क्या करे? उसके ऐसे ही परिणाम हैं और तुझे भी ऐसा पाप का उदय आया है। ऐसा बननेवाला हो तो बनेगा, बनेगा और बनेगा ही। तुझे समता रखना। अरे! मैंने इतना किया और यह अलग पड़ता है। मोहनभाई! एक ही लड़का हो तो अलग किसके साथ पड़े? वह तो लड़के का लड़का, वह भी लड़के का लड़का अलग पड़ा। हम वहाँ चौरा में बैठे थे। देवी का मन्दिर था वहाँ बैठे थे।

अरे! भाई! कौन किसका पुत्र? और कौन अलग पड़े? कौन-कौन इकट्ठे हों? यह सब तेरी भ्रमणा है। पूर्व के उदय से आये और उदय पूरा होने पर चले जाते हैं। उसमें तुझे क्या हुआ? ऐसी भ्रमणा करे कि अरे! मैंने इसका पालन किया और सही समय में हमारी सेवा करने के काल में कहता है कि हमें अलग करो। ठीक, भाई!

मुमुक्षु : उसकी बात तो उचित है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ममता की थी, उसमें उचित क्या थी? ममता थी। स्त्री ऐसी हो, अलग करना हो, घर में पाँच-सात-दस मनुष्य हों और वे पति-पत्नी दो हों। घर में

लापसी खाते हैं परन्तु दसवाँ भाग भी नहीं आता। तुम्हें भान नहीं, अलग होओ। फिर पूरे दिन कोसा करे। करते-करते छह महीने, आठ महीने में अलग करे। क्या करे? पन्द्रह मनुष्यों में हलुवा बनावे, उसमें भाग भी नहीं आता और यह पूरे दिन रोटी पीटनी (बनानी) पड़ती है। बेलनी पड़ती है, क्या कहते हैं उसे? ऐसा कहे। स्त्री उसे कोसा करे। अलग करो, बापू! लो, यह अलग किया। अरे! परन्तु यह तेरी भाभी शिथिल पड़ी। यह तू अलग पड़े वह ठीक नहीं कहलाता। स्त्रियों को मेल नहीं खाता, क्या करे? ऐसे के ऐसे स्वतन्त्र सब प्राणी हैं। कोई किसी के परिणाम से कुछ करता है, ऐसा नहीं है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। धर्मचन्दजी! यह तुम्हारे संसार की पोल! बापू! वह परद्रव्य है। उसके परिणाम वह करता है, तेरे परिणाम तू कर। तेरे परिणाम से उसमें कुछ होता है, ऐसा कभी नहीं होता। उसके परिणाम तुझे नुकसान करते हैं, ऐसा भी नहीं है। समझ में आया?

उसके द्वारा सुख और दुःख को प्राप्त किया करता है। जब तुमने किसी दूसरे को दुःख पहुँचाया है तो बदले में तुम्हें भी उसके द्वारा दुःख मिलना ही चाहिये। ऐसे संयोग से बात करते हैं। इसमें गुस्सा करने की क्या बात है? अर्थात् गुस्सा करना अन्याय है, .. ऐसा गुस्सा करना तो अन्याय है। अयुक्त है। इसमें दृष्टांत देते हैं कि जो बिना विचारे काम करनेवाला पुरुष है.. है न? 'कश्चिदसमीक्ष्यकारी जनः' है न? संस्कृत में? 'यः कश्चिदसमीक्ष्यकारी जनः' ऐसा है, संस्कृत में है। समझ में आया? बिना विचारे काम करनेवाला पुरुष है, वह तीन अंगुली के आकारवाले कूड़ा-कचरा आदि के समेटने के काम में आनेवाले 'अंगुल' नामक यंत्र को पैरों से जमीन पर गिराता है, .. लो! उसे पैर से हटाता है। क्या कहलाता है? वाडवानू काम कहते? क्या कहते हैं? हिन्दी में क्या कहते हैं? कचरा निकालने का। कचरा निकालने की चीज़ होती है न? झाड़ू निकालने का। भंगी लोग हाथ में ऊपर रखते हैं न? नीचे (झाड़ू होती है)। खड़े-खड़े निकालते हैं न? अब उसमें पैर डाले, पैर (ऊपर) डाले, उसे पैर हटावे तो लकड़ी गिरे तो स्वयं गिरे। समझ में आया? उसमें किसको नुकसान पहुँचेगा? पैर उठाकर झाड़ू को मारे, यहाँ लकड़ी हाथ में पकड़ रखी। स्वयं पड़े, स्वयं पड़ता है और अपने को नुकसान होता है, दूसरे को नुकसान नहीं होता।

जमीन पर गिराता है, तो वह बिना किसी अन्य की प्रेरणा के स्वयं ही हाथ

में पकड़े हुए डण्डे से गिरा दिया जाता है। हाथ में लकड़ी पकड़ी हो, उससे स्वयं गिर जाता है, नीचे पैर मारा इसलिये। इसलिए अहित करनेवाले व्यक्ति के प्रति, अपना हित चाहनेवाले बुद्धिमानों को, अप्रीति, अप्रेम या द्वेष नहीं करना चाहिए। किसी के प्रति अप्रीति, द्वेष नहीं करना। पहले में हित करनेवाले की बात थी। स्त्री, कुटुम्ब आदि में। यह जरा शत्रु के प्रति बात करते हैं। जगत में कोई शत्रु नहीं और कोई मित्र नहीं। तेरी मान्यता है कि यह शत्रु है और यह मित्र है। यह तेरी मान्यता भ्रम है, अज्ञान है। कोई शत्रु-मित्र नहीं है। परपदार्थ स्वतन्त्र है।

अहित करनेवाले व्यक्ति के प्रति, अपना हित चाहनेवाले बुद्धिमानों को, अप्रीति, अप्रेम या द्वेष नहीं करना चाहिए। उसकी योग्यता प्रमाण वह चलता है। मुझे उसके साथ क्या सम्बन्ध है? ऐसा रहकर समता, शान्ति, ज्ञाता-दृष्टा रहना। अप्रेम न करना और द्वेष न करना। लो, ऐसा इसका (मर्म है)।

दोहा - अपराधी जन क्यों करे, हन्ता जनपर क्रोध।

दो पग अंगुल महि नमे, आपहि गिरत अबोध॥१०॥

अपराधी.. अपराध करनेवाला हन्ता जनपर क्रोध। तुझे दूसरा कोई मारे, उस पर क्रोध किसलिये करता है? दो पग अंगुल महि नमे,.. पैर हटा दे तो। आपहि गिरत अबोध। भान बिना स्वयं अपने को नुकसान करता है। अज्ञानी अपने अज्ञान से अपना नुकसान करता है। दूसरे को नुकसान हो, न हो, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। इसलिए अज्ञान छोड़कर, गुस्सा छोड़कर, राग छोड़कर समता करना।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

यहाँ पर शिष्य प्रश्न करता है कि स्त्री आदिकों में राग और शत्रुओं में द्वेष करनेवाला पुरुष, अपना क्या अहित-बिगाड़ करता है? जिससे उनको (राग-द्वेषों को) अकरणीय-न करने लायक बतलाया जाता है? आचार्य समाधान करते हैं -

राग-द्वेषद्वयी-दीर्घनेत्राऽऽकर्षण-कर्मणा।

अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ॥११॥

अर्थ - यह जीव अज्ञान से रागद्वेषरूपी दो लम्बी डोरियों की खींचतानी से संसाररूपी समुद्र में बहुत काल तक घूमता रहता है-परिवर्तन करता रहता है।

विशदार्थ - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच परावर्तनरूप संसार जिसे दुःख का कारण और दुस्तर होने से समुद्र के समान कहा गया है, उसमें अज्ञान से-शरीरादिकों में आत्मभ्रांति से-अतिदीर्घ काल तक घूमता (चक्कर काटता) रहता है। इष्ट वस्तु में प्रीति होने को राग और अनिष्ट वस्तु में अप्रीति होने को द्वेष कहते हैं। उनकी शक्ति और व्यक्तिरूप से हमेशा प्रवृत्ति होती रहती है, इसलिए आचार्यों ने इन दोनों की जोड़ी बतलाई है। बाकी के दोष इस जोड़ी में ही शामिल हैं, जैसा कि कहा गया है - 'यत्र रागः पदं धते'।

'जहाँ राग अपना पाँव जमाता है, वहाँ द्वेष अवश्य होता है या हो जाता है, यह निश्चय है। इन दोनों (राग-द्वेष) के आलम्बन से मन अधिक चंचल हो उठता है। और जितने दोष हैं, वे सब राग-द्वेष से संबद्ध हैं,' जैसा कि कहा गया है - 'आत्मनि सति परसंज्ञा'।

'निजत्व के होनेपर पर का ख्याल हो जाता और जहाँ निज-पर का विभाग (भेद) हुआ वहाँ निज में रागरूप और पर में द्वेषरूप भाव हो ही जाते हैं। बस इन दोनों के होने से अन्य समस्त दोष भी पैदा होने लग जाते हैं। कारण कि वे सब इन दोनों के ही आश्रित हैं।'

वह राग-द्वेष की जोड़ी तो हुई मंथानी के डण्डे को घुमानेवाली रस्सी के फाँसाके समान और उसका घूमना कहलाया जीव का रागादिरूप परिणामन। सो जैसे लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि नेतरी के खींचा-तानी से जैसे मंथराचल पर्वत को समुद्र में बहुत

काल तक भ्रमण करना पड़ा। उसी तरह स्व-पर विवेकज्ञान न होने से रागादि परिणामों के द्वारा जीवात्मा अथवा कारण में कार्य का उपचार करने से, रागादि परिणामजनित कर्मबंध के द्वारा बँधा हुआ संसारीजीव, अनादिकाल से संसार में घूम रहा है, घूमा था और घूमता रहेगा। मतलब यह है कि 'रागादि परिणामरूप भावकर्मों से द्रव्यकर्मों का बन्ध होता' ऐसा हमेशा से चला आ रहा है और हमेशा तक चलता रहेगा। सम्भव है कि किसी जीव के यह रुक भी जाय। जैसा कि कहा गया है - 'जो खलु संसारत्थो'।

'जो संसार में रहनेवाला जीव है, उसका परिणाम (रागद्वेष आदिरूप परिणामन) होता है, उस परिणाम से कर्म बँधते हैं। बँधे हुए कर्मों के उदय होने से मनुष्यादि गतियों में गमन होता है, मनुष्यादि गति में प्राप्त होनेवाले को (औदारिक आदि) शरीर का जन्म होता है, शरीर होने से इन्द्रियों की रचना होती है, इन इन्द्रियों से विषयों (रूप रसादि) का ग्रहण होता है, उससे फिर राग और द्वेष होने लग जाते हैं। इस प्रकार जीव का संसाररूपी चक्रवात में भवपरिणामन होता रहता है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। जो अनादि काल से होते हुए अनन्त काल तक होता रहेगा, हाँ, किन्हीं भव्यजीवों के उसका अन्त भी हो जाता है॥११॥'

दोहा - मथत दूध डोरीनितें, दंड फिरत बहु बार।
राग द्वेष अज्ञान से, जीव भ्रमत संसार॥११॥

प्रवचन नं. ९

गाथा-११

गुरुवार, दिनाङ्क २४-०३-१९६६

चैत्र शुक्ला २,

वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश की गाथा १०वीं चली। (अब) ११ यहाँ पर शिष्य प्रश्न करता है कि स्त्री आदिकों में राग और शत्रुओं में द्वेष करनेवाला पुरुष, अपना क्या अहित-बिगाड़ करता है? शिष्य का प्रश्न है कि अपने अतिरिक्त स्त्री आदि परपदार्थ में राग, प्रेम करे और जिसे एक के प्रति प्रेम है तो दूसरे के प्रति द्वेष होता ही है। समझ में आया? आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। सम्यग्दृष्टि को ज्ञानस्वरूप का भान होता है, मैं ज्ञाता हूँ, मैं दृष्टा हूँ तो कोई पदार्थ उसे प्रेम करनेयोग्य या द्वेष करनेयोग्य जगत में पदार्थ है ही नहीं।

मुमुक्षु : राग करे तो द्वेष हो ही जाता है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यदि एक के प्रति राग-प्रेम करे तो समझना कि दूसरे के प्रति उसे द्वेष है ही । समझ में आया ? राग और द्वेष दोनों की जोड़ी, जोड़ी, जोड़ी है । अकेले नहीं । क्या कहते हैं ? जरा सूक्ष्म बात है ।

आत्मा तो ज्ञानस्वरूप शुद्ध चिदानन्द आत्मा है । उसका भान हुआ कि मैं तो ज्ञातादृष्टा चैतन्य हूँ, मेरे अतिरिक्त अन्य पदार्थ जो अनन्त हैं, वे मेरे ज्ञान में ज्ञेय हैं, जाननेयोग्य हैं । ऐसे धर्मी जीव को, सम्यग्दृष्टि को, सत्यदृष्टिवन्त को अपना शुद्ध चैतन्यस्वभाव ज्ञान और आनन्दरूप है, ऐसी दृष्टि हुई है तो वह अपने अतिरिक्त अनन्त पदार्थों के दो भाग नहीं करता । एक इष्ट और एक अनिष्ट है, ऐसे भाग सम्यग्ज्ञानी नहीं करता ।

मिथ्यादृष्टि अपना स्वरूप ज्ञान और शुद्ध है, ऐसा भान नहीं, ऐसे अज्ञानी प्राणी, जगत के सभी पदार्थ ज्ञान में ज्ञेय होने पर भी एक ठीक है, प्रेम करनेयोग्य है, एक अठीक है तो द्वेष करनेयोग्य है, ऐसे दो भाग मिथ्यादृष्टि करता है । यह बात कहते हैं । थोड़ी सूक्ष्म बात है । समझ में आया ? हमारे तो यह पदार्थ हमारा देश, हमारा गाँव, हमारी जाति—ऐसा जिसे प्रेम है, उसे उससे विरुद्ध पदार्थ के प्रति द्वेष होता.. होता.. और होता ही है । आहा..हा.. ! समझ में आया ? यह कहते हैं, देखो !

कहते हैं, उसमें क्या बिगड़ गया ? कोई स्त्री आदि प्रिय पदार्थ है, शरीर प्रिय है, उसमें प्रेम करना और दूसरे पदार्थ उनसे विरुद्ध है, अनुकूल नहीं पड़ते, उनमें द्वेष (करता है) उसमें क्या बिगड़ गया ? जिससे उनको (राग-द्वेषों को) अकरणीय-न करने लायक बतलाया जाता है ? शिष्य का प्रश्न है कि राग-द्वेष करनेयोग्य नहीं, ऐसा आप कहते हो तो उसका हेतु क्या है ? उसका समाधान (करते हैं) ।

राग-द्वेषद्वयी-दीर्घनेत्राऽऽकर्षण-कर्मणा ।

अज्ञानात्सुचिरं जीवः संसाराब्धौ भ्रमत्यसौ ॥११॥

थोड़ी सूक्ष्म, बारीक बात है । ऐसे राग-द्वेष, राग-द्वेष (करे), ऐसे नहीं । समझ में आया ? कहते हैं, देखो ! इसका अर्थ है न ? यह जीव अज्ञान से.. देखो ! यहाँ से लिया है । है अर्थ.. अर्थ ? यह जीव अज्ञान से, मिथ्यादृष्टि से । जिसकी दृष्टि मिथ्यात्व है, (वैसा

जीव) । है ? कहाँ है ? यह तुरन्त ही बोलता है । यह जीव अज्ञान से.. अर्थात् अपना स्वरूप ज्ञानमूर्ति जगत का ज्ञातादृष्ट है । अपने से भिन्न चीज़ अपने में प्रिय है या अप्रिय है, ऐसा है नहीं । ऐसा होने पर भी अज्ञानी रागद्वेषरूपी दो लम्बी डोरियों.. समझे ? उसमें तो समुद्र मंथन का दृष्टान्त दिया है । मेरुपर्वत । मंथन किया था न ? अन्यमति में बात आती है न ? अन्यमति में । मेरु का मंथन किया था । लम्बी डोरी । मेरु पर्वत को जब (मंथन) करे, तब लम्बी डोरी चाहिए न ? इस संसार में अज्ञान से भटकने की राग-द्वेषरूपी दो लम्बी डोरियाँ ।

खींचतानी से संसाररूपी समुद्र में बहुत काल तक घूमता रहता है... देखो ! आचार्य जरा सूक्ष्म बात है, ऐसा कहते हैं कि परिवर्तन करता रहता है । क्या (कहते हैं) ? अपना स्वरूप शुद्ध ज्ञानस्वरूप को भूलकर, शरीर ठीक हो तो मुझे ठीक है ; मेरे देश को ठीक हो तो मुझे ठीक है ; मेरे परिवार को ठीक हो तो मुझे ठीक है—ऐसा अज्ञानी राग करता है । वह मिथ्यादृष्टि का राग यहाँ लिया है । समझ में आया ?

मेरा देश सुखी हो तो बस ! समझ में आया ? साधु नाम धराकर उसे सम्प्रदाय का बहुत प्रेम न ! ऐसा माने कि लक्ष्मी हो तो पाप होगा... परन्तु सम्प्रदाय का राग ? तो ऐसा जवाब दिया कि हमारे सम्प्रदाय के सब श्रावक सुखी हों तो मुझे ठीक है । एक सेठ को ऐसा जवाब देते थे । मैंने कहा, यह क्या ? यह क्या करता है ? समझ में आया ? हमारे सम्प्रदाय के श्रावक, श्राविका सब सुखी हों तो अच्छा । इसका अर्थ कि मिथ्यादृष्टि से जिन्हें अपना माना, वे कोई अपने हैं ही नहीं । श्रावक या श्राविका या सम्प्रदाय अपना है ही नहीं । ऐई !

मुमुक्षु : कब नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी । कब नहीं क्या ?

मुमुक्षु : करुणावाले...

पूज्य गुरुदेवश्री : करुणावाला है, वह मिथ्यात्व है—ऐसा कहते हैं । समझ में आया ? उसे ऐसा है कि मेरा परिवार, मेरी स्त्री आदि सब सुखी हों तो ठीक । ऐसा जो राग है, वह मिथ्यादृष्टि का महान मिथ्यात्व पाप की भूमिका में ऐसा राग होता है । समझ में आया ? क्योंकि इसने जगत की चीज़ जो ज्ञेयरूप से एकरूप है, आत्मा ज्ञातारूप से एकरूप

है, वस्तु ज्ञेयरूप से एकरूप है। उसमें दो भेद नहीं हैं। अज्ञानी ने अपने ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान छोड़ दिये और ज्ञेयरूप से समस्त चीज़ एक जाननेयोग्य है, उसमें दो भाग कर दिये। यह ठीक है, ऐसे उसमें प्रेम करना, वह तो उसका प्रेम हुआ, उससे विरुद्ध में द्वेष हुए बिना नहीं रहता। क्योंकि राग के पेट में द्वेष पड़ा है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : हमारा परिवार नहीं परन्तु विश्व कुटुम्ब तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विश्व कहाँ कुटुम्ब है ? विश्व तो भिन्न चीज़ है। वह धीरे-धीरे आनेवाला था परन्तु तुमने पहले ले लिया। विश्व क्या ? अपने अतिरिक्त दूसरी विश्व चीज़ अपनी है ? यह तो पहले कहा, अपना स्वरूप ज्ञान / ज्ञातादृष्टा को छोड़कर जो अनन्त चीज़ें हैं, वे ज्ञान में इष्ट-अनिष्ट करनेयोग्य हैं ही नहीं। सब चीज़ ज्ञान में जाननेयोग्य है। आहा..हा.. !

मुमुक्षु : उसका भी राग नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी का नहीं।

मुमुक्षु : आत्मा का भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा के प्रति प्रेम का विकल्प आता है, वह दूसरी बात, परन्तु वह प्रेम अच्छा है, ऐसा माननेवाला पर के प्रति द्वेष किये बिना रहेगा ही नहीं। राग नहीं।

यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा का स्वरूप ज्ञानस्वरूप, शुद्ध चिदानन्द है। उसकी जिसे दृष्टि नहीं, वह अपने अतिरिक्त दूसरे पदार्थों को किसी को प्रेम करता है तो किसी के प्रति द्वेष किये बिना रहेगा ही नहीं। आहा..हा.. ! समझ में आया ?

मुमुक्षु : बिगाड़ होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बिगाड़ होता है अज्ञान का, राग-द्वेष का - ऐसा कहते हैं। अज्ञानी को ऐसे राग-द्वेष करने से स्वयं के चैतन्य का खून होता है। क्या कहते हैं ? हिंसा होती है।

मुमुक्षु : किसकी ?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं की; दूसरे की कौन कर सकता है ? ऐई ! धर्मचन्दजी ! आहा..हा.. ! देखो।

अज्ञान से रागद्वेषरूपी दो लम्बी डोरियों.. एक के प्रति प्रेम करता है तो दूसरे के प्रति द्वेष आये बिना रहेगा नहीं। अपने अतिरिक्त विश्व के प्रति प्रेम करे तो विश्व के प्रति कोई प्राणी प्रेम नहीं करे तो उसके प्रति द्वेष आये बिना रहेगा नहीं। समझ में आया ? यह विश्व के प्रति प्रेम नहीं करता। अपने सर्व प्राणी समान हैं। समान का अर्थ क्या ? समझ में आया ? समान का अर्थ क्या ? तू ज्ञान है, वह सब ज्ञेय है बस ! ऐसे समान है। अपने अतिरिक्त दूसरी चीज़ प्रेम करनेयोग्य है तो प्रेम माना, तो मिथ्यादृष्टि जीव उससे विरुद्ध कोई प्राणी सर्व के प्रति प्रेम नहीं करे तो उसके प्रति द्वेष किये बिना रहेगा नहीं। समझ में आया ? सूक्ष्म बात है। आहा..हा.. !

यह जीव मुझे प्रेम से रक्षा करनेयोग्य है, ऐसी जिसे बुद्धि हुई, ऐसी मिथ्यादृष्टि की बुद्धि है। सुनो ! जरा सूक्ष्म बात है। यह जीव मेरा प्रेमी है और प्रेम से मेरा अंग है और मेरी रक्षा करनेयोग्य है, ऐसा हुआ तो वह राग में, मिथ्यादृष्टि के राग में अन्दर द्वेष शक्ति पड़ी ही है। समझ में आया ? जब इससे प्रतिकूल दूसरा दुश्मन होगा, उससे विरुद्ध (होगा), उसके प्रति द्वेष हुए बिना रहेगा नहीं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : बहुत गहरा....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह गहरे की बात करते हैं। यह तो बात करते हैं, अज्ञानी के राग-द्वेष की बात करते हैं। ज्ञानी को राग-द्वेष है ही नहीं। ज्ञानी को जो थोड़े रागादि होते हैं, उन्हें ज्ञेयरूप से जानता है। राग का राग नहीं, द्वेष का द्वेष नहीं। रागादि थोड़े विकल्प होते हैं, उन्हें सम्यग्दृष्टि जानता है कि है, इतना। उसमें ठीक-अठीक कुछ नहीं है। समझ में आया ? धर्मी जीव को जरा शुभराग आता है, उसे जानता है; अशुभ आता है, उसे जानता है। शुभराग ठीक और अशुभराग अठीक, यह मिथ्यादृष्टि मानता है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है। एक ओर राम तथा एक ओर गाँव।

भगवान आत्मा सच्चिदानन्द ज्ञानस्वरूपी प्रभु को दूसरी कोई चीज़ प्रेम करनेयोग्य जगत की कोई चीज़ नहीं है। समझ में आया ? प्रेम करनेयोग्य यदि किसी पदार्थ को माना तो दूसरे उसके विरुद्ध के प्रति द्वेष किये बिना नहीं रहेगा। राग-द्वेष करना, वह आत्मा का स्वभाव है ही नहीं, तथापि यह राग-द्वेष करता है, वह मिथ्यादृष्टि राग-द्वेष का कर्ता होकर

नये कर्म बाँधता है और चौरासी में भटकता है। यह बात जरा करते हैं। समझ में आया ? बहुत सूक्ष्म बात है। ऐसे के ऐसे राग करना नहीं, राग करना नहीं - ऐसा नहीं। धर्मचन्दजी ! जगत के दो भाग कर दे कि यह मेरा देश। उसका प्रेम है तो उससे विरुद्ध देश में द्वेष हुए बिना रहेगा नहीं। समझ में आया ? वह मूढ़ प्राणी है, ऐसा यहाँ कहते हैं।

मुमुक्षु : तब तो बहुत लोग मूढ़ हो जायें।

पूज्य गुरुदेवश्री : पूरी दुनिया मूढ़ है। पागल के अस्पताल में सब पागल ही होते हैं। पागल के अस्पताल में कोई चतुर होता है ? समझ में आया ? डॉक्टर चतुर हो तो भिन्न पड़ जायेगा। अस्पताल और मैं भिन्न हैं, मैं तो काम करनेवाला हूँ। समझ में आया ? ये मेरे हैं, ऐसा नहीं मानता। यह पागल मेरा और थोड़ा पागल है तो मेरा नहीं, (ऐसा नहीं मानता)। कहते हैं कि पागल को सयाना करना किस प्रकार ? कि ज्ञानस्वरूपी हूँ, ऐसा निश्चय करो और तुझे कोई पदार्थ जगत में प्रेम और द्वेष करनेयोग्य नहीं है। यह पागल में से सयाना करने की रीति है। डाह्या कहते हैं न ? क्या कहते हैं ? होशियार।

त्यागी नाम धराकर, साधु, श्रावक नाम धराकर यदि उसे ऐसा आवे कि यह शरीर ठीक हो तो मुझे धर्म ठीक हो। ऐसा मूढ़ मिथ्यादृष्टि कहता है। राग-द्वेष, राग-द्वेष, ऐसा नहीं। आत्मा है। वह शरीर है तो शरीर निरोग होगा तो मुझसे दया पलेगी, ऐसी जिसकी मान्यता है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है, मिथ्यादृष्टि का राग है। कौन पर की दया पाले ? क्या है ? वह अन्दर है। शक्ति—व्यक्ति शब्द पड़ा है न ? शक्ति—व्यक्ति का अर्थ यह है। राग करता है तो शक्तिरूप से द्वेष है ही। द्वेष करता है तो शक्तिरूप से राग है ही। व्यक्तीरूप से भले राग दिखायी दे। अन्दर एक के प्रति प्रेम (दिखायी दे कि) आहा..हा.. ! गजब प्रेम है। उसकी शक्ति में द्वेष पड़ा ही है। अन्दर लिखा है। समझ में आया ? आहा..हा.. ! खबर नहीं (कि) क्या राग-द्वेष किस प्रकार से कैसे होते हैं।

ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि धर्मी को तो वास्तव में राग-द्वेष होते ही नहीं। आहा..हा.. ! अपनी थोड़ी कमजोरी से धर्मी को जो रागादि होते हैं, वह राग का राग नहीं परन्तु राग का ज्ञान करते हैं। समझ में आया ? और अज्ञानी को जो मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव है, उसे कोई भी एक प्राणी दया पालने योग्य है, मुझे यह जीव रक्षा करनेयोग्य है—ऐसा राग है, वह मिथ्यादृष्टि

का राग है क्योंकि इसमें राग हुआ तो दूसरे के प्रति द्वेष हुए बिना रहेगा ही नहीं। आहा..हा.. ! बसन्तलालजी ! आहा..हा.. !

जीव अज्ञान से रागद्वेषरूपी दो लम्बी डोरियों.. देखो ! लम्बी अर्थात् अनन्तानुबन्धी के राग-द्वेष की यहाँ बात है। समझ में आया ? आहा..हा.. ! उसमें तो मेरुपर्वत का दृष्टान्त दिया है, परन्तु इसमें टीका में नहीं। अनादि लम्बी डोरी। खींचतानी से.. एक ओर राग—मुझे यह प्राणी रक्षा करनेयोग्य है, यह देश मेरा है, यह शरीर मेरा है, यह स्त्री मेरी है—ऐसा प्रेम है तो उसमें द्वेष का भाव आये बिना रहेगा नहीं। ऐसी खींचतानी से, इन दो डोरियों की खींचतानी से राग-द्वेषरूपी दो डोरियों की (खींचतानी से) संसाररूपी समुद्र में.. संसाररूपी समुद्र में। बहुत काल तक घूमता रहता है.. चौरासी के अवतार में भटकेगा। परिवर्तन करता रहता है। समझ में आया ? आहा..हा.. ! देखो !

विशदार्थ - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच परावर्तनरूप संसार.. यह भटकने का संसार। विशद अर्थ है न ? विशदार्थ। विशद अर्थ किया है। विशद। इस जगत में आत्मा के अतिरिक्त अनन्त रजकण हैं, उनके सम्बन्ध में भटकना, वह द्रव्यसंसार-परावर्तन है। आत्मा का चौदह ब्रह्माण्ड में प्रत्येक क्षेत्र में जन्म लेना और मरण होना, वह क्षेत्रपरावर्तन है। कालपरावर्तन—प्रत्येक समय में अनन्त बार उपजना और मरना, वह कालपरिवर्तन है। भव—नरक, मनुष्य, पशु, स्वर्ग में अनेक भव करना, वह भवपरावर्तन है। भाव-शुभ और अशुभभाव, दया, दान, व्रत, परिणाम वह शुभ (भाव) ; हिंसा, झूठ, वह अशुभ (भाव)। उनमें भटकना, वे मेरे हैं, ऐसा मानकर भटकना, वह भावपरिवर्तन संसार है।

मुमुक्षु : स्त्री-पुत्रादि संसार नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : संसार-फंसार नहीं। स्त्री-पुत्र संसार है ? संसार इसकी पर्याय में अज्ञान और राग-द्वेष (होते हैं), वह संसार है। स्त्री-पुत्र संसार होवे तो क्या हो ? मृत्यु काल में स्त्री-पुत्र तो यहीं रहेंगे। यदि वे संसार हों तो संसार यहाँ पड़ा रहेगा। चला जायेगा तो इसका मोक्ष हो जायेगा। संसार का अभाव हो गया तो मोक्ष हो जायेगा। शरीर, संसार हो, स्त्री, कुटुम्ब (संसार) हो, पैसा संसार हो तो उसका अर्थ ऐसा हुआ कि जहाँ देह छूटा, वहाँ संसार छूट गया। यह सब छूट गया, संसार छूटा तो मोक्ष हो गया।

मुमुक्षु : यह संसार हो, तब तो अच्छा न !

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह संसार है ही नहीं । यह बात ही मिथ्या है । यहाँ अच्छे-बुरे की बात ही नहीं है । यह संसार है ही नहीं । संसार (तो) अपने ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा छोड़कर, मैं पर का कर सकूँ, पर में प्रेम और पर में द्वेष—ऐसा मिथ्यात्वसहित का भाव, वह मिथ्यादृष्टि का भाव ही संसार है । आहा..हा.. !

‘संसरणइति संसारः’ संसार की यह व्याख्या है । अपना ज्ञानानन्द सच्चिदानन्द सिद्ध समान स्वरूप को भूलकर संसरण (अर्थात्) च्युत हो जाना, हट जाना और राग-द्वेष में प्रीति करना और राग-द्वेष ठीक हैं, ऐसा मानना, वही संसार और परिभ्रमण का मूल है । यह तो देह छूटने पर वे भाव लेकर चला जाता है और चीज़ तो पड़ी रहती है । वह चीज़ संसार नहीं है । समझ में आया ? आहा..हा.. !

पंच परावर्तनरूप संसार जिसे दुःख का कारण.. देखो ! द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव । भाव अर्थात् पुण्य-पाप भाव, शुभ और अशुभभाव, दोनों संसार हैं । आहा..हा.. ! यह पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ संसारभाव है । दया, दान, व्रत परिणाम शुभ है । हिंसा, झूठ (अशुभभाव है) । दोनों संसार हैं । देखो ! भाव में क्या आया ? आहा..हा.. ! समझ में आया ?

द्रव्य अर्थात् चीज़ों का सम्बन्ध; क्षेत्र अर्थात् एक-एक जगह में अनन्त बार जन्म-मरण; काल में-समय-समय में (जन्म-मरण); भव में गति में (अर्थात्) नारक, देव (मनुष्य, तिर्यच) में और भाव में शुभाशुभभाव में । **पंच परावर्तनरूप..** इन पाँच में बारम्बार परावर्तन करके चार गति में भटकता है । समझ में आया ? आहा..हा.. !

मुमुक्षु : कर्म से नहीं भटकता ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म-फर्म की बात भी कहाँ है ? कर्म कहाँ भटकाते हैं ? वे तो जड़ हैं, ज्ञेय हैं, ज्ञान में ज्ञेय हैं । ज्ञान में कर्म मुझे नुकसान करेंगे, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है । आहा..हा.. ! वे तो परद्रव्य हैं । परद्रव्य में द्वेष करे तो दूसरे में राग है ही । मिथ्यात्व में राग-द्वेष दोनों शक्ति पड़ी है । समझ में आया ?

पंच परावर्तनरूप संसार.. इसमें भाव जो है, वह भावसंसार है । शुभ-अशुभभाव

/ विकल्प उठना, इसकी दया पालन करूँ, इसे मारूँ, इसकी रक्षा करूँ, इसकी सम्हाल करूँ ऐसा जो भाव का उत्थान होता है, अन्दर में से वृत्ति उठती है, शुभ या अशुभ, दोनों (वृत्तियाँ) संसार परिवर्तन है। वह आत्मा के स्वभाव में नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई! आहा..हा..!

पंच परमेष्ठी के प्रति राग (आवे), वह अस्थिरता का (राग) है। उसमें निश्चय से राग करनेयोग्य है, ऐसा सम्यग्दृष्टि नहीं मानता, परन्तु थोड़ा राग है तो उससे प्रतिकूल थोड़ा द्वेष भी है। कुदेव-कुगुरु पर थोड़ा द्वेष है परन्तु वह राग और द्वेष ज्ञानी को ज्ञेयरूप है। समझ में आया ? पंच परमेष्ठी, देव-गुरु-शास्त्र के प्रति का प्रेम सम्यग्दृष्टि को उनके प्रति का प्रेम है तो उनसे विरुद्ध कुदेव-कुगुरु पर थोड़ा द्वेष का अंश है। वह राग और द्वेष, ज्ञाता का ज्ञेय है। अपना नहीं मानता और अपने से हुए हैं और वे करनेयोग्य हैं, ऐसा नहीं मानता। ओहो..हो..! समकित में क्या बाधा आवे ?

मुमुक्षु : देव को मानना वह....

पूज्य गुरुदेवश्री : मानता है कौन ? अपना मानना, अपना स्वरूप मानना वही (मिथ्या) मान्यता है। परस्वरूप का राग आता है, व्यवहार समकित है परन्तु वह ज्ञान का ज्ञेय है। वह राग है, उससे मुझे लाभ है और राग किया तो मैंने ठीक किया है, (ऐसा माननेवाला) मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ? इसके लिए तो यह इष्टोपदेश (कहलाता है)।

मुमुक्षु : कोई धर्म सच्चा होगा और यह मिथ्या, यह तो राग-द्वेष हो गये।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अस्थिरता का विकल्प आता है, वह दूसरी बात है। अन्दर में नहीं है। ज्ञातारूप से जानते हैं। सच्चा या मिथ्या, वह ज्ञातारूप से जानते हैं। समझ में आया ? परन्तु जब तक अस्थिरता है, तब तक शुभराग आता है और थोड़ा द्वेष का अंश भी आता है परन्तु दोनों को अपने स्वरूप में एकत्व नहीं करता। अज्ञानी तो उनमें ही पड़ा है। राग किया, यह मैंने ठीक किया तो द्वेष हुए बिना रहेगा नहीं, वह भी मैं ठीक करता हूँ, (ऐसा माने बिना रहेगा नहीं)।

मुमुक्षु : खाता अलग करना पड़ेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। खाता अलग किये बिना तेरा छुटकारा नहीं होगा, ऐसा कहते

हैं। आहा..हा..! समझ में आया? हमारे एक नारणभाई थे न? वे नारणभाई जब लोंच करते थे, (तब) कहा, नारणभाई कैसा लगता है? (उन्होंने कहा), 'जितना रोटी खाते हुए राग (होता है), उतना अभी द्वेष होता है।' लाठी में (बात हुई थी)। लाठी में एक ही चातुर्मास किया था न? ८६ में, वहाँ कहा था 'इसमें कैसा लगता है?' 'रोटी, दाल, भात के समय जितना राग होता है, उतने प्रमाण में यहाँ द्वेष होता है।' तर्कबाज बहुत थे। समझे न? जरा सा फेरफार हो गया था। तर्कबाज बहुत थे, बहुत तर्कबाज। थोड़े-थोड़े में तर्क करे तो ऐसा तर्क करे न... समझ में आया? आहा..हा..! समझ में आया? लाठी में वह धर्मशाला है न? वहाँ व्याख्यान देने जाते थे, कमरे पर। बगल में धर्मशाला नहीं, बाहर दरवाजे के पास, वहाँ व्याख्यान वाँचने जाते थे न? पर्यूषण में बहुत लोग होते हैं न? (पूछा) कैसे हैं? (तो कहा) दाल, भात,, सब्जी खाते हुए जितनी उस ओर की राग की वृत्ति खिंचती थी, उतनी ही यहाँ खींचने में द्वेष की वृत्ति आती है। समझ में आया?

यहाँ दूसरे प्रकार से कहते हैं। यह आत्मा ज्ञाता सच्चिदानन्दस्वरूप शुद्ध है, उसमें कोई भी चीज़ में राग करनेयोग्य है, ऐसी चीज़ आत्मा में नहीं है, तो कोई भी चीज़ द्वेष करनेयोग्य है, ऐसा भी आत्मा में नहीं है - एक बात; और सामने अनन्त चीज़ें हैं, उनमें दो भाग नहीं कि यह इष्ट है और यह अनिष्ट है। उसमें ऐसे दो भाग नहीं हैं। वे जगत के पदार्थ तो ज्ञेयरूप से हैं। मिथ्यादृष्टि जीव-अपने स्वरूप का खून करनेवाला, मैं ज्ञान हूँ—ऐसा नहीं मानकर, जगत की चीज़ ज्ञेयरूप से एकरूप जाननी चाहिए, (उसके बदले) उसके दो भाग करता है। यह अनुकूल ठीक है और प्रतिकूल, वह ठीक नहीं, ऐसे राग-द्वेष करता है, वे मिथ्यादृष्टि के राग-द्वेष कहे जाते हैं। सम्यग्दृष्टि को जरा राग-द्वेष होते हैं, वे चीज़ को ठीक-अठीक मानकर ज्ञेय के दो भाग करके राग-द्वेष नहीं होते। आहा..हा..! ऐ..! कान्तिभाई! यह क्या तुम्हारी टाईल्स की बात की? सुना नहीं? वह बाहर की धर्मशाला नहीं? कौन सी? यह भी खबर नहीं। वह व्याख्यान पढ़ने नहीं जाते थे चातुर्मास में? (संवत्) १९८५ में। उस दरवाजे के पास। १९८५। ३७ वर्ष हुए। समझ में आया? अरे!

यहाँ तो आचार्य जरा बहुत सूक्ष्म रीति से राग-द्वेष की व्याख्या करते हैं। समझ में आया? क्या कहते हैं? देखो! ज्ञानी को, धर्मी को, सम्यग्दृष्टि को, लड़ाई का भाव भी होता है। सुनो! और छियानवे हज़ार स्त्रियों के वृन्द में भोग की वृत्ति आती है। सुनो! उस वृत्ति

की वासना मुझे ठीक है, ऐसा नहीं। उस वृत्ति से एकत्व (तोड़कर) भिन्नपना किया है। मैं ज्ञानानन्दमय हूँ, उसमें एकत्व हुआ है। राग से भिन्नता की है। उस समय भी राग से पृथक् है, स्वभाव से एकत्व है। समझ में आया ? अज्ञानी उस राग के (काल में), छोटे-छोटे दया के राग के काल में भी 'मुझे यह रक्षा करनेयोग्य है, मुझे यह प्रेम करनेयोग्य है' ऐसा राग है। वह राग और ज्ञान एक मानकर परचीज में दो भाग करता है, वह मिथ्यादृष्टि का राग है। आहा..हा.. ! गुलाबभाई !

बहुत समझना पड़े ऐसा है, ऐसा कहते हैं। भाई ! ऐसी चीज है। ऐई ! देखो न ! यह शक्ति-व्यक्ति कहा न ? लाऊँ, देखूँ क्या कहते हैं यह ? है न अन्दर में यह ? 'रागद्वेषयोः शक्तिव्यक्तिरूपतया युगपत् प्रवृत्तिज्ञापनार्थे द्वीयग्रहणं' 'द्वयी' शब्द पड़ा है न ? रागद्वेषद्वयी मूल पाठ में द्वयी (शब्द) पड़ा है न, रागद्वेषद्वयी यह उसका अर्थ करते हैं। अज्ञानी को राग-द्वेष एक साथ में हैं। ज्ञानी को एक साथ ज्ञातादृष्टा है। आहा..हा.. ! क्या अन्तर है, वह समझ में नहीं आता।

यह शक्ति है। है न ? स्पष्ट है न बात ? कहा, यह क्या कहते हैं ? नहीं तो विचार तो हुआ था कि पण्डितजी को पूछें कि उसमें क्या है ? वहाँ तो उसमें से स्पष्टीकरण आ गया। शक्ति-व्यक्ति क्या कहते हैं ? कहा। शक्ति-व्यक्ति यह कि आत्मा आनन्द और ज्ञानमूर्ति मैं हूँ, ऐसा भान है, वहाँ राग और द्वेष शक्ति-व्यक्तिरूप से है ही नहीं। समझ में आया ? वहाँ जरा राग-द्वेष थोड़ा होता है। भगवान के प्रति प्रेम, उतना ही कुदेवादि के प्रति द्वेष का अंश होता है (परन्तु) वे दो भाग नहीं करते। वे ज्ञेयरूप से, ज्ञानी राग को ज्ञेयरूप से जानते हैं। मैं ज्ञाता हूँ, वह ज्ञेय है। जैसे परचीज में दो भाग नहीं करते, इष्ट-अनिष्टपना नहीं करते; वैसे शुभ-अशुभ में इष्ट-अनिष्ट के भाग नहीं करते। वे जाननेयोग्य हैं, मैं जाननेवाला हूँ, इसका नाम ज्ञानधर्म को निश्चय करके ज्ञान का धर्म धारा। आहा..हा.. ! समझ में आया ? यह छोड़कर, थोड़ा राग (होवे कि) इस जीव की रक्षा करना ठीक है, वह राग मिथ्यादृष्टि का राग है, क्योंकि परपदार्थ की रक्षा और परपदार्थ का नाश आत्मा तीन काल में नहीं कर सकता।

मुमुक्षु : गौशाला....

पूज्य गुरुदेवश्री : गौशाल कौन कर सकता है ? कौन करता है ? ऐ.. बसन्तलालजी ! अज्ञानी का अभिमान है। आहा..हा.. !

वस्तुस्थिति क्या है ? वस्तु का सत्व, सत् का सत्व कैसा है, यह समझे बिना दूसरे के सत्व को अपने में लगा देता है। वस्तु का सत् कैसा है ? भगवान आत्मा ज्ञानसत् है, ज्ञानसत्व स्वभाव है, आनन्दस्वभाव है, शान्तिस्वभाव है, जानन-देखना स्वभाव है, बस ! यह सत् का सत्व है और पर का सत्व कैसा है कि वह है। वह अपने ज्ञान में जाननेयोग्य है, बस ! इतनी बात है। इसके सिवाय अतिरेक करके उसमें दूसरा कुछ घुसाना कि यह ठीक है, मुझे प्रेम करनेयोग्य चीज़ है तो दूसरी चीज़ अप्रेम की होकर मिथ्यादृष्टि को अनन्त संसार का राग-द्वेष उसे उत्पन्न हुआ है। समझ में आया ? गजब भाई !

वैसे तो नौवें ग्रैवेयक जानेवाला दिगम्बर साधु अनन्त बार हो गया। क्या हुआ ? मिथ्यादृष्टि था। बारह व्रत धारण करके श्रावक भी अनन्त बार हुआ, परन्तु वह विकल्प / राग आया कि मैं ठीक करता हूँ, यह मेरा आचरण है, मेरा कर्तव्य है—ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। राग के दो भाग करता है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? भारी कठिन बात !

मुमुक्षु : सब राजा हों, ऐसा लगता है। सब भगवान हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब भगवान हैं। चैतन्यमूर्ति है, आत्मा बादशाह है। अन्दर चैतन्यशक्ति से भरपूर भण्डार आत्मा है। आनन्द का भण्डार, ज्ञान का भण्डार, ज्ञान की कला खिलानी हो, उतनी खिल सकती है। केवलज्ञान प्रगट कर सके, इतनी इसमें ताकत है। राग प्रगट करे, ऐसी इसमें ताकत है ? समझ में आया ? क्या इसमें—स्वभाव में अन्दर राग-द्वेष भरा है ?

मुमुक्षु : परपदार्थ में....

पूज्य गुरुदेवश्री : परपदार्थ में राग है ? परपदार्थ राग कराता है ? यदि परपदार्थ राग कराता हो तो परपदार्थ तो त्रिकाल रहता है, अतः कभी रागरहित होकर आत्मा वीतराग हो ही नहीं सकेगा। परपदार्थ से राग होता हो तो परपदार्थ की अस्ति तो त्रिकाल है, तो जहाँ तक वह रहे, वहाँ तक राग जायेगा नहीं, परन्तु ऐसा है नहीं। परपदार्थ राग-द्वेष कराते नहीं हैं और आत्मा में राग-द्वेष है नहीं। अज्ञानमूढ़ का मिथ्यात्वभाव, पागलपन है, वह पर में प्रेम और द्वेष करता है, वह पागल मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : पागलपना लक्ष्य में न आता हो तो क्या करें ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पागल भटका करे। क्या करे ? बताये तो भी न समझे तो भटके चार गति में। तो वह भटके, यह तो पहले कहा।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पंच परावर्तनरूप संसार जिसे दुःख का कारण.. देखो! और दुस्तर होने से.. दो बातें। एक, शुभाशुभभाव दुःख का कारण और निमित्त, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, वह भी दुःख का निमित्त है। है न? और दुस्तर.. आहा..हा..! समुद्र में भटकते हुए अनन्त-अनन्त काल हुआ। अनादि काल है न? यह आत्मा नया है? अभी तो कितनों को यह खबर नहीं की आत्मा यहाँ से आया है और कहाँ से आया है, यह खबर नहीं। कल पाँच-सात लोग देखने आये थे। मैंने कहा, यह शरीर की स्थिति है, हों! आत्मा भिन्न है, हों! आत्मा की उम्र नहीं होती। (तो पूछा) यह क्या? आत्मा की उम्र नहीं होती, कहा। यहाँ ७५ वर्ष देखते थे। यहाँ सुनते थे। कहा, यह शरीर की बातें चलती है, आत्मा को उमर-बूमर होती नहीं। आत्मा तो सच्चिदानन्द अनादि-अनन्त है। हैं? दूसरे भव में से यहाँ आया है और यहाँ से कहीं जायेगा। ऐसे अनादि से भटका करता है। हाय.. हाय..! यह और क्या? फिर उस राजुल का दृष्टान्त दिया। हैं? ऐसा है? लो! ऐसा मनुष्यपना पाया और जवान व्यक्ति पढ़े-गुने हों, उन्हें इतना भी भान नहीं होता कि यह आत्मा कहीं था और वहाँ से आया है। कहीं था, वहाँ से आया है। शरीर वहाँ पड़ा रहा, यह शरीर दूसरा है। यह पड़ा रहेगा और यहाँ से चला जाएगा। ऐसे शरीर तो अनन्त आये। द्रव्य शरीर क्यों आये? इन राग-द्वेष के कारण से। राग-द्वेष कैसे? मिथ्यात्व के राग-द्वेष के कारण से। वह यहाँ कहते हैं। आहा..हा..! समझ में आया? हमारा देश, देश के लिए मरना, हमारा परिवार, उसके लिए मरना, हमारा शरीर, उसकी बराबर रक्षा करना, मेरी स्त्री...

मुमुक्षु : शरीर को उपयोग में तो लेना पड़े न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में उपयोग ले। तुम्हारे कहते थे। वे ढेवरभाई एक बार यहाँ पूछते थे, 'इस शरीर का सदुपयोग कैसे करना?' कहा, 'शरीर का सदुपयोग होता होगा?' ऐसे के ऐसे सब। (संवत्) २०१५ के वर्ष में ढेवरभाई आये थे। नेता सब समझने जैसे हैं। इस जड़ शरीर का सदुपयोग होता होगा, इस जड़ का, मिट्टी का? आत्मा भिन्न चीज़,

यह भिन्न चीज़। इस भिन्न चीज़ में रहना, न रहना उसके आधीन है। उसका तू उपयोग कर सकता है? मैं शरीर का सदुपयोग करूँ, ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि के राग की तीव्र पाप की (दृष्टि) है, ऐसा यहाँ कहते हैं। आहा..हा..!

मुमुक्षु : लोक के भले के लिए....

पूज्य गुरुदेवश्री : लोक का कौन भला कर सकता है? धूल में। समझ में आया? भला का अर्थ क्या? दुनिया अपने चैतन्यस्वरूप को भूलकर मिथ्यात्व के राग से दुःखी होती है, वही मिथ्यात्व और भ्रान्ति छोड़कर स्वयं से सुखी हो सकती है। क्या दूसरे ने उसका दोष किया है? दूसरे ने उसका दोष किया है कि दूसरा उसका दुःख मिटा दे और सुखी कर दे? संयोग से क्या सुख है? अनुकूलता मिली, वह सुख है? यह बात तो करते हैं। अनुकूलता मिलने में सुख मानना, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि मानता है। अन्दर में अपने स्वरूप को भूलकर मिथ्या भ्रमणा और राग-द्वेष करके दुःखी होता है। वह करनेवाला अपने मिथ्याभ्रम और राग-द्वेष के कारण दुःखी है, तो जिसने किये, वह राग-द्वेष छोड़कर सुखी हो सकता है। दूसरा क्या सुखी कर सकता है? समझ में आया?

मुमुक्षु : सबके ऊपर से हाथ उठा लेना पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : उठा (भिन्न) पड़ा ही है, यह व्यर्थ का मानता है। करता है क्या? मोहनभाई! परन्तु भारी अभिमानी! यह सब हमारा.. हमारा.. हमारा.. सबका कर दें, देश का कर दें, ऐसा कर दें और भाई! शुरुआत से तो घर से करना, फिर चतुर का पुत्र ऐसे धीरे-धीरे बोले। पहले यहाँ से शुरु करना, फिर जाति में लेना, फिर परिवार में, फिर जाति में, फिर देश में, फिर अमुक में... ओहो..हो..! मानो भाषण.. भारी परन्तु भाषण करनेवाले, हों! ऊँट की तरह भखनार! कौन करे? सुन न!

यहाँ तो आचार्य महाराज कहते हैं, भगवान! तेरी पूँजी में राग-द्वेष बिल्कुल नहीं है, और दूसरी चीज़ तुझे राग-द्वेष करावे, ऐसी दूसरी चीज़ में ताकत नहीं है। तू तेरे स्वभाव के ज्ञातापने को छोड़कर अज्ञान के कारण लम्बी डोरी चलाता है। यह ठीक है, यह अठीक है, ऐसा अनन्त काल से तूने राग-द्वेष का मन्थन किया है। समझ में आया? यह हमारे अंगी हैं, तो इसका अर्थ हुआ कि इसके अतिरिक्त तेरे द्वेषी, वे शत्रु हैं। अंगी और शत्रु दुनिया में कोई है ही नहीं। समझ में आया?

कहते हैं **दुःख का कारण और दुस्तर होने से..** दुस्तर। ओहो..हो..! इन राग-द्वेष से जो भटकना होता है, उसकी दृष्टि में विकार ही मालूम पड़ता है। उसे छोड़ना महा दुष्कर है तो वह अनादि काल से राग-द्वेष में डूब जाता है। अपने ज्ञातादृष्टा स्वभाव में डूबना चाहिए, अन्दर ज्ञानानन्द में आना चाहिए, उसे छोड़कर राग-द्वेष में ठीक है और अठीक है, इसमें डूब गया है। दुस्तक समुद्र हो गया। उससे तिरना दुस्तर हो गया। दुस्तर कहा है न? दुस्तर अर्थात् तिरना मुश्किल हो गया। दुस्तर। दु-सनी। हो गया। दुःख से तरना महामुश्किल हो गया।

समुद्र के समान कहा गया है, उसमें अज्ञान से.. यहाँ तो अज्ञान की ही बात की है। **शरीरादिकों में..** देखो! शरीर में, वाणी में। ऐसी वाणी हो तो दुनिया को लाभ हो। भाषण करना बहुत आवे, लोगों को ऐसे ओहो..हो.. (हो जाए)। ऐसे लोग देखे तो आहा..हा.. (होवे)। ऐसा मुझे होवे न! लाखों लोग बैठे हों, कैसी भाषा करे! कैसा ऐसे सब आकर्षण होकर बैठे! क्या है? भाषा तो जड़ है। समझ में आया? कहते हैं, **अज्ञान से-शरीरादिकों में..** और वाणी में। आदि में है न? आदि। वाणी में भी प्रीति करते हैं कि ऐसी वाणी होवे तो ठीक। समझ में आया? उससे दूसरी वाणी के प्रति द्वेष हुए बिना रहेगा नहीं और यह राग-द्वेष ही अज्ञान का मूल है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! ऐसी बात है। साधारण राग-द्वेष की बात है? लो, यह मैंने छोड़ दिया, इसलिए राग-द्वेष छूट गये। धूल में छूटे नहीं। राग-द्वेष ऐसे छूटते हैं?

आत्मा ज्ञानानन्दस्वभाव में विकल्प का उत्थान है ही नहीं। परपदार्थ का तो त्रिकाल अभाव है परन्तु उसमें शुभाशुभ परिणाम उठते हैं, उनका भी अभाव है। ऐसे ज्ञान में एकाग्र होकर विकल्प को पृथक् करना, वही आत्मा के हित का तरण उपाय है। दूसरा कोई तरण उपाय नहीं है। समझ में आया? आहा..! यह दुस्तर आया न? तिरना कठिन है, ऐसा कहा न? समझ में आया? आचार्य बहुत गूढ़ गम्भीर बात करते हैं।

अज्ञान से-शरीरादिकों में.. शरीर ठीक होवे तो बहुत परोपकार किया जा सके, सेवा कर सकूँ। निरोग शरीर होवे तो कर सकूँ। मूढ़ है। शरीर तो जड़ है। उससे किसकी सेवा कर सकेगा? शरीर की क्रिया होती है, वह जड़ की पर्याय है। वह पर्याय तेरा कर्तव्य है? समझ में आया? तेरा कर्तव्य हो तो वे दोनों चीजें एक हो जाएँ। शरीर की पर्याय और

आत्मा एक हो जाए। ऐसे एक है नहीं। अज्ञान से शरीर आदि में, वाणी आदि में, मन आदि में, यहाँ एक मन भी है, (उसमें) आत्मभ्रान्ति से.. आत्मभ्रान्ति अर्थात् उससे मुझे लाभ होगा, ऐसा माना (वही उसमें आत्मा माना।)

जिससे लाभ मानता है, उसे एक माने बिना लाभ नहीं मान सकता। गुलाबभाई! सिद्धान्त समझे? सिद्धान्त बराबर (समझे)? शरीर से मुझे धर्म का लाभ होगा, (ऐसा जिसने माना उसे) शरीर और आत्मा एक माने बिना ऐसी मान्यता हो सकती नहीं। समझ में आया? हमारे बहुत भगत हैं, हम तो दुनिया के पास लाखों, करोड़ों, अरबों रुपये निकला सकते हैं और दया, दान कर सकते हैं। हमारे पास पैसे नहीं और पैसेवाले से हम पैसा निकालवा लेते हैं। मूढ़ है, ऐसा कहाँ से लाया?

मुमुक्षु : व्याख्यान करे...

पूज्य गुरुदेवश्री : व्याख्यान कौन करता है? भाषा जड़ की पर्याय है। जड़ की पर्याय से मैं दूसरे को लाभ करा सकता हूँ, ऐसी बात है? तो जड़ को अपना माने बिना जड़ से पर को लाभ होता है और इससे मुझे लाभ होता है, वह जड़ को अपना माने बिना ऐसी दृष्टि नहीं होती। समझ में आया?

मुमुक्षु :अमल करने के लिए..

पूज्य गुरुदेवश्री : अमल भी कब? पहले समझे, तब अमल कहलाये न? अमल का अर्थ क्या? जो मल अर्थात् मिथ्याभ्रान्ति करता है, उसे समझना, उसका नाम अमल कहते हैं। मलरहित अमल। सम्यक्श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान करना, वह अमल। मिथ्याश्रद्धा आदि करना, वह अमल में रखने की योग्यता नहीं है।

मुमुक्षु : आचरण....

पूज्य गुरुदेवश्री : आचरण यह है, दूसरा कौन सा आचरण है? क्या आचरण लटकता है? आचरण आत्मा में होता है या आत्मा का आचरण जड़ में होता है? मिट्टी में होता है?

अज्ञान से-शरीरादिकों में आत्मभ्रान्ति से-अतिदीर्घ काल तक.. अनन्त संसार है। अनन्त काल से भटकता है न? एकेन्द्रिय से लेकर, निगोद से लेकर, आलू आदि में

जीव हैं, वे भी अज्ञान से, राग-द्वेष से अपना मानकर, अव्यक्तरूप से पर को अपना ही मानता है। समझ में आया ? एक श्वास में अठारह भव करता है। ओहो..हो.. ! निगोद.. आलू आदि सब कन्दमूल है। अनन्त जीव हैं, एक श्वास में अठारह भव करते हैं। यह राग—शरीर के प्रति प्रेम, एकत्वबुद्धि है। राग के प्रति एकत्वबुद्धि है, इस कारण से वहाँ भव करते हैं। ऐसे साधु हुआ और त्यागी होकर भी शुभराग से मुझे लाभ होगा, (ऐसा मानकर) राग से एकत्वबुद्धि हुई, वह मिथ्यात्वभाव है। वह मिथ्यात्वभाव परिभ्रमण का मूल है। समझ में आया ?

अतिदीर्घ काल तक घूमता (चक्कर काटता) रहता है। लो! इष्ट वस्तु में प्रीति होने को राग.. देखो! अपने अतिरिक्त दूसरी चीज़ को इष्ट मानना, वह उस पर मूढ़ राग करता है। और अनिष्ट वस्तु में अप्रीति होने को द्वेष कहते हैं। शरीर में रोग हुआ (तो) उं...हुं.. (होता है) निरोग हुआ तो ठीक है। क्या ठीक-अठीक ? वह तो जड़ की पर्याय है, जड़ की पर्याय में तुझे ठीक-अठीकपना कहाँ से आया ? समझ में आया ? सेवा करनेवाले हों तो परिणाम अच्छे रहें, शरीर में रोग हो (और) वैयावृत्य करनेवाले, सम्हाल करनेवाले ठीक हों, सम्हाल करनेवाले (तो ठीक रहे)। शरीर में बहुत रोग हो तो सम्हाल करनेवाले हों, ऐसे हवा-पानीवाला मकान हो तो ज़रा परिणाम अच्छे रहें। मूढ़ है, कहते हैं, मूढ़! उस पर के कारण तेरे परिणाम होते हैं ? मिथ्यादृष्टि है, तूने आत्मा का खून किया है। समझ में आया ? आहा..हा.. !

मुमुक्षु : निश्चिन्तता से ऐसे बैठे-बैठे धर्म किया जाये....

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी धर्म (नहीं है) पैसे के कारण धर्म होता होगा ? ऐई ! छगनभाई ! ये खीमचन्दभाई पैसेवाले हैं, तो निश्चिन्तता से बैठे हैं, ऐसा ये कहते हैं। यहाँ साधारण (स्थितिवाले) भी बहुत हैं। नहीं ? महीने में पच्चीस रुपये मिले नहीं, ऐसी महिलाएँ भी यहाँ कितनी ही हैं। उसमें क्या ? ऐई !

आचार्य भी गजब बात करते हैं, हों ! इष्टोपदेश ! इष्ट उपदेश। बापू ! भाई ! तेरा आत्मा परवस्तु में कुछ भाग करके, छोटी में छोटी चीज़ में भी वह मुझे प्रेम करनेयोग्य है अथवा रक्षा करनेयोग्य है तो दूसरी अरक्षा में द्वेष करनेयोग्य है, ऐसा हो गया। उस भाव को मिथ्यात्वभाव कहते हैं। इसका नाम इष्ट उपदेश है। समझ में आया ? और उसमें लाभ

मनवावे, वह अनिष्ट उपदेश, दुष्ट उपदेश है। वह उपदेश ही दुष्ट है। समझ में आया ? आहा..हा.. ! कोई भी प्राणी भाव द्वारा दूसरे को कहे कि भाई ! हमारे भले एकाध-दो भव करना पड़े, परन्तु दुनिया को लाभ होता हो तो भले हमारे भव करना पड़े। दुनिया को इतना मीठा लगे... आहा..हा.. ! यहाँ कहते हैं कि मूढ़ है। तू मिथ्यादृष्टि अनन्त संसारी प्राणी है।

मुमुक्षु : बेचारे दुनिया के भले के लिए भव करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भव क्या ? भव और भव का राग करना, वह ठीक है, ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। उससे पर में निमित्त होना, यह तीन काल में नहीं होता। समझ में आया ? बाहर में कैसा मीठा लगे ! ओहो.. ! भाई ! हमारे दो भव करने पड़ें तो भी दिक्कत नहीं परन्तु दुनिया को अनुकूलता करने के लिए हमारा जन्म (भले होओ)। लाखों लोग ऐसे आहा.. ! (करे)। शास्त्रकार कहते हैं कि वह अपना / आत्मा का खून करता है। समझ में आया ? देखो, उस वस्तु में प्रीति की। अनिष्ट वस्तु में अप्रीति की। समझ में आया ? आहा..हा.. ! क्या तुझसे उसकी पर्याय सुधर जायेगा ? उसकी योग्यता से सुधरता है। तुझे ऐसा अभिमान कहाँ से आया ? और भव करने का भाव तो राग करने का भाव हुआ। राग का फल भव करने का भाव हुआ। यह तो द्वेष हुआ। समझ में आया ? इससे विरुद्ध में द्वेष हुआ और करने में राग हुआ।

उनकी शक्ति और व्यक्तिरूप से हमेशा प्रवृत्ति होती रहती है,... है ? राग के समय राग की व्यक्तता और द्वेष की शक्ति। द्वेष के समय व्यक्तता द्वेष की और राग की शक्ति। समझ में आया ? यह क्या कहते हैं ? **शक्ति और व्यक्तिरूप से हमेशा प्रवृत्ति होती रहती है,...** परिणाम में। क्या (प्रवृत्ति होती है) ? आत्मा का ज्ञान-दर्शन स्वभाव है, उसे छोड़कर पर के हित के लिए या पर को प्रेम करना, राग ठीक है तो उस मिथ्यादृष्टि के राग में व्यक्तता राग की है; शक्तिरूप से द्वेष पड़ा ही है और हमारा-धर्म का विरोधी है, उसे मारना ठीक है। धर्म के विरोधी को मार डालना - ऐसा भाव द्वेष है। तो द्वेष में दूसरे के प्रति के प्रेम की शक्ति पड़ी ही है। कोई दुश्मन है ही नहीं। समझ में आया ? धर्म विध्वंसियों को तो छेद डालना...। अरे ! भगवान ! धर्म विध्वंसी कहना किसे ? वे तो उसके परिणाम है। मिथ्यात्व हो तो धर्म द्वेषी उसके परिणाम में है। समझ में आया ? आहा !

मुमुक्षु : वह तो छेदाया ही गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह छेदाया गया है। किसे छेदना है अब तुझे ? क्या करना है तुझे ?

शक्ति और व्यक्तिरूप से हमेशा प्रवृत्ति होती रहती है,.. देखो! कहते हैं कि जैसे ज्ञानी को हमेशा ज्ञातापना कायम रहता है। सम्यग्दृष्टि को तो हमेशा ज्ञातापना ही रहता है। राग आवे तो भी ज्ञाता, द्वेष आवे तो भी ज्ञाता। ठीक-अठीक है ही नहीं। अज्ञानी को हमेशा राग-द्वेष ठीक है - ऐसा अज्ञानपना उत्पन्न होता है। हमेशा राग-द्वेष की प्रवृत्ति को ही अपनी मानता है। समझ में आया ?

इसलिए आचार्यों ने इन दोनों की जोड़ी बतलाई है। ऐई! मोहनभाई! दोनों की जोड़ी। कहाँ किसने जोड़ी थी, वह तोड़े ? व्यर्थ में राग से जोड़ी थी, राग किया तो टूट गयी। उसमें क्या हुआ ? जोड़े वह तोड़े और तोड़े वह जोड़े। पर के साथ राग की एकता जोड़े, वह राग की एकता तोड़े। दूसरा कौन तोड़ सके ? आहा..हा.. ! समझ में आया ? दोनों की जोड़ी बतलाई है। बाकी के दोष इस जोड़ी में ही शामिल हैं,.. देखो! क्या कहते हैं ? जिसने ज्ञेय के ऐसे दो भाग कर दिये और अपने ज्ञान में भी खण्ड कर दिये कि राग-द्वेष ठीक है, करनेयोग्य है - तो उसमें सब दोष आ जाते हैं। मिथ्यात्व का, अनन्तानुबन्धी का, हास्य का, भोग का, कर्ता का, भोक्ता का - सब दोष उसमें समा जाते हैं। जैसा कि कहा गया है.. लो! दृष्टान्त देते हैं। यह आयेगा। यह ज्ञानार्णव का है, हों! ज्ञानार्णव का श्लोक है न! यह श्लोक आयेगा। शुभचन्द्राचार्य का ज्ञानार्णव एक शास्त्र है न? उसका श्लोक है। वह आयेगा।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १०

गाथा-११

शुक्रवार, दिनाङ्क २५-०३-१९६६

चैत्र शुक्ला ३,

वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश, पूज्यपादस्वामी का कहा हुआ है। ग्यारहवीं गाथा चलती है। देखो! यह श्लोक है बीच में, यह ज्ञानार्णव का श्लोक है। क्या कहते हैं ? यहाँ आया न अन्तिम ? कि आचार्यों ने इन दोनों की जोड़ी बतलाई है। बाकी के दोष इस जोड़ी में ही शामिल हैं, जैसा कि कहा गया है - 'यत्र रागः पदं धत्ते'। जहाँ राग-द्वेष (होते हैं),

यह मिथ्यात्व सहित के राग-द्वेष की बात है। उसका क्या अर्थ? कि 'जहाँ राग अपना पाँव जमाता है,... परद्रव्य देव-शास्त्र-गुरु इत्यादि हितकारी हैं - ऐसा मानना, वह मिथ्यात्व का राग है और शरीर शोषणयोग्य है, शरीर में से माल निकालने योग्य है - यह द्वेष है। समझ में आया? जहाँ राग होता है, किसका राग यह? ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ - ऐसा जहाँ अन्तर में ज्ञाता का भान नहीं, उसे अपने अतिरिक्त अन्य पदार्थ अथवा स्वयं मैं, यह ठीक हूँ और ये अठीक है - यह राग और द्वेष करने का अभिप्राय हुआ। समझ में आया? देव-गुरु-शास्त्र परद्रव्य है। उन्हें जब हितकारी - ऐसा माने तो उस परद्रव्य के प्रति इसे राग मिथ्यात्वसहित का हुआ। सूक्ष्म बात पड़ी। आहा..हा..! ऐसे उसकी श्रद्धा, राग करना, वह तो पुण्य है, परन्तु वे मुझे हित के करनेवाले हैं, परद्रव्य मेरा हित कर देगा - यह मान्यता मिथ्यात्व सहित का राग है। यह बात है। आहा..हा..! अन्य लोगों को कठिन पड़े, हों! समझ में आया? ऐ.. न्यालभाई!

जहाँ राग स्वयं स्थापित किया जाता है कि यह राग करनेयोग्य है... समझ में आया? वहाँ इससे प्रतिकूल पर द्वेष हुए बिना रहता ही नहीं। जगत में इष्ट और अनिष्ट पदार्थ कोई है ही नहीं। आत्मा ज्ञाता और परपदार्थ ज्ञेय, बस! इतना सम्बन्ध है। इससे अधिक सम्बन्ध डाले कि ये पदार्थ मुझे शरीरादि मिले हैं, उन्हें अपने को शोषण करना चाहिए, माल निकालना चाहिए। शरीर ऊपर से माल (निकालना चाहिए), यह भी पर जड़ में से माल निकालने का भाव है।

मुमुक्षु : सदुपयोग तो करना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही मिथ्यादृष्टि जीव है। समझ में आया?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह शरीर अपवास-बपवास से लाभ करना - ऐसा कहते हैं। शरीर में से लाभ हो। अपवास करें, यह करें तो शरीर में से जीव को लाभ हो, मूढ़ है, कहते हैं। शरीर में से लाभ कहाँ से (होगा)? लाभ तो आत्मा में है। जरा, बहुत सूक्ष्म बात है।

आत्मा आनन्दस्वरूप है। उसकी दृष्टि करके उसमें एकाग्रता से आत्मा को शान्ति का लाभ होता है। शरीर को अपवास करके शोषण करना और यह करें तो इसमें से अपने

को निर्जरा होगी, (ऐसा माननेवाले ने) परद्रव्य में हितबुद्धि मानी है। समझ में आया ? यह मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्व का राग अनन्तानुबन्धी का है। गजब बात, भाई ! यहाँ तो राग-द्वेष की एकताबुद्धिवाले की (बात की है)। कहो, समझ में आया ?

उसमें भी है न ? उसमें नहीं ? मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। यह बात ली है। द्रव्यलिंगी का जो आता है न ? वहाँ द्रव्यलिंगी का आता है, हों ! अज्ञानी पहले तो संसार में नरकादि के दुःख जानकर, स्वर्गादि में भी जन्म-मरणादि के दुःख जानकर संसार से उदास होकर मोक्ष को चाहता है। यही मिथ्यात्वभाव है। कारण कि स्वर्गादि में जन्म-मरण के दुःख जानकर संसार से उदास (होकर) मोक्ष को चाहता है। अब उन दुःखों को सब दुःख जानते हैं, परन्तु इन्द्र-अहमिन्द्रादि विषयानुराग से इन्द्रियजनित सुख भोगते हैं, उसे भी दुःख जानकर... स्वर्ग का दुःख, वह दुःख, दुःख ही है। पुण्य के फलरूप से स्वर्ग मिलता है, उसमें दुःख है - ऐसा जानकर, निराकुल सुख अवस्था को पहिचानकर... अपना आत्मा अनाकुल आनन्द है, उसे पहिचानकर अन्तर में दृष्टि, ज्ञान करे, उसे सच्चा सम्यग्दर्शन होता है। समझ में आया ?

स्वर्गादि में जन्म-मरण के दुःख जानकर - ऐसा (कहा है), परन्तु स्वर्ग स्वयं ही दुःखरूप है। क्या कहा ? नरक में दुःख जानकर, अरे ! नरक में दुःख है, बापू ! पाप नहीं करना और स्वर्ग में जन्म-मरण का दुःख है, इसलिए अपने को पुण्य करना। परन्तु स्वर्ग में दुःख ही है। जन्म-मरण का क्या ? स्वर्ग में जन्मना और इन्द्रियों की आशा (रहे), वही दुःख है। जन्म-मरण का दुःख नहीं। समझ में आया ? स्वर्ग का अवतार, विषयों का राग हो, वही दुःखरूप है। ऐसा नहीं जानता और स्वयं अपने स्वरूप को जाने बिना उस स्वर्ग के सुख में सुखबुद्धि रहे और जन्म-मरण को दुःख माने तो वह दृष्टि मिथ्यात्व है।

तथा विषय-सुखादि का फल नरकादि है। देखो ! अरे ! भई ! विषय सुख का सेवन करूँगा तो नरक में जाऊँगा, यह मिथ्यात्व भाव है। उसे नरक के दुःख का डर है। उसे-मिथ्यादृष्टि को प्रतिकूलता लगती है। आहा..हा.. ! नरक के.... देखो है न ? विषय सुखादि का फल नरक है। विषय सेवन करूँगा तो नरक में जाऊँगा। उस नरक के प्रतिकूल दुःख उसे प्रतिकूल दुःख लगते हैं। उसे वह चीज़ प्रतिकूल लगती है।

मुमुक्षु : पंचेन्द्रिय में सुख है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी नहीं। इन्द्रिय के सुख में दुःख है, यह कहते हैं। अभी कब था ? धूल में। नरक में भी यह स्वयं नरकादिक है... विषय सुखादि का फल, विषय सेवन करूँगा (तो) नरक में जाऊँगा। अर्थात् यह तो उसे प्रतिकूलता लगी। विषयसुख स्वयं दुःखरूप है और आत्मा आनन्दरूप है – ऐसी तो दृष्टि की नहीं। समझ में आया ? विषय सेवन करूँगा तो नरक में जाऊँगा, इसलिए सेवन नहीं करना। परन्तु विषय सेवन का भाव ही दुःखरूप है।

मुमुक्षु : अभी तो विषय में सुख है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में नहीं, यही कहते हैं। क्या कहते हैं ? आहाहा ! यह विषय सुखादिक के फल नरकादिक के हैं, ऐसे माननेवाले परद्रव्य को अहितकर मानते हैं, यह मिथ्यात्व है। शरीर अशुचिमय विनाशीक है। शरीर तो अशुचि मैल है, नाशवान है, ऐसा करके पोषण करनेयोग्य नहीं है—ऐसा माननेवाले भी मिथ्यादृष्टि हैं। परद्रव्य को क्या है ? समझ में आया ? द्रव्यलिंगी के धर्म के साधन में अन्यथापना वर्णन किया है। शरीर अशुचि है, नाशवान है, पोषण करनेयोग्य नहीं है, यह द्वेष हुआ – शरीर के प्रति द्वेष हुआ। यह मिथ्यादृष्टि को ऐसा द्वेष होता है। सम्यग्दृष्टि (तो ऐसा मानता है कि) पोषणयोग्य में आत्मा आनन्दकन्द है, उसकी दृष्टि करके राग घटानेयोग्य है। एक ही बात है। समझ में आया ? आहाहा ! देखो ! पोषण करनेयोग्य नहीं है। कुटुम्ब आदि सब स्वार्थ के सगे हैं। कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, सब छोड़। यह तो द्वेष हुआ। समझ में आया ?

मुमुक्षु : शास्त्र में कहा है कि लुटेरे हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : लुटेरे हैं, यह मानता है। मूल में लुटेरे वे कोई नहीं हैं। वह तो लुटता है, तब लुटेरे कहने में आते हैं। स्त्री, पुत्र सब (ऐसा कहे), मेरा ऐसा करो। स्वार्थ के सगे, ऐसा मानना, वह उनके प्रति द्वेष करता है। वह तो जड़ चीज है, परचीज है। परचीज तुझे नुकसान कहाँ करती है ? स्त्री, पुत्र नुकसान करनेवाले हैं ही नहीं। मूढ़ ऐसा मानता है कि मुझे ये नुकसान करते हैं। (वह तो) परद्रव्य का अनिष्टपना माना। परद्रव्य की अनिष्ट की मान्यता ही मिथ्यात्व है। आहाहा !

मुमुक्षु : उसमें से हटना किस प्रकार ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा के ज्ञान में रहना, वह हटना है। और (दूसरा) हटना कौन सा (था) ? वहाँ से हटा हुआ ही पड़ा है। आहाहा! आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसमें मैं स्थिर होऊँ, बस! राग उत्पन्न न हो (और) पर का लक्ष्य छूट जाता है, इतनी बात है। पर अहितकारी है या हितकारी, ऐसा कुछ है ही नहीं।

देखो! इत्यादिक परद्रव्यों का दोष विचारकर... परद्रव्य का दोष विचारकर उनका तो त्याग करता है, वह तो मिथ्यात्व है। परद्रव्य का दोष विचारकर छोड़े, वह तो मिथ्यात्व हुआ। परद्रव्य का दोष है? या तेरी यह मान्यता पर में इष्ट-अनिष्टपना मानना, वह तेरा दोष है? आहाहा! समझ में आया? और व्रतादि का फल स्वर्ग, मोक्ष है। हम व्रत पालेंगे तो स्वर्ग मिलेगा, मोक्ष मिलेगा। समझ में आया? यह तो शरीर पर राग हुआ। तपश्चरण आदि पवित्र फल के देनेवाले हैं। लो! करो, उपवास। वह पवित्र फल देगा। और यह शरीर शोषणयोग्य है, और यह शरीर शोषणयोग्य है, यह मिथ्यात्वभाव है। परद्रव्य के प्रति द्वेष हुआ। परद्रव्य तो ज्ञेय है। दृष्टि में तत्त्व की खबर नहीं। जड़ तत्त्व में दोष कहाँ है? उसमें है दोष? शरीर में से लाभ होगा? व्रत पालो शरीर में से कुछ लाभ होगा? धूल में उसमें (लाभ) नहीं है।

यह देव-गुरु-शास्त्र आदि हितकारी है—इत्यादि परद्रव्य का गुण विचार कर, उन्हें अंगीकार करता है। इत्यादि प्रकार से किन्हीं परद्रव्यों को बुरा जानकर अनिष्टरूप श्रद्धान करता है, किसी परद्रव्य को भला जानकर इष्टरूप श्रद्धान करता है। अब उस परद्रव्य के इष्ट-अनिष्टपने का श्रद्धान करना, वह मिथ्या है। परद्रव्य इष्ट-अनिष्ट है ही नहीं। (इष्ट-अनिष्ट) तो मिथ्यादृष्टि मानता है। आहाहा! दृष्टि मिथ्या है। परद्रव्य में कहाँ इष्ट-अनिष्टपना है? और इस श्रद्धान से उदासीनता भी धारण (करता है)। उदास.. उदास.. किसी से (राग करना) नहीं। उदास.. उदास.. वह तो द्वेष बुद्धि हुई।

परद्रव्य अच्छा नहीं है, नुकसानकारक है। स्त्री-पुत्र (से नुकसान है)। उदास हो जाओ। यह तो द्वेषबुद्धि हुई। देखो! उदासीनता भी द्वेषबुद्धि होती है क्योंकि किसी को बुरा जानना, उसका नाम द्वेष है, लो! तब सम्यग्दृष्टि भी परद्रव्य को बुरा जानकर त्याग करता

हैं न? प्रश्न (किया) सम्यग्दृष्टि परद्रव्य को बुरा जानता ही नहीं। अपने राग-द्वेष को बुरा जानता है। स्वयं सरागभाव को छोड़ता है, इसलिए उसके कारण का भी त्याग हो जाता है, निमित्त का लक्ष्य छूट जाता है। वस्तु विचारने पर कोई परद्रव्य तो भला-बुरा है ही नहीं। देव-शास्त्र-गुरु भी आत्मा का भला कर दे या कुटुम्ब-कबीला आत्मा का नुकसान कर दे, ऐसा कोई द्रव्य है ही नहीं। कोई ऐसे द्रव्य हैं ही नहीं कि आत्मा का कोई भला कर दे और बुरा कर दे, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : अपवाद है या नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें कोई अपवाद-वपवाद नहीं होता। कहो, समझ में आया इसमें? क्या (कहा)? यह देव-शास्त्र-गुरु आत्मा का भला कर दे तो परद्रव्य भला कर दे, यह मान्यता मिथ्यात्व है।

कहते हैं कि जहाँ राग अपना पैर धारे अर्थात् प्रेम करता है, वहाँ द्वेष होता है, अवश्य होता है। या हो जाता है, ... द्वेष होता है। राग है, वहाँ द्वेष है। यह मिथ्यादृष्टि की बात है, हों! ज्ञानी को पर के प्रति इष्ट और अनिष्ट बुद्धि होती ही नहीं। इष्ट में इष्ट अपना स्वभाव और अनिष्ट राग और द्वेष। बस! तीसरी चीज़ है नहीं। समझ में आया? क्या?

इष्ट अपना स्वभाव शुद्ध आनन्दकन्द की रुचि करना वह (है)। पुण्य-पाप के विकल्प, पुण्य और पाप दोनों अनिष्ट हैं। शुभ और अशुभराग दोनों अनिष्ट हैं। एक शुभराग को ठीक माने तो उसमें राग हुआ, पाप के ऊपर द्वेष हुआ, यह मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई! श्रद्धा की बात की लोगों को खबर नहीं है। बाह्य त्याग करे, और फिर माने कि हम त्यागी हैं। बापू! सूक्ष्म बात है, भाई!

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। वह किस चीज़ को इष्ट-अनिष्ट माने? और किस चीज़ को छोड़ने से लाभ होगा और किस चीज़ के संग से लाभ होगा? किस चीज़ के छोड़ने से लाभ होगा और किस चीज़ के संग से लाभ होगा? (पर से लाभ-नुकसान) है ही नहीं। समझ में आया? इस आत्मा के संग से लाभ और विकार के संग से नुकसान है।

मुमुक्षु : त्याग करना या नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु किसका त्याग? कहते हैं न? स्वरूप में एकाग्र होने पर

राग छूट जाता है, उसका नाम राग का त्याग कहने में आता है। परमार्थ से भी राग का त्याग कर्ता आत्मा नहीं है। परमार्थ से भी राग के त्याग का कर्ता आत्मा नहीं है, क्योंकि राग-त्याग करूँ, ऐसा स्वरूप में नहीं है। स्वरूप शुद्ध है, उसकी दृष्टि होने पर, एकाग्र होने पर राग उत्पन्न नहीं होता, उसने-आत्मा ने राग का अभाव किया, ऐसा व्यवहारनय से कथन किया जाता है। राग कहाँ है ? राग आत्मा में उत्पन्न होता नहीं, इसका नाम राग का त्याग है। छोड़े क्या ? परवस्तु को मैं छोड़ूँ और ग्रहण करूँ, यह मिथ्यात्वभाव है। बहुत सूक्ष्म बात है, भाई ! यह राग-द्वेष की बात चलती है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : मूल मुद्दे की रकम है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुद्दे की रकम है।

देखो ! जहाँ राग अपना पैर धरता है अर्थात् जहाँ राग होता है कि यह मुझे इष्ट है, यह इष्ट है, वहाँ दूसरी चीज़ में अनिष्टता अवश्य आये बिना रहती नहीं। शरीर नुकसानकारी है, परिवार नुकसानकारी है, स्त्री नुकसानकारी है। क्या वह नुकसानकारी है ? स्त्री, कुटुम्ब नुकसानकारी है ? वह तो परद्रव्य है। हमको लूट डाला इन्होंने। इन्होंने लूटा है तुझे ? यह मूढ़ है। वे कहे न ? समझे न 'सुख से भजूँगा श्री गोपाल' आता है न ? 'भला हुआ टूट जंजाल।' उनके कारण क्या है ? स्त्री मर जाए तो अकेले रहेंगे और हम धर्म करेंगे, यह अनिष्टबुद्धि हुई। समझ में आया ? भाई ! यह तो ऐसी बातें हैं।

अकेला चैतन्य निराला परद्रव्य के सम्बन्धरहित तत्त्व है। उसकी दृष्टि में कोई परद्रव्य किंचित्मात्र हितकारी-अहितकारी है ही नहीं। आहाहा ! क्या करना इसमें ? ऐसे करने जाए तो ऐसे करे, छोड़ने जाए तो कहे मिथ्यात्व लगता है। उस मिथ्यात्व को छोड़ने जाता है, इसलिए नहीं। यह परपदार्थ प्रतिकूल है, इसलिए छोड़ता हूँ, यह मिथ्यात्वभाव है। परपदार्थ प्रतिकूल है ही नहीं। कोई प्रतिकूल अनिष्ट है ही नहीं। परपदार्थ तो ज्ञान में ज्ञेय है। ज्ञेय के बदले उसे प्रतिकूल माना तो वह मिथ्यात्वभाव है।

मुमुक्षु : साहेब ! पैसा होवे तो दान दिया जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी पैसे का दान दिया जाए तो आत्मा में क्या आया ? पैसा तो धूल है। धूल का जाना-आना होवे, वह बात आत्मा के आधीन नहीं है। पैसे का जाना-

आना आत्मा के आधीन नहीं है। मैंने पच्चीस लाख में से पाँच लाख दिये। कौन दे ? पच्चीस लाख के रजकण मैंने दिये, यह मान्यता ही मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! पैसा कहाँ देता है ? पैसा जड़ है, अजीब पुद्गल है। अब वह पुद्गल यहाँ से कहीं जाना, वह तो उसके अधिकार की बात है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि पैसा रजकण धूल है, मैं उसका स्वामी हूँ और मैंने दिया - तो जड़ का स्वामी होता है, वह मिथ्यात्वदृष्टि है। समझ में आया ? और मैंने दिया, वह भी जड़ का स्वामी हुआ, मिथ्यादृष्टि हुआ। कठिन बात है, भाई! आहाहा! धूल में भी नहीं। दस लाख, बीस लाख हुए, इसलिए पाँच लाख खर्च कर डालो, धर्म हो जाएगा। धूल में भी धर्म नहीं है। हाँ; उसमें राग की मन्दता करे तो पुण्य होता है और वापस ऐसा कहे कि मैंने दिये, मेरी चीज़ थी। जड़ मेरी चीज़ थी कि दूसरे को दिये ? बसन्तलालजी ! क्या करना ? लोग सोनगढ़ के नाम से बहुत कहते हैं। कहते हैं, यह आचार्य को कह। आहाहा! कहो, मगनभाई ! यह क्या है ?

जहाँ राग होता है... कहते हैं भाई ! आत्मा तो ज्ञाता-वीतरागस्वरूप है। किसी के प्रति, देव-गुरु-शास्त्र के प्रति राग होता है। समझ में आया ? परन्तु राग हेयबुद्धि से आत्मा में वर्तता है। राग से लाभ होता है और वह परद्रव्य है, इसलिए मुझे यह राग हुआ और वह परद्रव्य है, इसलिए मुझे अन्दर में धर्म का लाभ होगा, यह मान्यता अत्यन्त विपरीत है। लाभ की खान तो आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड है। उसके बदले लाभ का कारण निमित्त में और जड़ को-पर को माना। समझ में आया ? अथवा उसमें राग हुआ, मन्द राग (हुआ) उस मन्द राग से मुझे सम्यग्दर्शन और ज्ञान होगा, यह भी मिथ्यात्व शल्य है, मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! समझ में आया ?

इन दोनों (राग-द्वेष) के आलम्बन से मन अधिक चंचल हो उठता है। देखो ! जहाँ आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ऐसा भान नहीं और यह ठीक-अठीक जहाँ भाव है, वहाँ मिथ्यात्वभाव से वह चंचल और अस्थिर हो जाता है। समझ में आया ? यह मिथ्यात्वसहित के चंचलता की बात है, हों ! ज्ञानी को जो जरा अस्थिरता हो जाती है, वह तो पुरुषार्थ की कमजोरी है न, (इसलिए होती है)। ज्ञानी को वे कोई भी रागादि आवें तो वह राग परवस्तु इष्ट है, इसलिए आता है, ऐसा नहीं है तथा राग करना, वह मेरा स्वभाव है- ऐसा नहीं है। इसलिए राग जरा आता है, उसे ज्ञातारूप से जानता है। समझ में आया ? इसलिए उसे

चंचलता कहने में नहीं आती। दृष्टि की चंचलता है, वह चंचलता कहने में नहीं आती, ऐसा यहाँ कहते हैं। वह चंचल.. आहाहा! ऐसा लेना... ऐसा लेना...

(संवत्) १९८२ में एक बार नहीं कहा था? 'जो जगत को तारे वह तिरे।' एक वकील आया था। उसने लिखा कि तिरे वह तारे। जो आत्मा तिरे, वह तिरनेवाले जीव को निमित्त होता है। तब (वह वकील कहे) ऐसा नहीं है। जो जगत को तारे वह तिरे। (यदि ऐसा हो) तो जगत को खोजने जाना पड़े कि चलो भाई! तुम तिरो तो मैं तिरूँगा। कहा, ऐसी बात नहीं होती।

आत्मा अपने स्वरूप से श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति से तिरता हो, शान्ति से तिरता हो, धर्म में से उद्धार करके अधर्म में से (तिरता हो)। वह जीव दूसरे तिरनेवाले के परिणाम को निमित्त कहने में आता है, यदि वह परिणाम प्रगट करे तो। दूसरा कोई तिरा दे और दूसरे को तारे तो इसका तिरना हो, (ऐसा नहीं है)। समझ में आया? जो ऐसा मानता है कि हमने बहुत जीवों को धर्म प्राप्त कराया न, उसमें से मुझे लाभ होगा, वह मूढ़ है-मिथ्यादृष्टि है।

मुमुक्षु : प्रभावना....

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु किसकी प्रभावना? वह तो इसकी पर्याय का लाभ इसके पास हो, उसमें तुझे क्या आया? तुझे विकल्प आया कि ऐसा होवे, तो विकल्प का पुण्य बाँधेगा। ऐई! सम्यग्दृष्टि को विकल्प आवे परन्तु वह विकल्प शुभ होता है। वह शुभ पुण्य बाँधे, उस पुण्य का स्वामी ज्ञानी नहीं। दुनिया समझे तो उसका लाभ मुझे मिले। उसकी पर्याय से वह समझे, उसका लाभ मुझे मिले, ऐसा तीन काल में है नहीं। समझ में आया?

उपदेश देना और उसमें रुकना। क्योंकि उसमें लाभ होता है। मिथ्या बात है, यहाँ तो कहते हैं। उपदेश में वाणी निकले, वह उपदेश की वाणी जड़ की है। उसमें रुकना, वह विकल्प है, शुभभाव है। वह पुण्य-बन्ध का कारण है, धर्म का कारण नहीं। आहाहा! एक भी बात को समझे नहीं। यह उसका नाम यहाँ राग-द्वेष कहते हैं। हम बहुतों को समझायें तो बहुत लाभ हो जाए। बहुतों को ढूँढ़ने जाना? न आवे तो इसका केवलज्ञान लटकता (रुकता) होगा?

मुमुक्षु : यह तो सब अकेली निश्चय की ही बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निश्चय की अर्थात् सत्य । निश्चय अर्थात् सत्य का रणकार, यथार्थ सत्य का भनकार । इसका नाम निश्चय है । खोटी बात के उपकार के कथन, वह सब व्यवहार । कहो वजुभाई ! यह तो सब निश्चय है ।

राग-द्वेष के आलम्बन से मन अधिक चंचल (होता है) देखो ! यह करनेयोग्य है और यह करनेयोग्य नहीं और इससे मुझे लाभ होगा और इससे मुझे नुकसान होगा । समझ में आया ? देखो न ! बहुत से लगते हैं न कि बहुत जीव यदि मेरे से समझे न (तो) मेहनत करो, मेहनत । समझ में आया ? परन्तु तुझसे समझे किस प्रकार ? वह तो उनकी योग्यता होगी, तब समझेंगे । तुझे विकल्प आवे, वह पुण्यबन्ध का कारण है । उससे संवर-निर्जरा (नहीं) होगी । लाख जीव धर्म प्राप्त करे, सम्यग्दृष्टि होवे तो उपदेश करनेवाले को कुछ संवर-निर्जरा का लाभ होता होगा या नहीं ? जरा भी नहीं । उपदेश देनेवाले का शुभविकल्प था, उतना पुण्य बँधता है । वह तो राग का निषेध होकर अन्दर की एकाग्रता वर्तती है, उतना स्वभाव का लाभ है । बाकी पर के कारण लाभ भी नहीं और पर के कारण नुकसान भी नहीं । एक भी जीव इससे न समझे तो इसे नुकसान नहीं और लाख मनुष्य समझ जाए तो उससे संवर-निर्जरा का (लाभ नहीं) । संवर-निर्जरा का तो लाभ नहीं, परन्तु पुण्य का लाभ भी उसके कारण नहीं है । आहाहा ! गजब बात, भाई !

मुमुक्षु : बातें-बातें.. तो व्यवहार कहाँ रहा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार रहा न ! यह पुण्य / शुभभाव आया वह । शुभभाव आया, वह व्यवहार है । उससे पुण्य बँधता है, इतना । समझ में आया ? श्रीमद् भी ऐसा कहते हैं कि यदि एक जीव को भी यथार्थ धर्म प्राप्त करावे तो तीर्थकरगोत्र बाँधे अर्थात् शुभभाव हो और बाँधे, इतना । प्राप्त करावे, इसलिए भी वापस बात यह ली । तीर्थकरगोत्र बाँधे । ऐसा कि वह शुभभाव हो, वह बाँधे, ऐसा । बाकी अबन्धभाव नहीं । श्रीमद् में यह वाक्य है । अबन्धपने का मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह तो आत्मा के आश्रय से होता है; इसके अतिरिक्त कहीं अबन्धपरिणाम नहीं होते । पर के कारण अबन्धपरिणाम माने तो कहते हैं कि वह मिथ्यात्वभाव है, ऐसा कहते हैं । चंचलता खड़ी होती है ।

और जितने दोष हैं, वे सब राग-द्वेष से संबद्ध हैं,.. लो ! विपरीत मिथ्यात्व,

एकान्त मिथ्यात्व आदि बहुत मिथ्यात्व के भाव हैं न ? वे सब राग-द्वेष के सम्बन्ध से ही अज्ञान में उत्पन्न होते हैं। **जैसा कि कहा गया है - 'आत्मनि सति परसंज्ञा'।**

निजत्व के होनेपर पर का ख्याल हो जाता.. लो ! जब अपने आत्मा को अकेला राग करे तो पर के ऊपर द्वेष हुए बिना नहीं रहे। अथवा यह मेरे हैं, यह मेरे हैं-ऐसा मानकर राग करे तो उसे पर के ऊपर, दूसरे के ऊपर द्वेष आये बिना नहीं रहेगा। **निजत्व के होने पर..** ये हमारे, शरीर हमारा, यह अंगीत हैं, यह सब साधन हैं। लो ! समझ में आया ? आहाहा ! ये धर्म के उपकार भी मुझे धर्म में, निश्चय धर्म में उपकार करते हैं। परद्रव्य क्या करे ? मोरपिच्छी और कमण्डल, वह तो परचीज है, परद्रव्य है। परद्रव्य आत्मा को उपकार करेगा धर्म का ? समझ में आया ? भारी कठिन बात है, भाई ! जगत को परपदार्थ और स्व-पदार्थ की भिन्नता की खबर नहीं है, (इसलिए) उसे परपदार्थ में कहीं भी लाभबुद्धि से प्रीति हुए बिना नहीं रहेगी और दूसरे पदार्थ में द्वेषबुद्धि हुए बिना नहीं रहेगी।

निजत्व के होनेपर पर का ख्याल हो जाता.. ये मेरे हैं तो वे दुश्मन हैं। यह मेरा देश है तो वह पर का देश है। देश.. देश। वह सब राग-द्वेष के करनेवाले मिथ्यादृष्टि मूढ़ जीव है, ऐसा कहते हैं। आया है या नहीं ? ऐई ! वासुदेवभाई ! समझ में आया या नहीं यह ?

और जहाँ निज-पर का विभाग (भेद) हुआ.. जहाँ मेरा और तेरा का भाग पड़ा (कि) यह मेरा और यह तेरा, यह मेरा देश और यह तेरा देश, यह मेरा परिवार और यह तेरा परिवार, (वहाँ) राग-द्वेष हुआ और राग-द्वेष (हुआ, वह) मिथ्यात्व का राग-द्वेष हुआ, हों ! ज्ञानी को जरा राग, आसक्ति हो, छियानवें हजार स्त्रियाँ होने पर भी उसे राग हो, वह अल्प दोष है क्योंकि वह राग स्त्री के कारण होता है, ऐसा नहीं मानते। यह मुझे प्रिय है, इसलिए राग होता है - ऐसा नहीं मानते। समझ में आया ? समकिति को छियानवें हजार स्त्रियों का राग भी अल्प दोष है और शरीर का ब्रह्मचर्य पालनेवाला भी, शरीर ठीक रहेगा, ब्रह्मचर्य पालन करूँगा तो शरीर ठीक रहेगा - ऐसा मानकर पालन करता है तो उसे मिथ्यात्व का दोष लगता है।

मुमुक्षु : बालब्रह्मचारी की बात....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बालब्रह्मचारी रहूँगा तो शरीर निरोग रहेगा। जड़ की पर्याय

निरोगी रहेगी ? तेरे मन्द कषाय के परिणाम हों तो उस कारण से शरीर निरोग रहेगा ? समझ में आया ? भाई ! प्रभु ! तेरी चीज ही अलग है न ! वह पूर्ण आनन्द का कन्द है न ! वहाँ से आनन्द निकलता है ऐसा है ; कहीं बाहर से आनन्द आवे, ऐसा नहीं है । आहाहा !

निज-पर का विभाग (भेद) हुआ, वहाँ निज में रागरूप और पर में द्वेषरूप भाव हो ही जाते हैं। ऐसा कहा है, हों ! उन्होंने कहा है । निज में राग, पर बुरा और अपने में राग, ऐसा मोक्षमार्गप्रकाशक में लिखा है, हों ! उसमें लिखा है, अपना आत्मा भला और ये बुरे-खराब । ऐसा होता ही नहीं । भला-बुरा नहीं है । भला तो स्वभाव है, एकाग्र हो वह । समझ में आया ? दूसरे बुरे हैं, ऐसा नहीं है ; वे तो ज्ञेय हैं । उसके बदले मैं भला और ये बुरे - ऐसा भी नहीं है । आहाहा ! बसंतलालजी ! यह ऐसी गड़बड़ कहाँ से खड़ी हुई ? कहते हैं ।

निज में रागरूप और पर में द्वेषरूप भाव हो ही जाते हैं। बस इन दोनों के होने से अन्य समस्त दोष भी पैदा होने लग जाते हैं। भ्रमणा उत्पन्न हुई (कि) मेरे अतिरिक्त ये पदार्थ ठीक नहीं और यह ठीक । मैं एक भला और ये सब पदार्थ बुरे । सब बुरे नहीं हैं । तू ज्ञान और ये ज्ञेय - ऐसा कह न ! समझ में आया ? आहाहा ! कारण कि वे सब इन दोनों के ही आश्रित हैं। यह राग-द्वेष की एकताबुद्धि है, वहाँ सब दोष उत्पन्न होते हैं । राग और द्वेष की एकताबुद्धि की यहाँ बात चलती है, हों ! अर्थात् अज्ञानी परपदार्थ में इष्ट-अनिष्ट मानता है ।

वह राग-द्वेष की जोड़ी तो हुई मंथानी के डण्डे को घुमानेवाली रस्सी के फाँसा के समान.. यह 'मंथराचल' पर्वत का दृष्टान्त देते हैं । वह डोरी होती है न ऐसी ?..... राग-द्वेष की जोड़ी तो हुई मंथानी के डण्डे को.. ऐसे मंथन करे न ? उसका दण्ड होवे न ? दण्ड (अर्थात्) यह लकड़ी । रस्सी के फाँसा... रस्सी का फाँसा होवे उसे । वह फाँसा हुआ न अन्दर ? और उसका घूमना कहलाया जीव का रागादिरूप परिणमन । रागादिरूप परिणमन हुआ कि यह ठीक और यह अठीक, यह ठीक और अठीक । ऐसे राग-द्वेष का परिणमन (हुआ करता है) । मिथ्यादृष्टि का भला-बुरा मानकर और परिणमन (हुआ करता है) ।

सो जैसे लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि नेतरी के खींचा-तानी से जैसे

मंथराचल पर्वत को समुद्र में बहुत काल तक भ्रमण करना पड़ा। अन्यमत का दृष्टान्त दिया है। अन्यमत में है न? कृष्ण ने मेरुपर्वत (मंथराचल) को मंथन किया। यह समझे न? मंथराचल पर्वत को समुद्र में बहुत काल तक भ्रमण करना पड़ा। उसी तरह स्व-पर विवेकज्ञान न होने से.. यह पूरा सिद्धान्त यहाँ लेना है। पर पदार्थ चाहे तो देव-गुरु हो, चाहे तो पंच परमेष्ठी हो, चाहे तो निगोद कहो, चाहे तो शत्रु हो - सब आत्मा के ज्ञान में ज्ञेय है। आत्मा के ज्ञान में ज्ञेय है - जाननेयोग्य है। यह मुझे ठीक पड़ता है और यह मुझे अठीक (पड़ता है), ऐसा वस्तु में नहीं है, यहाँ ज्ञान में नहीं है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : खड़ा करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : खड़ा किया अज्ञान में। सेवा-सुश्रुषा करनेवाले अच्छे होवें तो परिणाम में अन्तर पड़ता है। फावाभाई! ऐसा नहीं (होता) ? सेवा-वेवा करनेवाले होवे तो ? धूल में भी अन्तर नहीं पड़ता, सुन न! कहते हैं कि तुझे भान नहीं है। सेवा करनेवाले अच्छे हों तो परिणाम अच्छे होते हैं। शास्त्र में नहीं आता। मरते हुए उस साधु को... आता है कड़ाया। क्या कहलाता है वह ? 'भगवती आराधना।' उस आराधना में साधु संथारा करते हैं न? फिर उपदेश देते हैं। वह तो निमित्त की बातें हैं। उसके परिणाम तो उससे होते हैं। वे परिणाम कहीं किसी से होते हैं ? गजब बात, भाई! व्यवहार की और परमार्थ की। ऊँचा चढ़ावे। कढ़ाही स्वयं सिंके और सीरा (हलुवा) को सेंक दे। सीरा.. सीरा..। सीरा को क्या कहते हैं ? हलुवा.. हलुवा..। ऐसे स्वयं सहन करके भी उसका संथारा ठीक से करा दे। वजुभाई! ये सब बातें व्यवहार की हैं, भाई! आहाहा!

सम्यग्दृष्टि साधु तो अपने स्वरूप आनन्द में रमते हैं। जरा विकल्प हो जाता है तो मुनि कहते हैं कि अरे! महाराज! आपने तो संथारा-समाधि की है। इसलिए स्वयं ही स्वयं से बदल जाते हैं। उसे कोई निमित्त से बदल जाते हैं, ऐसा नहीं है। आहाहा! गजब कठिन पड़ता है। ऐसे शास्त्र में - भगवती आराधना में ऐसे कथन आते हैं। क्या कहलाता है ? कवच। भगवती आराधना में कवच अधिकार है न? साधु समाधि करते हैं न? तो किसी समय विकल्प आता है। आहा! दूसरे मुनि कहे, अरे! महाराज! आप तो आनन्द के आहार में स्थित हैं न! आनन्द का आहार लो न! यह विकल्प क्या आया ? वह बदल गये। वे अपने पुरुषार्थ से, हों!

मुमुक्षु :रवैया क्या करते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : रवैया क्या करते हैं ? राग-द्वेष से रवैया बदलता है, ऐसा कहते हैं। चार गति में अपने आप घूमता नहीं, राग-द्वेष के कारण घूमता है, ऐसा कहते हैं।

स्व-पर विवेकज्ञान न होने से रागादि परिणामों के द्वारा जीवात्मा अथवा कारण में कार्य का उपचार करने से,.. देखो! रागादि परिणामजनित कर्मबन्ध के द्वारा.. ऐसा। रागादि परिणामों के द्वारा जीवात्मा.. अथवा कारण में कार्य का उपचार करने से। जो कर्म बँधा न? उसके (द्वारा) संसारी जीव कर्मबन्ध के द्वारा बँधा हुआ संसारीजीव,.. वास्तव में तो अपने परिणाम से है परन्तु उसमें से कारण का कार्य में (उपचार) डाला। समझ में आया? कारण में कार्य का उपचार किया।

रागादि परिणामजनित कर्मबन्ध के द्वारा बँधा हुआ संसारीजीव, अनादिकाल से संसार में घूम रहा है,.. लो! घूम रहा है, घूमा था और घूमता रहेगा। भटकता है, भटका है, भटकेगा। आहाहा! कारण में कार्य का उपचार (करने से) राग-द्वेष से है। यह जीवात्मा है परन्तु अभी कर्म से हुआ, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?समझ में आया?

मतलब यह है कि 'रागादि परिणामरूप भावकर्मों से द्रव्यकर्मों का बन्ध होता'.. लो! यह इष्ट-अनिष्ट पदार्थ मानने से जो मिथ्यात्व और राग-द्वेष भाव होते हैं, उनसे कर्मबन्धन होता है। अपने अतिरिक्त जितने पदार्थ हैं, वे सब जाननेयोग्य हैं। वे लोग कहते हैं कि देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा करना, वह मिथ्यात्व, (तो) ऐसा नहीं, हों! देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करना, वह तो राग है। परन्तु राग से मेरा कल्याण होगा, परमार्थ धर्म होगा, यह मिथ्यात्व है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा तो राग है, शुभराग है, वह राग, मिथ्यात्व नहीं है परन्तु उस राग से मेरा कल्याण होगा, मेरे आत्मा का कल्याण होगा - संवर-निर्जरा होगी, ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है। समझ में आया? देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा तो समकृति को भी होती है। समकृति को नहीं होती? मुनि को होती है, गणधरों को देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा होती है, वह तो राग है। परन्तु वह राग है, वह भगवान के कारण हुआ नहीं है। मुझमें निर्बलता है, इससे शुभराग जो बाहर में होता है, उससे यह शुभराग हुआ। जानता है, मेरा कर्तव्य नहीं है, मेरा स्वभाव नहीं है परन्तु उस भूमिका में आये बिना रहता नहीं है और

अज्ञानी तो मानता है कि राग ही मुझे कल्याण का कारण है। राग कल्याण का कारण और स्वभाव कल्याण का कारण हो, दोनों हो एकसाथ में? राग कल्याणरूप परिणमता है? राग है, वह स्वरूपरूप परिणमता है? तब स्वरूप स्वयं अपने में एकाग्र हो तो स्वरूप स्वयं अपने स्वरूपरूप परिणमता है। यह मोक्ष का मार्ग है। समझ में आया? कितना याद रखना इसमें? वापस एक याद रखें वहाँ दूसरा (आवे), देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा करना। अब यहाँ कहते हैं श्रद्धा में धर्म माने तो मिथ्यात्व है। ऐई! अब इसमें कितना सीखना।

मुमुक्षु : सर्वत्र सिद्धान्त तो एक ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सिद्धान्त एक ही है, कहीं अन्तर नहीं है। रागादि परिणामरूप.. यह मिथ्यादृष्टि के राग की बात है, हों! इष्ट-अनिष्ट मानता है, उसकी (बात है)। सम्यग्दृष्टि का राग, वह मिथ्यात्वसहित नहीं है, एकत्वबुद्धि से नहीं है। यह तो एकत्वबुद्धि है। शरीर ठीक है तो अपने को व्रत पलते हैं, ठीक न हो तो व्रत नहीं पलते, यह मिथ्यात्व का भाव है। समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है। अत्यन्त स्व और पर का विवेक जिसे नहीं है, वह परद्रव्य से मुझे लाभ और नुकसान मानता है। ऐसे जीव के रागादि परिणाम-उस भावकर्म से द्रव्यकर्म का बन्ध होता है। लो!

ऐसा हमेशा से चला आ रहा है.. यह अनादि काल से चला आ रहा है। नौवें ग्रैवेयक दिगम्बर मुनि-सन्त (होकर) गया। भावलिंग नहीं, द्रव्यलिंगी अट्टाईस मूलगुण पालन करके (गया)। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' उसे भी यह शरीर की क्रिया ठीक चलती है उसमें मुझे लाभ होता है, यह मिथ्यात्वभाव है, वह रह गया है और पुण्यभाव जो कुछ महाव्रत का हुआ, वह मुझे धर्म है। उस पुण्य को धर्म माना और शरीर की क्रिया मुझसे होती है, वह मिथ्यात्वभाव पड़ा है। समझ में आया? नौवें ग्रैवेयक में गया परन्तु यह मिथ्यात्वभाव उसने मिटाया नहीं।

और हमेशा तक चलता रहेगा। लो! अज्ञानी को तो जब तक आत्मा शुद्ध ज्ञायक है, ऐसी दृष्टि नहीं करे और परपदार्थ में इष्ट-अनिष्ट (के) भाग करेगा, तब तक चौरासी के अवतार चलेंगे। सम्भव है कि किसी जीव के यह रुक भी जाय। समझ में आया? स्वभाव की दृष्टि करे तो रुक जाए, ऐसा कहते हैं। स्वभाव चैतन्यमूर्ति मैं हूँ, मैं शुद्ध ही हूँ।

राग का एक कण भी करना, वह मेरे स्वरूप में नहीं है। समझ में आया ? किसी जीव के यह रुक भी जाय। अर्थात् परपदार्थ में इष्ट-अनिष्टबुद्धि छोड़कर, अपना आत्मा ही निजानन्दस्वरूप है, ऐसी एकत्वबुद्धि स्वभाव में करनेवाले को, राग की एकताबुद्धि छोड़नेवाले को संसार रुक जाता है, उसे संसार नहीं रहता। समझ में आया ? जैसा कि कहा गया है – ‘जो खलु संसारत्थो’। में ८५ की गाथा में आता है। पंचास्तिकाय की १२८, १२९ और १३० यह कुन्दकुन्दाचार्य महाराज के पंचास्तिकाय की गाथा है। उसकी तीन गाथायें हैं। है न देखो ! ‘संसारत्थो’

जो संसार में रहनेवाला जीव है,.. संसार अर्थात् मिथ्यात्व और राग-द्वेष में रहनेवाला जीव है। उसका परिणाम (रागद्वेष आदिरूप परिणमन) होता है,.. लो ! उसे तो राग-द्वेष आदि परिणाम होते हैं। आत्मा के स्वभाव को चूककर, खण्ड-खण्ड राग और द्वेष, राग और द्वेष, राग और द्वेष, ये ही परिणाम होते हैं। उस परिणाम से कर्म बँधते हैं। वह शुभाशुभराग, पुण्य-पाप दोनों बन्ध के कारण हैं। नये कर्म बँधते हैं। बँधे हुए कर्मों के उदय होने से मनुष्यादि गतियों में गमन होता है,.. लो ! बाँधे हुए कर्मों के उदय से मनुष्य, स्वर्ग आदि देव की गति प्राप्त होती है।

मनुष्यादि गति में प्राप्त होनेवाले को (औदारिक आदि) शरीर का जन्म होता है,.. शरीर प्राप्त होता है। वैक्रियकशरीर और औदारिकशरीर (प्राप्त होता है), आत्मा प्राप्त कहाँ (होता है) ? वहाँ तो शरीर प्राप्त होता है, कहते हैं। शरीर होने से इन्द्रियों की रचना होती है,.. यह पाँच इन्द्रियाँ। आत्मा अरूपी भिन्न तत्त्व है, उसे यह मिला। इन्द्रियों से विषयों (रूप रसादि) विषयों का ग्रहण होता है,.. ये इन्द्रियाँ पर के प्रति लक्ष्य करनेवाली होती है (अर्थात् कि) ज्ञान का लक्ष्य (वहाँ जाता है)। उसे शुभ-अशुभ माने। सूक्ष्म बात है, हों ! पाँच इन्द्रियाँ अर्थात् ? यह भगवान को देखना, वह इन्द्रिय का विषय है।

मुमुक्षु : किस इन्द्रिय का ? आँख का ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आँख का। जरा सूक्ष्म बात है। अकेला विषय अर्थात् भोग का विषय, ऐसा नहीं। अनीन्द्रिय जो आत्मा अपना सम्यग्दर्शन का विषय है, उसे छोड़कर जितना पाँच इन्द्रिय के विषय करे, सब विषय का पुण्य-पाप का कारण है। आहाहा !

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यहाँ तो स्व और पर दो की बात है ।

मुमुक्षु : भगवान पर....

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान परद्रव्य या स्वद्रव्य हैं ? इस आँख का विषय है या चैतन्य के ज्ञान-सम्यग्दर्शन का विषय है वह ? सम्यग्दर्शन का विषय आत्मा है । समझ में आया ? इन्द्रिय का विषय पर है । सम्यग्ज्ञान का विषय आत्मा, सम्यक्चारित्र का विषय आत्मा में स्थिरता और पाँच इन्द्रियों का विषय पर । चाहे तो वाणी सुने, चाहे तो भगवान को देखे, या स्त्री को देखना, या तो पर को (देखे) परन्तु है परसन्मुख का विषय ।

मुमुक्षु : सब एक लाईन में ?

पूज्य गुरुदेवश्री : विषयरूप से एक लाइन में । पुण्य-पाप के बन्धरूप से अन्तर है । बन्धरूप से एक प्रकार से परन्तु पुण्य-पापरूप से अन्तर, इतना अन्तर है । समझ में आया ? आहाहा ! आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप का अन्तर विषय होना, ध्येय बनना, वही सम्यग्दर्शन का विषय है । यह इन्द्रिय का विषय, ज्ञानी का विषय है ही नहीं । समझ में आया ? तथापि जितना पर के प्रति लक्ष्य जाता है, उतना उसे राग हुए बिना नहीं रहता । स्त्री, कुटुम्ब की ओर लक्ष्य जाए तो अशुभराग (होता है और) देव-शास्त्र-गुरु के प्रति (लक्ष्य) जाए तो शुभराग (होता है) ।

मुमुक्षु : छाया-धूप....

पूज्य गुरुदेवश्री : छाया-धूप जितना क्या रखे ? कहो, समझ में आया ? बन्धरूप से एक प्रकार और विषय के ज्ञेयरूप से भी एक ही प्रकार । मात्र यह शुभभाव है, वह (दूसरा) अशुभभाव है । परन्तु शुभभाव में विषय पर होता है, शुभभाव में विषय स्व नहीं होता । शुद्धभाव में विषय स्व होता है । समझ में आया ? ज्ञान की पर्याय शुद्ध, उसका विषय आत्मा और शुभाशुभपरिणाम का विषय पर के ऊपर लक्ष्य है । शुभपरिणाम का लक्ष्य स्व में होता है ? समझ में आया ?

इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण होता है, .. यह अनन्त बार हुआ, उसकी बात करते हैं या नहीं ? तो अनन्त बार में देव-शास्त्र-गुरु का नहीं मिला इसे ? द्रव्यलिंगी अनन्त

बार हुआ, तो इसे देव-शास्त्र-गुरु मिले, उनका विषय-लक्ष्य था, वह ठीक है, (ऐसा) शुभभाव भी हुआ था परन्तु वह पररूप के विषय का शुभभाव हुआ। आहाहा! अनन्त बार समवसरण को देखा, भगवान को देखा अनन्त बार और अनन्त बार समवसरण में मणिरत्न के दीपक से भगवान की पूजा की। क्या हुआ? परवस्तु है। शुभभाव हुआ, पुण्यभाव हुआ। पर से पुण्य, वह तो बन्ध का कारण हुआ। आहाहा! चिल्लाहट मचा जाए, हों! अरे! भगवान! भाई! भगवान के पास जा अब तू। परन्तु भगवान के पास जाए, ऐसी ताकत किसकी होगी इसकी? शोर वहाँ मचा, शोर वहाँ मचा, यहाँ तू सोनगढ़वालों को मत कह। आहाहा!

भाई! वस्तु एक और एक = दो जैसी है। अपना आत्मा वस्तु स्व को विषय करे, उसमें राग के भाग बिना विषय होता है। पर का विषय करे, उसमें राग फिर शुभ हो या अशुभ, दोनों राग हुए बिना पर का विषय नहीं होता। समझ में आया? बराबर है?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर कहा न, पुण्य-पाप का अन्तर है। शुभभाव में देव-शास्त्र-गुरु लक्ष्य में होते हैं; अशुभभाव में स्त्री, कुटुम्ब, व्यापार-धन्धा लक्ष्य में होता है। पाप। इन दो के विषय में अन्तर है, परन्तु विषयरूप से-परद्रव्यरूप से एक हैं और बन्धरूप से राग एक ही प्रकार का है। शुभ-अशुभरूप से अन्तर व्यवहार से किया जाता है। आहाहा! इसे ऐसी स्व-पर के विवेक की समझ बिना यह स्व में स्थिर नहीं हो सकेगा। पर के लक्ष्य से स्व में जाया जाता होगा? या पर का लक्ष्य छोड़े तब स्व में जाया जाता है। तो जहाँ पर के लक्ष्य से लाभ माने, वह स्व में किस प्रकार आयेगा? आहाहा! होवे भले, होता है तो क्या है?

(रूप रसादि) का ग्रहण होता है, .. ज्ञान ग्रहण होता है उसमें से? सम्यग्दर्शन ग्रहण होता है। अनन्त बार द्रव्यलिंगी (हुआ)। यहाँ तो अनन्त बार की बात चलती है न? अनन्त बार ऐसा हुआ, ऐसा हुआ, संसार में होवे उसे राग-द्वेष होते हैं, राग-द्वेष होवें, उसे शरीर मिलता है; शरीर मिले, उसे इन्द्रियाँ मिलती हैं; इन्द्रियाँ मिले उसे विषय होते हैं। इन विषय में क्या मात्र भोग के ही विषय की बात है? नौवें ग्रैवेयक गया, तब समवसरण में गया था, देव-गुरु-शास्त्र के पास गया था, सुना वह कहाँ गया? वह किसमें गया? वह विषय में गया या कोई दूसरे विषय में गया?

मुमुक्षु : वह भी जहाँ विषय की बात आवे, वहाँ....

पूज्य गुरुदेवश्री : वह इस भोग की बात समझता है। उसका लक्ष्य ही वह जाता है, परन्तु शास्त्र में कहा क्या ? उसमें नहीं ? काम-भोग-बन्धकथा 'सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा' यह काम अर्थात् राग और भोग अर्थात् भोगन। कर्ता और भोक्ता, राग और पुण्य-पाप का करना और भोगना, यही तूने सुना है। राग-द्वेषरहित आत्मा, भगवान आत्मा भिन्न है, यह बात तूने सुनी नहीं है। समझ में आया ?

उससे फिर राग और द्वेष होने लग जाते हैं। देखो ! ऐई ! तो यह शरीर मिला और पाँच इन्द्रिय मिली या खण्ड-खण्ड इन्द्रिय (मिली), उसका लक्ष्य ऐसे जाता है। जितेन्द्रिय में कहा है न ? समयसार ३१ गाथा में। पाँच इन्द्रिय का खण्ड-खण्डपना, द्रव्य इन्द्रिय का निमित्तपना और उसका सब विषय, उसमें से हटकर इस ओर जाए, तब विषय जीता कहलाये, जितेन्द्रिय कहलाये। आहाहा ! समझ में आया ?

फिर राग और द्वेष होने लग जाते हैं। बस ! वह तो राग-द्वेष ही करेगा। पर के प्रति लक्ष्य में वीतरागता कहाँ से आयी ? स्व के लक्ष्य बिना यह शरीर मिला, इन्द्रियाँ मिली और इन्द्रिय में से ऐसा किया, इसलिए वापस राग-द्वेष हुए, राग-द्वेष में से बन्ध हुआ, बन्ध से वापस शरीर मिला, शरीर से इन्द्रियाँ मिली। अनादि से ऐसा का ऐसा चक्र चलता जा रहा है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आहाहा !

इस प्रकार जीव का संसाररूपी चक्रवात में भवपरिणमन होता रहता है,.. भवपरिणमन होता रहता है,.. समझ में आया ? है न ? क्या है उस ओर ? 'जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिधणो सणिधणो' इतना है। यह तो यह शब्द कहाँ है, इतना देखना है, क्या ? 'भवपरिणमन' यह शब्द है। यह भवपरिणमन इसमें से निकाला है। 'संसारत्थो जीवो अनादिकालं संसारे भ्रान्तो भ्रमति' यह इसमें से निकला। भवपरिणमन निकाला, लो न। भवपरिणमन है न यह। कहीं आत्मपरिणमन नहीं है। जीव में संसाररूपी चक्रवाल में भव का परिभ्रमण हुआ ही करता है। स्वर्ग-नरक, स्वर्ग-नरक, स्वर्ग-नरक सब दुःख।

ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। लो ! समझ में आया ? यह है न, 'जीवस्सेवं, भावो संसारचक्कवालांभि' 'भावो' है न ? यह। 'भावो संसारचक्कवालांभि। इदि जिणवरेहिं भणिदो' ऐसा जिनेन्द्रदेव (कहते हैं)। यह जिनेन्द्रदेव सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ऐसा

कहते हैं कि तेरा संसार स्व के लक्ष्य बिना, स्व की रुचि बिना, परपदार्थ के लक्ष्य में ठीक-अठीक मानकर राग-द्वेष करके मिथ्यात्व के भाव से वह भटक रहा है। समझ में आया ?

जो अनादि काल से होते हुए अनन्त काल तक होता रहेगा,.. जब तक पर में यह ठीक-अठीक.. ठीक-अठीक.. ठीक-अठीक.. इन पर के विषय में इन्द्रिय की ओर के लक्ष्य में रहेगा, तब तक ऐसा संसार ऐसा का ऐसा खड़ा रहेगा। इन्द्रियातीत भगवान आत्मा की दृष्टि करेगा तो... यह लेंगे थोड़ा, देखो! हाँ, किन्हीं भव्यजीवों के उसका अन्त भी हो जाता है। कहो, समझ में आया ? किसी को अन्त भी (आ जाता है)। उसमें आया था न ? इसलिए आ गया। मूल में है न ? इसलिए आ गया। आहाहा ! 'सणिधणो' 'अणादिणिधणो सणिधणो' है न शब्द में ? किसी को अन्त भी आ जाता है। किस प्रकार ? वह (परलक्ष्य) करते-करते, ऐसा नहीं। ज्ञानस्वरूप आत्मा अपने विषय को छोड़कर ऐसे पर में लक्ष्य किया करे, वहाँ तक शुभाशुभराग हुआ करता है और एकत्वबुद्धि से संसार परिणाम ही करेगा। उसे छोड़कर स्व का-चैतन्य का आश्रय करने से पर की एकत्वबुद्धि छूटने पर राग-द्वेष एकत्व उसे नहीं रहेगा, संसार नहीं रहेगा, उसक परिभ्रमण छूट जाएगा।

दोहा - मथत दूध डोरीनितें, दंड फिरत बहु बार।

राग द्वेष अज्ञान से, जीव भ्रमत संसार।।११।।

यहाँ तो अज्ञानी के राग-द्वेष हैं। मथत दूध डोरीनितें,.. डोरी से दूध मथत दंड फिरत.. वह दण्ड घूमता है। बहु बार। राग द्वेष अज्ञान से, जीव भ्रमत संसार। इसका सार कहा।

मुमुक्षु : कर्म कहाँ गये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म गये अन्दर। अन्दर राग गया। राग-द्वेष से कहा है न ? समझ में आया ? 'अज्ञानात्सुचिरं जीवः' पाठ में तो यह है, देखो ! क्या है ? है न 'अज्ञानात्सुचिरं जीवः, संसाराब्धो भ्रमत्यसौ' अज्ञान से भटकने की बात है। अपना ज्ञान नहीं करता, शुद्धचैतन्य में विषय नहीं झुकाता। वह विषय यह.. यह.. यह.. किया ही करता है। अज्ञान से चार गति में भटकना होता है। विशेष प्रश्न करेंगे।.....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. ११

गाथा-१२, १३

शनिवार, दिनाङ्क २६-०३-१९६६

चैत्र शुक्ला ४,

वीर संवत् २४९२

दस (गाथा) चली । ग्यारहवीं में कहा, उसके ऊपर शिष्य का प्रश्न है । क्या कहा था उसमें ? देखो !

दोहा - मथत दूध डोरीनितें, दंड फिरत बहु बार।

राग द्वेष अज्ञान से, जीव भ्रमत संसार।।११।।

है न ऊपर ? हिन्दी । जैसे डोरी द्वारा दण्ड को इस दूध आदि में मथते हैं न ? तो दण्ड-रवैया बहुत घूमा करता है । ऐसे अनादि से अपने आत्मा का स्वरूप आनन्द और ज्ञान है, उसके भान बिना शुभ और अशुभराग, पुण्य और पाप का राग और उसमें मुझे सुख है - ऐसा मिथ्यात्वभाव, उससे अनन्त काल से परिभ्रमण कर रहा है । संसार में कहीं सुख नहीं है । आत्मा, सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकरदेव ने जो आत्मा देखा, वह आत्मा तो अन्तर आत्मा, अन्तर आनन्दस्वरूप है । उस अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप को भूलकर, अनादि से पुण्य-पाप के भाव और वे मेरे - ऐसा मिथ्यात्वभाव (करके), उससे नये कर्म बाँधकर अनन्त काल से चौरासी में परिभ्रमण कर रहा है । समझ में आया ? इसे कहीं सुख है नहीं; सुख तो आत्मा में है ।

मुमुक्षु : सुख की जाति...

पूज्य गुरुदेवश्री : सुख की जाति एक है - ऐसा कहेंगे अभी । जड़ में कहीं सुख-दुःख नहीं है । भूल - कहा न ? यह क्या कहा भूल ? 'राग-द्वेष अज्ञान से' भूल तो कही । अपना स्वभाव ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसे भूलकर शुभ-अशुभभाव विकार हो, उसमें मुझे ठीक है और उस पुण्य के फलरूप से यह धूल आदि मिले, यह स्वर्ग मिले और यह लक्ष्मी मिले, उसमें मुझे ठीक है—ऐसी मान्यता को भगवान, मिथ्यात्व कहते हैं ।

मुमुक्षु : ऐसी मान्यता तो सभी जीवों की है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : सभी जीव (मानें) तो सब मिथ्यादृष्टि हैं । ऐसा माने तब तक । इसके लिए तो प्रश्न है यहाँ । समझ में आया ?

आत्मा की शान्ति आत्मा में है। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग त्रिलोकनाथ तीर्थंकर ने आत्मा में शान्ति अन्दर प्रगट करके पूर्णानन्द की प्राप्ति की है।

मुमुक्षु : अभी तो शान्ति छुप गयी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनो ! सुनो !! शान्ति छिप गयी है, यही कहते हैं, मूढ़ के कारण छिप गयी - ऐसा कहते हैं। भान नहीं कि यह आत्मा क्या और मैं किसमें मान रहा हूँ ? अभी किसमें मान रहा हूँ।

मुमुक्षु : पहले प्रगट था...

पूज्य गुरुदेवश्री : था कब प्रगट ? भान कब था ? अनादि काल से निगोद के भव अनन्त किये। एकेन्द्रिय निगोद है न ? एक शरीर में अनन्त जीव। यह आलू, शकरकन्द। क्या कहलाता है ? आलू, काई, कन्दमूल में अनन्त जीव हैं। उसमें भी अनन्त बार रहा है। वहाँ से निकलकर अनन्त बार मनुष्य हुआ, देव हुआ, नारकी हुआ, पशु हुआ। अनन्त बार भव किये। एक पुण्य और पाप विकारी भाव को सुखरूप माना। उसके फल में बन्धन को भी ठीक माना कि पुण्य बन्धन होवे, वह मुझे ठीक और उसके फलरूप यह धूल आदि संयोग मिले, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, लक्ष्मी, (मिले, उसे ठीकरूप) माना है। बराबर होगा, बाबूभाई ! यह सब पैसेवाले सुखी कहलाते हैं न ? यह कहेंगे अभी।

मुमुक्षु : माने तो....

पूज्य गुरुदेवश्री : माने तो। मानता है। माने तो सुखी कब थे ? धूल में। माने, इसलिए सुखी हो जाए ? जहर खाकर जीना चाहे तो जीना हो जाए ?

आत्मा में आनन्द है, आत्मा का धर्म आत्मा में है। धर्म अर्थात् स्वभाव। अनन्त परमात्मा वीतरागदेव ने आत्मा का धर्म आत्मा में है (-ऐसा देखा है)। धर्म अर्थात् स्वभाव। ऐसा स्वभाव आत्मा का अन्तर (में-आत्मा में) न मानकर, शुभ-अशुभराग हो, विकार पुण्य-पाप का बन्धन और उसके फल में अपने को ठीक है - ऐसा अनादि से मान रहा है। कहो, समझ में आया ?

मेरा हित, मेरा हित संवर-निर्जरा और मोक्षदशा है। वह तो मेरे अन्तर स्वभाव में से प्रगटे, ऐसी चीज है। वह कहीं बाहर से आवे, ऐसी नहीं है। ऐसा न-भान-उसका अभान

करके बाहर में कहीं सुख न के लिये परिश्रम कर रहा है। समझ में आया ? बाहर का त्यागी हुआ हो तो भी अन्दर के शुभराग और अशुभराग में मीठास मानता है, वह भी मिथ्यात्व का त्यागी नहीं, सम्यग्दर्शन का त्यागी है। समझ में आया ? आत्मा में होनेवाले शुभ और अशुभभाव में, अशुभभाव तो ठीक, परन्तु शुभभाव ठीक (अच्छा) है - ऐसा मानता है, वह सम्यग्दृष्टि का / सम्यग्दर्शन का उसने त्याग किया है; मिथ्यादर्शन का ग्रहण किया है। समझ में आया ? यह बात पहले की।

राग-द्वेष अज्ञान से, जीव भ्रमत संसार। अनन्त काल से अज्ञानपने आत्मा के भान बिना, मैं आत्मा सिद्धस्वरूप हूँ, सर्वज्ञ परमेश्वर ने आत्मा का उपयोग जानपना-दर्शन-ज्ञान-दर्शन, लक्षणवाला भगवान ने देखा। वे कोई यह (पुण्य-पाप के) भाव हों, वह इसका स्वरूप नहीं। देहादि तो मिट्टी, जड़, प्रत्यक्ष पर है। समझ में आया ? स्त्री, पुत्र, धूल तो फिर कहीं बाहर रह गये। उनमें मुझे मिठास और ठीक है - ऐसी मान्यता को यहाँ भगवान, मिथ्यादृष्टि / मिथ्यात्व कहते हैं। इस मिथ्यात्व के कारण फिर राग-द्वेष हुए। अनुकूलता में प्रेम, प्रतिकूलता में द्वेष; इष्ट वस्तु देखकर प्रीति और अनिष्ट देखकर अप्रीति (हुए)। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि के मूल बीज राग-द्वेष की उत्पत्ति मिथ्यात्व में से हुई है। समझ में आया ? अब शिष्य का प्रश्न है।

यहाँ पर शिष्य पूछता है कि स्वामिन्! माना कि मोक्ष में जीव सुखी रहता है। किन्तु संसार में भी यदि जीव सुखी रहे तो क्या हानि है? - कारण कि संसार के सभी प्राणी सुख को ही प्राप्त करना चाहते हैं। जब जीव संसार में ही सुखी हो जायें तो फिर संसार में ऐसी क्या खराबी है? जिससे कि सन्त पुरुष उसके नाश करने के लिये प्रयत्न किया करते हैं? इस विषय में आचार्य कहते हैं - हे वत्स! -

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते।

यावत्तावद्भवन्त्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः॥१२॥

अर्थ - जब तक संसाररूपी पैर से चलाये जानेवाले घटीयंत्र^१ में एक पटली

सरीखी एक विपत्ति भुगतकर तय की जाती है कि उसी समय दूसरी-दूसरी बहुत सी विपत्तियाँ सामने आ उपस्थित हो जाती हैं।

विशदार्थ - पैर से चलाये जानेवाले घटीयंत्र^१ को पदावर्त कहते हैं, क्योंकि उसमें बार-बार परिवर्तन होता रहता है। सो जैसे उसमें पैर से दबाई गई लकड़ी या पटली के व्यतीत हो जाने के बाद दूसरी पटलियाँ आ उपस्थित होती हैं, उसी तरह संसाररूपी पदावर्त में एक विपत्ति के बाद दूसरी बहुत सी विपत्तियाँ जीव के सामने आ खड़ी होती हैं।

इसलिए समझो कि एकमात्र दुःखों की कारणीभूत विपत्तियों का कभी भी अन्तर न पड़ने के कारण यह संसार अवश्य ही विनाश करने योग्य है। अर्थात् इसका अवश्य नाश करना चाहिए॥१२॥

दोहा - जब तक एक विपद टले, अन्य विपद बहु आय।
पदिका जिमि घटियंत्र में, बार बार भरमाय॥१२॥

गाथा - १२ पर प्रवचन

उत्थानिका - यहाँ पर शिष्य पूछता है कि स्वामिन्! माना कि मोक्ष में जीव सुखी रहता है। देखो! एक अपेक्षा से तुम्हारी में वस्तु-आत्मा के आनन्द, श्रद्धा, ज्ञान प्रगट करके आत्मा की पूर्ण आनन्ददशा-सिद्धपद प्राप्त हो, वहाँ मोक्ष होगा, मोक्ष है, सुख है, ठीक है, मानो कि ऐसा कहते हैं। आत्मा में आनन्द है, उसका सम्यग्दर्शन द्वारा भान करके, सम्यग्ज्ञान द्वारा वेदन करके, सम्यक्चारित्र द्वारा स्वरूप में रमणता से सिद्धपद प्राप्त होता है (तो) मानो कि वहाँ मोक्ष में जीव सुखी रहता है; शिष्य इतना कहता है। है न उत्थानिका? किन्तु संसार में भी यदि जीव सुखी रहे तो क्या हानि है? यहाँ संसार में रहे हुए कुछ सुख मिले, तो क्या बाधा है तुम्हें? शिष्य, गुरु से प्रश्न करता है। पोपटभाई!

मुमुक्षु : बात समझने के लिये है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा। ये सब तुम पैसेवाले सुखी हो - ऐसा दुनिया कहती है, यह और... थोड़ा भला सुखी है या नहीं?

१. एक यंत्रविशेष जो पानी उलीचने के काम आता है।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : मानने से कहीं सुख हो जाता है धूल में ? पैसा कहाँ, स्त्री कहाँ, लड़का कहाँ, हड्डियाँ और माँस, वह तो चमड़ा है। स्त्री का शरीर चमड़ी, माँस और हड्डियाँ है। वहाँ सुख है ? सुख आत्मा में है – ऐसे भान बिना परवस्तु के फल में और पर में सुख मानकर चार गति में भटक रहा है। तब शिष्य ने कहा, मानो प्रभो ! मोक्ष में भले सुख हो, परन्तु संसार में सुखी रहे तो क्या हानि है ?

कारण कि संसार के सभी प्राणी सुख को ही प्राप्त करना चाहते हैं। सुख की प्राप्ति करना चाहते हैं। जब जीव संसार में ही सुखी हो जायें तो फिर संसार में ऐसी क्या खराबी है ? तो संसार में खराबी क्या है ? बाबूभाई ! बराबर है ? यह देखो न ! ये पाँच-पच्चीस लाख रुपये, वस्त्र ऐसे पहिनकर बैठे, खावे-पीवे और ऐसे मौज करे तो क्या दुःख है ? – ऐसा कहते हैं। यहाँ सुखी रहे तो तुम्हें क्या दिक्कत है ? – ऐसा शिष्य पूछता है। मोक्ष में सुख है... मानो होगा, परन्तु यहाँ सुखी रहे तो तुम्हें क्या दिक्कत है ?

मुमुक्षु : दो प्रकार का सुख आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : दो प्रकार का सुख आया। जब जीव संसार में ही सुखी हो जायें तो फिर संसार में ऐसी क्या खराबी है ? जिससे कि सन्त पुरुष उसके नाश करने के लिये प्रयत्न किया करते हैं ? देखो ! सन्त पुरुष उसके नाश करने के लिये प्रयत्न किया करते हैं ? इसका कारण क्या ? यहाँ कहाँ सुख नहीं ? और संसार का नाश किसलिए करना चाहता है ? सन्त धर्मात्मा, अपना आत्मा शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसकी दृष्टि करके अन्तर में रमते हैं और पुण्य-पाप के भाव का नाश करना चाहते हैं। पुण्य-पाप का भाव नाश होने पर संसार का नाश करना चाहते हैं, तो संसार में सुखी होवे तो ऐसा किसलिए नाश करने को (मंथन) करना चाहिए ? पोपटभाई ! सन्त पुरुष धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि ज्ञानी, वह आत्मा में अन्दर शुद्ध.. शुद्ध.. शुद्ध.. शुद्ध.. एकाकार होकर विकार के भावों का नाश करना चाहता है और वहाँ सुख होगा भले, परन्तु यहाँ सुख कहाँ नहीं, वह ऐसा मंथन करता है ? ऐसा पूछते हैं। इस विषय में आचार्य कहते हैं – हे वत्स ! गुरु कहते हैं कि हे शिष्य !

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते।

यावत्तावद्भवत्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः॥१२॥

अर्थ – जब तक संसाररूपी पैर से चलाये जानेवाले.. क्या कहते हैं? 'संसार' शब्द से पुण्य और पाप मेरे – ऐसा मिथ्यात्वभाव। समझ में आया? उनसे इसका पैर। यह वह चक्र नहीं होता? अरहट.. अरहट.. यह कुएँ में (नहीं डालते)? ऊपर का पानी ऐसे निकले और नीचे से भरे। ऊपर से निकले और नीचे से भरे। घड़े, घड़े भरते हैं न? ऐसा पूरा चक्र (होता है)। छप्पनियाँ में बहुत थे। छप्पनियाँ में पानी कम था न? वह बहुत अरहट करते देखा था। तब दस वर्ष की उम्र थी न! पानी बहुत कम था, वे बेचारे गरीब मनुष्य (अरहट) करे। पानी यहाँ सामने ऐसे ठलवाय। ऊपर का खाली हो, और नीचे भरे।

संसाररूपी पैर से चलाये जानेवाले घटीयंत्र में एक पटली सरीखी एक विपत्ति भुगतकर तय की जाती है.. एक पटली जाती है, वहाँ दूसरी पटली आती है। एक आपदा जाती है, वहाँ दूसरी आपदा आती है। समझ में आया? एक विपत्ति जाए, वहाँ दूसरी विपत्ति तैयार ही होती है। समझे न? उसमें (दृष्टान्त में) जैसे पानी खाली हुआ ऊपर से तो नीचे से अनेक घड़े भरे वापस। ऊपर से ऐसे खाली हो, नीचे से ऐसे भरे।

तय की जाती है कि उसी समय दूसरी-दूसरी बहुत सी विपत्तियाँ सामने आ उपस्थित हो जाती हैं। एक आपदा (थी), जहाँ स्त्री को दुःख था, उसे जहाँ मिटाने गये, वहाँ लक्ष्मी गयी। जहाँ लक्ष्मी प्राप्त करने गये, वहाँ लड़का मर गया। लड़का जहाँ मर गया (और) जहाँ दूसरा लड़का हुआ, वहाँ शरीर में क्षय (टीबी) लागू पड़ा।

मुमुक्षु : यह तो किसी की बात है, सबको कुछ ऐसा नहीं होता।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह यहाँ कहते हैं, फिर कहेंगे कि नहीं हो तो आत्मा का इसे भान नहीं, इसलिए दुःखी है। यह तो बाहर की बाहर से बात करते हैं। कहो, समझ में आया इसमें?

विशदार्थ-पैर से चलाये जानेवाले घटीयंत्र को पदावर्त कहते हैं,.. पदावर्त -पैर से ऐसे घूमे। पैर रखते जाए और ऐसे-ऐसे घूमता जाए। क्योंकि उसमें बार-बार परिवर्तन होता रहता है। बारम्बार पानी निकले और भरे। जैसे उसमें पैर से दबाई गई

लकड़ी या पटली के व्यतीत हो जाने के.. दबायी तो नीचे गयी। हो जाने के बाद दूसरी पटलियाँ आ उपस्थित होती हैं,.. ऊपर से आकर खड़ी रहे, ऐसा हो।

उसी तरह संसाररूपी पदावर्त में.. परिभ्रमण के काल में। एक विपत्ति के बाद दूसरी बहुत सी विपत्तियाँ जीव के सामने आ खड़ी होती हैं। समझ में आया ? जहाँ एक मिटाने जाए, वहाँ दूसरी; दूसरी जाए, वहाँ तीसरी... होली चला ही करती है। बाहर में अनुकूल-प्रतिकूलता में सुख है नहीं। कहो, समझ में आया ? फावाभाई ! बराबर है ? जहाँ पैसे हुए, वहाँ शरीर में रोग; रोग जाए, वहाँ दूसरी (विपत्ति आती है)। इसमें कहीं धूल में भी सुख नहीं है। मगनभाई ! क्या होगा ? आहा..हा.. ! कल्पना... कल्पना है, बापू ! यहाँ आत्मा आनन्द है, उसे भूलकर धूल में और पैसे में और आपदा में और दुःख में सुख मानता है, बापू ! तेरी दृष्टि में मिथ्यात्व है। समझ में आया ? बाहर में कहीं सुख है नहीं। एक के बाद एक आपदा आया ही करती है। बहुत विस्तार इसमें लेखन में नहीं किया है। इतना अर्थ ही साधारण किया है। समझ में आया ? पैसा जहाँ आवे, वहाँ कोई उलझन डाले। कहो, बराबर होगा ? मलूपचन्दभाई !

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे ! चले गये। वहाँ उसमें से ऐं... ऐं.. हो जाता है। देखो न, पूछो उसके लड़के को, पूछो तो सही। एक महीने से तो अभी पलंग पर पड़ा था। उसके पास दो करोड़ रुपये हैं। पूनमचन्द। वह मिल नहीं लेता था। तुम्हारे अहमदाबाद में उसका लड़का है। धूल में भी सुख नहीं है। पड़ा था पलंग पर ऐं... ऐं... करता। कुर्सी में बैठा हो तो अन्दर कल्पना, होली सुलगती हो। वहाँ कहाँ सुख था धूल में ? व्यर्थ में मूढ़ (सुख) मानकर बैठा है। समझ में आया ?

एक टले, वहाँ दूसरी (आवे)। जहाँ पैसा हो, वहाँ कहे, मेरे कम और इसे अधिकर। वापस यह होली सुलगावे। मेरे पास पाँच, दस लाख, बीस लाख और उसके पास पचास लाख है। चालीस लाख का टोटा। हम दोनों समान भागीदार, हमने समान पाँच-पाँच लाख रुपये बाँटे। उसे दो वर्ष में पचास लाख हो गये और मुझे तो अभी पाँच लाख ही है। मुश्किल से ब्याज निकालकर इतना खायें और इतना रहा। उसे हो गये पचास

लाख। (मेरे) पैंतालीस लाख की कमी है। खाध समझ में आया? ऐसे खाध भले न मिले। खाध दो प्रकार के। एक ऐसे पचास लाख की पूँजी कहलाती हो और होवे दस लाख की। ऐसे भी होते हैं न अभी? बहुत होते हैं बहुत देखे हैं और हमें तो सब खबर है। पचास लाख कहलाता हो, अन्दर दस लाख हों। चालीस लाख की कमी हो, परन्तु ऐसे के ऐसे टके के ब्याज से, बारह आने ब्याज से (चलता हो)। अभी तो और महँगा ब्याज हो गया, परन्तु पहले टके के ब्याज से निभाते, हों! अन्दर खाधवाले। ऐसे आठ आने मिलते हों। टके-टके के ब्याज से ले। अभी तो बहुत महँगा (हो गया)। यह तो जब तीन आने बैंक देता था, न, तब टके के ब्याज की बात है। समझे न? यह तो सब देखा है, और एकान्त में हमारे पास सब कितने ही आते हैं। इस प्रकार टके ब्याज से लिया, परन्तु अब कुछ पूरा पड़ता नहीं है और यह फेल होगा दो दिन बाद। एक पाँच सौ रुपये लेने आवे, दुकान में नहीं, महाराज! कुछ (करो)। परन्तु यहाँ हमारे पास पैसा है?

मुमुक्षु : दुखिया लोग तो आपके पास ही आवे न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ है? बापू! हमारे पास पैसा यहाँ है? आहा..हा..! कल ही एक आये थे। पन्द्रह वर्ष से हम दुःखी हैं। बापू! क्या है? यहाँ तो आत्मधर्म की बात है, बापू! समझ में आया? यहाँ कोई पैसे-बैसे की बात नहीं है। आत्मा का धर्म वीतराग कहते हैं, उसे पहिचानो और आत्मा में शान्ति है, इसके बिना तीन काल में कहीं शान्ति नहीं है। यहाँ यह बात है, बापू! यह मन्त्र है। बाकी कोई मन्त्र-बन्त्र पैसा मिले और तुम्हारे क्या कहलाता है? फर्क और फर्क और धूल फर्क... मूर्ख सब एकत्रित होकर... वे देनेवाले मूर्ख और लेनेवाले मूर्ख। पूर्व के पुण्य बिना एक भी पाई तीन काल में नहीं मिलती। 'हुनर करे हजार भाग्य बिन मिले न कोडी।'

देखो न! अभी यह भ्रमणा नहीं मुम्बई में? कौन कहता था? भाई! कोई ऐसा साईबाबा आया है... चल निकला है व्यक्ति। मुसलमान और जैन भी चल निकले हैं। पागल तो कोई पागल।

मुमुक्षु : बनियें तो होशियार होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बनियों को भान नहीं होता। बनिया कहना किसे? वह मुसलमान,

गृहीत मिथ्यादृष्टि जीव, माँस खाता होगा। अब कौन जाने सब ऐसे बुरे साथियों ने चढ़ाये हैं... हजारों लोग, पच्चीस-पच्चीस हजार लोग (जाते हैं)। वह दस-पाँच मिनट दर्शन दे। ओहो..हो..! चल निकला है, कल पोपटभाई कहते थे। अभी आठ दिन से है, हों! दो दिन हुए, अभी है कहते हैं।

अरे! भाई! दुःखी यह दुनिया और उसमें कोई देनेवाला निकल जाए, धूल भी दे - ऐसा नहीं व्यर्थ में। मूढ़ मिथ्या भ्रम में पड़े हैं। या तो वह 'जलाराम' दे दे और या वह बाबा दे दे और या साईबाबा दे दे। मूढ़ जीव की मूढ़ता, उसका माप नहीं मिलता, इतना पाप का मिथ्यादृष्टिपना है।

यहाँ तो आचार्य कहते हैं कि सुन तो सही! यह पूर्व के किसी पुण्य के कारण से सामग्री मिले और उसमें तू सुख माने तो एक पुण्य जहाँ घटा, वहाँ दूसरी आपदा आयेगी, तीसरी आपदा आयेगी; क्योंकि जगत में तो पुण्य-पाप के फल एक के बाद एक आया करते हैं। आत्मा पुण्य-पाप रहित चीज़ है, उसका जब तक भान और पहिचान नहीं करे, तब तक तेरे दुःख मिटेंगे नहीं। समझ में आया? कहो, बाबूभाई! सब बहुत कि यहाँ महाराज के पास पैसे बहुत आते हैं। यहाँ हमारे पैसा... हमारे पास तो यह आत्मा है। समझ में आया? कहो, विमलचन्दजी! कैसे बसन्तलालजी क्या? आहा..हा..! यहाँ कहते हैं कि भाई!

इसलिए समझो कि एकमात्र दुःखों की कारणीभूत विपत्तियों का कभी भी अन्तर न पड़ने के कारण.. देखो! एक विपत्ति में दूसरी और दूसरी में तीसरी और तीसरी में चौथी और चौथी में चला ही करती है, उसमें कहीं सुख नहीं है। यह संसार अवश्य ही विनाश करने योग्य है। संसार नाश करने योग्य है - ऐसा यहाँ तो सिद्ध करते हैं। समझ में आया? संसार शब्द से (आशय यह है कि) जिससे पुण्य-पाप फले - ऐसे जो शुभाशुभभाव, वह संसार है। उसका नाश करना ही योग्य है। समझ में आया? जब तक पुण्य और पाप करेगा, तब तक उसके फल अनुकूल और प्रतिकूल मिलेंगे और परिभ्रमण किया करेगा। वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव कहते हैं कि यह आत्मा इन पुण्य-पाप के फलरहित, बन्धन रहित और पुण्य-पाप के भावरहित है। उसका भान करके संसार का नाश हो; इसके अतिरिक्त दुःख के नाश का कोई उपाय नहीं है। आहा..हा..!

समझ में आया ? अन्दर में कुछ होली सुलगती हो और बाह्य में ऐसा दिखता हो और अन्दर में खराबी कुछ हो और कुछ हो, किसी को कुछ हो। मोहनभाई ! यह किसी को कुछ न होवे तो भी इन पुण्य-पाप को अपना माननेवाला आकुलता को, दुःख को, मिथ्यात्व को संवन करता है, लो ! समझ में आया ?

भगवान आत्मा की रिद्धि चैतन्यमूर्ति 'सिद्ध समान सदा पद मेरो'—ऐसा आत्मा का स्वरूप अन्दर भरा हुआ आनन्द से, परमेश्वर-साक्षात् परमेश्वर स्वरूप ही आत्मा है। आहा..हा.. ! ये परमेश्वर परमात्मा केवलज्ञानी होते हैं, कहाँ से होते हैं ? कहीं बाहर से होते हैं ? इस अन्दर में पड़ी हुई शक्ति का विकास करने से परमात्मा होते हैं, केवलज्ञानी परमात्मा (होते हैं)। बाबूभाई ! यह अन्तर तत्त्व क्या है, उसे जानना नहीं, उसे देखने, प्रतीति करने, पहिचान करने की दरकार करना नहीं और बाहर से यह करूँगा और धूल मिलेगी और यह मिलेगा... होली मिलेगी चार गति में भटकने की। पोपटभाई लो !

यहाँ तो कहते हैं, एकमात्र दुःखों की कारणीभूत विपत्तियों का कभी भी अन्तर न पड़ने के कारण.. विपत्ति तो आया ही करती है। जैसे वह ऊपर से खाली करे और नीचे से भरे - ऐसे कोई एक (विपत्ति) जाए वहाँ दूसरी, दूसरी जाए वहाँ तीसरी। अब यह विकल्प का जाल हो, लो न ! विकल्प का जाल। जैसे पुणी सांध्य ही करे, पुणी का डोरा एक के बाद एक यह राग ऐसे करूँ... यह करूँ... यह करूँ... यह करूँ... विकल्प... विकल्प.. विकल्प... पुण्य-पाप, राग-द्वेष के विकल्प की ज्वाला तो सुलगता ही रहता है, वह दुःख है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? प्रतिकूल संयोग दुःख नहीं, प्रतिकूल संयोग दुःख नहीं, निर्धनता दुःख नहीं, रोग दुःख नहीं। वह मुझे हुआ - ऐसी प्रतिकूलता की मान्यता इसे दुःखरूप होती है। आहा..हा.. !

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : किसने कहा सुख है और दुःख भी किसने कहा ? सुना क्या यह अभी तक ? रोग सुख भी नहीं और दुःख भी नहीं। वह तो जड़ की दशा है।

यह जड़ परमाणु मिट्टी, धूल तो यह अजीवतत्त्व है। भगवान ने नवतत्त्व कहे, उनमें यह अजीवतत्त्व है। नवतत्त्व कहे न, भगवान ने—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव,

संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। ऐसे यह अजीव मिट्टी तत्त्व, यह जड़ है। यह सब देखो! अजीव पुद्गल है। अब उसमें कोई रोग हुआ, वह तो जड़ की दशा है। उसमें आत्मा को दुःख कहाँ से आया? बस! मूढ़ मानता है कि मुझे रोग और इसे निरोग। ऐसे भाग पाड़कर मिथ्यात्वभाव में दुःख मान रहा है। समझ में आया? आहा..हा..! और पैसे से सुख, वह मूढ़ है। शरीर निरोग मेरा बस ऊँट जैसा। समझे न? ढाई सेर के पाँच लड्डू खा जाए, सेर-सेर घी पिलाये हुए। परन्तु वह है क्या? ऐ... मलूपचन्दभाई!

मुमुक्षु : अब नहीं खाते।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं खाते? पहले खाते होंगे। क्यों वृद्ध नहीं आये वापस आज? ठीक! दोपहर को आते हैं, ऐसा न! क्या समझ में आया? एक जटुभाई तीन-तीन लड्डू खाते, इतने-इतने। जटुभाई, अभी फिर जब यह हुआ न? गेहूँ, वे खाणिया गेहूँ। खाणिया गेहूँ समझ में आता है? 'भाल' में गेहूँ बहुत होते हैं, और वे बैल खाये। बैल खाये, इसलिए वे छाण में निकाल डाले, पूरे के पूरे निकलें सूखे जैसे। फिर उसका रोग हो गया होगा। जटुभाई को। वैद्य बड़े हुए, लो न! इतने-इतने तीन लड्डू ठीक से चढ़ाते थे। वे अभी उन गेहूँ की रोटी खाते हैं। खाणिया गेहूँ, हों! बैल की छाण में से निकले हुए। ब्राह्मण जटुभाई! कहा - यह? यह तो हरिजन ने इकट्ठे किये हों और फिर धो डाले। भाल में बहुत गेहूँ होवे और फिर अलग रखे न? बहुत गेहूँ पके। इस वर्ष भी बहुत पके हैं। फिर वह बैल खाये उस छाण में, कस अन्दर रह जाए, बाकी का निकल जाए। फिर छाण में निकले, वे हरिजन घर ले जाएँ, साफ करके थैलियाँ भर लें, फिर ऐसे हों, जिन्हें पचता न हो, वैसे ये ले जाएँ। मीठी पेशाबवाले। धूल में भी सुख, सुख नहीं है, परन्तु कहीं का कहीं कल्पना करके मानता है। इतना तो सुख है, हों!

मेरे साले की बहू बहुत होशियार है। ठीक अब वह। कहाँ का कहाँ लगाया! परन्तु तुझे क्या? मलूपचन्दभाई! मेरे साले का लड़का ऐसा होशियार, बिलायत जाकर पच्चीस हजार की आमदनी, महीने की पच्चीस हजार की। परन्तु उसमें भी तुझे क्या है? राग करता है, वह तुझे दुःख है। उसके लड़के तो ऐसे होशियार, आहा..हा..! मूढ़ है। बाहर की चीज़ में सुख मानता है, उसे तो वीतरागदेव मिथ्यात्वभाव कहते हैं। वीतराग परमात्मा, जिसमें

सुख नहीं, उसमें सुख माने, उसे विपरीत मिथ्यादृष्टि कहते हैं। फिर भले चाहे जो दया, दान, और व्रत, भक्ति को करता हो तो दृष्टि मिथ्यात्व है। समझ में आया ? कैसे होगा ? अरे ! शरीर ऐसा हो परन्तु यह बसन्तीलालजी जैसा ऐसा श्वेत, रूपवान, लट्टु जैसा, मक्खन जैसा (हो), लो ! वह सुख होगा या नहीं ? अरे ! कीड़े पड़े वहाँ इसमें। आहा.. ! अरे ! पैर में ऐसा दुखता है, सबाका मारता है। परन्तु अच्छा दिखता है न ? भाई ! यह तुझे खबर नहीं पड़ती। ये जोड़, ऐसे जोड़ दुखते हैं, ऐसा कहते हैं न लोग ? यह एक के बाद एक विपदा संसार में पड़ी है, इसमें सुख कब है ?

संसार अवश्य नाश करनेयोग्य है। संसार अर्थात् ? है न लाईन ? भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है। उसका अन्तर अनुभव—दृष्टि-ज्ञान करके, पुण्य-पाप के भाव संसार हैं, यह शुभ-अशुभभाव संसार है, इसका नाश करने से ही छुटकारा है। इसके अतिरिक्त कहीं तीन काल में सुख नहीं है। समझ में आया ? देखो न ! यह यहाँ मकान लिया, उसे अभी वह करना, अभी लेना भी नहीं आता... उलझे है अभी कितने ही। निपटा नहीं। महीना-डेढ़ महीना वहाँ क्या कहलाता है वह ? फलाना, ढीकना। क्या दस लाख हुए और सौ लाख हुए। परन्तु उसमें आत्मा को क्या हुआ ? होली सुलगा ही करती है, एक के बाद एक। मगनभाई ! आहा..हा.. !

दोहा - जब तक एक विपद टले, अन्य विपद बहु आय।

पदिका जिमि घटियंत्र में, बार बार भरमाय।।१२।।

यह पैर में खाली दबावे वहाँ ऊपर का खाली हो और नीचे का भरे, ऐसे एक पुण्य को जहाँ दबावे, वहाँ जरा बाहर आवे, वहाँ फिर दूसरा पाप हो, वहाँ प्रतिकूलता आवे। पाप और पुण्य का चक्र अनादि से चला आ रहा है। पुण्य का फल घड़ीक में आवे, घड़ीक में पाप के आवें। ऐसे के ऐसे चौरासी के अवतार में पुण्य और पाप करके चौरासी के अवतार (किये)। स्वर्ग में गया तो भी दुःख है, धूल भी वहाँ सुख नहीं है। वहाँ करोड़ों देवांगनाएँ हैं। वह क्या है ? धूल में सुख है वहाँ ? यह कल्पना करता है कि यह इन्द्राणियों में सुख है। वह कल्पना, यही इसका दुःख है। समझ में आया ? कोई कल्पना (से) माने कि आहाहा ! इसे तो इन्द्राणियाँ सुखी। ऐसे सम्पदा देवलोक की देखो। सुधर्म देवलोक का

बत्तीस लाख विमान का स्वामी शकेन्द्र इन्द्र है। भगवान का जन्म आदि होता है, तब आता है न महोत्सव करने, भगवान को मेरुपर्वत पर ले जाने। बत्तीस लाख विमान का स्वामी, करोड़ों इन्द्राणियाँ और दो सागर का आयुष्य। (उसका) विषय में लक्ष्य जाता है, वह आकुलता और दुःख है। आहाहा!

भगवान अनाकुल आनन्द का भरपूर भण्डार। अरे! घर का बर्तन छोड़कर पर में चाटने जाता है, ऐसा कहते हैं। लोग नहीं कहते? ऐ.. घर में स्त्री अच्छी और यह तू उस भंगिन को जहाँ-तहाँ जूठन चाटने जाता है। इसी प्रकार यहाँ परमात्मा कहते हैं कि अरे! तेरा भरा बर्तन तो अन्दर में है न, भाई! वह अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान तू है। और उसे चाटने जाता है - धूल और राग तथा द्वेष में सुख को चाटने जाता है। यह भरा घर छोड़कर तू कहाँ जाता है? समझ में आया? वह तो बाहर की बात है, व्यभिचारी होवे तो उसे कहते हैं न? ऐ.. घर में स्त्री, वह पद्मिनी जैसी स्त्री, खानदानी लड़की, उसे छोड़कर जहाँ-तहाँ वेश्या के यहाँ घूमता है। कौन है तू? समझ में आया? भानरहित। इसी प्रकार यहाँ भगवान कहते हैं। अरे! आत्मा में आनन्द प्रभु है न! तुझमें अन्दर भरे बर्तन पड़े हैं (अर्थात्) तू शान्ति का सागर है प्रभु! अन्दर में तूने नजर नहीं की। आहाहा! तुझे अन्तर आनन्द का विश्वास नहीं आता। आत्मा आनन्द से भरपूर तत्त्व है। कुछ आनन्द बाहर से, कहीं से नहीं आता। आहाहा! अरे! ऐसे भरे भगवान को देखता नहीं और जिसमें पुण्य-पाप और जिसके फल में जरा भी गन्ध भी सुख नहीं, वहाँ मूढ़ मिथ्यादृष्टिरूप से (सुख) मानता है। अवश्य यह संसार नाश करनेयोग्य है। समझ में आया?

संसार अर्थात् यह स्त्री-पुत्र ऐसा नहीं। स्त्री-पुत्र बेचारे वे तो पर हैं। वे कहाँ (संसार है)? तेरे आत्मा में सुख है, आनन्द है, उसे भूलकर 'संसरणं इति संसारः' उसमें से हटकर पुण्य-पाप के भाव (और) मिथ्यात्वभाव किया, उसका नाम भगवान संसार कहते हैं। समझ में आया? स्त्री, पुत्र, बेचारे पर हैं। वे कहाँ घुस गये थे यहाँ? तू बैठा हो और वे चले जाएँ तथा वे बैठे हों और तू चला जाए। वहाँ कहाँ तुझमें वे घुस गये हैं? समझ में आया?

वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव केवलज्ञानी साक्षात् तीर्थकर अनन्त हो

गये। वर्तमान में विराजते हैं – महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर परमात्मा तीर्थकरदेव,.. आता है न? बाबूभाई! या नहीं? बीस विहरमान वर्तमान में विराजते हैं, मनुष्यरूप से अभी हैं। पाँच सौ धनुष्य की देह है, करोड़ पूर्व की आयुष्य है। बीस तीर्थकर विराजते हैं, लाखों केवली विराजते हैं। उन भगवान के मुख में (वाणी में) ऐसा आता है कि भाई! तुझमें आनन्द है न भाई! उस आनन्द को भूलकर यह बाहर में कहाँ भटकता है? ये स्त्री-पुत्र तेरा संसार नहीं है। तेरा संसार तेरे स्वभाव को चूककर पुण्य-पाप के भाव और उनमें भ्रमणा की है, वह तेरा संसार है। आहाहा! समझ में आया? 'संसरणं इति संसारः'

सच्चिदानन्द प्रभु, सिद्धस्वरूप आत्मा का। सत् अर्थात् शाश्वत् आनन्द और ज्ञान का कन्द आत्मा है। उसमें से, यह पर में सुख, पर में दुःख, शरीर ठीक होवे तो ठीक, न होवे तो ठीक नहीं – ऐसी जो भ्रमणा / मिथ्यात्वभाव और राग-द्वेषभाव (होते हैं), उन्हें भगवान संसार कहते हैं। नहीं तो वे कहें, स्त्री सुख छोड़ा तो संसार छोड़ा। धूल में भी छोड़ा नहीं, अब सुन न! संसार किसे कहना, तुझे खबर भी नहीं है। समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भुलानेयोग्य है न, बापू! यह वस्तु ही ऐसी है। यह तो वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकर का मार्ग है। जिसे इन्द्र स्वीकार करते हैं, गणधर अनुभव करते हैं। समझ में आया? यह कहीं कोई एँरे-गैरे का मार्ग नहीं है। यह तो तीन लोक के नाथ तीर्थकरदेव सर्वज्ञ परमेश्वर, अनन्त तीर्थकर हुए, वर्तमान में विराजते हैं, अनन्त तीर्थकर होंगे। भरत में होंगे, ऐरावत में होंगे, महाविदेह में तो विराजमान हैं। आहाहा!

भाई! तू भगवान को भूला और भ्रमणा में पड़ा, कहते हैं। तेरे भगवान की महिमा, वीतराग कहते हैं कि वाणी से पूरी न पड़े, ऐसा तू है, भाई! ऐसे आत्मा में सम्यग्दर्शनरूपी धर्म प्रगट किये बिना पुण्य-पाप के भाव में लाभ मानना मिथ्यात्वभाव है। अनुभूति भगवान आत्मा की... आहाहा! शुद्धस्वरूप, अनाकुल आनन्द, उसमें अन्तर एकाकार होकर आत्मा के आनन्द का अनुभव करना, इसका नाम भगवान सम्यग्दर्शन / धर्म कहते हैं। समझ में आया? यह धर्म प्रगट हुए बिना संसार का-मिथ्यात्व का नाश नहीं होता। कहो, समझ में आया? संसार अवश्य... लो!

जब तक एक विपद टले, अन्य विपद बहु आय। पदिका जिमि घटियंत्र में, बार बार भरमाय। स्वर्ग का देव। कुछ पुण्य किया हो, आत्मा के भान बिना, स्वर्ग का देव (होवे) मरकर एकेन्द्रिय में जाए। समझ में आया ? दूसरे देवलोक का इन्द्र तो नहीं, वह तो सम्यक्त्वी है। इन्द्र है और वह तो समकिति है। इन्द्र और इन्द्राणी दोनों समकिति हैं। एकावतारी हैं। एक भव में मोक्ष जानेवाले हैं। अभी शकेन्द्र सौधर्म देवलोक में है ? परन्तु उसके दूसरे देव जो दो-दो सागर की स्थितिवाले हैं, वे मरकर ढोर में-एकेन्द्रिय में (भी) जाते हैं। आहाहा! यहाँ पुण्य किया हो—दया, दान, व्रत, भक्ति, शुभभाव, परन्तु माना हो उसमें धर्म। आत्मा अन्तर से राग से भिन्न है, उसका भान नहीं होता। समझ में आया ?

अथवा वहाँ (दूसरे देव कहे), अब आयुष्य पूरा हुआ। माला मुरझायी, माला मुरझायी। क्या है ? भाई! देव! मरण का अवसर आया। कहाँ ? सब मरते हैं यहाँ तो। सब देव बड़े असंख्य अरब वर्ष रहकर। तुम कहाँ जाओगे ? मैं कहाँ जाऊँगा ? तिर्यच में या मनुष्य में। ऐसे सुख छोड़कर यह मनुष्य में नौ महीने उल्टा लटकेगा ? रोता है कुदेव। आत्मज्ञानरहित, भानरहित पुण्य करके गया, उसकी बात है। समझ में आया ? वह रोता है, हों! ऐसा। अरे! ये इन्द्राणियाँ, यह देव, यह छोड़कर मुझे जाना ? इस माता के गर्भ में नौ महीने उल्टा लटकूँ ? श्वास भी लिया न जाए। अर र! यह विचार करते-करते ऐसा हो, अरे! इसकी अपेक्षा एकेन्द्रिय में जाएँ तो ठीक। लटकें तो नहीं। ऐसा भगवान कहते हैं, हों! ऐसा विचार करे और मरकर एकेन्द्रिय में जाए। पानी में जाए, फूल में जाए (और) पृथ्वी में जाए। एकेन्द्रिय में अवतरित हो। कहाँ देव और कहाँ एकेन्द्रिय ? संसार में तो ऐसा ही है, एक आवे और जावे। वहाँ कहाँ धूल में भी नहीं कुछ व्यर्थ का। समझ में आया ? आहाहा!

यहाँ चक्रवर्ती का छह खण्ड का राज हो। लो! खम्मा अन्नदाता! सोलह हजार देव सेवा करते हों। जहाँ पूरा हुआ कि दूसरे क्षण में सातवाँ नरक। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती (का) आता है न ? ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, बारहवाँ अन्तिम चक्रवर्ती। बड़े सोलह हजार देव तो सेवा करे। हीरा का... क्या कहलाता है सोने का ? पलंग, पलंग। हीरे का पलंग। एक-एक हीरे की कीमत करोड़ की हो। वह अन्तिम समय में कुरुमति.. जा सातवें नरक में।

रौरव नरक में पड़ा है अभी, तैंतीस सागर की स्थिति। बापू! यह तो संसार का पर्दा आया (और) जाता है। एक पर्दा गिरता है और दूसरा आता है। दूसरा जाता है और तीसरा आता है। वहाँ कहाँ धूल में सुख था। स्वर्ग और नरक सब दुःखरूप हैं। आहाहा! यह यहाँ बात करते हैं, हों!

फिर शिष्य का कहना है कि भगवन्! सभी संसारी तो विपत्तिवाले नहीं हैं, बहुत से सम्पत्तिवाले भी दिखने में आते हैं। इसके विषय में आचार्य कहते हैं -

दुरर्ज्येनाऽसुरक्षेण नश्वरेण धनादिना।
स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा॥१३॥

अर्थ - जैसे कोई ज्वरवाला प्राणी घी को खाकर या चिपड़ कर अपने को स्वस्थ मानने लग जाय, उसी प्रकार कोई एक मनुष्य मुश्किल से पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना कठिन है और फिर भी नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसे धन आदिकों से अपने को सुखी मानने लग जाता है।

विशदार्थ - जैसे कोई एक भोला प्राणी जो सामज्वर (ठंड देकर आनेवाले बुखार) से पीड़ित होत है, वह बुद्धि के ठिकाने न रहने से-बुद्धि के बिगड़ जाने से घी को खाकर या उसकी मालिश कर लेने से अपने आपको स्वस्थ-निरोगी मानने लगता है, उसी तरह कोई-कोई (सभी नहीं) धन, दौलत, स्त्री आदिक जिनका कि उपार्जित करना कठिन तथा जो रक्षा करते भी नष्ट हो जानेवाले हैं - ऐसे इष्ट वस्तुओं में अपने आपको 'मैं सुखी हूँ' ऐसा मानने लग जाते हैं, इसलिए समझो कि जो मुश्किलों से पैदा किये जाते तथा जिनकी रक्षा बड़ी कठिनाई से होती है, तथा जो नष्ट हो जाते, स्थिर नहीं रहते, ऐसे धनादिकों से दुःख ही होता है, जैसा कि कहा है - 'अर्थस्योपार्जने दुःखं'

'धन के कमाने में दुःख, उसकी रक्षा करने में दुःख, उसके जाने में दुःख, इस तरह हर हालत में दुःख के कारणरूप धन को धिक्कार हो।'

दोहा - कठिन प्राप्त संरक्ष्य ये, नश्वर धन पुत्रादि।

इनसे सुख की कल्पना, जिमि धृत से ज्वर व्याधि॥१३॥

गाथा - १३ पर प्रवचन

फिर शिष्य का कहना है कि भगवन्! सभी संसारी तो विपत्तिवाले नहीं हैं,.. कितने ही तो दिखते हैं बेचारे। पाँच-पचास लाख, करोड़-दो करोड़ पूँजी, स्त्री अच्छी, लड़के अच्छे, मकान-बँगले दस-दस लाख, बीस-बीस लाख के मकान। सिर पर पंखा घूमता हो ऐसे.. ऐसे.. ऐसे.. चूरमे का लड्डू खाता हो, श्रीखंड, पूड़ी और अरबी के भुजिये गरम-गरम ऐसे खाता हो। सब दुःखी हैं या ऐसे कोई ऐसे सुखी हैं या नहीं? ऐसा शिष्य पूछता है। कोई सुखी है या नहीं? सब दुःखी ही हैं? सभी संसारी तो विपत्तिवाले नहीं हैं, बहुत से सम्पत्तिवाले भी दिखने में आते हैं। ऐ... पोपटभाई! तुम सर्वत्र दुःख.. दुःख.. दुःख.. आपदा.. आपदा.. आपदा.. करते हो परन्तु कितने ही तो ऐसे होते हैं कि पूरी जिन्दगी आपदा नहीं होती। समझ में आया? और स्त्री, पुत्र, परिवार सोचा (हो), कोई हुकम करे, वहाँ एक बोले तो पच्चीस हाजिर।

मुमुक्षु : पुण्यानुबन्धी पुण्य...

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्यानुबन्धी पुण्य मिथ्यादृष्टि को नहीं होता। कहते हैं कि कोई विपत्तिवाले नहीं हैं, बहुत से सम्पत्तिवाले भी दिखने में आते हैं। इसके विषय में आचार्य कहते हैं -

दुर्ज्येनाऽसुरक्षेण नश्वरेण धनादिना।

स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा॥१३॥

अर्थ - जैसे कोई ज्वरवाला प्राणी.. बुखार आया, बुखार। वह घी को खाकर.. देखो! बुखार ऐसा आया हो न काला, कालिया बुखार नहीं कहते? कालिया बुखार, क्या कहते हैं उसे? काला ज्वर। धम.. धम.. धम.. एक और छह-छह, सात-सात डिग्री। ऐसे धाणी फूटते वैसा ऐसा गरम हो, ऐसा गरम होता है। कालिया ज्वर, वह घी को खाकर फिर ऐसा, ऐसा लगे, अरे! घी लाओ। ताजा घी लाओ। आहाहा! खावे या चुपड़े। ऊपर घी चुपड़े। अरे! मर जाएगा। घी को खाकर या चिपड़ कर अपने को स्वस्थ मानने लग जाय.. लो, हम सुखी हैं, देखो! घी का चिपड़ा हुआ (खाते हैं)। अब मर जाएगा अभी,

सन्निपात लगेगा अभी। समझ में आया ? काला ज्वर, ऊपर से घी खाना और चिपड़ना, वह सन्निपात का लक्षण है। सन्निपात होगा, अभी मर जाएगा।

उसी प्रकार कोई एक मनुष्य मुश्किल से पैदा किये गये.. एक बात। लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र, कठिनाई से कदाचित्त हुए, ऐसा कहते हैं। अकेला पैसा नहीं, हों! सब। बहुत मेहनत कर-करके मुश्किल से पैसे हुए। वे पुण्य के बिना नहीं होते हैं, हों! मर जाए तो भी (पुण्य के बिना नहीं होते) उसमें लड़का माँगता था। साठ वर्ष में लड़का नहीं था। मेहनत की, मुश्किल से लड़का हुआ। फिर लड़का विवाह नहीं करे। ऐसा लड़का पागल जैसा निकला। पूँजी दो-पाँच, पचास लाख की। जहाँ-तहाँ डाला, पचास हजार देकर स्त्री रखी। एक में से एक कहते हैं कि अपने मुश्किल से पैदा किये.. ऐसा किया। तथा जिसकी रक्षा करना कठिन है.. वापस उन्हें रखना कठिन। प्राप्त करना कठिन, रखना कठिन, तो भी नाश हो जाएँगे, कहते हैं। तेरे रखने से रहेंगे ? पुण्य चला जाए। तू बैठा हो और वे जाएँगे, या वे बैठे हों और तू जाएगा। परन्तु होता है या नहीं ? कैसे होगा ? आहाहा !

मुमुक्षु : यह सुनकर कुछ खटका नहीं लगता।

पूज्य गुरुदेवश्री : खटका नहीं लगता। उसका कारण है न कि इसने आत्मा आनन्द है, उस ओर कभी लक्ष्य नहीं किया। इस दुःख को किसके साथ मिलाना ? एक अनाज हाथ में हो तो दूसरे के साथ मिलावे कि देखो भाई ! यह बाजरा, यह बाजरा। यह मूँग के दाने जैसा है और यह कुछ पोचा है, परन्तु दूसरा बाजरा नजर में पड़ा नहीं। आत्मा में आनन्द है, आत्मा अतीन्द्रिय सच्चिदानन्दस्वरूप है। भान नहीं। आनन्द अतीन्द्रिय आनन्द आत्मा में आनन्द-अर्थात् क्या ? आनन्द तो स्त्री में हो, पुत्र में हो, धूल में हो। सुन न अब मूर्ख। स्त्री में और कहाँ पैसे में, धूल में, बँगले में था ? है ? आहाहा ! लड़का ऐसा हो या तो ऐसा हो और या यह धूल होवे न... देखो न ! वह बड़ा नहीं था ? एक सरकार, वह राजा, यहाँ लाख की आमदनी घण्टे भर की। कुटुम्बियों ने उड़ा दिया। समाचार-पत्र में आया था न ? एक घण्टे की ढाई लाख की आमदनी। इतनी आमदनी। उसका राजा छोटा परन्तु पेट्रोल निकला हुआ। पेट्रोल का कुआँ। एक घण्टे भर की ढाई लाख की (आमदनी)। उसके भाई का लड़का, काका का लड़का होगा, उसने इसे निकाला। उसे डर कि मार डालेगा कभी या मुझे निकालेगा। कुटुम्ब ने एकत्रित होकर निकाला उसे,

निकाल डाला। राज से उठा दिया। वह तो पुण्य बदले तो क्या हो ? चला ही करे। वहाँ कितना पुण्य लेकर आया होगा ? पूर्व का पुण्य कितना होगा इस प्राणी में ? थोड़ा-बहुत दो-पाँच वर्ष रहा, वहाँ फूटा भाग्य।

कहते हैं, अज्ञानी यह मानता है। एक तो कठिनाई से पैदा किये, जिसे रक्षा करना, वह वापस रहना कठिन। पुण्य के बिना रहता नहीं। पुण्य फिर तो चला जाता है। होने पर भी चला जाए, गरीब हो जाए। हाय.. हाय.. ! नहीं कहा था जयपुर का ? मावजीभाई, मावजी। मावजीभाई जवेरी, हों! अपने बांकानेर का वहाँ जयपुर में था। हम (संवत्) २०१३ में गये थे न! हम नीचे उतरे वहाँ एक व्यक्ति चलता था। मेरी नजर उस पर गयी। सत्तर-पिचहत्तर वर्ष की उम्र और गंज थी। अर्थात् यह मूढ़ गरीब व्यक्ति नहीं लगता, ऐसा लगा, मेरी नजर पड़ी इसलिए। यह मूल गरीब नहीं है। गरीब की शक्ल नहीं है इसकी। यह कौन है कहा ७५ वर्ष का ? इसलिए उसका ड्राइवर कहे कि यह मावजी, यहाँ जवेरी था। उसका लड़का है। मावजी विक्रम। जवेरी बाजार में जवेरी की दुकान थी, उसका लड़का है। महेन्द्रभाई! साथ में बैठे थे। महेन्द्रभाई जयपुर के। अरे ! यह तो हमारा मावजी का लड़का। मैंने तो छोटी उम्र में बहुत पैसा दिया था। बीच की उम्र में दुःखी था। पिचहत्तर वर्ष और पैर पुराने जूते ऐसे। ऐ बापू! एक पैसा देना, एक पैसा देना, पैसा देना - ऐसा माँगता था। जवेरी का लड़का। घड़ीक में बदलते समय लगता है। मानता है, मानो कि हमारी (चीज़ है)। तेरी चीज़ कहाँ थी, वह तेरे पास रहे ? क्षण में भिखारी। माँगे तो ऐसे देखा हो... ललाट चमकदार बहुत ऊँचा, ऐसे गृहस्थ के घर में अवतरित हुआ परन्तु बाद में हो गया गरीब, कुछ रहा नहीं। दिया कितना पहुँचे ? अन्त में भिखारी हो गया, लो ! आहाहा !

तुम्हारे बापूजी जेठाभाई एक बार कहते थे कि मुम्बई में किसी का विवाह हुआ था। विवाह में बेहड़ा (कलश) का वितरण किया तब, पहले की बात है, हों ! कलश का वितरण, उस बहू को अगहरणी आयी। इसके बापूजी थे, बाबूभाई के, जेठालाल संघवी। वे कहते थे कि मेरे पास आया था कि घर में स्त्री को ऐसा है और हॉस्पिटल में ले जाते हैं तो यह हो ऐसा है, कुछ साधन नहीं है, कुछ दो, परन्तु तेरे विवाह में यह था न ? जेठाभाई

कहते थे। जिसके विवाह में कलश दिये थे, पूरी बड़ी जाति को। भाई! यह तो संध्या की लालिमा है। समझ में आया? छाया-धूप, छाया-धूप आवे और जावे, आवे और जावे। वह कहाँ आत्मा नित्य है, उसकी तरह वह चीज़ है। कहते हैं, बाहर की चीज़ें सुखरूप लगती हैं। समझ में आया? परन्तु वह है (नहीं)। उसका एक तो मुश्किल से पैदा करना। मुश्किल अर्थात् पुण्य से होता है परन्तु बाहर में मेहनत करते हैं या नहीं?

जिसकी रक्षा करना कठिन है.. वापिस रखना कठिन है। स्त्री को अधिकार में रखना, पुत्र को आज्ञा में रखना। भारी कठिन। आहाहा! राजा की रानी हो और जमींदारनी तो बोल डाले, पाँच करोड़ का तालुकादार हो। दरबार साहिब! ध्यान रखना, हों! हम जमींदारनी हैं। वह तो सर्पिणी है। हाय.. हाय..! बाहर का सुख देखे और अन्दर वह बोलती हो ऐसा। ध्यान रखना, हम जमींदारनी हैं, दरबारजी! हाँ। इतना कहे, वहाँ उसका रोम चढ़े अन्दर से। हाय..हाय..! यह ऐसा कहे, हम कुछ मुफ्त में नहीं आये।

एक महिला तो और ऐसा कहती थी। समझ में आया? देवरानी-जेठानी दोनों में लड़ाई हुई। जेठानी ऐसे पैसे लेकर आयी होगी, पैसे दिये होंगे पाँच, दस हजार, बीस हजार उसके पिता ने और इसका (देवरानी का) मुफ्त में हुआ होगा। दोनों में हुई लड़ाई। (एक कहे) मुफ्त की (तो यह कहे) मुफ्त की मैं नहीं आयी। मेरे बाप ने पच्चीस हजार लिये हैं। तू मुफ्त में आयी है। देखो! इस मूर्खाई के ये गाँव कहीं अलग होंगे? मुफ्त की मैं नहीं आयी। मेरे बाप ने पच्चीस हजार लिये हैं, तू मुफ्त की है। पोपटभाई! दुनिया में क्या नहीं होगा? दुनिया में क्या नहीं होगा? एक-दूसरी महिलाएँ ताना मारती हो घर में, रसोई के समय देखा हो, दोनों को नहीं बनती, देवरानी-जेठानी को। एक बिच्छू का डंक ऐसा मारे, दूसरी मारे, तीसरी मारे, यह तो चला ही करता है। होली सुलगती (होती है)। फिर कहे, अरे! भाई! अलग होओ न। अब यह होली सुलगी है, इसकी अपेक्षा (तो अलग हो जाओ)। धूल में भी अन्दर सुख नहीं है। अकेले को न हो इसमें, हों! मोहनभाई! अकेले को क्या होगा? अकेला लड़का हो और अकेली बहू हो। यह तो दो-चार लड़के हों, उसे (ऐसा सब होता है)। आहाहा! तो भी कहते हैं कि प्रसन्नता होवे तो ऐसा तो दुःख है उसे, ऐसा कहते हैं। मुश्किल से पैदा करना, रक्षा करना और फिर भी नष्ट हो जानेवाले

हैं,.. तो भी रहा रहे नहीं। चले जाते हैं। स्त्री चली जाए, पैसे चले जाएँ, सब चले जाते हैं।

ऐसे धन आदिकों से अपने को सुखी मानने लग जाता है। मूढ़। ऐसे मुश्किल से पैदा करना, रक्षा करना, नाश हो। ऐसे लक्ष्मी, स्त्री, मकान, इज्जत, पुत्र उससे अपने को सुखी मानने लग जाता है। ऐसी चीज़ को, हम सुखी हैं, ऐसा मानता है। कहो, बराबर है या नहीं? फावाभाई! आहाहा!

हमारे तो लड़का अच्छा है न! बापू! तुम्हारे तो पाँच-दस हजार खर्च करना हो तो दिक्कत नहीं। यह तीन लाख, चार लाख में से एक लाख खर्च करूँ तो? यह बोलना नहीं, बापू! बहुत नहीं बोलना। यह तो बाप भी चतुर हो कि इतना सब खर्च नहीं करते। परन्तु यह चार लाख पाप करके मैंने एकत्रित किये तो मुझे चौथा भाग तो दान में देने दे। पुण्य हो, धर्म तो कहाँ था उसमें भी? नहीं, हों! पूछे बिना बापूजी कुछ नहीं कर डालोगे, हों! अधिक लोगों में वापस तुम वचन दे दो, फिर हमें तो छिदना पड़े, हों! आहाहा! इतना ही कहे। अधिक खर्च नहीं करना। लम्बी रकम एक-दूसरे में बोलने में जाए तो कोई अधिक चढ़ जाएगा रकम में। तुम्हारे अमुक तक बोलना। बस! फिर अधिक बोलना नहीं। हो गया, लो! मानो इसका नौकर है, लो! आहाहा!

विशदार्थ - जैसे कोई एक भोला प्राणी.. साम ज्वर कहा है न? देखो न! जो सामज्वर (ठंड देकर आनेवाले बुखार).. ठण्ड देकर अर्थात् क्या? पहले ठण्ड (सर्दी) आती है न? सर्दी आयी और फिर आवे बुखार। ऐसा आवे। पहले कँपकँपी छूटे न! पहले आवे न सर्दी? क्या कहते हैं अपने (गुजराती में) टाढियो आवे। बहुत सर्दी आवे। रजाई ढाँको रे ढाँको रजाई। फिर एकदम हो जाए गर्म.. गर्म.. गर्म.. गर्म.. निकालो-निकालो वस्त्र। पीड़ित होता है, वह बुद्धि के ठिकाने न रहने से.. बुद्धि का ठिकाना नहीं रहता। बुद्धि के बिगड़ जाने से घी को खाकर.. घी खाता है। समझ में आया? या उसकी मालिश कर लेने से.. घी से मालिश करो। अच्छा-ताजा घी भैंस का और गाय का लेकर मालिश करे। मर जाएगा, उसे घी का मालिश नहीं होता। अपने आपको स्वस्थ-निरोगी मानने लगता है,.. लो! हम निरोग-स्वस्थ हैं, ऐसा मानने लगता है।

इसी प्रकार उसी तरह कोई-कोई (सभी नहीं).. कोई-कोई जीव धन, दौलत, स्त्री आदिक जिनका कि उपार्जित करना कठिन.. देखो! एक तो लक्ष्मी मिलना

मुश्किल। दौलत, दौलत अर्थात् अधिक (धन) आदि। स्त्री, पुत्र, मकान **उपार्जित करना कठिन तथा जो रक्षा करते भी नष्ट हो जानेवाले हैं..** तीन बोल लिये हैं। उपार्जन किया, रखने जाए परन्तु फिर भी नष्ट हो जाते हैं। पुण्य का उदय चला जाए तो सब फू...! एक जिन्दगी में तीन-तीन, चार-चार बार देखा है एक को। तीन-तीन, चार-चार। घड़ीक में गरीब, घड़ीक में पैसा, घड़ीक में गरीब, घड़ीक में पैसा। पश्चात् वृद्धावस्था आवे। अरे रे! यह गरीबी यदि जवानी में आयी होती न, तो सहन होती, अब नहीं होती। ऐसा फिर बोले। धूल में भी नहीं है। सुन न अब! युवा अवस्था में यदि यह आयी होती न, यह, तो सहन करता परन्तु अब यह सहन नहीं होता। बड़ी इज्जत। क्या करना? लड़का-लड़की अच्छी जगह विवाहित, यहाँ घर घिस गया (आर्थिक तंगी हो गयी) अब वे आवें, उन्हें क्या देना? क्या करना? उलझन का पार नहीं होता। न्यालभाई! आहाहा!

ऐसे इष्ट वस्तुओं में अपने आपको 'मैं सुखी हूँ'.. देखो! ऐसी इष्ट वस्तुओं में अपने आपको मैं सुखी हूँ, अपने आप मुफ्त में मानता है। मूढ़। सुखी.. सुखी.. सुखी.. स्त्री है, पुत्र है, सब है। आज्ञाकारी लड़के, वे कहीं अपना कभी वचन तोड़ें, ऐसा है कुछ? पोपटभाई! छह-छह लड़के, स्त्रियाँ। ऐसे वे बापूजी-बापूजी करे और पाँच-पाँच, पच्चीस लाख रुपया, अब उसे दुःखी कैसे कहना? कहते हैं।

मुमुक्षु : दुःखी भी नहीं और सुखी भी नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; वह दुःखी है। सुखी किसका? कौन कहता है सुखी? आहाहा! दस-दस लाख का बँगला, देखो न! गोवा में तुम्हारा शान्तिलाल। इसके मामा का लड़का खुशाल, शान्तिलाल खुशाल। चालीस करोड़! इसके मामा के लड़के को दस-दस लाख के बँगले हैं। धूल में भी नहीं। वहाँ होली है। लड़के ऐसे हैं और ऐसा है और धूल ऐसी है और ये रुपये डालना कहाँ? करना क्या? होली.. होली सुलगती है परन्तु मूढ़ मानता है कि अपने जैसे कोई सुखी नहीं है। मेरे घर में तो बादशाही है। मिथ्यात्व भ्रमणा (है)।

आत्मा में आनन्द है, उसकी श्रद्धा की खबर नहीं होती। आत्मा की शान्ति का स्वभाव तो आत्मा में ही है, उसकी श्रद्धा और उसका विश्वास नहीं और इन चीजों में इसे विश्वास है। अपना विश्वास नहीं और इन चीजों का विश्वास। कहो, यह सुख.. यह

सुख.. यह सुख.. यह सुख.. कितना सुख का साधन ? तू सुखी है या नहीं अकेला ? नहीं, यह मैं नहीं। यह सुख... यह सुख.. यह सुख.. तुझे सुख के साधन तो बहुत हैं तुझे, पार नहीं होता। तुझमें सुख है या नहीं ? कि मैं नहीं। मैं सुख से खाली। यही यहाँ कहते हैं, मूढ़ ! तुझमें सुख है, तुझे भान नहीं है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान बिना, तुझे आत्मा में आनन्द का स्वभाव अन्तर में है, उसकी तुझे खबर बिना यह सुख... यह सुख.. सबमें मानता है, वे सब दुःख के निमित्त, उन्हें तू सुख मानता है। यह तूने भ्रमणा खड़ी की है। भ्रमणा ही भव का कारण है। समझ में आया ?

ऐसा मानने लग जाते हैं,.. हम सुखी हैं, भाई ! सुख अच्छा है, मुझे बादशाही है। इसलिए समझो कि जो मुश्किलों से पैदा किये जाते तथा जिनकी रक्षा बड़ी कठिनाई से होती है, तथा जो नष्ट हो जाते,.. रक्षा करते-करते भी नहीं रहते। स्थिर नहीं रहते.. अर्थात् शाश्वत् नहीं रहते। लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र शाश्वत रहते हैं ? भगवान आत्मा शाश्वत रहनेवाला अन्दर नित्यानन्द प्रभु है। ऐसे धनादिकों से दुःख ही होता है,.. उस धन में कुछ है नहीं। लो ! जैसा कि कहा है - 'अर्थस्योपार्जने दुःखं'

धन के कमाने में दुःख,.. दुःख होगा ? अरे ! राग है न, वहाँ आकुलता ? ऐसा करना और इसे सम्हालो और इसे सम्हालो... उसमें अभी का क्या कहलाता है तुम्हारे पैसा ? इनकम टैक्स और होली की बात कितनी सुलगी है ! दस लाख पैदा हो तो बताना किस प्रकार ? दस लाख हो और चौरासी हजार ले जाए लाख में। वह बहियाँ बदलनी पड़े या दस-पन्द्रह नाम डालकर भाग करने पड़ें। आहाहा !

उसकी रक्षा करने में दुःख, उसके जाने में दुःख,.. लो ! वह जाए तो दुःख। इस तरह हर हालत में दुःख के कारणरूप धन को धिक्कार हो। यहाँ तो कहते हैं। ऐसी लक्ष्मी को धिक्कार हो। आत्मा के आनन्द में है, उसे कहते हैं कि प्रशंसा कर। आत्मा आनन्दमूर्ति है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान कर। इसके अतिरिक्त सब धिक्कार-धिक्कार है। इस पैसे को धिक्कार है, मोहनभाई ! लक्ष्मी तो तेरी तुझमें है, भाई ! सच्चिदानन्द प्रभु की पहिचान कर, श्रद्धा कर। वहाँ धर्म और शान्ति और वहाँ सुख है, बाकी कहीं सुख नहीं है।

विशेष कहेंगे.....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. १२

गाथा-१३-१५

रविवार, दिनाङ्क २७-०३-१९६६

चैत्र शुक्ला ५,

वीर संवत् २४९२

(पूज्यपादस्वामी) नामक दिगम्बर मुनि हुए हैं, उन्होंने इस इष्टोपदेश की रचना की है। इष्टोपदेश का अर्थ क्या? आत्मा को हितकर उपदेश, हित करनेवाला उपदेश, उसे इष्टोपदेश कहते हैं। उसमें १३वीं गाथा में अन्त में आया है। देखो!

यह मनुष्यपना पाकर प्राणी अपने शुद्धस्वरूप की रक्षा, दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य करते नहीं। समझ में आया? और पैसा कमाने में दुःख है, उसकी रक्षा करते हैं। इस उपदेश में यह है। अपना आत्मा शुद्ध ज्ञानघन आनन्दकन्द है। उसके श्रद्धा-ज्ञान से अपना रक्षण करना। यह मनुष्यपना प्राप्त करके भी रक्षा नहीं करते। धन.. धन शब्द से यह (मात्र) धन नहीं। लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र, इज्जत-कीर्ति, मकान को उत्पन्न करने में अपना काल व्यतीत करते हैं। देखो! धन, अर्थात् धन शब्द है। पैसा कमाने में, स्त्री का रक्षण करने में, पुत्र की वृद्धि करने में, इज्जत की वृद्धि करने में, बाहर की सामग्री की पुष्टि करने में अपना काल व्यतीत करते हैं कि जिसमें दुःख है। लक्ष्मी, स्त्री आदि उत्पन्न करने में दुःख है। दुःख है? समझ में आया? पैसे कमाना, स्त्री का रक्षण करना, ये सब भाव दुःख हैं।

मुमुक्षु : कर्तव्य है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्तव्य-वर्तव्य कैसा? यहाँ तो कहते हैं, दुःख है। अपना आत्मा अनादि-अनन्त शुद्ध आनन्दकन्द है, उसकी रक्षा नहीं करता। रक्षा अर्थात् उसकी श्रद्धा और ज्ञान नहीं करता है। मनुष्यपने में स्वयं का संरक्षण होना चाहिए कि जिससे संसार का नाश हो। ऐसा नहीं करता। अपने शुद्धस्वरूप की दृष्टि और श्रद्धा-ज्ञान, मैं आनन्द हूँ, मेरे स्वरूप में मेरी सब सम्पत्ति भरी हुई है। लक्ष्मी आदि बाह्य चीज मेरी नहीं है। पुत्र और पिता आदि सब बाह्य वस्तुएँ हैं। मेरा आत्मा ही मेरा पुत्र है और मेरा आत्मा ही मेरा पिता है। समझ में आया? ऐसी जिसे दृष्टि नहीं... पूज्यपादस्वामी महामुनि दिगम्बर सन्त, कुन्दकुन्दाचार्य महाराज के होने के बाद समन्तभद्राचार्य हुए, तत्पश्चात् ये पूज्यपादस्वामी हुए। ये जगत को उपदेश करते हैं।

धनादि कमाने में दुःख है। है न अन्तिम शब्द? धन शब्द है, परन्तु धन अर्थात् स्त्री,

कुटुम्ब-परिवार सब ले लेना। सबके उपार्जन में दुःख है। आत्मा की शान्ति के उपार्जन में आनन्द है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? हरिभाई ! उसका रक्षण करने की दरकार नहीं। मैं आत्मा हूँ, मुझमें शान्ति है, मेरा आनन्द मुझमें है - ऐसी दृष्टि, अपने स्वरूप की रक्षा नहीं करते। ऐसे अज्ञानी मनुष्यपना पाकर लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार के उपार्जन में अपना काल व्यतीत करते हैं। वह उपार्जन करने में दुःख है। पैसा कमाने में दुःख है ? चौबीसों घण्टे ममता में घिर गया है।

उसकी रक्षा करने में दुःख,.. है। एक तो उपार्जन में दुःख है, बाद में लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, शरीर आदि की रक्षा करना, वह तो दुःख है। आहा..हा.. ! समझ में आया ? अपना स्वरूप शुद्ध आनन्द है। उसकी अन्दर (में) रक्षा करना, उसमें आनन्द है। रक्षा का अर्थ (यह कि) मैं आनन्दस्वरूप शुद्ध हूँ। मुझमें मलिनता का अंश दिखता है, वह मेरी चीज़ नहीं है। कर्म, शरीर भी मेरी चीज़ नहीं है और पूर्व के पुण्य के कारण से प्राप्त सामग्री भी मेरी नहीं है और मुझमें नहीं है। मेरी नहीं है और मुझमें नहीं है। इस तरह अपने आत्मा का सम्यग्दर्शन-ज्ञान से रक्षण होता है, स्वयं की दया होती है। बराबर है ? स्वदया। पुण्य-पाप के परिणाम करने से दुःख होता है। लक्ष्मी उपार्जन में दुःख होता है, आत्मा की शान्ति की हिंसा होती है। बराबर है ? बाबूभाई !

मुमुक्षु : उतरता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उतरता नहीं, इसीलिए तो यह कहते हैं। इसीलिए तो उपदेश देते हैं। भाई ! तेरी सम्पदा तो अन्दर में आनन्द है न ! आनन्द से भरपूर आत्मा पूर्णानन्द है। जैसे 'सिद्ध समान सदा पद मेरो', 'सिद्ध समान सदा पद मेरो।' मेरा पद तो सिद्धसमान केवलज्ञान आनन्द की लक्ष्मी से भरपूर है। ऐसे श्रद्धा-ज्ञान से रक्षा करने की दरकार नहीं है और बाहर की लक्ष्मी आदि उत्पन्न करने में दुःख है, तो भी अपना काल व्यतीत करता है। उसकी रक्षा करने में दुःख,.. है।

मुमुक्षु : उपार्जन करने में तो दुःख, परन्तु बाद में तो भोगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह यही कहते हैं, रक्षा करने में दुःख है। और उसके जाने में दुःख,.. है। जो वस्तु मिली, वह चली जाए तो अरे ! ऊब (आती है)। आवे वह तो समाये

परन्तु जाये, उसमें दुःख है। इस तरह अज्ञानी अनादिकाल से अपने चैतन्य की श्रद्धा-ज्ञान की रक्षा नहीं करके, पर के उपार्जन में, रक्षा में, और पर का नाश होने में दुःख मानता है। समझ में आया ?

यह कहते हैं, देखो! इस तरह हर हालत में दुःख के कारणरूप धन.. धन, स्त्री, परिवार सब, सभी परिस्थिति में दुःख का कारण है। ऐसा होगा फावाभाई! यह लड़का 'मनहर' दुःख का कारण (होगा) ?

मुमुक्षु : लड़के के प्रति रुचि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसकी ममता है न, कि यह होवे तो ठीक; यह दुःख; रक्षा करने में दुःख; उपार्जन में दुःख; और नाश होने में दुःख। आहा..हा..! भगवान आत्मा एक समय में पूर्णानन्द से भरपूर है, उसकी अन्तर में दृष्टि करना, वह स्वदया है। समझ में आया ? यह दया। मैं आत्मा हूँ, पुण्य-पाप के विकल्प उठते हैं, वे भी आस्रवतत्त्व, विकार हैं। शरीर आदि तो पृथक् ही हैं। ऐसे सर्वज्ञ परमेश्वर वीतरागदेव, आत्मा में राग और राग की एकत्वबुद्धि छोड़ने का नाम भगवान आत्मा की रक्षा और दया कहते हैं। कहो, बराबर है ? भारी कठिन! अन्दर में यह चीज क्या है, अन्दर वस्तु क्या है, उसकी खबर नहीं तो परवस्तु का उपार्जन करना, रक्षा करना और नाश होवे तो दुःख मानना, इस तरह अनादिकाल से परिभ्रमण करते हुए अनन्त काल बीत गया।

दोहा - कठिन प्राप्त संरक्ष्य ये, नश्वर धन पुत्रादि।

इनसे सुख की कल्पना, जिमि धृत से ज्वर व्याधि।।१३।।

देखो! है न श्लोक ? पूज्यपादस्वामी... ऐई! लड़कों पढ़ने देना मेहमानों को, लड़कों के पास होवे तो। समझ में आया ? मेहमान को देना, नये आये हैं न। तुम तो यहाँ लड़के हो। इष्टोपदेश, यहाँ हो रहा है। थोड़े - से थे न ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यहाँ तो यही कहते हैं। मूल तो यह कहते हैं। आगे तो यह कहेंगे कि यदि हम पैसा कमावें तो फिर दान, पूजा में काम आयेंगे। आगे पन्द्रहवीं गाथा में है। गाथा में है, हों! देखो! यहाँ पर शिष्य का कहना है कि धन, जिससे पुण्य का उपार्जन किया जाता है, वह निन्द्य-निन्दा के योग्य क्यों है? लक्ष्मी आदि निन्दा के

योग्य है – ऐसा आप कैसे कहते हों? हम पुण्य उपार्जन करते हैं, पुण्य के कारण से मिलता है। पात्र को दान देना, देव की पूजा करना, यह हमें पुण्य का कारण है। यह सब धन के बिना हो नहीं सकता, इसलिए पुण्य का साधन धन निन्द्य कैसे हैं? परन्तु यह लक्ष्मी उपार्जन करने का भाव ही पाप है। समझ में आया? पाप करके फिर तू पुण्य करेगा, यह दूसरी बात है। पहले पाप करना, पाप करके... फिर धूल लगाकर बाद में स्नान करूँगा, कीचड़ लगाकर फिर स्नान करूँगा। पहले कीचड़ क्यों लगाना? (पहले) लक्ष्मी उपार्जन करूँ, बाद में देवपूजा में, दया, दान में मेरा पुण्यभाव उपार्जन करूँगा। परन्तु वह तो पुण्य है। किन्तु पहले से धन उपार्जन करने में पाप करता है। पाप का बन्धन करके बाद में पुण्य करूँगा, यह बात न्याय की नहीं है। समझ में आया? कितने ही ऐसा कहते हैं न कि पहले हम पाँच-पचास लाख लक्ष्मी कमा लेंगे, बाद में दान में खर्च करेंगे। धूल में (खर्चेंगा)। पहले पाप किया, उसका क्या करना? बाद में तेरे राग की मन्दता हो या न हो, वह बाद की बात। मान के लिये खर्च करे, दुनिया में कीर्ति के लिये खर्च करे, स्वयं बहुत पाप किये हों, उनके नाश के लिये खर्च करे, दुनिया में अच्छी प्रतिष्ठा रहे, उसके लिये खर्च करे। वह तेरा उपार्जन में भी पाप और खर्च करने में भी पाप। समझ में आया?

पहले पाप की लक्ष्मी उपार्जन करना नहीं। समझ में आया? लक्ष्मी आदि, पुत्र आदि हों! सब लोना। लड़का हो तो फिर हमें वृद्धावस्था में धर्मध्यान हो सके, सेवा करे, निवृत्ति ली जा सके। ऐ.. फावाभाई! कहते हैं कि मूढ़ है। पैसा उपार्जन करना, उनकी रक्षा करना और उनके कारण मुझे धर्म का साधन होगा, यह तेरी मान्यता ही मूढ़ है। अपने धर्म का साधन तो निज स्वरूप में से होता है; बाहर से कोई नहीं होता। समझ में आया? **कठिन प्राप्त संरक्ष्य ये, नश्वर धन पुत्रादि।** देखो! यहाँ सब लिया। इनसे **सुख की कल्पना, जिमि धृत से ज्वर व्याधि।** बुखार आया हो, कालिया गर्म बुखार आया, फिर घी लगाना और सुख मानना। बहुत बुखार आवे तो घी लगाते हैं न? बुखार आता है तो। वह तो मूढ़ है। ऐसा कहते हैं कि निज स्वरूप के श्रद्धा-ज्ञान की रक्षा किये बिना, पर की रक्षा करने में काल जाता है, वह तो **धृत से ज्वर व्याधि।** व्याधि में घी लगाना और दुःखी होना, ऐसी वस्तु है। इसलिए लक्ष्मी आदि उपार्जन करने का भाव छोड़ना। अपनी आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान करना, ऐसा कहते हैं।

फिर भी शिष्य पूछता है कि बड़े आश्चर्य की बात है कि जब 'मुश्किलों से कमायी जाती' आदि हेतुओं से धनादिक सम्पत्ति दोनों लोकों में दुःख देनेवाली है, तब ऐसी सम्पत्ति को लोग छोड़ क्यों नहीं देते? आचार्य उत्तर देते हैं -

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते।

दह्यमान-मृगाकीर्णवनांतर-तरुस्थवत्॥१४॥

अर्थ - जिसमें अनेकों हिरण दावानल की ज्वाला से जल रहे हैं, ऐसे जंगल के मध्य में वृक्ष पर बैठे हुए मनुष्य की तरह यह संसारी प्राणी दूसरों की तरह अपने ऊपर आनेवाली विपत्तियों का ख्याल नहीं करता है।

विशदार्थ - धनादिक में आसक्ति होने के कारण जिसका विवेक नष्ट हो गया है, ऐसा यह मूढ़ प्राणी चोरादिक के द्वारा की जानेवाली, धनादिक चुराये जाने आदिरूप अपनी आपत्ति को नहीं देखता है, अर्थात् वह यह नहीं ख्याल करता कि जैसे दूसरे लोग विपत्तियों के शिकार होते हैं, उसी तरह मैं भी विपत्तियों का शिकार बन सकता हूँ। इस वन में लगी हुई यह आग इस वृक्ष को और मुझे भी जला देगी। जैसे ज्वालानल की ज्वालाओं से जहाँ अनेक मृगगण झुलस रहे हैं-जल रहे हैं, उसी वन के मध्य में मौजूद वृक्ष के ऊपर चढ़ा हुआ आदमी यह जानता है कि ये तमाम मृगगण ही घबरा रहे हैं-छटपटा रहे हैं, एवं मरते जा रहे हैं, इन विपत्तियों का मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है, मैं तो सुरक्षित हूँ। विपत्तियों का सम्बन्ध दूसरों की सम्पत्तियों से है, मेरी सम्पत्तियों से नहीं है॥१४॥

दोहा - पर की विपदा देखता, अपनी देखे नाहिं।

जलते पशु जा वन विषैं, जड़ तरुपर ठहराहिं॥१४॥

गाथा - १४ पर प्रवचन

शंका—फिर भी शिष्य पूछता है कि बड़े आश्चर्य की बात है कि जब 'मुश्किलों से कमायी जाती'.. बहुत मुश्किल से लक्ष्मी, पुत्र-पुत्रियाँ कठिनता से मेहनत से हो हेतुओं से धनादिक सम्पत्ति दोनों लोकों में दुःख देनेवाली है,.. देखो! शिष्य का

प्रश्न है। प्रभु.. ! गुरु को पूछता है कि यह लक्ष्मी, पुत्र, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार, इज्जत इस भव में दुःख देनेवाले हैं और परभव में भी दुःख देनेवाले हैं। पोपटभाई! ठीक होगा यह ? देखो!

‘मुश्किलों से कमायी जाती’ आदि हेतुओं से.. अर्थात् बहुत पसीना उतारे। मेहनत करके, ब्याज करके, मजदूरी करके पैसा कमावे। यह मजदूरी ही है न? आठ-आठ घण्टे बनिये मजदूरी करते हैं न? बारह-बारह घण्टे दुकान में बैठते हैं। राग की मजदूरी है।

मुमुक्षु : अरे ! गद्दे-तकिये पर बैठते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : गद्दी-तकिया किसे कहना ? होली सुलगती हो वहाँ। वे मजदूर तो आठ घण्टे काम करे। आठ घण्टे में अभी तो सब समझने जैसा है। और यह (बनिया) बैठे बारह घण्टे। सबेरे से बैठे तो रात्रि के दस बजे तक। बड़ा मजदूर है। ऐई.. ! कहते हैं कि ‘मुश्किलों से कमायी जाती’ आदि हेतुओं से धनादिक.. लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब-परिवार सब, हों! मुश्किल से मिला। दोनों लोकों में दुःख देनेवाली है,.. स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी इस भव में दुःख देनेवाले हैं, क्योंकि ममता करता है कि मेरे हैं। दुःख है। और परभव में भी इसे दुःख देनेवाले ही है। भगवान आत्मा अन्तर आनन्दस्वरूप है, वर्तमान उसका श्रद्धा-ज्ञान करे तो आनन्द होता है और भविष्य में भी आत्मा आनन्द का दाता है। भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द मूर्ति का श्रद्धा-ज्ञान करे तो वर्तमान में भी आनन्द हो और भविष्य में भी आनन्द हो; और इसके अतिरिक्त जगत की चीज़ की रक्षा करने में, मिलने में, स्त्री को, पुत्र को, पैसे को, मकान को, इज्जत प्राप्त करने में वर्तमान में दुःख है, भविष्य में भी दुःख है।

महाराज! तब ऐसी सम्पत्ति को लोग छोड़ क्यों नहीं देते? ऐ.. जैचन्दभाई! ऐसा है तो छोड़ते क्यों नहीं? ऐसा कहते हैं। यह कहते हैं कि ममता करते हैं। बापू! यह ममता करते हैं। यह ममता.. ममता.. ममता में सुलग गया है। ममता से जला हुआ है। भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द की लक्ष्मी है, उसका श्रद्धा-ज्ञान करता नहीं। ममता में जल रहा है। यह कहते हैं, देखो! शिष्य का प्रश्न है कि महाराज! स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी, इज्जत, सब! वे दुःख देनेवाले हैं। इस भव में और परभव में दोनों में दुःख देनेवाले हैं। ऐसा कहकर क्या कहा? कि अज्ञानी लक्ष्मी को, परिवार को, पुत्र को ‘मुझे सुख देनेवाले हैं’,

ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि की है। समझ में आया ? ये बढ़ेंगे तो वृद्धावस्था में मेरा रक्षण करेंगे तो मुझे लाभ होगा, ऐसी मान्यता मिथ्यादृष्टि मूढ़ अज्ञानी की है। समझ में आया ? पर के कारण, पर के साधन से अपने को सुख मिले और शान्ति मिले, ऐसा तीन काल में नहीं होता, यह बताते हैं।

तब ऐसी सम्पत्ति को लोग छोड़ क्यों नहीं देते ? स्त्री, कुटुम्ब, लक्ष्मी की ममता छोड़कर आत्मा की समता क्यों नहीं करते ? ऐसा कहते हैं। आत्मा शुद्ध चिदानन्द के श्रद्धा-ज्ञान क्यों नहीं करते ? उसका समय क्यों नहीं लेते ? आचार्य उत्तर देते हैं -

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते।

दह्यमान-मृगाकीर्णवनांतर-तरुस्थवत्॥१४॥

जिसमें अनेकों हिरण दावानल की ज्वाला से जल रहे हैं,.. देखो दृष्टान्त ! जंगल में बड़ा दावानल हो। जंगल में अनेक हिरण दावानल से जल रहे हैं। हिरण आदि। ऐसे जंगल के मध्य में वृक्ष पर बैठे हुए.. ऐसे जंगल में एक पेड़ / वृक्ष था। उस पर एक पुरुष बैठा था। मनुष्य की तरह यह संसारी प्राणी दूसरों की तरह अपने ऊपर आनेवाली विपत्तियों का ख्याल नहीं करता है। हिरण आदि जलते हैं तो, वे जलते हैं, मुझे क्या ? तू इस वृक्ष पर बैठा है, अग्नि अभी यहाँ पहुँच जाएगी, तब तू और वृक्ष दोनों जल जाएँगे। यह दिखायी नहीं देता, दिखायी नहीं देता। मुझे कहाँ है ? उन्हें है। उनकी लक्ष्मी गयी, उनका पुत्र मर गया, उनके शरीर में क्षय रोग हुआ, उन्हें ऐसा हुआ, उसमें मुझे क्या ? परन्तु पूरे जंगल में अग्नि जलती है, उसके मध्य में पड़ा है। आत्मा के आनन्द के भान बिना संयोग के बीच पड़ा है। संयोग चले जाएँगे और वियोग होगा। यह तो अनित्यता है तो क्षण में हो जाएगी। उससे तो विचार करता नहीं। उसकी लक्ष्मी गयी, मुझे क्या ? उसका पुत्र मर गया, मुझे क्या ? उसे शरीर में रोग आया, मुझे क्या ? परन्तु तुझे आया। यह जड़, मिट्टी, धूल है, यह कहाँ आत्मा है। समझ में आया ? रोग आवे परन्तु अपने को देखता नहीं। पोपटभाई ! दूसरे का देखता है परन्तु स्वयं वृक्ष के ऊपर बैठा है, पूरे जंगल में आग लगी है, बीच में वृक्ष है, उस पर बैठा है, दूसरे का दुःख देखता है, उसकी आपदा देखता है, उसे आपदा है - ऐसा देखता है परन्तु मुझे आया - ऐसा नहीं देखता।

मुमुक्षु : ऊँचे बैठा है न !

पूज्य गुरुदेवश्री : ऊँचे बैठा है परन्तु अभी वृक्ष सुलगेगा / जलेगा, उसमें तू और वृक्ष दोनों भस्म हो जाएँगे, उसका विचार नहीं करता। समझ में आया ?

विशदार्थ - धनादिक में आसक्ति होने के कारण.. यहाँ तो आत्मा की शुद्ध श्रद्धा नहीं करते, ऐसे मिथ्यादृष्टि की बात है, हों! सम्यग्दृष्टि है, उसे लक्ष्मी में जरा राग है, वह तो थोड़ा राग है। उसमें परिमित दोष है क्योंकि सम्यग्दृष्टि को तो आत्मा की रुचि है, आनन्द मैं हूँ - ऐसी दृष्टि है तो उसे लक्ष्मी का जरा राग आता है तो उस लक्ष्मी के कारण राग नहीं आता। समकित्ती को राग में सुखबुद्धि नहीं है। समझ में आया ?

छह खण्ड का राज हो, 'भरत घर में वैरागी' आता है या नहीं ? भरत चक्रवर्ती को छह खण्ड का राज था, छियानवें हजार स्त्रियाँ थीं, (तथापि) अन्दर में उदास है। मैं आत्मा आनन्द हूँ, मेरा आनन्द पर में नहीं है। छियानवें हजार स्त्रियों में नहीं है। आसक्ति का राग जरा आता है, वह जहर है, दुःख है। मेरा आनन्द मेरे पास है, ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थाश्रम में हो तो भी अपना आनन्द अपने में मानता है। स्त्री में, लक्ष्मी में, पुत्र में आनन्द नहीं मानता। समझ में आया ? यह तो माननेवाले की बात चलती है।

सम्यग्दृष्टि तो इन्द्राणी में सुख नहीं मानता। स्वर्ग में समकित्ती इन्द्र है और करोड़ों अप्सराएँ हैं। अरे! वे तो परवस्तु है। मेरा आनन्द मेरे पास है। मैं जितना अन्तर में एकाग्र होऊँ, उतनी मुझे शान्ति मिलेगी। पर में शान्ति नहीं है। पर में शान्ति और सुख तीन काल में नहीं है। ऐसे सम्यग्दृष्टि की अपने आत्मा के आनन्द पर दृष्टि है। मिथ्यादृष्टि पर में आनन्द मानता है और पर का दुःख देखकर, अपने को दुःख आयेगा, वह नहीं देखता। समझ में आया ?

धनादिक में आसक्ति होने के कारण जिसका विवेक नष्ट हो गया है,.. देखो! लक्ष्मी, पुत्र, पत्नी आदि में इतनी आसक्ति और गृद्धि है-कि अपना विवेक नष्ट हो गया। अरे! मैं क्या करता हूँ? मैं करता हूँ तो उनकी रक्षा होगी? और उनकी रक्षा होगी तो मुझे लाभ है? वे रहें तो मुझे लाभ है? जायें तो मुझे क्या नुकसान है? ऐसा विवेक अज्ञानी को अन्तर में नहीं होता है। समझ में आया ?

धनादिक.. धनादिक में, पुत्र में, पत्नी में, इज्जत में, बड़ा मकान हो, पाँच-पाँच

लाख की किराये की आमदनी हो। भाड़ा को क्या कहते हैं? किराया। किराया पैदा होता हो, पाँच-पचास लाख का मकान हो, पाँच-पचास लाख का ब्याज आता हो। आसक्ति, गृद्धि। मूढ़ गृद्धि हो गया। मेरी चीज़ मेरे पास है, उसे तो भूल गया। मानो कि उससे मुझे लाभ होगा। जिसका विवेक नष्ट हो गया है,.. यहाँ यह कहना है। पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे भी दुःखरूप हैं। समझ में आया? आत्मा में शुभ-अशुभभाव होते हैं, वे आस्रव दुःखरूप हैं और उनका फल संयोग भी दुःखरूप है। तो दुःखरूप है, उन्हें सुखरूप मानता है।

जिसका विवेक नष्ट हो गया है, ऐसा यह मूढ़ प्राणी.. मूढ़ प्राणी। चोरादिक के द्वारा की जानेवाली, धनादिक चुराये जाने आदिरूप अपनी आपत्ति को नहीं देखता है,.. क्या कहते हैं? देखो! दूसरे की लक्ष्मी चोर लूट ले जाए तो देखता है कि उसके (चोरी हो गयी), परन्तु तेरी लक्ष्मी भी लोग ले जाएँगे। वह परचीज़ है। ले जाएँगे का अर्थ है - पुण्य से मिली है और पाप का उदय आएगा तो चली जाएगी। वह लक्ष्मी पुण्य से मिली है, तेरे पुरुषार्थ से नहीं। पूर्व का पुण्य था तो मिली है। जब पाप का उदय आएगा तो चली जाएगी। वह लक्ष्मी तेरी नहीं है परन्तु दूसरे के पाप के उदय से चली जाए तो उसे गयी है, मुझे तो रह गयी, (ऐसा मानता है) परन्तु लक्ष्मी कहाँ तेरी चीज़ है? समझ में आया?

चोरादिक के द्वारा की जानेवाली,.. चोर यह राजा लूट ले जाए। देखो न, अभी तो यह सब बहुत होता है न? पकड़ते हैं या नहीं? एकदम छापा पड़ते हैं। मुम्बई में वह.. बाबूभाई! पड़ते हैं या नहीं? छापा पड़ते हैं। लो। लाओ, चलो बाहर निकल जाओ। पूरा मकान खोजना है। उसमें से दस-पाँच लाख रुपये निकले तो लाओ, चलो जेल में। उसे दुःख है, हमारे कहाँ है? परन्तु कल तुझे आएगा, क्योंकि वह बाहर की लक्ष्मी पुण्य के आधीन है। ये पुत्र, पुत्रादि पुण्य के आधीन है। जब तेरा पाप का उदय आएगा तो चले जाएँगे। इस नुकसान की ओर नहीं देखता। पर का नुकसान देखता है परन्तु मेरा पाप का उदय आएगा तो चली जाएगी तो यह सुखरूप नहीं है, ऐसा अज्ञानी नहीं मानता। समझ में आया? चोर आदि, राजा आदि... समझे? धनादिक चुराये जाने आदिरूप अपनी आपत्ति को नहीं देखता है,.. मेरा पाप का उदय आएगा और सब चला जाएगा - ऐसा नहीं देखता। उसका जाता है। उसका तो पाप का उदय है तो जाता है, परन्तु तेरा क्या? पुण्य-पाप दोनों चीज़ पर है। आत्मा में जो लाभ है, उसे छोड़कर जितने पुण्य-पाप किये, उनका

संयोग हुआ। संयोग और वियोग होना, वह उसकी चीज़ है। उसमें कुछ सुख है नहीं। समझ में आया ?

वह यह नहीं ख्याल करता कि जैसे दूसरे लोग विपत्तियों के शिकार होते हैं,.. शिकार को क्या कहते हैं ? विपत्तियों का भोग बनना। उन्हें विपत्तियाँ होती हैं। उसी तरह मैं भी विपत्तियों का शिकार बन सकता हूँ। समझ में आया ? प्रतिकूलता आयेगी क्योंकि बाहर की चीज़ पुण्य के कारण आती है और बाहर की चीज़ पाप के कारण चली जाती है। तेरा पुरुषार्थ वहाँ काम नहीं करता। बराबर है ? भाई !

मुमुक्षु : दूसरे को विपत्ति आवे, तब अपने को क्या करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा आनन्द है, ऐसी दृष्टि (करना)। करना है क्या ? यहाँ तो पुण्य के कारण प्राप्त वस्तु में सुखबुद्धि छोड़ देना और पाप के कारण से प्रतिकूलता आवे, उसमें दुःखबुद्धि छोड़ देना। आत्मा में सुख है। उसके लिए तो इष्ट उपदेश है। पर के कारण कुछ नहीं है। पूर्व के पुण्य के कारण मिली हो। तेरे पुरुषार्थ से मिली है ? पुरुषार्थ तो बहुत करते हैं। महीने में पाँच हजार भी नहीं मिलते और बाहर में कालाबाजार और कुकर्म करे, उसमें पुण्य का कारण (उदय) होवे तो करोड़ों की आमदनी करते हैं, उसमें आया क्या ? और पाप का उदय हो तो इतना भी आकर चला जाता है। वह तो संयोगी चीज़ है, वह कहीं स्वाभाविक वस्तु नहीं है। स्वाभाविक वस्तु नहीं कि अपने रक्षण करने से, उपार्जन करने से आनन्द, रक्षा करने से आनन्द, वृद्धि करने से आनन्द होता है। समझ में आया ?

अपना आत्मा आनन्द सिद्धस्वरूप शुद्ध आनन्द की श्रद्धा करने में आनन्द, उसकी स्थिरता करने में आनन्द, उसकी शुद्धि की वृद्धि करने में आनन्द। आहा..हा.. ! ऐसी श्रद्धा, विवेक छोड़कर परपदार्थ की रक्षा में सुख (मानता है)। (वास्तव में) है दुःख। उपार्जन में दुःख, नाश होने में दुःख, परन्तु मूढ़ वहाँ से हटकर अपने स्वरूप की दृष्टि नहीं करता। कहो, समझ में आया ?

मुमुक्षु : तब तो मूढ़ की संख्या बढ़ जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : मूढ़ की संख्या बहुत है। कैसे ? जयन्तीभाई ! आहा..हा.. !

यहाँ तो सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से बात करते हैं, हों ! यह साधारण उपदेश नहीं है।

यह ऐसा कहते हैं कि पूर्व के पुण्य के कारण से वह मिलने में भी तुझे श्रम है, उसकी रक्षा करने में भी तुझे श्रम है; जाता है, तब तुझे दुःख होता है। उस संयोग में तेरी कोई वस्तु नहीं है। स्वभाव में तेरी वस्तु है, भाई! तुझे खबर नहीं है। मैं आत्मा सिद्धसमान शुद्ध हूँ। मेरी केवलज्ञान लक्ष्मी मुझमें पड़ी है, मेरा आनन्द भी मुझमें है। ऐसी दृष्टि सम्यग्दर्शन किए बिना, संयोग-वियोग में सुख-दुःख मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? ऐसे संयोग में सुख माने और वियोग में दुःख माने, बाहर की चीजों में (सुख-दुःख माने, वह) मूढ़ है। क्या है? संयोग हुआ तो क्या सुख है? और वियोग हो तो उससे दुःख है? तेरे आत्मा में आनन्द है, भाई! तुझे श्रद्धा नहीं।

‘चेतनरूप अनूप अमूरत सिद्धसमान सदा पद मेरो’ बनारसीदास, नाटक समयसार में कहते हैं। सिद्धसमान, चेतनरूप। मैं तो चेतनरूप हूँ। मैं बादशाह परमात्मा हूँ। चेतनरूप अनूप। मेरी वस्तु को कोई उपमा नहीं है। पुण्य-पाप के भाव भी बन्ध का कारण है। दुःख का कारण है। ‘चेतनरूप अनूप अमूरत’। मूर्तरहित हूँ। मुझमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं है। सिद्धसमान सदा पद मेरो। मेरा स्वरूप तो शुद्ध, जैसे सिद्ध भगवान हैं, वैसा ही मेरी शक्तिरूप से मैं सिद्ध ही हूँ। ऐसी दृष्टि करना, उसका ज्ञान करना, उसमें स्थिर होना, यह सुख का कारण है। बाकी कोई सुख का कारण तीन काल-तीन लोक में नहीं है। पुण्य-पाप के भाव करना भी दुःखरूप है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया? बाबूभाई!

मुमुक्षु :सम्पत्ति छोड़ने का....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सम्पत्ति अर्थात् यह धूल की सम्पत्ति। पुण्य-पाप से मिलती है वह। दृष्टि छोड़ दे। सम्पत्ति छोड़ने का अर्थ क्या? बाहर की सम्पत्ति छोड़े और अन्दर से उसकी ममता न छोड़े तो क्या छोड़ा? बाहर की सम्पत्ति वास्तव में कब छूटी कहलाये? अपने शुद्धस्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान में उसकी तुच्छता ज्ञात हो। पर में सुख नहीं है। तुच्छता ज्ञात होने पर उसकी ममता चली जाती है और स्वरूप की समता आती है, तब उसे छोड़ा - ऐसा कहने में आया है। ममता छोड़े बिना क्या छोड़ा? बाहर से तो अनन्त बार छोड़ा। यह नहीं कहते। वह तो पूर्व के कर्म के कारण से छूट गयी है; तेरे कारण से नहीं। तेरा तो अन्तर आनन्द है।

मेरी लक्ष्मी का मैं स्वामी चैतन्यरूप हूँ। मुझमें तो केवलज्ञान भरा है, अतीन्द्रिय

आनन्द भरा है। एक मेढ़क हो तो भी अपना सम्यग्दर्शन-श्रद्धा करता है तो सुखी है। नरक में भी नारकी अपना आनन्द, समकित करता है तो सुखी है। समझ में आया ? और बाहर की लक्ष्मी चक्रवर्ती का राज, छियानवें हजार स्त्रियाँ सब दुःख का कारण है। समझ में आया ? सुख का कारण नहीं। परद्रव्य सुख का कारण होगा ? मूढ़ अज्ञानी अनादि से मानता है कि अनुकूल हो तो ठीक है, प्रतिकूलता आवे तो अठीक है। इस मान्यता में मिथ्यात्व पड़ा है। भ्रम पड़ा है, भ्रम।

जैसे दूसरे लोग विपत्तियों के शिकार होते हैं,.. विपत्तियाँ आ जाती हैं, वैसे मैं भी विपत्ति में आ जाऊँगा, ऐसा विचार अज्ञानी नहीं करता। अभी तो शरीर ठीक है। मेरी स्त्री बहुत अनुकूल है, मेरा पुत्र बहुत अनुकूल है। दूसरों के भले होगा। मूढ़ है। वह तो परचीज है। अनुकूल-प्रतिकूल मानना, वही मूढ़ मिथ्यादृष्टि की बात है। परचीज अनुकूल-प्रतिकूल है ही नहीं। वह तो जानने की चीज है। स्त्री, कुटुम्ब तेरे है कहाँ ? तेरा तो आत्मा है। शरीर तेरा नहीं, पुण्य-पाप भाव उत्पन्न होते हैं, वे भी तेरे नहीं। वह भी राग है, विकार है। स्त्री, पुत्र, परिवार तेरे कहाँ से हुए ? ऐसा यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया ?

इस वन में लगी हुई यह आग इस वृक्ष को और मुझे भी जला देगी। दूसरों को जलाती है तो मैं भी वन में वृक्ष के ऊपर हूँ, मुझे भी जला डालेगी। जैसे ज्वालानल की ज्वालाओं से.. ज्वालानल की ज्वाला से-अग्नि से, जहाँ अनेक मृगगण झुलस रहे हैं.. जल रहे हैं। उसी वन के मध्य में... देखो ! मैं भी वन में-संयोग-वियोग के मध्य में पड़ा हूँ, ऐसा कहते हैं। आहा..हा.. ! वन के मध्य में मौजूद वृक्ष के ऊपर चढ़ा हुआ आदमी यह जानता है कि ये तमाम मृगगण ही घबरा रहे हैं-छटपटा रहे हैं, एवं मरते जा रहे हैं,.. वे मरते हैं। इन विपत्तियों का मुझसे कोई संबंध नहीं है,.. मूढ़ ऐसा मानता है। परन्तु वह संयोगी चीज है, भाई ! वह नाशवान है, क्षण में नाश हो जाएगी। संध्या के रंग जैसी वस्तु है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : वृक्ष पर चढ़े हुए मनुष्य की मूर्खायी तो ख्याल में आती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस मूढ़ को ख्याल में नहीं आती। क्योंकि अन्दर आत्मा आनन्द और शुद्ध है, उसका माहात्म्य और प्रतीति नहीं आती। धर्मी नाम धराकर भी अपना शुद्ध आनन्द मुझमें है, ऐसी प्रतीति नहीं आती तो उसे धर्म यथार्थ नहीं होता। धर्म क्या बाहर से

होता है ? समझ में आया ? मेरी शान्ति का सागर, आनन्द का सागर में आत्मा हूँ—ऐसी अन्तर श्रद्धा, विश्वास किये बिना अपने में सुख और शान्ति का धर्म कभी नहीं होता। पुण्य-पाप के परिणाम में ही धर्म नहीं है; बाहर की क्रिया में तो धर्म है ही नहीं। संयोग में सुख-दुःख माननेवाले, संयोग तो प्रतिकूल आवें और अनुकूल आवें, ऐसा तो चला ही करता है, ज्वारभाटा (आया ही करता है)। क्या कहलाता है ? चढ़ती-गिरती छाया... क्या कहलाता है हिन्दी में ? चलती-फिरती छाया। छाया होती है न ? छाया, आती है, जाती है; आती है, जाती है। उसमें क्या है ? इसी प्रकार संयोगी चीज़ तो आती है और जाती है। उसकी अवधि से आती है और उसकी अवधि से चली जाती है। तुझमें वह वस्तु कहाँ है कि तू उसका रक्षण कर सके और रख सके ? ओहो..हो.. !

मैं तो सुरक्षित हूँ। ऐसा अज्ञानी मानता है। विपत्तियों का सम्बन्ध दूसरों की सम्पत्तियों से है, मेरी सम्पत्तियों से नहीं है। बराबर मेरे लड़के, मेरी लक्ष्मी बराबर हैं। एक प्रतिशत का ब्याज आवे, ऐसी जगह मैंने रखी है। मेरी लक्ष्मी ऐसे नहीं जाएगी। आहा..हा.. ! ऐसा मूढ़ मानता है।

मुमुक्षु : पूरी जिन्दगी में बना हो....

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे ! धूल भी बने नहीं, एकदम चला जाए। कितने ही देखे हैं यहाँ। संयोग में सुख माननेवाले मूढ़ हैं, ऐसा यहाँ बताना है। स्वभाव में सुख है ऐसा नहीं मानकर संयोग में सुख है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ? और संयोग के वियोग में दुःख है, यह भी मूढ़ मानता है। पर के कारण कहाँ दुःख है ? दुःख तो अपने आत्मा के आनन्द की दृष्टि छोड़कर पर में सुख-दुःख की मान्यता करना, वह मिथ्या भाव ही दुःख है। समझ में आया ? वह मिथ्यात्वभाव दुःख है और सम्यग्दर्शन, वह सुख है। दो के विवेक बिना दूसरे के दुःख देखता है, परन्तु स्वयं को आपत्ति आ पड़ेगी, ऐसा नहीं देखता क्योंकि बाहर में आपत्ति-सम्पत्ति आनेवाली है, उसका संयोग-वियोग तो है ही। ऐसा यहाँ तो कहते हैं। तेरा स्वभाव कभी चला नहीं जाएगा। तेरी वस्तु तेरे पास है। उसकी दृष्टि और ज्ञान किये बिना संयोग-वियोग में आपदा-विपदा मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

दोहा- पर की विपदा देखता, अपनी देखे नाहिं।

जलते पशु जा वन विषैं, जड़ तरुपर ठहराहिं॥१४॥

वृक्ष पर बैठा है कि ओहो.. ! अपने कुछ (नहीं), परन्तु मर जाएगा अभी । अभी अग्नि आने पर जल जाएगा । चोर को पकड़ा, सरकार ने इसे पकड़ा, इसे कैद में डाला । अभी यह हुआ... ऐसा नहीं सुनते ? परन्तु तू भी काला बाजार आदि करता है, वह प्रगट हो जाएगा तो तू भी पकड़ा जाएगा । यह विचार नहीं करता ।

मुमुक्षु : करना क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : करना आत्मा की श्रद्धा । मैं आनन्दस्वरूप हूँ, ऐसी दृष्टि करना । अपना स्वभाव अपने से कभी छूट नहीं जाता । संयोग-वियोग तो चले जाते हैं, वह तो हरती-फिरती छाया है । अपना आत्मा ज्ञान का सूर्य चैतन्यमूर्ति है । ज्ञान तेज, आनन्द तेज है, ऐसी अन्तर में दृष्टि करना । मुझमें सुख है, पुण्य-पाप में और पर में कहीं सुख है नहीं, ऐसी दृष्टि करना, वही आनन्द का और सुख का उपाय है । कहो, समझ में आया ? बाबूभाई ! कैसे होगा ? पैसेवालों को बहुत आवे और जावे, आवे और जावे । हुआ करे ।

यह १४वीं गाथा हुई, पश्चात् १५वीं (गाथा में) पूछते हैं, हों !

फिर भी शिष्य का कहना है कि हे भगवन् ! क्या कारण है कि लोगों को निकट आई हुई भी विपत्तियाँ दिखाई नहीं देती ? आचार्य जवाब देते हैं - 'लोभात्' लोभ के कारण, हे वत्स ! धनादिक की गृद्धता-आसक्ति से धनी लोग सामने आई हुई भी विपत्ति को नहीं देखते हैं, कारण कि -

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं ।

वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम् ॥१५॥

अर्थ - काल का व्यतीत होना, आयु के क्षय का कारण है और कालान्तर के माफिक ब्याज के बढ़ने का कारण है, ऐसे काल के व्यतीत होने को जो चाहते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि अपने जीवन से धन ज्यादा इष्ट है ।

विशदार्थ - मतलब यह है कि धनियों को अपना जीवन उतना इष्ट नहीं, जितना कि धन । धनी चाहता है कि जितना काल बीत जायगा, उतनी ही ब्याज की आमदनी

बढ़ जायेगी। वह यह ख्याल नहीं करता कि जितना काल बीत जायगा उतनी ही मेरी आयु (जीवन) घट जायेगी। वह धनवृद्धि के ख्याल में जीवन (आयु) विनाश की ओर तनिक भी लक्ष्य नहीं देता। इसलिए मालूम होता है कि धनियों को जीवन (प्राणों) की अपेक्षा धन ज्यादा अच्छा लगता है। इस प्रकार के व्यामोह का कारण होने से धन को धिक्कार है।।१५।।

दोहा - आयु क्षय धनवृद्धि को, कारण काल प्रमान।
चाहत हैं धनवान धन, प्राणनिते अधिकान।।१५।।

गाथा - १५ पर प्रवचन

फिर भी शिष्य का कहना है कि हे भगवन्! शिष्य, गुरु को पूछता है। दिगम्बर सन्त पूज्यपादस्वामी इत्यादि। ऐसा तर्क उठाया है। क्या कारण है कि लोगों को निकट आई हुई भी विपत्तियाँ दिखाई नहीं देती? है क्या यह? यह संयोग है, वियोग हो जाएगा। ऐसे क्यों नहीं देखते? आचार्य जवाब देते हैं - 'लोभात्' लोभ के कारण,.. उसे लोभ, ऐसी गृद्धि लगी है कि मेरी आयु भले क्षय हो, परन्तु लक्ष्मी की तो वृद्धि होती है न! मेरी आयु भले क्षय हो, लड़का तो बड़ा होता है न! यह वृद्धि होती है न! बड़ा होता है। यह तो वृद्धि होती है न! मेरा आयुष्य भले घट जाए, मैं मरण के समीप हो जाऊँ, स्त्री-पुत्र तो बढ़ते हैं न! मूढ़ ऐसा देखता है। समझ में आया? मेरा आयुष्य भले क्षय हो जाए, मृत्यु की तैयारी हो गयी परन्तु वह सब तो बढ़ गया न! लक्ष्मी बढ़ी, इज्जत बढ़ी, पुत्र, पैसे हुए, लड़के का लड़का और उसका लड़का, तीन-तीन, चार-चार पीढ़ी मैं देखता हूँ। बढ़ाया नहीं? परन्तु क्या बढ़ा?

मुमुक्षु : हूँफ लेकर मरे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : हूँफ लेकर मरे। ममता की मिथ्यादृष्टि की हूँफ लेकर मरे। अभी कहेंगे, हों!

हे शिष्य! धनादिक की गृद्धता.. लक्ष्मी की गृद्धता। आत्मा की रुचि नहीं है। आहा..हा..! स्त्री, परिवार की गृद्धता। ये मेरे, ये मेरे, ये मेरे.. ये मेरे.. गृद्धता। आसक्ति से

धनी लोग सामने आई हुई भी विपत्ति को नहीं देखते हैं,.. कैसे? देखो!

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कालस्य निर्गमं।

वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम्॥१५॥

अर्थ - काल का व्यतीत होना,.. काल व्यतीत होता जाता है। इस मनुष्य देह का एक-एक समय चला जाता है। जितना आयुष्य लेकर आया है, उतना रहेगा। उसमें एक समय बढ़ेगा नहीं। इन्द्र, नरेन्द्र, जिनेन्द्र आवे तो भी जो आयुष्य का समय है, उसमें वृद्धि नहीं होती। जितना ५०-६० वर्ष लेकर आया है, उसमें से आयुष्य घटता जाता है। आयु के क्षय का कारण है और कालान्तर के माफिक ब्याज के बढ़ने का कारण है,.. क्या कहते हैं? मेरा काल भले कम हो, परन्तु यह (ब्याज आदि) तो बढ़ता है न! यह ब्याज अर्थात् पैसा बढ़ता है, स्त्री बढ़ती है, कुटुम्ब बढ़ता है या नहीं? समझ में आया? वह तो बढ़ता है या नहीं? कितने हुए? मैं एक हमारा कुटुम्ब सौ। सौ व्यक्ति हुए। ओहो..हो..! परन्तु इसमें क्या बढ़ा? मर गया। 'लक्ष्मी और अधिकार बढ़ते...' आता है या नहीं?

लक्ष्मी बढ़ी अधिकार भी, पर बढ़ गया क्या बोलिये।

परिवार और कुटुम्ब है क्या? वृद्धि नय पर तोलिये॥

संसार का बढ़ना अरे! नर देह की यह हार है।

नहीं एक क्षण तुझको अरे! इसका विवेक विचार है॥

श्रीमद् राजचन्द्र। भाई! श्रीमद् राजचन्द्र हो गये न? सोलह वर्ष में बनाया है, हों! सोलह वर्ष में! सोलह वर्ष की उम्र। यह श्रीमद् राजचन्द्र। यह फोटो है न, फोटो? यह सोलह वर्ष की उम्र का फोटो है। तैंतीस वर्ष में देह छूट गया। सात वर्ष में जातिस्मरणज्ञान हुआ था। सात वर्ष में जातिस्मरण—पूर्व भव का भान था। दशाश्रीमाली बनिया थे। बवाणिया (के थे)। अभी (संवत्) १९५७ के वर्ष में देह छूट गया। सोलह वर्ष में मोक्षमाला बनायी है। सोलह वर्ष। दस और छह। उसमें यह श्लोक बनाया है। अरे प्रभु! कहते हैं कि आत्मा! तुझे लक्ष्मी बढ़ी तो क्या बढ़ा? इज्जत बढ़ी तो क्या बढ़ा? कुटुम्ब बढ़ा तो क्या बढ़ा? क्या बढ़ा यह तो कहो? शूं, यह हमारी गुजराती भाषा है। क्या बढ़ा, यह तुम्हारी भाषा है। परिवार और कुटुम्ब... कुटुम्ब बढ़ा। पचास, सौ व्यक्ति, दो सौ व्यक्ति

हुए। ओहो..! समझ में आया? लक्ष्मी पचास लाख, करोड़, पाँच करोड़, दस करोड़। इज्जत, लड़के बढ़ा, योद्धा जैसे, छह-छह हाथ के लम्बे। समझ में आया? गोरु (अंग्रेज) जैसे। और पाँच-पाँच लाख की आमदनी करनेवाले। तुझे क्या बढ़ा? बढ़ा क्या? 'संसार का बढ़ना अरे..' यह तो तेरा संसार बढ़ा। 'नर देह की यह हार है' यह तो ऐसा कहते हैं, हों! वह कहता है मेरा काल भले क्षय हो, परन्तु यह तो बढ़ते हैं न! ऐसा कहते हैं, भाई! मेरा काल कम हुआ परन्तु यह बढ़ा या नहीं? लड़के किसके? मेरे लड़के, मेरी स्त्री कैसी होशियार! लड़कियों का विवाह किया, शादी की। कितनी लड़कियाँ? पाँच लड़कियाँ, एक-एक को पढ़ाया। कोई एल.एल.बी. और कोई एम.ए. और कोई यह और कोई वह। बाबूभाई! यह सब एक व्यक्ति कहता था। हमारी लड़की ऐसी। परन्तु तुम्हें कितना कहना है? हमारी लड़की एल.एल.बी. पढ़ी है। परन्तु अब क्या है? लड़की कहाँ तेरी थी? वह पढ़ी, उसमें तुझे क्या बढ़ा? हमारी लड़की एल.एल.बी., एम.ए. पास हुई, डॉक्टर में पास हुई, अमुक है और अमुक है और बिलायत गयी और जर्मन में ऐसा है, और ऐसा है, वहाँ नौकरी करती है और पढ़ती भी है, महीने में दो हजार का वेतन भी है। हें... ओहो..हो..! उत्साह तो कितना करे! तू किसका उत्साह करता है? वह तो परपदार्थ है।

मुमुक्षु : दुःखी होने की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुःख होने के रास्ते में सुख मानता है, वह मूढ़ है, विवेकरहित है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया? देखो कहेंगे, हों!

जितना काल बीत जायेगा, उतनी ही ब्याज की आमदनी बढ़ जायेगी। ब्याज अर्थात् वह बढ़ता है, ऐसा कहना है। ब्याज तो लक्ष्मी है, परन्तु जैसे-जैसे अपना आयुष्य बीतता है, लड़के का आयुष्य बढ़ता है या नहीं? ब्याज अर्थात् बढ़ता है या नहीं? पैसा बढ़े, पुत्र बढ़े, लक्ष्मी बढ़े, ऐसा सब बढ़ता है न? यह ब्याज। समझे? वह क्या कहते हैं? बुढ़िया का कुछ नहीं आता? लड़का हो तो आयुष्य बढ़े और वह कहे आयुष्य घटे।

मुमुक्षु : माँ कहे, मेरा लड़का बढ़ा होता है, आयुष्य में से कम होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बढ़ा हो, आयुष्य में से कम होता है। हाँ, ऐसी बात आती है। मूल तो यहाँ यह बात कहते हैं। अज्ञानी अपने देह का जितना आयुष्य लेकर आया है, वह

आयुष्य घटता जाता है। परन्तु उसकी दृष्टि उस पर नहीं है। वह बढ़ता है न! यह बढ़ा न! शरीर मेरा अच्छा हुआ न! बढ़ा हुआ न! लड़के हुए न। पाँच लड़के, लड़के के लड़के, उनके लड़के, उनकी लड़की को कहाँ सगाई... ओहो..हो..! सब याद कितना करेंगे अपने को? समझ में आया?

कहते हैं कि कालान्तर में ब्याज बढ़े वैसे... ब्याज शब्द से वह वृद्धि—लक्ष्मी की वृद्धि, कुटुम्ब की वृद्धि, पुत्र की वृद्धि, यह सब ब्याज बढ़ा कहलाये न? ऐसे काल के व्यतीत होने को जो चाहते हैं,.. देखो! अपना काल जाये, उसे चाहे, भले काल जाओ। उन्हें समझना चाहिए कि अपने जीवन से धन ज्यादा इष्ट है। उनकी आयुष्य की अपेक्षा भी लक्ष्मी, स्त्री अधिक है। भले आयुष्य जाए परन्तु वे तो बढ़ते हैं या नहीं? मूढ़ जीव मरकर जायेगा कहाँ? चार गति में भटकने। ओहो..हो..! दो, पाँच, दस लाख रुपये हों, पैसे मिले, बहुत इज्जत। कमाया, हमने तो ध्यान रखकर कमाया। धूल में भी तेरा ध्यान नहीं। देखो!

जीवन से धन ज्यादा इष्ट है। धन शब्द से सब, हों! जीवन से पुत्र प्रिय। अपने शरीर में दुःख हो परन्तु यदि पुत्र के प्रति प्रेम हो और उसे यदि जरा बुखार आया हो, पाँच डिग्री का बुखार हो तो उसकी सम्हाल में जाता है। भाई.. भाई! तुझे कैसे है? भाई! तुझे कैसे है? अपने जीवन से भी वह अधिक प्रिय है। स्त्री का प्रेम हो तो ऐसा कहे, तुम्हें कैसे है? मुझे तो भले चाहे जो हो परन्तु तुम्हें कैसे है? ऐसी की ऐसी होली सुलगाता है। ऐसा कहते हैं कि इस आत्मा की निरोगता और चैतन्य का जिसे विवेक नहीं है, उसे बाह्य वस्तु में इतना प्रेम है कि अपना आयुष्य चला जाता है, उसकी दरकार नहीं। वह बढ़े न तो ठीक है, ऐसा मूढ़ ने मान रखा है। आहा..हा..! समझ में आया?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा होता है न! हाँ, हाँ! लड़के का बहुत प्रेम हो तो ऐसा कहे, तुम्हें कैसा है? बापा! बापा! आपको कल पाँच (डिग्री) बुखार था न? भाई! मुझे तो चाहे जो हो, परन्तु तुझे कैसे है? भाई! ओहो..हो..! परन्तु यह क्या है? जैचन्दभाई!

मुमुक्षु : सत्य बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बापू कहे, तुझे कैसा है ? भले मेरा पैर न चले । तुझे कैसा है ? भाई ! बापू ! मुझे अच्छा है, हों ! आप चिन्ता मत करो । परन्तु ऐसा सुना है कि तुझे ठीक व्यवस्थित नहीं था, तुझे तीन दिन बुखार आया, सुना है । मुझे परेशानी नहीं, परेशानी नहीं । मूढ़ ! यह आयुष्य की स्थिति चली जाती है, उसकी तो दरकार नहीं और लक्ष्मी आदि के प्रेम में जीवन चला जाता है । पानी के रेले की भाँति रेला चला जाता है । तुझे तेरे आत्मा की दरकार नहीं है, ऐसा यहाँ कहते हैं । समझ में आया ? आहा..हा.. !

विशदार्थ - मतलब यह है कि धनियों को अपना जीवन उतना इष्ट नहीं, जितना कि धन । देखो ! धन शब्द से लक्ष्मी, पुत्र, पुत्री सब । धनी चाहता है कि जितना काल बीत जायेगा, उतनी ही ब्याज की आमदनी बढ़ जायेगी । जितना काल जायेगा, उसमें पैसा बढ़ेगा, पुत्र बढ़ेगा, सब बढ़ेगा न ! बढ़ेगा न ! परन्तु चला जायेगा, यह आयुष्य पूरा करके मरकर जायेगा कहीं । उसकी तो तुझे दरकार है नहीं । समझ में आया ? जितना काल बीत जायेगा, उतनी ही ब्याज की आमदनी बढ़ जायेगी । लक्ष्मी बढ़ जायेगी, पुत्र बढ़ेंगे, वेतन बढ़ेगा, परन्तु यह तेरा आयुष्य चला जाता है, मर जायेगा अब । इस आत्मा का क्या करना, इसकी तो तुझे दरकार नहीं है ।

वह यह ख्याल नहीं करता कि जितना काल बीत जायेगा उतनी ही मेरी आयु (जीवन) घट जायेगी । तू कहता है, बढ़ गया, ब्याज और पुत्र । यहाँ कहते हैं आयुष्य घट गया । दोनों के देखने में अन्तर है, ऐसा कहते हैं । आहा..हा.. ! बराबर है ? यहाँ आयुष्य जितना घट गया, उसमें एक समय बढ़नेवाला नहीं है । जितना आयुष्य लेकर आया है, ५०, ६०, ७०, ८०, वह एक समय बढ़ेगा नहीं । मृत्यु के समीप जाता है । तो यह कहते हैं कि मैं बढ़ता हूँ । भगवान कहते हैं कि तेरा आयुष्य घटता है । स्थिति घट गयी, क्या बढ़ा तू ? आत्मा की दृष्टि की नहीं । उसकी चिन्ता नहीं, आत्मा की चिन्ता नहीं । इस लड़के की चिन्ता है ।

यह दृष्टि की बात करते हैं । बात तो यह करते हैं कि तुझे मनुष्यपना मिला, उसमें आत्मा का धर्म, शुद्ध चैतन्य का अनुभव करना, आत्मा की शान्ति का वेदन करना, आत्मा के दर्शन, श्रद्धा, ज्ञान करने के लिए मनुष्यपना मिला है । वह तो तू करता नहीं और बाहर की वस्तु की वृद्धि में तेरा आयुष्य चला जाता है तो भी वह बढ़ता है, ऐसा तू मानता है । आयुष्य चला जाता है-घटता है और बाहर में ये बढ़ते हैं, ऐसा तू मानता है । तेरी दृष्टि कैसी

है ? कहो, बराबर होगा न ? फावाभाई ! सर्वत्र लागू पड़े, ऐसा है या नहीं ? सर्वत्र, मैंने कहा, हों ! एक जगह कहाँ कहा ?

मुमुक्षु : देखने तो आना नहीं ।

पूज्य गुरुदेवश्री : देखने आना नहीं परन्तु यहाँ आँख में तरपटी कर जाए न ! आहा.. ! पुत्र प्रसन्न, पुत्र का पुत्र प्रसन्न, पचास-पचास हजार कमाता है । एक-एक लड़का महीने में पचास-पचास हजार कमाता है, ऐसे छह लड़के हैं । तीन लाख की आमदनी, बारह महीने में छत्तीस लाख । परन्तु मरकर तू कहाँ जायेगा ? वहाँ साथ में कोई आनेवाला नहीं है । ममता लेकर चला जायेगा । ममता लेकर चला जायेगा । मनुष्यपना अनन्त काल में मुश्किल से मिला है । ऐसी मनुष्यपने की सामग्री में तेरे आत्मा का हित करना, वह तो तूने किया नहीं और यहाँ तृष्णा में रहा । समझ में आया ? रंक की तरह रोयेगा । अरे ! कोई नहीं, मैंने इतना-इतना (किया) मुझे कोई साथ नहीं । ऐसा आता है, हों ! भाई ! उसमें बहुत आता है । नरक की बात । ज्ञानार्णव (में) ।

अरे ! मैंने पाप किये, तब सब कुटुम्ब कबीला था । कोई मेरे साथ नहीं ? अरे ! मैंने उनके लिए ममता की, मेरा काल गँवाया, वह कुटुम्ब कहाँ गया ? यह दुःख मुझसे सहन नहीं होता । नरक में पीड़ा भोगता है । पाप करके नरक में जाता है । अरे रे ! कहाँ गया परिवार ? भाई कहाँ गये ? पत्नी कहाँ गयी ? मैंने इतने पाप किये, उनका फल मुझे अकेले को भोगने का ? सब कहाँ चले गये ? मुझे कोई साथ नहीं । कहाँ रहेगा, कितना काल मैं रहूँगा ? यह क्या वस्तु है ? नरक की वेदना देखकर इतना त्रास लगता है । भगवान जाने और (तू) दुःख वेदे । केवली जाने की कितना दुःख नरक में है । उसकी दरकार नहीं करता । यह मेरा पुत्र और ये मेरे, ऐसा करके आयुष्य का काल उसमें गँवाता है, ऐसा कहते हैं । तेरे आत्मा की दरकार कर, भाई ! वह तो जो होनेवाला होगा, वह होगा । पूर्व के पुण्य-पाप के कारण होगा ।

तेरा आत्मा अखण्ड आनन्द (स्वरूप है) । एक क्षण भी उस पर नजर करने से जो शान्ति मिले, वैसी शान्ति तीन काल में अन्यत्र नहीं है । आहा..हा.. ! वहाँ उसकी कीमत नहीं, उसकी कीमत बाहर में है । विवेक भ्रष्ट हो गया, कहते हैं । तेरा विवेक नाश हो गया है । यह कहते हैं न ? देखो ! मेरी आयु (जीवन) घट जायेगी । वह धनवृद्धि के ख्याल

में जीवन (आयु) विनाश की ओर तनिक भी लक्ष्य नहीं देता। ध्यान भी नहीं देता कि यह चला जाता है, समय-समय चला जाता है, मरकर तुझे कहाँ जाना है ? समझ में आया ? कोई साथ में नहीं आयेगा। अन्त में बोलेगा, बापू! हमने कहा था तुम अब निवृत्ति लो। परन्तु भट के लड़के ने निवृत्ति नहीं ली। बापू! अब तुम निवृत्ति लो। अब कुछ करना रहने दो। नहीं परन्तु भाई! थोड़ा-थोड़ा तो ध्यान रखने दो मुझे। दुकान का थोड़ा-थोड़ा ध्यान रखना न! पोपटभाई! ये छहों लड़के अन्दर में कहते हों, अब बापू छोड़ दे तो अच्छा, हम स्वतन्त्र तो होवें परन्तु सर्वत्र थोड़ा-थोड़ा ध्यान रखे। थोड़ा-थोड़ा सबको डर रहा करे। बापू आर्येंगे और कुछ पूछेंगे तो ? कहो, बराबर है। बाबूभाई! आहा..हा..!

इसलिए मालूम होता है कि धनियों को जीवन (प्राणों) की अपेक्षा धन ज्यादा अच्छा लगता है। उसे ग्यारहवाँ प्राण कहते हैं न ? धन तो प्राण है। धन जाये तो प्राण जाये, मर जाये। समझे न ? गरीब ? गरीब तो मर जाऊँ। अरर! यह ? मैं गरीब ? मैं गरीब ? मर जाऊँ। अर.र! कितनी तृष्णा अन्दर में पड़ी है ! ऐई ! अभी तो गरीब शब्द नाम सुनना सुहाता नहीं। ऐसा कहते हैं। परन्तु मरकर कहीं चला जायेगा, उसका तो देख। ऐई ! आहा..हा..!

धन ज्यादा अच्छा लगता है। भले मरकर दुर्गति में जाऊँ परन्तु मैं गरीब न कहलाऊँ। मुझे तो लक्ष्मीवाला कहलाना है। इस प्रकार के व्यामोह का कारण होने से धन को धिक्कार है। इस कारण से लक्ष्मी, कुटुम्ब आदि को धिक्कार हो। आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान बिना मैं चला जाऊँ, वह मनुष्य जीवन का फल नहीं है। मनुष्यभव अफल गया, अफल। इसलिए कहते हैं कि ऐसी लक्ष्मी को धिक्कार हो। इस कुटुम्ब को, पुत्र को धिक्कार हो कि जिसमें अपना आयुष्य चला जाता है और पर की ममता में खो गया। अतः अपने स्वरूप की दृष्टि करने में पर की दरकार छोड़ देना, ऐसा कहते हैं। कल क्या होगा ? होगा ? जो होना होगा, वह होगा। पर का अपन क्या कर सकते हैं ? मेरा आत्मा शुद्ध आनन्द, उसकी दृष्टि कर सकता हूँ, उसमें स्थिर रह सकता हूँ, वह मेरा स्वतन्त्र पुरुषार्थ है। उसमें किसी की आवश्यकता नहीं है। उसके लिए इष्टोपदेश कहा गया है।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. १३

गाथा-१५-१७

सोमवार, दिनाङ्क २८-०३-१९६६

चैत्र शुक्ला ६,

वीर संवत् २४९२

यह इष्टोपदेश, पूज्यपादस्वामी का इष्टोपदेश है। इसमें १५वीं गाथा अन्तिम हिन्दी श्लोक। १५ गाथा।

**दोहा - आयु क्षय धनवृद्धि को, कारण काल प्रमान।
चाहत हैं धनवान धन, प्राणनिते अधिकान॥१५॥**

कहते हैं कि लक्ष्मी के अर्थी, आयु घटती जाती है, ऐसा नहीं जानते परन्तु लक्ष्मी आदि बढ़ती है, उस पर उनकी नजर है। समझ में आया? ऐसा मनुष्यपना वह धर्म के साधन के लिए चाहिए, उसके बदले वे लक्ष्मी प्राप्त करने के लिए आयुष्य का काल घटता जाता है और उसमें लक्ष्मी आदि बढ़ती जाती है, पुत्र बढ़ते जाते हैं, परिवार बढ़ता जाता है, ब्याज बढ़ता जाता है, ऐसी उसकी-मूढ़ की दृष्टि है, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : ऐसी मूढ़ की दृष्टि है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मूढ़ की दृष्टि है। कहो, पोपटभाई! आहा..हा..! इस देह में मनुष्यपना तो आत्मा पुण्य-पाप के विकार के बन्धनरहित स्वभाव साधन के लिए मनुष्य देह है। स्वभाव साधन; बन्धन साधन के लिए यह मनुष्य देह नहीं है। आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति को अन्तर्मुख में बन्धन के भावरहित रुचि, श्रद्धा—ज्ञान से आत्मा का साधन करना, वह कल्याण का मार्ग है, उसके लिए यह मनुष्य देह है। इसके बदले अज्ञानी पैसा कमाने में ऐसा मानता है कि हमारे पैसा बढ़ा। परन्तु आयु घट जाती है और काल चला जाता है, ऐसी उसे खबर नहीं है।

मुमुक्षु : नुकसान होता है या लाभ होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बड़ा नुकसान, अब इसे कितना नुकसान कहना? यह तो ऐसा मानता है कि हम बढ़े हैं। पहले छोटे थे, तब ऐसा नहीं था। यह पैसे बढ़े, कुटुम्ब बढ़ा, इज्जत से बढ़े, लक्ष्मी से बढ़े, मकान बढ़े, साम, दाम और ठाम। पोपटभाई! ऐसे बढ़े। यहाँ आचार्य कहते हैं, परन्तु तेरा आयुष्य घटा। धर्म तो ठीक एक ओर रहा। जो मनुष्य का

आयुष्य लेकर आया है, जितनी स्थिति है, वह घटती जाती है, घटती जाती है। आत्मा के कल्याण के लिए जो प्रयोग करना चाहिए, वह तो तू करता नहीं परन्तु यह वृद्धि देखकर, आयुष्य घटता है, वह भी तू देखता नहीं – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? बराबर होगा या नहीं ? मलूकचन्दभाई ! क्या... होता है लोगों को, अपने लड़के बड़े, अपने कुछ था ? पिता के पास इतनी पूँजी नहीं थी, तथा लड़का ऐसा नहीं था। यह सब, पैसा बढ़ा, पिता के पास दो-पाँच हजार की पूँजी। अपने पास पाँच लाख, दस लाख, पच्चीस लाख (हो गये)। पुत्र अच्छे, मकान बनाये, दो-पाँच लाख के मकान, इज्जत, कीर्ति जमी। क्या जमा ? धूल, ऐसा कहते हैं। धर्म का साधन तो तूने किया नहीं परन्तु आयुष्य जो पूर्व में पुण्य से लेकर आया, वह घटती जाती है और यह बढ़ता जाता है, यह तेरी तुझे गिनती किस प्रकार की ? ऐसा कहते हैं। आहा..हा.. ! ऐई ! ऐसा हो, वहाँ 'नागेश' में भी पहिचानते थे। कहो, समझ में आया मोहनभाई ?

पुण्य बाँधकर जो आयुष्य लेकर आया है, वह आयुष्य तो घटता जाता है। क्षण-क्षण में कम होता जाता है। तू कहता है कि यह बढ़ता जाता है। पाप करके यह सब इकट्ठा होता है उसमें। तेरी गिनती किस प्रकार की ? धर्म तो एक ओर रहा, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। समझ में आया ? धर्म तो एक ओर रहा।

आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्य, धर्मात्मा (कहते हैं) अन्तरस्वरूप के साधन करने के लिए मनुष्य देह है। यह भव, भव के अभाव के लिए भव है। समझ में आया ? यह भव के अभाव के लिए कुछ करता नहीं परन्तु पूर्व के पुण्य के कारण जो आयुष्य लेकर आया ५०-६०-७०-७५, वह आयुष्य तो घटता जाता है और तू कहता है कि मैं बढ़ता हूँ। अब इसमें तेरी गिनती किस प्रकार की ? हम बड़े, पहले कहाँ था ? अभी दस लाख हुए, पच्चीस लाख हुए। मलूपचन्दभाई जैसों के लड़के को करोड़-दो करोड़ हुए। धूल में भी कुछ नहीं हुआ। ऐई ! हिम्मतभाई ! क्या है यह ?

मुमुक्षु : दोनों लड़के बड़े, मलूपचन्दभाई कहाँ बड़े ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा मैंने कहाँ कहा ? इनके लड़के की मैंने बात की। मैंने ऐसा कहाँ कहा ? मलूपचन्दभाई को कहा नहीं। कहो, समझ में आया ? ये ऐसा माने कि अपने

देखो कहाँ थे ? बापू के पास कुछ नहीं था, कम था, थोड़ा बहुत हजार (था) । हमने बढ़ाया, अपनी इज्जत कितनी बढ़ी चारों ओर ! परन्तु यह पूर्व के पुण्य के कारण, आयुष्य के कारण आया वह आयुष्य तो घट गया । धर्म तो नहीं हुआ, तूने धर्म तो नहीं किया । आत्मा को राग और पुण्य-पाप से रहित आत्मा की श्रद्धा । आत्मा पुण्य-पाप के भावरहित है, ऐसी आत्मा की श्रद्धा, वह धर्म का साधन है, वह तो तूने किया नहीं परन्तु इस पूर्व के पुण्य के कारण आयुष्य लेकर आया, वह आयुष्य पुण्य का घटता जाता है और तू कहता है कि मैं बढ़ता हूँ । इसमें तेरी गिनती किस प्रकार की ? पोपटभाई ! आहा..हा.. ! तेरी गिनती अज्ञान की । तुझे गज / माप करना नहीं आता । कहो, जैचन्दभाई बराबर है यह ?

मुमुक्षु : सत्य बात है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्य बात है यह कि, ऐ... मोहनभाई ! आहा..हा.. !

आयु क्षय धनवृद्धि को, कारण काल प्रमान । तू तो ऐसा कहता है कि मुझे बाहर की बढ़ा परन्तु आयुष्य का काल प्रमाण तो घटता जाता है और यहाँ तू कहता है कि बढ़ता जाता है प्रमाण मुझे । यह तेरा मेल किस प्रकार का । समझ में आया ? आहाहा ! ६०-७० वर्ष या जो कुछ लेकर आया हो । ६०-७० तो कितनों को होते हैं ; नहीं तो कितने ही मर जाते हैं बेचारे ३०-४०-५० में चले जाते हैं । कहो, समझ में आया ? यह आयु तो जितना पूर्व का पुण्य था, उतना लेकर आया है । यह इस पुण्य के कारण आयुष्य इतना है । आयुष्य घटने लगा । तू कहता है मैं बढ़ने लगा । अब इसमें करना क्या ? पूर्व का पुण्य भी जो है, वह जलने लगा, आयुष्य घटने लगा । और पूर्व का पुण्य जो यह पैसा-वैसा बढ़ा, वह पुण्य भी जल गया । वह नोट इतना जल गया । तू कहता है कि बढ़ता हूँ । तेरी गिनती किस प्रकार की ? बराबर है न ? मलूपचन्दभाई ! दो पुण्य घटे और एक यहाँ बढ़ा, ऐसा तू मानता है । तेरी गिनती में अन्तर है, कहते हैं । आहा..हा.. ! पुण्य के पुण्य से आयुष्य मिला, वह आयुष्य घटता जाता है, पूर्व का पुण्य था, जो यह लक्ष्मी अनुकूल सब मिलना, वह पुण्य बाँधा हुआ था, वह घट गया, वह जल जाता है । तू कहता है कि मैं बढ़ा । यहाँ तो जला और घटा । उसमें तेरी गिनती किस प्रकार की है यह ? कहो, बराबर है । फावाभाई !

चाहत हैं धनवान धन,.. यह धनवान तो धन चाहे । धन शब्द से सब । पुत्र / लड़का, लक्ष्मी, इज्जत, कीर्ति । दस-दस लड़के, विवाह किया ठीक से और कैसे ऐसे

अच्छे घर में। हमारी पूँजी के समक्ष तो पाँच-पाँच, दस-दस लाख नहीं परन्तु पचास-पचास लाख, करोड़-करोड़ में विवाह किया है और कुछ अन्तर पड़े तो उसका ससुर भी उसे मदद करके खड़ा रखे ऐसा है। ऐई!

मुमुक्षु : सहारा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे बड़ा सहारा है। परन्तु किसका सहारा ? तेरा यह पुण्य जल गया, किसका सहारा तू मानता है ? आयुष्य घटता जाता है, पूर्व का पुण्य जलता जाता है। पुण्य बाँधा हुआ। यह सब बाहर की सामग्री मिले और पुण्य बढ़ता जाता है। पुण्य जलता जाता है अन्दर में और तू कहता है कि मैं बढ़ा हूँ। तेरी इस प्रकार की कैसी गिनती है ? धर्म का साधन तो किया नहीं परन्तु पुण्य के ठिकाने में भी तेरा ठिकाना नहीं। नया पाप बाँधे, पुण्य जल जाये, आयुष्य घटता जाये और तू कहता है कि बढ़ा। यह तेरी कैसी गिनती ? बराबर जमुभाई!

मुमुक्षु : बाहर की...

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या दिखता है ? धूल। यह कहेंगे। दिखता है। सोजा दिखता है सब सोजा (सूजन)।

प्राणनिते अधिकान। समझे न ? चाहत हैं धनवान प्राणनिते.. प्राण अधिक हैं, इतना पाठ। कहो, यह श्लोक १५वीं गाथा का था। अन्त में था न ? **धनियों को जीवन (प्राणों) की अपेक्षा धन ज्यादा अच्छा लगता है।** है न ? अपने आयुष्य की अपेक्षा भी लक्ष्मी, पुत्र, बहुत प्रिय लगता है। बापू! मुझे भले हो। भाई! परन्तु अब लक्ष्मी तू पैदा करता हो न, तो बहुत अच्छा। यदि तू लक्ष्मी पैदा करता हो तो मुझे सन्तोष है। मूढ़ है न! मुझे भले रोग हो और मुझे भले प्रतिकूलता हो परन्तु तू आमदनी करता हो और तुझे ठीक हो तो मुझे बहुत ठीक है - ऐसा मानता है या नहीं ? अपने जीवन से भी **धनियों को जीवन (प्राणों) की अपेक्षा धन ज्यादा अच्छा लगता है।** स्त्री, कुटुम्ब बहुत अच्छा लगता है कि यह ठीक... यह ठीक.. यह ठीक.. यह व्यामोह है। यह व्यामोह है, तेरी मूढ़ता है। ऐसे व्यामोह को धिक्कार हो। कहो, बराबर होगा ? मोहनभाई! पैसेवाले को सबको खड़ा करे न जरा-सा।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि का ऐसा का ऐसा है। ऐसी की ऐसी मूढ़ता ही करता आया है अनन्त काल से। धर्म साधन तो किया नहीं परन्तु पुण्य लेकर आया, उसे उतनेरूप से रखा नहीं और पाप बढ़ाया और बाहर का मिला, उस वृद्धि में आयुष्य घटा और पुण्य घटा तो तू कहता है बढ़ा। तेरी गिनती में अन्तर है। गिनती में बहुत अन्तर, तेरे गज के माप में ही अन्तर है, कहते हैं। यह इष्टोपदेश है। समझ में आया ? अब शिष्य ने प्रश्न किया।

यहाँ पर शिष्य का कहना है कि धन जिससे पुण्य का उपार्जन किया जाता है, वह निंद्य-निंदा के योग्य क्यों है? पात्रों को दान देना, देव की पूजा करना, आदि क्रियायें पुण्य की कारण हैं, वे सब धन के बिना हो नहीं सकती। इसलिए पुण्य का साधनरूप धन निंद्य क्यों? वह तो प्रशंसनीय ही है। इसलिए जैसे बने वैसे धन को कमाकर पात्रादिकों में देकर सुख के लिये पुण्य संचय करना चाहिये। इस विषय में आचार्य कहते हैं -

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।

स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलिम्पति॥१६॥

अर्थ - जो निर्धन, पुण्य प्राप्ति होगी इसलिए दान करने के लिये धन कमाता या जोड़ता है, वह 'स्नान कर लूँगा' ऐसा ख्याल से अपने शरीर को कीचड़ में लपेटता है।

अर्थ - जो निर्धन ऐसा ख्याल करे कि 'पात्रदान, देवपूजा आदि करने से नवीन पुण्य की प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पाप की हानि होगी, इसलिए पात्रदानादि करने के लिये धन कमाना चाहिये', नौकरी खेती आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिये कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीर को कीचड़ से लिप्त करता है। खुलासा यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंग को 'स्नान कर लूँगा' का ख्याल कर कीचड़ से लिप्त कर डाले, तो वह बेवकूफ ही गिना जायेगा। उसी तरह पाप के द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्रदानादिके पुण्य से उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्याल से धन के कमाने में लगा हुआ व्यक्ति भी समझना चाहिये। संस्कृतटीका में यह

भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकों की तरह जिसको बिना यत्न किये हुए धन की प्राप्ति हो जाय तो वह उस धन से कल्याण के लिये पात्रदानादिक करे तो करे।

फिर किसी को भी धन का उपार्जन, शुद्ध वृत्ति से हो भी नहीं सकता जैसा कि श्री गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है - 'शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते०'

अर्थ - 'सत्पुरुषों की सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखो, नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं। वर्षा में गँदले पानी से भी भरी रहती हैं' ॥१६॥

दोहा - पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन धन संचेय।

स्नान हेतु निज तन कुधी, कीचड़ से लिम्पेय॥१६॥

गाथा - १६ पर प्रवचन

यहाँ पर शिष्य का कहना है कि धन जिससे पुण्य का उपार्जन किया जाता है,.. महाराज! आप धन की इतनी अधिक निन्दा करते हो, शिष्य कहता है परन्तु जिससे पुण्य का उपार्जन.. पैसे होवे तो पुण्य हो, पैसा होवे तो दान किया जाये, देव भक्ति की जाये, पूजा की जाये, यह सब किया जाये। पैसे के बिना क्या करना? तुमने यह सब क्या लगायी है? धन जिससे पुण्य का उपार्जन किया.. इतना विशेष कहता है, हों! कि धन से धर्म होता है, ऐसा नहीं कहता। इतनी तो वह मर्यादा रखता है। आहा..हा..! समझ में आया? धन से कहीं धर्म होता है, ऐसा तो नहीं कहता। परन्तु महाराज! यह पाँच-पच्चीस लाख धन-वन हो तो पुण्य करें। वह निन्द्य-निंदा के योग्य क्यों है? ऐसी निन्दा के योग्य आप क्यों कहते हो? पात्रों को दान देना,.. महासाधु, महापात्र हो, अपने पास लक्ष्मी हो तो दान दें, लक्ष्मी हो तो दान दे दें और उस लक्ष्मी की आप निन्दा करते हो, ठीक लगायी है न तुमने सब? यह वहाँ ऊँचा हो, ऐसा नहीं है। पात्रों को दान देना,.. समझे? अच्छा कोई गरीब व्यक्ति हो, उसे करुणा से दान देना; साधु-धर्मात्मा हो, उसे दान दें। पैसा होवे तो दान दिया जाये, पैसे बिना क्या दिया जाये? शिष्य कहता है। और उस पैसे की आप निन्दा करते हो। देव की पूजा करना,.. यह मन्दिर बनाया जाये, भक्ति की जाये,

पूजा की जाये, प्रभावना की जाये, पाँच-दस लाख खर्च करके बड़े मन्दिर, बड़ी रथयात्रा, हाथी निकले। क्या कहलाता है वह ? गजरथ, गजरथ। कहो ! ऐसा निकले। पैसा होवे तो यह सब होता है। तुम तो कहते हो पैसा खोटा, पैसा खोटा। कहाँ बढ़ेगा ? तुम्हारे पैसा खोटा करना है। न्यालभाई ! देव की पूजा हो, लो ! भगवान की पूजा हो। साधारण दूसरा करता हो और बड़ी-बड़ी पूजा (कर) मणिरत्न के दीपक और ऐसे बड़े भण्डार और चाँदी के चारों ओर... समझे न रखे। भगवान के पीछे ऐसे, ऐसे.. ओहो..हो.. ! पाँच-पाँच लाख रुपये खर्च करे। चौदह लाख खर्च किये, देखो ! अभी लाडनूँ में। गजराज, गजराज के पिता के नाम के चौदह लाख, एक मन्दिर। चौदह लाख से अधिक खर्च किये हैं। वह गजराज नहीं ? यह बच्छराजजी, बच्छराजजी, गजराजजी तीनों भाईयों के बीच उनके पिता का नाम, पिता के नाम का बड़ा मन्दिर, पन्द्रह लाख-सोलह लाख का बनायेंगे। यह अभी (संवत्) २०१६ के वर्ष में।

पैसे थे। अब थे क्या ? अभी बेचारे कैद में पड़े हैं। गजराज और उनका लड़का अभी कैद में पड़ा है। कब छूटेगा, उसका मेल नहीं अभी। राज का गुनाह हुआ है। ऐसा मानते हैं। करोड़पति व्यक्ति है। बीस-बीस वर्ष पहले कितने ही आये, अब अभी क्या ? आहा..हा.. ! कहते हैं पिता, पुत्र को एक जगह नहीं। कैद में पिता अलग और लड़का अलग। ये करोड़पति व्यक्ति। क्या करे ? यहाँ पाप का उदय आयेगा, इसलिए ऐसा होगा, कहते हैं। यह तेरा कायम नहीं रहेगा। तू माने कि मेरे पुण्य के उदय का ठाठ है परन्तु वह सन्ध्या का राग है। सब बिखर जायेगा एकदम, कुछ नहीं रहेगा। व्यर्थ में किसका इसके विश्वास से रहता है ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहा..हा.. !

महाराज ! लक्ष्मी की इतनी अधिक निन्दा रहने दो। पात्र को दान दिया जाये, देव की पूजा हो, साधर्मी को जीमाया जाये, संघ जीमाया जाये, ऐई.. ! मलूपचन्दभाई ! आदि शब्द हैं या नहीं ? भक्ति की जाये, बड़ी रथयात्रा निकले, और पाँच-पच्चीस लाख खर्च करके बड़ी शोभा प्रभावना... प्रभावना.. ऐसे निकले। देखो ! पैसा होगा तो अहमदाबाद में मन्दिर होगा। समझे न ? अच्छे में अच्छा मन्दिर बनाना, ऐसा और रामजीभाई कहते हैं, लो ! पैसा होवे तो हो ? तुम पैसे की निन्दा करने लगे और पैसे बिना ये सब होता नहीं और उससे हमें पुण्य होता है। यह सब तुमने क्या लगायी है ?

आदि क्रियायें पुण्य की कारण हैं,.. अरे! कोई धर्मी करता हो, उसे अपने प्रभावना करें, पताशा बाँटें, शाकर बाँटे, रुपया दें, कोई धर्मात्मा बेचारा धर्म करता हो तो जाओ दो-दो, पाँच-पाँच हजार तुमको प्रभावना देते हैं, करो। पैसा होवे तो पुण्य होता है या उसके बिना होता होगा ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यहाँ है या नहीं इसमें ? देखो ! आदि है या नहीं ? इस आदि में सब बहुत समाहित है। गरीब मनुष्यों को वस्त्र दिया जाये, गरीब को अनाज दिया जाये, पैसा होवे तो दिया जाये। कहो, समझ में आया ? ऐई ! पैसे के बिना क्या करना ? कहो। परन्तु शिष्य ने इतना कहा है कि यह पैसा हो तो पुण्य हो। पैसे से धर्म हो इतना तो प्रश्न नहीं किया। धर्म तो आत्मा से होता है, पैसे से नहीं होता। समझ में आया ? इतना तो शिष्य जरा अभी ख्यालवाला है।

वे सब धन के बिना हो नहीं सकती। महाराज ! वह पैसे के बिना हो ? कहो ! देखो न ! अड़ा रहता है या नहीं ? वहाँ अभी तीन-तीन वर्ष हो गये उसके मुहूर्त को, तथापि अभी शुरु नहीं होता। पैसे के बिना है यह सब ? दरकार नहीं की, दूसरे काम में कैसे पैसे खर्च करते हैं ? ऐई ! इसलिए पुण्य का साधनरूप धन निन्द्य क्यों ? वह तो पुण्य का साधन है। लक्ष्मी होवे तो पुण्य हो, ऐसे दान हो, भक्ति हो, मन्दिर बनाये जायें। समझ में आया ? स्वाध्यायमन्दिर हो, लो ! ब्रह्मचारी बहिनों के लिये रहने का स्थान हो। उन्हें आजीविका दी जाये, पैसा होवे तो दी जाये। पैसे के बिना.. तुम कहते हो कि ऐसा पैसा निन्द्य है.. निन्द्य है.. निन्द्य है..।

पुण्य का साधनरूप धन निन्द्य क्यों ? वह तो प्रशंसनीय ही है। ये सब कार्य तो प्रशंसनीय है और ये कार्य धन के द्वारा होते हैं, तो धन की निन्दा किसलिए (करते हो) ? धन की प्रशंसा करो। ऐई ! इसलिए जैसे बने वैसे धन को कमाकर.. जैसे बने, वैसे धन को कमाकर पात्रादिकों में देकर सुख के लिये पुण्य संचय करना चाहिये। भविष्य में स्वर्ग आदि मिले, धूल मिले आदि। इसके लिये यह पुण्य संचय करना, ऐसा शिष्य कहता है। इस विषय में आचार्य कहते हैं.. सुन। अब इसका उत्तर देते हैं।

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः।

स्वशरीरं स पंकेन स्नास्यामीति विलिम्पति।।१६।।

अर्थ – जो निर्धन,.. पहले पैसा नहीं है। अब पुण्य प्राप्ति होगी इसलिए दान करने के लिये.. अपने दान करना है। दान करने के लिये धन कमाता है,.. दान करने के लिये पैसा कमाता है। दान करने के लिये, पूजा करने के लिये, मन्दिर बनाने के लिये धन कमाता या जोड़ता है,.. इकट्ठा करता है। इकट्ठा करो तो एक साथ में दान में काम आयेंगे। वह 'स्नान कर लूँगा' ऐसा ख्याल से अपने शरीर को कीचड़ में लपेटता है। बाद में स्नान कर लूँगा, पहले कीचड़ में लपेट आऊँ। कीचड़ से शरीर को मलिन करूँ। पहले मलिन करूँ, फिर मैं स्नान कर लूँगा। ऐसे धन कमाऊँ, वह तो मलिन शरीर और पाप करने जैसा है। धन कमाने का भाव ही पाप है। पाप के बिना धन कभी कमाता नहीं। तो मलिन शरीर करके और फिर स्नान करके पुण्यक्रिया करेगा। समझ में आया न? बाद में पैसा मिलेगा तो आँखें चढ़ जायेगी दूसरे (रास्ते)। समझ में आया? और दस लाख रुपया होवे तो उसके बाद पाँच-दस हजार खर्च करे, वहाँ तो ओहो..हो..! बहुत खर्च किया। क्या धूल खर्च की अब तूने? वापस वही हो जायेगा। समझ में आया?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर लक्ष्मी का मद चढ़ जाये। पूर्व का पाप है या नहीं? पाप के कारण अन्दर अभिमान है। ऐसा पुण्य किया हुआ-पापानुबन्धी पुण्य कि उस पुण्य में जो यहाँ मिला, वहाँ अभिमान हो जाये। आहा..हा..! हमने किया। देखो! पुण्य करते हैं। दूसरे को कहा करता है। हम पुण्य करते हैं, देखो! पुण्यवान की पहली कुर्सी। हम होवें तो धर्म शोभे। पुण्यवाले के कारण धर्म शोभता है, परन्तु निर्धन से क्या शोभता था? ऐई! ऐसे अज्ञानी को अभिमान होता है। अब लक्ष्मीवाले करोड़पति, उन्हें सामने बुलावे, लो! साधु महाराज भी बुलावे। आओ, आओ, भाई! आओ-आओ। लाख-दो लाख निकालोगे तो और... आओ-आओ, भाई! लिखाओ इसमें लिखाओ। तुम तुम्हारी शक्तिप्रमाण लिखाओ। महाराज बुलावे, इसलिए शक्तिप्रमाण लिखाना ही पड़े। कहो, समझ में आया इसमें? कहते हैं, परन्तु कमाने का भाव, वही पाप है। अब सुन न! लक्ष्मी कमाने का भाव ही, धन्धा-व्यापार करना, वही पाप है। आहा..हा..!

मुमुक्षु : हेतु में अन्तर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हेतु में अन्तर, पाप का अन्तर। क्या हेतु? धूल का अन्तर है? फिर पुण्य करेगा, ऐसा हेतु में अन्तर है। गाय मारकर कुत्ता धरने जैसा है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

ऐसा ख्याल से अपने शरीर को कीचड़ में लपेटता है। वह मूर्ख है, ऐसा कहते हैं। बड़ा मूर्ख है। आहा..हा..! पाप करूँ पैसे के लिये, कमाऊँ, फिर अपने देव-पूजा और भक्ति में पुण्य करेंगे। बड़ा मूर्ख है। कहेंगे थोड़ा। पहले पैसा-वैसा पूर्व पुण्य से सहज मिल गये हों और उसमें कोई दया, दान, भक्ति, पूजा में खर्च करे तो पुण्यभाव हो, धर्म नहीं; धर्म तो नहीं। आहा..हा..! समझ में आया? देव पूजा या दान आदि में धर्म तो नहीं। पूर्व पुण्य से मिले, सहज मिल गये। कमाऊँ और उससे फिर करेंगे, ऐसा नहीं। पुण्य से मिल गये तो उसमें से राग घटाकर पूजा, देवभक्ति, दया, दान में ऐसी प्रभावना करे तो वह पुण्य नया होता है। समझ में आया? परन्तु उसके हेतु से कमावे तो पाप होता है। पूरे इस शरीर को कीचड़ में लगाता है, बाद में स्नान करूँगा। कब इसका अन्त आयेगा? और वह भी वापस लक्ष्मी होने के बाद भी आँखें दूसरी ओर जायेंगी। ज्यादा होगी इसलिए। उसका खर्च करने का अमुक ही स्थिति का भाव होगा। समझ में आया? दस लाख में भी हम हमेशा भी ऐसे खर्च करते हैं, हजार, दो हजार, बारह महीने हमेशा खर्च करते हैं। हजार-दो हजार... पाप कितना करता है? उसमें तेरे हजार-दो हजार क्या हैं? समझ में आया? एक बार पाँच हजार दिये हों तो बस हो गया। ओहो..हो..! क्या हुआ परन्तु अब? हमेशा पाप करता है न! प्रतिदिन का तेरा पाप। कर टोटल बारह महीने का। बराबर होगा यह?

विशदार्थ - जो निर्धन ऐसा ख्याल करे कि पात्रदान, देवपूजा.. महाराज ने लिया है तो बहुत सरस। देखो! अच्छे पात्र को दान दें, उनका आशीर्वाद मिले, अपने को पुण्य हो, ऐसा करते-करते फिर परम्परा से धर्म भी हो। देव-पूजा करें, भक्ति करें, प्रभावना करें, शोभायात्रा निकालें, वर्षीतप का उद्यापन करें, लो! यह लोगों को होता है न? वर्षीतप इसमें तो नहीं। आदि करने से नवीन पुण्य की प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पाप की हानि होगी,.. देखो! शिष्य कहता है, शिष्य प्रश्न करता है। निर्धन ऐसा ख्याल करे... उत्तर देते

हैं। 'पात्रदान, देवपूजा आदि करने से नवीन पुण्य की प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पाप की हानि होगी, इसलिए पात्रदानादि करने के लिये धन कमाना चाहिये'.. ऐसा शिष्य कहता है। अपनी अभिलाषा बाहर रखता है।

नौकरी खेती आदि करके धन कमाता है,.. लो! नौकरी में भी पाप है, खेती में भी पाप है, धन्धे में क्षण-क्षण में पाप है। कोई भी धन्धा (होवे)। पाप का धन्धा होगा या उसमें कुछ होता होगा ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन सा पाप निस्वार्थ ? कपड़े का है न यह ? कपड़े का। यह ममता है न तेरी ? समझे नहीं। ऐसा करूँ और पाँच लाख रखूँ और फिर ऐसे खर्च हो और ऐसे हो। सब पाप ही है। यह छापाखाने में निष्पापी पाप होगा या नहीं धन्धा ? जमुभाई! वह पाप है। कमाने का भाव ही पाप है। दुकान पर बैठकर कमाना, वही पाप है। नया वापस दूसरा क्या है ? आहा..हा.. !

मुमुक्षु : लड़के को पढ़ाने का ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पढ़ाने का भाव पाप है। पढ़ाने में क्या है वहाँ ? पाप करेगा और फिर यह करेगा। सब पाप ही भाव है। यह अच्छा करेगा और लड़का करेगा और लड़के का विवाह करना और उसे फिर... समझे न ? दो-पाँच हजार चुपचाप देना और फिर यह तुझे देख इतना खर्च करने की छूट। सब पाप है। समझ में आया ?

नौकरी खेती आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिये कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीर को कीचड़ से लिप्त करता है। कीचड़ लपेटता है, चिकना कीचड़।

मुमुक्षु : फिर तो नहाये न वापस ?

पूज्य गुरुदेवश्री : फिर नहीं नहाये। मर जायेगा उसी और उसी में। यह विचारता रहता है, वह मूर्ख है, कहते हैं।

खुलासा यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंग को 'स्नान कर

लूंगा'.. निर्मल अंग को पहले मैल लगाता है, फिर स्नान करूँगा। का ख्याल कर कीचड़ से लिप्त कर डाले,.. कीचड़ / कादव से शरीर को मैला करे। तो वह बेवकूफ ही गिना जायेगा। उसी तरह पाप के द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्रदानादि के पुण्य से उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्याल से धन के कमाने में लगा हुआ व्यक्ति भी (बेवकूफ) समझना चाहिये। ऐसा कहते हैं। उसके साथ कहा न? व्यक्ति भी... उसके लिये जानूँ, जानूँ, वह भी बेवकूफ है। आहा..हा..! बहुत ऐसे होते हैं, हमारे पाँच लाख की बन्धी तो है परन्तु अब बढ़े न, वह सब दान में खर्च करूँगा परन्तु धन्धा क्या करने लगा तू यह पाप का? पाँच लाख से हमारे अधिक चलता नहीं, परन्तु जितना अधिक आवे, वह दान में डाल देते हैं, दान में डाल देते हैं। अरे! परन्तु चलता नहीं और यह पाप करके खर्च करे, वह तेरी पद्धति ही खोटी है। समझ में आया? ऐसा होता है या नहीं? धर्मचन्दजी! हाँ, हाँ ऐसा होता है। हमारे यहाँ... इतना सब बहुत सुना हुआ है। बहुत जगह कितने में होता है कि अपने बन्धी तो इतनी है तो अब व्यापार बढ़ गया, आमदनी बढ़ गयी। करना क्या?

मुमुक्षु : महिलाओं के नाम से कर देते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : महिलाओं के नाम से करे, वह तो ठीक। तुम्हारे तो महिला मर गयी है। उसके नाम से करे, लड़के के नाम से करे, भाग कर दे, ऐसा करके हमारे तो भई पच्चीस हजार से अधिक नहीं चलता परन्तु यह लाख-लाख की आमदनी बढ़ गयी, इसलिए लड़के के नाम से खर्च कर डालते हैं, बारह महीने में खर्च कर डालते हैं। परन्तु पाप करके धन्धा करना, वह तेरा पाप है। समझ में आया?

मुमुक्षु : डॉक्टर का धन्धा और वकील का धन्धा अच्छा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : डॉक्टर, वकील का भी बड़ा पाप है। यह पहले रखते। साठ रख पहले। कहेंगे। चालीस-चालीस रख पहले, एक घण्टे / साठ मिनिट के, फिर बात करूँगा। पाप होगा या क्या होगा यह? इसकी गरज उसे, और इसे पाप। उसकी इसे गरज पैसा देने की, उसे गरज परन्तु इसे भाव क्या (है)?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : भले वह न कहे, परन्तु मुझे बात करनी है, तुझे जैसे... परन्तु यह भाव किसका है ? कमाने का भाव है या पाप का भाव है या पुण्य का भाव है ? पाप का । लड़के को पढ़ाने का भाव कौन सा होगा ? यह मास्टर पढ़ाता है वह ? सब पाप ?

बेवकूफ ही गिना जायेगा। उसी तरह पाप के द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय,.. पाप से धन कमाऊँ, फिर पीछे पात्रदानादिके पुण्य से उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्याल से धन के कमाने में लगा हुआ व्यक्ति भी समझना चाहिये। लो! संस्कृत टीका में यह भी लिखा हुआ है.. लिखा है 'यस्य तु चक्रवर्त्यादि' आदि है न ? कि चक्रवर्ती आदिकों की तरह.. चक्रवर्ती होता है न ? महाबलदेव आदि चक्रवर्ती । पूर्व के पुण्य से ढेर आ गया उसे । उन लोगों को कमाना नहीं पड़ता, बहुत पुण्य । पूर्व का इतना पुण्य हो, ढेर ! एक-एक दिन की अरबों की आमदनी । इतने तो चक्रवर्ती के घर में नवनिधान होते हैं । कहते हैं, ऐसी लक्ष्मी आदि कोई पूर्व के पुण्य के कारण मिल गयी, दूसरे करोड़ोंपति या उसे भी... जिसको बिना यत्न किये.. पुरुषार्थ कुछ किया न हो या इकलौता वारिस ऐसा मिल गया या कहीं से भण्डार मिल गया । समझ में आया ? पाँच-पच्चीस लाख के हीरे निकल गये, कहीं सोना निकल गया । दबा पड़ा हो, वह पुण्य के कारण निकल गया, तो कहते हैं, उस धन की प्राप्ति हो जाय तो वह उस धन से कल्याण के लिये पात्रदानादिक करे तो करे। उस पैसे को पुण्य के लिये (खर्च करे) । कल्याण शब्द से यहाँ पुण्य है । पुण्य के लिये पात्रदानादि करे तो करो । पूर्व के पुण्य से सहज लक्ष्मी मिल गयी हो और उसमें से फिर तुझे दान-पुण्य के लिये करना हो तो बाहर राग घटा, परन्तु पाप करके कमाऊँ और फिर दान करना, यह धन्धा सच्चा नहीं है । यह पुण्य का भी सच्चा नहीं है । धर्म का तो है नहीं ।

मुमुक्षु : दान करे, उसकी अपेक्षा पात्रदान करे....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह खोटा, यह ही खोटा है, ऐसा कहते हैं । पाप करके दान करना, उसका क्या अर्थ ? पहले पाप करना ही खोटा है । फिर दान करने का भाव वापस रहेगा या नहीं ? मरने से पहले क्या होगा, इसकी क्या खबर इसे ? समझ में आया ? पहले जहर खा लूँ, फिर मैं जीवित रहूँगा तो अमुक काम करूँगा, इसका अर्थ क्या है ? समझ में आया ? यहाँ तो इष्टोपदेश यह है । लक्ष्मी मिली हो पूर्व के पुण्य के कारण अधिक पाप

बिना सहज मिल गयी हो। बहुतों को मिल जाती है न ऐसी? उत्तराधिकार मिल जाये तो कहते हैं, उसमें से दान-पुण्य आदि में खर्च। राग घटे, उतना पुण्य होगा; धर्म-वर्म तो नहीं। पूजा, भक्ति, मन्दिर बनाना, दान करना, दया करना, वह कहीं धर्म तो नहीं है।

मुमुक्षु : वह पुण्य तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पुण्य है। आहा..हा..! समझ में आया? धर्म तो आत्मा में पुण्य-पाप के राग बिना चैतन्य शुद्ध आनन्द की दृष्टि और ज्ञान करना, उसका नाम धर्म है। आहा..हा..! समझ में आया? कहाँ स्थापित करते हैं अभी? उस पुण्य की बात में ही यह है।

फिर किसी को भी धन का उपार्जन, शुद्ध वृत्ति से हो भी नहीं सकता.. देखो! क्या कहते हैं? लक्ष्मी का उपार्जन शुद्धभाव से होता ही नहीं, पापभाव से ही होता है, ऐसा कहते हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा दावा करे कि यह लक्ष्मी मैंने अच्छे भाव से की है, वह तेरा दावा मिथ्या है। लक्ष्मी का कमाना ही पाप है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? हमारी नीति हेतु दूसरा था, हमारा कमाने का हेतु दूसरा था, हमारी नैतिक जिन्दगी में जीना, ऐसा हेतु था, अमुक था। कहते हैं या नहीं? समझ में आया? धन का उपार्जन,.. ऐसे स्त्री, पुत्र, परिवार सबका, हों! शुद्ध वृत्ति से हो भी नहीं सकता जैसा कि श्री गुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है - 'शुद्धैर्धनैर्विबर्धन्ते०'

अर्थ - सत्पुरुषों की सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखो! धर्मात्मा जीव को भी लक्ष्मी बढ़े, वह पाप से बढ़ती है, पुण्य से नहीं। पुण्यभाव से नहीं। अच्छा भाव है पुण्य और पैसा मिला है, ऐसा है? आहा..हा..! सत्पुरुषों की सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धन से बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखो, नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं। क्या कहते हैं? चातुर्मास में चारों ओर गन्दा पानी भरे, तब नदी भरती है। मात्र उज्वल पानी से, हल्के पानी से, स्वच्छ पानी से नदी नहीं भरती, ऐसा कहते हैं। नदी आवे न? चातुर्मास में वर्षा चारों ओर (होवे तब)। हमने तो नदी बहुत देखी है न कालूभार में। ऐसा पानी बाँस, दो-दो बाँस, हों! चारों ओर का पानी भी गन्दा। उस गन्दे पानी से नदी भरती है, कहीं स्वच्छ पानी अच्छा पानी से

आकर नदी भरती है पहले, ऐसा नहीं है। इसी प्रकार पैसा पाप से पैदा होता है, ऐसा कहते हैं। कालीदासभाई!

ये कालीदासभाई कहते थे कि कोई ऐसा कहता है कि अभी एकदम पच्चीस-पचास लाख के आसामी हो गये और सीधे पुण्य से हो गये, माया-वाया, काला बाजार किये बिना, तो ऐसा अभी नहीं है। ये लक्ष्मी बढ़ गयी। किसी को हो साधारण, दो-चार लाख हो, वह अलग बात परन्तु एकदम पच्चीस-पचास लाख हो गये और हमने हमारे धन्धे से किये। अन्दर काला बाजार और कोई गड़बड़ हो, तब होता है। पाँच-पच्चीस हजार की आमदनी हमेशा हो और दो-पाँच लाख, दस लाख हो गये, वह अलग बात है परन्तु एकदम हो गये पचास लाख, करोड़, दो वर्ष में! कुछ घोटाला होगा अन्दर।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य इकट्ठा नहीं, जल गया पुण्य। उसे बाहर के कोई कपट प्रपंच थे, ऐसा कहते हैं। कोई चोरी की हो, कर चोरी की हो, कोई काला बाजार हो या कुछ हो, गुप्त हो, नामा की बहियाँ बदली हों, कुछ तो गड़बड़ हो तब बढ़े, ऐसा कहते हैं। कालीदासभाई! यह तो कहते हैं, गौण करना। तेरे पाप के लिये कर गौण तू। किसी को लक्ष्मी पाप बिना इकट्ठी होती है, यह बात है ही नहीं। नदी गन्दे पानी के बिना अकेले अच्छे पानी से दोनों किनारे भरें, ऐसा होता नहीं - ऐसा कहते हैं। यह बराबर है? दृष्टान्त बहुत सरस दिया है। नदी में दो पूर आवे न पानी? वह अच्छे पानी से आते होंगे कहीं से?

स्वच्छ पानी कहाँ था वहाँ ऊपर? बरसात का (आवे) न, सब गन्दा इकट्ठा होकर, ऐसा होकर ऐसे दोनों किनारे उछलें, मैला पानी हो। आहा..हा..! **नदियाँ स्वच्छ जल से ही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं।** आचार्य ने दृष्टान्त भी कैसा दिया है! समझ में आया? आत्मानुशासन है, हों! **वर्षा में गँदले पानी से भी भरी रहती हैं।** देखो! वर्षाकाल में दोनों किनारे नदी भरती है, वह मलिन पानी से भरती है। सब मैला चारों ओर से इकट्ठा होवे न! सब मैला। पानी-पानी सब मैला हो। वह कहीं तुरन्त छानकर पीया नहीं जा सकता, ऐसा पानी होता है। दृष्टान्त वर्षाकाल का दिया, हों! यों ही बरसात कहाँ से आवे? बरसे बिना तो। **वर्षा में गँदले पानी से भी भरी रहती हैं।** अच्छे पानी से नदी भरती नहीं; वैसे

जगत के पैसे अच्छे पुण्य से इकट्ठे हों अर्थात् अच्छे भाव से इकट्ठे हों नहीं, पापभाव से ही इकट्ठे होते हैं। बराबर होगा ?

दोहा - पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन धन संचेय।

स्नान हेतु निज तन कुधी, कीचड़ से लिम्पेय॥१६॥

पुण्य हेतु दानादिको,.. पुण्य के लिये, दान के लिये, पूजा-भक्ति के लिये, निर्धन धन का संचय करे, लक्ष्मी इकट्ठी करे, स्नान हेतु निज तन कुधी,.. जिसकी बुद्धि भ्रष्ट है, ऐसे तन को मैला करके फिर स्नान कर लूँगा, ऐसे कीचड़ से लपेटता है, ऐसी वह बुद्धि / कुबुद्धि है। आहा..हा..! समझ में आया ? यहाँ तो दान-पूजा के लिये भी तू पाप करके कर, इसका निषेध (करते हैं)। दान, पूजा है, वह तो पुण्यभाव है, वर्तमान करे वह; और धर्म तो इन दान, पूजा के भाव और कमाने के पापभाव से रहित आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान करे तो धर्म होता है। इसके अतिरिक्त धर्म-बर्म है नहीं। आहा..हा..! समझ में आया ? १६ (गाथा पूरी) हुई।

उत्थानिका - फिर शिष्य कहता है कि भगवन्! धन के कमाने में यदि ज्यादातर पाप होता है, और दुःख का कारण होने से धन निंद्य है, तो धन के बिना भोग और उपभोग भी नहीं हो सकते, इसलिए उनके लिये धन होना ही चाहिए, और इस तरह धन प्रशंसनीय माना जाना चाहिए। इस विषय में आचार्य कहते हैं कि 'यह बात भी नहीं है' अर्थात् 'पुण्य का कारण होने से धन प्रशंसनीय है,' यह जो तुमने कहा था, सो वैसा ख्याल कर धन कमाना उचित नहीं, यह पहिले ही बताया जा चुका है। 'भोग और उपभोग के लिये धन साधन है,' वह जो तुम कह रहे हो। सो भी बात नहीं है, यदि कहो क्यों? तो उसके लिये कहते हैं -

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।

अंते सुदुस्त्यजान कामं कामान् कः सेवते सुधीः॥१७॥

अर्थ - आरम्भ में सन्ताप के कारण और प्राप्त होने पर अतृप्ति के करनेवाले तथा

अन्त में जो बड़ी मुश्किलों से भी छोड़े नहीं जा सकते, ऐसे भोगोपभोगों को कौन विद्वान-समझदार-ज्यादती व आसक्ति के साथ सेवन करेगा ?

विशदार्थ - भोगोपभोग कमाये जाने के समय, शरीर, इन्द्रिय और मन को क्लेश पहुँचाने का कारण होते हैं। यह सभी जन जानते हैं कि गेहूँ, चना, जौ आदि अन्नादिक भोग्य द्रव्यों के पैदा करने के लिये खेती करने में एड़ी से चोटी तक पसीना बहाना आदि दुःसह क्लेश हुआ करते हैं। कदाचित् यह कहो कि भोगे जा रहे भोगोपभोग तो सुख के कारण होते हैं। इसके लिये यह कहना है कि इन्द्रियों के द्वारा सम्बन्ध होने पर वे अतृप्ति अर्थात् बढ़ी हुई तृष्णा के कारण होते हैं, जैसा कि कहा गया है - 'अपि संकल्पिताः कामाः०'

'ज्यों ज्यों संकल्पित किये हुए भोगोपभोग, प्राप्त होते जाते हैं, त्यों त्यों मनुष्यों की तृष्णा बढ़ती हुई सारे लोक में फैलती जाती है। मनुष्य चाहता है कि अमुक मिले। उसके मिल जाने पर आगे बढ़ता है, कि अमुक और मिल जाय। उसके भी मिल जाने पर मनुष्य की तृष्णा विश्व के समस्त ही पदार्थों को चाहने लग जाती है कि वे सब ही मुझे मिल जायँ। परन्तु यदि यथेष्ट भोगोपभोगों को भोगकर तृप्त हो जाय, तब तो तृष्णारूपी सन्ताप ठण्डा पड़ जायगा। इसलिए वे सेवन करने योग्य हैं। आचार्य कहते हैं कि वे भोग लेने पर अन्त में छोड़े नहीं जा सकते, अर्थात् उनके खूब भोग लेने पर भी मन की आसक्ति नहीं हटती,' जैसा कि कहा भी है - 'दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि०'

'यद्यपि अग्नि, घास, लकड़ी आदि के ढेर से तृप्त हो जाय। समुद्र, सैकड़ों नदियों से तृप्त हो जाय, परन्तु वह पुरुष इच्छित सुखों से कभी भी तृप्त नहीं होता। अहो! कर्मों की कोई ऐसी ही सामर्थ्य या जबरदस्ती है।' और भी कहा है - 'किमपीदं विषयमयं०'

'अहो! यह विषयमयी विष कैसा गजब का विष है कि जिसे जबरदस्ती खाकर यह मनुष्य, भव भव में नहीं चेत पाया है।'

इस तरह आरम्भ, मध्य और अन्त में क्लेश-तृष्णा एवं आसक्ति के कारणभूत इन भोगोपभोगों को कौन बुद्धिमान इन्द्रियरूपी नलियों से अनुभवन करेगा ? कोई भी नहीं।

यहाँ पर शिष्य शंका करता है कि तत्त्वज्ञानियों ने भोगों को न भोगा हो यह बात सुनने में नहीं आती है। अर्थात् बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानियों ने भी भोगों को भोगा है, यही प्रसिद्ध है। तब 'भोगों को कौन बुद्धिमान्-तत्त्वज्ञानी सेवन करेगा ?' यह उपदेश कैसे

मान्य किया जाय ? इस बात पर कैसे श्रद्धान किया जाय ? आचार्य जवाब देते हैं - कि हमने उपर्युक्त कथन के साथ 'कामं अत्यर्थं' आसक्ति के साथ रुचिपूर्वक यह भी विशेषण लगाया है। तात्पर्य यह है कि चारित्रमोह के उदय से भोगों को छोड़ने के लिये असमर्थ होते हुए भी तत्त्वज्ञानी पुरुष भोगों को त्याज्य-छोड़ने योग्य समझते हुए ही सेवन करते हैं और जिसका मोहोदय मंद पड़ गया है, वह ज्ञान-वैराग्य की भावना से इन्द्रियों को रोककर इन्द्रियों को वश में कर शीघ्र ही अपने (आत्म) कार्य करने के लिये कटिबद्ध-तैयार हो जाता है - जैसा कि कहा गया है - 'इदं फलमियं क्रिया०'

'यह फल है, यह क्रिया है, यह करण है, यह क्रम-सिलसिला है, यह खर्च है, यह आनुषंगिक (ऊपरी) फल है, यह मेरी अवस्था है, यह मित्र है, यह शत्रु है, यह देश है, यह काल है, इन सब बातों पर खयाल देते हुए बुद्धिमान पुरुष प्रयत्न किया करता है। मूर्ख ऐसा नहीं करता।' ॥१७॥

दोहा - भोगार्जन दुःखद महा, भोगत तृष्णा बाढ।
अंत त्यजत गुरु कष्ट हो, को बुध भोगत गाढ॥१७॥

गाथा - १७ पर प्रवचन

उत्थानिका - फिर शिष्य कहता है कि भगवन्! धन के कमाने में यदि ज्यादातर पाप होता है,.. पैसा कमाने में पाप तो बहुत होता है, बात तो आपकी सत्य है। कहो, ठीक होगा ? सीधे कमाये तो भी पाप तो पाप ही है वहाँ। और दुःख का कारण होने से धन निन्द्य है,.. महाराज ! यह लक्ष्मी कमायी, वह तो ज्यादातर तो पाप ही होता है। बहुत तो पाप ही होता है और दुःख का कारण होने से पैसा तो निन्द्य है, निन्दित है। पैसा, लक्ष्मी तो निन्दा के योग्य ही है। तो धन के बिना भोग और उपभोग भी नहीं हो सकते,.. परन्तु एक बात है, कहते हैं। दोनों प्रकार से कहो परन्तु धन के बिना भोग-उपभोग मिले, ऐसा है ? ऐई ! पैसा न हो तो मकान किस प्रकार बनाना ? यह दाल, भात, रोटी, किस प्रकार खाना, चाय हमेशा चाहिए, दूध उकाली चाहिए, सर्दी में पाक चाहिए, गर्मी में मलमल (का) वस्त्र चाहिए, चातुर्मास में गर्म कपड़ा चाहिए। वह निकालना कहाँ

से ? ऐसा शिष्य पूछता है। महाराज ! लक्ष्मी निन्द्य है और दुःख का कारण है, यह बात भी सत्य है। परन्तु धन के बिना भोग-उपभोग... एक बार भोगा जाये, ऐसी चीज़—दाल, भात, सब्जी। बारम्बार भोगी जाये ऐसी चीज़ - कपड़ा, मकान, और स्त्री। वह सब पैसे के बिना कुछ मिलता होगा ? कहीं पैसे के बिना मुफ्त मिलते होंगे ?

इसलिए उनके लिये धन होना ही चाहिए,.. उनके लिए तो लक्ष्मी (चाहिए)। भोग-उपभोग के लिए तो लक्ष्मी चाहिए न ! दूसरा तो एक ओर (रहो)। हमारे पुण्य-दान के लिए नहीं (चाहिए), लो ! जाओ, कहते हैं। समझ में आया ? दान करूँगा और पूजा करूँगा और उसके लिए कमाऊँ, वह तो पाप है, यह तो ठीक है, उसके लिए कहीं लक्ष्मी नहीं चाहिए परन्तु यह खाने-पीने की आवश्यकता पड़े, बारम्बार भोगने की (आवश्यकता पड़े), वह चीज़ भोग-उपभोग में उसके लिए तो लक्ष्मी चाहिए, उसका क्या करना ? उसके लिए धन होना चाहिए या नहीं ? और इस तरह धन प्रशंसनीय माना जाना चाहिए। भोग-उपभोग में काम आवे, इस अपेक्षा से तो लक्ष्मी ठीक कहो। ठीक है, ऐसा तो कहो। भारी लगायी है, हों !

इस विषय में आचार्य कहते हैं कि 'यह बात भी नहीं है'.. सुन ! अर्थात् 'पुण्य का कारण होने से धन प्रशंसनीय है,' यह जो तुमने कहा था, सो वैसा ख्याल कर धन कमाना उचित नहीं, यह पहिले ही बताया जा चुका है। कहा ? पुण्य करूँगा, उसके लिए कमाना और धन इकट्ठा करना, इसका तो पहले तुझे निषेध किया। 'भोग और उपभोग के लिये धन साधन है,' वह जो तुम कह रहे हो। सो भी बात नहीं है,.. एक बात... बराबर है यहाँ ? कपड़े पहनने को चाहिए, खाना-पीना चाहिए, नौकर की सुविधा चाहिए, वृद्धावस्था हो, दो व्यक्ति हो तो काम करे। इस साधन के लिए तो पैसे की आवश्यकता है या नहीं ? दूसरी तो एक ओर रही अब, लो ! यदि कहो क्यों ? तो उसके लिये कहते हैं.. यह भी तेरे धन को इकट्ठा करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भोग और उपभोग में दुःख ही है, सुख नहीं—ऐसा कहते हैं।

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान्।

अंते सुदुस्त्यजान कामं कामान् कः सेवते सुधीः॥१७॥

कहते हैं कि अर्थ – आरम्भ में सन्ताप के कारण.. समझ में आया ? क्या ? भोग और उपभोग । जो चीज़ तू भोगना चाहता है और जो बारम्बार भोगी जाती है, वह चीज़ शुरुआत में ही आरम्भ और पाप का कारण है । आताप.. आताप.. आताप.. समझ में आया ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ । उसमें वहाँ पहले आताप है, आताप है, आकुलता है-ऐसा कहते हैं । पहली शुरुआत में । और प्राप्त होने पर अतृप्ति के करनेवाले.. मिलने के बाद भी तृप्ति नहीं होती । पैसे की, भोग की, इज्जत की, मकान की । समझे ? चलती ही जाती है तृष्णा । भोग सुख में तृप्ति कहाँ है वहाँ ? धूल भी नहीं है । तृप्ति तो आत्मा में है । इस शान्ति को तू देखता नहीं । आत्मा में शान्ति है, तृप्ति है । वह भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है । इसकी दृष्टि करने से जिसे तृप्ति हो ऐसा है । बाहर भोग-उपभोग में तृप्ति नहीं है । लकड़ी में अग्नि, अग्नि में लकड़ी जितनी डालते जायें, उतनी अग्नि बढ़ती ही जाती है । भभकती है, अग्नि भभकती है, बुझती नहीं । जितने भोग-उपभोग करता जाये, ऐसे आताप भभकता जाता है, तृष्णा और कषाय बढ़ती जाती है । तुझे सन्तोष नहीं होता, ऐसा कहते हैं । इतना भोग भोगें, लो ! इतना खा लें फिर अपने को (शान्ति होगी) । धूल भी नहीं होगी । अतृप्ति के करनेवाले । जवान अवस्था हो, वृद्धावस्था हो तो भोग से तृप्ति करता नहीं । अब बन्द करो, खाना-पीना और सब तृष्णा कम करो ।

शुरुआत में ही सन्ताप, बीच में अतृप्ति का कारण अन्त में जो बड़ी मुश्किलों से भी छोड़े नहीं जा सकते,.. समझ में आया ? वे छूटें, छूटना और उनसे वापिस हटना महा कठिन है । भोग की तृष्णा चोटी-काँटा की तरह कठोर है । छोड़ी नहीं जाती, छूटते उसे छोड़ना, उस घटाना महा कठिन है । दारूड़ी (एक वनस्पति) के काँटे जैसा । दृष्टान्त नहीं दिया इसमें ! दारूड़ी का काँटा ऐसा बारीक होता है । ऐसे भोगोपभोगों को कौन विद्वान-समझदार-ज्यादती व आसक्ति के साथ सेवन करेगा ? समझे ? आसक्ति के साथ में सेवन करनेयोग्य है, ऐसा चतुर व्यक्ति कैसे मानेगा ? भोग-उपभोग में तो पाप है, अतृप्ति है, आताप है, आकाम है, तृष्णा है, उसमें कहीं सुख नहीं है । आहा..हा.. ! कहो समझ में आया ? पुण्य के लिए कमाना नहीं और इन भोग-उपभोग के लिए भी कमाना नहीं । कहते हैं कि इन भोग-उपभोग में दुःख है, ऐसा कहते हैं ।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : काम आया, उसमें भोग-उपभोग में सुख नहीं है। आत्मा में दृष्टि कर। पुण्य कमाने से फिर पुण्य होगा, उसमें लाभ नहीं है। कर आत्मा में (दृष्टि), ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : पेट भरनेमात्र....

पूज्य गुरुदेवश्री : पेट भरना नहीं, पूरी सामग्री भोग-उपभोग की चाहिए, उसका क्या करना ? वहाँ धूल में भी सुख नहीं है, कहते हैं। सुन न! शुरुआत में आताप, मध्य में अतृप्ति और अन्त में छोड़ना कठिन पड़े। घटना, घटाना। आहा..हा..! सिर घूम जाये। पाँच-पाँच लाख, दस लाख, पचास लाख हुए हों और फिर अब, अब सन्तोष कर, अब सन्तोष कर, घटा दे, अब घटा दे। हाय.. हाय.. दूसरे का बढ़े और हमारा क्यों घटे ? दूसरे का बढ़ जाये और हमारा घटे तो मर जायेंगे नहीं तो हम। ओहो..! गजब ! मूढ़ ने मार डाला, कहते हैं। मूढ़ की मान्यता ने इसे मार डाला है। भोग-उपभोग में भी आताप है, उसका इसे भान नहीं है। आहा..हा..!

हम सुखी हैं। स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, मकान, पैसा, स्त्री, (सब है)। धूल है, सुन न अब। उसकी ओर का लक्ष्य करना, वही आताप है। उसके भोग में कभी भी तृप्ति नहीं होगी और स्त्री, लम्बी लार, वह लार छोड़ने से छूट नहीं सके। ठेठ तक गृद्धि रहा करेगी। उसकी भोग-उपभोग की गृद्धि। आत्मा में शान्ति है, उसकी दृष्टि किये बिना तेरा कोई उपाय शान्ति का नहीं है। कहो, समझ में आया इसमें ? **समझदार-ज्यादती व आसक्ति के साथ सेवन नहीं करेगा ?**

विशदार्थ - भोगोपभोग कमाये जाने के समय, शरीर, इन्द्रिय और मन को क्लेश पहुँचाने का कारण होते हैं। देखो! यह कमाने में बैठा हो, पूरे दिन शरीर को पसीना उतरे, मलिनता हो, खाने-पीने का योग न हो, खाने-पीने का कभी मिले, यह कमाने बैठा हो तो पड़ा हो दुःखी। भोगोपभोग कमाये जाने के समय, शरीर, इन्द्रिय और मन को क्लेश... पहुँचता है। देखो! इन्द्रियाँ ऐसे सूख जाती हैं। शरीर काला हो जाता है, मलिन हो जाता है अन्दर पूरे दिन खाता न हो, कमजोर शरीर हो परन्तु बैठना पड़े

वहाँ दुकान पर। ग्राहक अच्छा आया हो, उसे सम्हालने के लिए (बैठना पड़े) ऐसे दुःख हैं, बापू! सब दुःख ही है, वहाँ होली है।

मुमुक्षु : परन्तु पैसा तो मिलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं। इसे कमाने के लिए यह सब दुःख होता है, वर्तमान ही दुःख है, कहते हैं। बाद में तो दुःख होगा तो फिर भोग-उपभोग में भी दुःख है। वहाँ कहाँ सुख है? ऐसा यहाँ तो कहते हैं।

शरीर, इन्द्रिय और मन को क्लेश पहुँचाने का कारण होते हैं। वह तो क्लेश है। कमाना परन्तु भोग, भोग में कमाने के लिए क्लेश.. क्लेश.. आकुलता.. आकुलता.. आकुलता.. यह सभी जन जानते हैं कि गेहूँ, चना, जौ आदि अन्नादिक भोग्य द्रव्यों के पैदा करने के लिये खेती करने में एड़ी से चोटी तक पसीना बहाना आदि.. लो! क्या कहते हैं? यह सभी जन जानते हैं.. यह गेहूँ, चना, जौ इस खेती में बोते हैं, कितनी मेहनत करनी पड़ती है लोगों को बेचारों को। यह कहते हैं, देखो।

एड़ी से चोटी तक पसीना बहाना पड़ता है। अकेले कपड़े छोड़ दिये हों, चैत्र महीने की (धूप) हो। यह बोवे और यह (फसल) काटे, आहाहा! ऐसी गर्मी। बनिया हो तो भी वहाँ दुकान पर बैठना पड़े। अरे! परन्तु यह कपड़ा सम्हलता नहीं। परन्तु यह सब धन्धा, इसमें उघाड़े किस प्रकार बैठना? सभी महिलायें आयी हैं, ऐसा दुःख सहन करके भी कमाने बैठता है। वहाँ होली सुलगती है, तुझे दुःख की (होली) है, देख तो सही।

मुमुक्षु : करना क्या इसका उपाय क्या?

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका उपाय आत्मा की दृष्टि कर, दूसरे पुण्य-पाप की तृष्णा और रुचि छोड़, भोग-उपभोग की रुचि छोड़, कमाने की रुचि छोड़, आत्मा की दृष्टि कर। तुझे इसके अतिरिक्त शान्ति तीन काल में (होगी नहीं)। आहा..हा..! इसके लिए तो यह उपदेश करते हैं। समझ में आया?

अन्नादिक भोग्य द्रव्यों के पैदा करने के लिये.. एक मकान बनाना हो तो देखो न कितनी खबर पड़ती है? क्यों चिमनभाई! कैसे मुँह काला हो गया था, लो! धूप में खड़े रहना पड़े, वहाँ कोई सिर पर छतरी लेकर खड़ा रहा जाये? ऐ मोहनभाई! मकान बनाना

हो, वहाँ खड़े रहना पड़े। वह कहीं वापस ऐसे जाये, ऐसे देखना पड़े, ऐसे देखना मानो कोई फिर ऐसे कह जायेगा, कोई ऐसे ले जायेगा अथवा यहीं कहीं बैठा होगा। उस ओर दीवार के सहारे बैठा रहता होगा, काम नहीं करता होगा। आधे घण्टे वहाँ जाना पड़े। ऐसे से ऐसे... ऐई! उसमें अभी की यह सब बदल गयी है। आहा..हा..! दाडिया और कारीगर और.... वह तो जरा सी निवृत्ति मिले तो बैठे ही हों। और फिर सेठ आवे तो फिर खड़े होकर शुरु करे। ऐई! कहते हैं कि वहाँ भी चिन्ता है, बापू! इस मकान चुनाने में चिन्ता है। भोग्य-यह मकान भोग का स्थान है न? कपड़े बनाने में...।

मुमुक्षु : बाँहे से (पीछे से) सुख है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह धूल में पीछे से सुख नहीं है, यह कहते हैं। पहले दुःख है, पीछे से दुःख है, ऐसा यहाँ कहते हैं। यह तो बताते हैं दुःख है। आत्मा में आनन्द है, भाई! आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। उसकी दृष्टि कर और उसका ज्ञान कर, उसमें आनन्द है, उसमें धर्म है; उसके अतिरिक्त कहीं आनन्द और सुख नहीं है। मर जाये, सूख जाये तो कुछ है नहीं, ऐसा कहते हैं। आहा..हा..!

मुमुक्षु :घर का घर में नहीं होवे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ भी फिर होली है। यह तो पहले कह गये। खाने-पीने के समय पहली तृष्णा, अतृप्ति और अन्त में छोड़ना कठिन-तीन बोल तो कह गये। बाद की बात, यह तो पहले की बात की, वह बाद की बात की। समझ में आया ? पूज्यपादस्वामी ने जगत के सब पहलू देखकर (बात की है)।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, उसमें है न! यह सब भरा हुआ है। अन्नादिक भोग्य द्रव्यों के पैदा करने के लिये खेती करने में.. खेती करने में, दुकान में बैठने इत्यादि में, उसे सम्हालने में एड़ी से चोटी तक पसीना बहाना.. कितना किया है यह तुम्हारे पिता ने ? अभी तक मजदूरी की है या नहीं सब ? उघाड़े शरीर, यह और यह... मजदूरी की तो भी कुछ पैसे इकट्ठे हुए नहीं। तुम्हारी बात करते हैं वासुदेव की। कहा, अभी तक बहुत मेहनत की पाप की, पाप के लिये, कमाने के लिये, यह इकट्ठा करने के लिये बहुत किया परन्तु

हुआ नहीं कुछ। यह यहाँ कहते हैं। पाप, पाप और पाप। कमाना पाप, लड़के के लिये पाप, स्त्री के लिये पाप, पैसा इकट्ठा करूँ, इज्जत के लिये पाप और पाप किये। कहते हैं। धर्म तो नहीं किया परन्तु पुण्य भी नहीं किया, ऐसा कहते हैं। आहा..हा..! एक-एक बात ली है, हों!

मुमुक्षु : स्वर्ग में जाये तो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं नरक में जाये। यह कहेंगे। यह तो ऐसा कि पैसा भी नहीं हुआ और नया पाप बाँधा। उसको तो पाप से पैसा हुआ, इतना तो वह मानता है, ऐसा। ऐई! वासुदेव! निकाला या नहीं? उसने तो पाप किया, पैसा तो पुण्य के कारण हुआ परन्तु यहाँ तो पाप किया और पैसा भी नहीं हुआ और सुगति भी नहीं हुई, कुछ नहीं हुआ। ऐ.. यह यहाँ कहते हैं।

पूज्यपादस्वामी इसमें कहते हैं कि शुरुआत कमाने में पाप, भोगने में पाप। सर्वत्र दुःख, दुःख और दुःख है। अन्नादिक भोग्य द्रव्यों के.. लक्ष्मी और अन्न, मकान, यह विवाह करना हो तो गरीब मनुष्य को कितनी मेहनत करनी पड़ती है, देखा? एक स्त्री के लिये कितना... समझे न? ऐसा कुछ बोलते हैं, भाषा कुछ बोलते हैं। कितना करे! ऐसी सब कुछ भाषा है। एक लाना हो तो ऐसा कितना सब खोना पड़े। ऐसी कुछ भाषा है, सुनी होगी, अभी मस्तिष्क में याद रह गयी। 'एक आवे बहू तो बेचाये सहू' ऐसा कहते हैं, लो! अब और याद आया। और यह तो सुना हुआ हो न पूर्व में, कोई बहुत वर्ष की बात हो। यह तो ५०-६० वर्ष पहले सुनी हुई होगी, परन्तु यह बात मस्तिष्क में आ गयी। ऐसा बोलते थे पहले, हों! 'एक आवे बहू तो बेचाये सहू' ऐसा कहते थे। हाँ, हाँ कहते, हों! यह तो सुनी हुई बात है। यह याद नहीं आता था परन्तु याद करा दी। एक बहू के लिये तो कितनी तड़फड़ मारता है, कितनों की सिफारिश करता है, ऐसा भाई! हमारे एक लड़का अच्छा है, हों! ऐसा है, वैसा है, फलाना है, अमुक है। आहा..हा..! उसमें फेर में या शरीर में कुछ कमी हो और उसका विवाह करना हो...

मुमुक्षु : अच्छे घर की बहू तो पचास-पचास हजार लावे।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह लावे तो भी दुःखदायक है, यह कहते हैं। पाप है।

मुमुक्षु : पहले बेचते थे अब तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अभी ऐसा बहुतों को है बेचारे को । एक बहू के लिये तो पूरी कठिनाई पड़े । हम तो सब कितने दृष्टान्त तुमको दें ? यहाँ तो सब देखा है न ! एक स्त्री के लिये बेचारा गरीब मनुष्य हो साधारण, अरे ! रीतसर ठीक हो । पचास-पचास हजार की, लाख की पूँजी हो, शरीर में कुछ साधारण हो और किसी को खबर पड़ गयी हो, अब करना क्या ? गुप्त-गुप्त हो जाये तो दिक्कत नहीं ।

एड़ी से चोटी तक पसीना बहाना.. लड़की लाने को, कन्या लाने को, ऐसा कहते हैं । दुकान में तो निवृत्त थे न ! धन्धा-बन्धा अपने घर का, हमने सब जाना था । मगनभाई ! दुकान घर की थी, हमारे पिताजी थे और घर की दुकान, इसलिए हमें काम कुछ ऐसा नहीं, सब देखते । बहुतों का देखा है । आहा..हा.. ! गजब भाई ! दृष्टान्त दिया, हों !

दुःसह क्लेश हुआ करते हैं। लो ! अरे ! पैसेवाले को एक कन्या विवाहनी हो तो कितना हो विचारो तो सही, पूछो तो सही, खबर पड़े । उसमें कुछ काली हो, थोड़ी सलोनी न हो और उसे अभी के लड़के से विवाहना, अरे ! पसीना उतर जाये । ऐई ! हमें खबर है या नहीं सब ? जरा सी काली हो और जरा सा शरीर में अन्तर हो या तो बहुत लम्बी हो या बहुत ठिगनी हो, उसे विवाहना हो और ये लड़के अभी के पास करें, मर जाना पड़े बेचारे को । सिफारिश करे । रामजीभाई के पास जाये, अमुक के पास जाये, हमारी किसी से सिफारिश करो । क्यों भगवानभाई -ऐसा होता है या नहीं ? हाँ, हाँ, हाँ, परन्तु हमें तो सब खबर है न एक-एक बात की खबर है । जहाँ डग किसके भरते हैं, किस प्रकार (भरते हैं), सबकी खबर है ।

यहाँ तो कहते हैं कि यह भोग की अनुकूलता... यह कन्या है, उसे विवाह करने में अनुकूल लेने जाये, वहाँ ऐसे चोटी तक पसीना उतरता हो, खाना भावे नहीं । समझ में आया ? आहा..हा.. ! एक तो रवारी का लड़का छोटा, अभी तो दो वर्ष का हुआ, दो वर्ष का, वहाँ उसकी माँ को चिन्ता । यदि अभी से सगाई नहीं आवे तो बड़ी उम्र में कठिनाई पड़ेगी । समझ में आया ? ऐई ! हमारे हिम्मतभाई को यह खबर है । अभी तो दो वर्ष का हुआ नहीं । समझ न ? अभी से नहीं, मँगनी नहीं हो, सगाई कहीं कर दें... क्या कहलाता है ?

....ऐसा कहते हैं न ? क्या कहा जाता है ? नोंध दो, दूसरी भाषा कहते हैं । चौपड़ा होगा तो कुछ काम आयेगा कहीं । कुछ कहते अवश्य हैं, परन्तु वह भाषा याद नहीं है । अनिच्छा के शामिल किया होगा, सगाई में घसीटा होगा तो कुछ होगा । फिर बड़ी उम्र में उन लोगों को बड़ी मुश्किल पड़ती है । पन्द्रह-बीस वर्ष का हो, फिर भारी मुश्किल । यह सब सिर पर दुःख है, कहते हैं । भोग प्राप्त करने में जाये, वहाँ भोग के लिये शुरुआत में ऐसे दुःख भोगे । इसलिए छोड़ होली । भोग में सुख नहीं है, पैसे में सुखी नहीं है । सुख तो आत्मा में ले । यह आत्मा में आनन्द है, वहाँ श्रद्धा और ज्ञान कर, वह करनेयोग्य है । विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. १४

गाथा-१७

मंगलवार, दिनाङ्क २९-०३-१९६६

चैत्र शुक्ला ७,

वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश १७वीं गाथा । शिष्य का प्रश्न था कि इस आत्मा को ये बाह्य पंचेन्द्रिय के भोग हैं, वे तो हमें सुख का साधन हों तो उसके लिये लक्ष्मी भी साधन है, तो लक्ष्मी को इतनी तो प्रशंसनीय कहो कि इतने भोग के साधन मिलते हैं । यह अज्ञानी की मिथ्यादृष्टि छुड़ाने के लिये यह प्रश्न है । अज्ञानी पैसे से सुख मानता है, वह मूढ़ मिथ्यादृष्टि है और पैसे से प्राप्त हुए भोग, उनमें भोग में सुख मानता है, वह भी मिथ्यादृष्टि का महान पाप है । वह मिथ्यादृष्टिपना छुड़ाने को यह बात करते हैं । समझ में आया ? (किसी को ऐसा लगे कि) ऐसी बात क्या ? यह पुण्य ऐसा और अमुक ऐसा और अमुक ऐसा ? पुण्य से पैसा मिले और पैसे से साधन मिलते हैं, उसमें से कुछ है या नहीं ? परन्तु पैसा कमाने का भाव ही पाप है और उसे लाभ मानना, वह मिथ्यात्व है । यह पैसा कमाने से लाभ होता है, ऐसा मानना, वह मिथ्यात्वभाव है । समझ में आया ?

पैसा परद्रव्य है । परद्रव्य मुझे मिले तो मुझे ठीक पड़े, यह भाव ही अत्यन्त पाखण्ड मिथ्यात्वभाव है । मिथ्यात्व का (पाप है) वह पाप छुड़ाने के लिये बात करते हैं । समझ में आया ? और इन्द्रियों के विषय भोगने में पाप है, पाप है, उसमें दुःख है । उसे मानता है

कि यह मुझे ठीक है। इन इन्द्रियों के भोग में पाप है। सुखबुद्धि मानता है, वह मिथ्यात्वभाव है। उस मिथ्यात्वभाव को छुड़ाना चाहते हैं। समझ में आया ?

कल प्रश्न किया था कि कहाँ गये, धर्मचन्दभाई नहीं आये ? धर्मचन्दभाई मास्टर। अभी विद्यालय (गये होंगे)। सबेरे का विद्यालय है। वह उनका लड़का आया था न ? किरीट। वह कहता था कि यह सब बातें (होती हैं)। परन्तु अपने तो आत्मा की बात चलती है। उसमें यह (क्या) ? यह आत्मा की कही है, भाई ! तुझे खबर नहीं। इसमें आत्मा की कहीं बात ऐसी कि आत्मा का धर्म कैसे हो, ऐसा तो आया नहीं, ऐसा। कहा, आत्मा को इस प्रकार अनादि से मिथ्यादृष्टि का अधर्म होता है, वह बताकर फिर आत्मा में धर्म कैसे हो, यह बतायेंगे। समझ में आया ? यह पैसा कमाने का भाव, वह पाप है और उसमें ठीक मानता है, हम कमाते हैं, यह मिथ्यात्वभाव महा मिथ्यात्व का बड़ा पाप है। समझ में आया ? इसके लिये यह बात करते हैं। आत्मा की ही बात है।

आत्मा में अन्तर आत्मा में आनन्द है और आनन्द का साधन, वह स्वयं आत्मा है। उसके बदले पैसे में सुख मानना, पैसे मिले, उसमें प्रसन्न होना, यह सब मिथ्यात्वभाव है। कहो, पोपटभाई ! और आयुष्य कम हो जाता है और हम बढ़ते हैं, यह मिथ्यात्वभाव है। तू किसमें बढ़ा ? मनुष्य का काल घटता जाता है और इस लक्ष्मी में हम यह तो बढ़े न ? लड़के में बढ़े, ब्याज में बढ़े, पैसे में (बढ़े) क्या बढ़ा तुझे ? मिथ्यात्वभाव में बढ़ा। मिथ्यात्व महाविपरीत मान्यता तुझे हुई कि यह बढ़ा, इसलिए मैं बढ़ा। मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है - ऐसा कहते हैं। पोपटभाई !

मुमुक्षु : मिथ्यात्व का मूल गहरा बहुत।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यात्व का मूल गहरा है, उसका अर्थ यह आत्मा द्रव्य के अतिरिक्त कोई भी परद्रव्य, एक रजकण भी मुझे सुखदायक है या दुःखदायक है, यह मान्यता ही अत्यन्त पाखण्ड और मिथ्यात्व की है। इसके लिये यह विषय लिया है। यह इष्टोपदेश है। समझ में आया ? अथवा पैसा है तो अपने दान करेंगे। पैसा तो परद्रव्य है। समझ में आया ? उसमें दान आदि करूँगा तो धर्म होगा, यह वस्तु कहाँ है ? धर्म ऐसे होता नहीं। पहले से पैसा कमायेंगे, फिर अपने दान करेंगे। यह तो पहले पाप करना और फिर पुण्य करेंगे। धर्म तो कहीं दोनों में नहीं है। समझ में आया ? इसके लिये यह समझाते हैं।

आचार्य पूज्यपादस्वामी हैं। जंगल में वनवासी थे। एक-एक लाईन कहीं मुफ्त में नहीं रखी। समझ में आया? शरीर की अनुकूलता हो तो ठीक पड़े। यह परद्रव्य की अनुकूलता से ठीक पड़ेगा? तू मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है; और शरीर आदि में रोग आदि हो तो मुझे ठीक नहीं पड़ेगा, मूढ़ है। परद्रव्य के साथ ठीक न पड़े, ऐसा कहाँ से लाया? यह मिथ्यादृष्टि का मिथ्यात्वभाव है। समझ में आया?

पुत्र आदि अनुकूल हों, स्त्री आदि अनुकूल हों, अपनी सेवा करे। किसकी करे? धूल की करे। समझ में आया? तेरी मान्यता में बड़ा भ्रम घुस गया है। भ्रमणा का पाप बड़ा अनन्त गुना है। यह सब होवे तो मुझे ठीक पड़े, रोग के समय सम्हाल करे, मुझे समाधान रहे। ऐसे समाधान रहेगा? समाधान आत्मा का ज्ञान करने से समाधान होगा। उसके बदले कहता है कि ऐसा सब होवे तो मुझे समाधान होगा। तेरी दृष्टि में मिथ्यात्वभाव है। ऐसा कहना चाहते हैं। समझ में आया? पोपटभाई! आहा..!

यह लड़का कल दोपहर को बारह बजे गया। दस बजे यहाँ आहार करके घूमते हैं और कोई फुर्सतवाला मिल जाये साथ में। वह कहे, परन्तु इसमें आत्मा की बात नहीं आयी। यह बात क्यों आयी? बाहर की यह पैसे की और इसकी और उसकी (आयी)। परन्तु यह पैसा कमाना, उसमें मुझे ठीक है, यह मान्यता ही मिथ्यादृष्टि की है। पैसा कहाँ धूल तेरी थी कि तू कमाये तो तुझे सुख हो और तेरे भाव से वह कमाया जा सकता है? और मैं कमा सका, यह मान्यता मिथ्यात्व है। पूर्व के पुण्य के कारण मिली, तथापि मेरे पुरुषार्थ के कारण मिली, (ऐसा मानता है तो) मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। कहो, मोहनभाई! आहा..हा..!

यहाँ यह बात करते हैं। वे सब बोल जो गये, तब अन्तिम प्रश्न यह (किया) कि परन्तु अब लक्ष्मी को इतनी तो ठीक कहो कि जिससे अच्छे भोग आदि साधन मिलें और उनमें भोग का सुख तो मिले न? भोग का सुख तो मिले न? पंच इन्द्रिय के विषय, शब्द, रूप, रस, गन्ध, यह पलंग, यह पंखा, यह मखमल, यह लड्डू, यह मौसम्बी, यह चैत्र की (धूप) होवे तो पानी उड़े दोपहर में बारह बजे, वह सब धन होवे तो मिले और उसमें कुछ सुख है या नहीं? धूल में भी सुख नहीं। कहाँ तू मानकर बैठा? बाहर के साधन में सुख है? मिथ्यादृष्टि तेरा भाव मिथ्यात्व है। आत्मा की श्रद्धा से विरोधी बैरी है तू, ऐसा कहते हैं। जमुभाई! आहा..हा..! देखो!

भोगोपभोग कमाये जाने के समय,.. पहली लाईन। तू कहता है कि पैसे से भोगोपभोग मिलेगा तो इतना तो पैसे को ठीक कहो, परद्रव्य को ठीक कहो। परद्रव्य में ठीक था ? मूढ़ ! आत्मा आनन्दस्वरूप है। उसमें सुख की खान वहाँ है, उसकी श्रद्धा कर। छोड़ दे यह सब श्रद्धा, पर में मुझे सुख होता है और पर के कारण मुझे दुःख होता है, (यह) मान्यता छोड़। इसका नाम यह इष्टोपदेश है। समझ में आया ? भाई ! कुछ साधन-बाधन अच्छा हो, ठीक होवे तो निवृत्ति (ली जाये), पैसेवाले होवें, लड़के कमाते हों तो निश्चिन्तता से बैठे, तो धर्मध्यान हो। तुझे दृष्टि में मिथ्यात्व का भ्रम है, कहते हैं। बाहर के साधन हो तो निवृत्ति ली जाये और धर्म हो, ऐसा तुझे कहा किसने ? ऐसा वस्तु के स्वरूप में है ही कहाँ ? समझ में आया ?

बाहर के साधन तो अनन्त बार अनुकूल मिले। उसके साथ क्या साधन है ? अनुकूल कहना किसे ? समझ में आया ? कि इतना कुछ ठीक होवे और इतना कुछ ठीक होवे... मूढ़ है, कहते हैं कि इतना ठीक। यहाँ ठीक होवे या यहाँ ठीक होवे ? इसके लिये यह उपदेश है, इष्टोपदेश। समझ में आया ? उस लड़के ने कल कहा और फिर मैंने कहा... इस पैसे से ऐसा कमाया जाये और अमुक ऐसा हो और पैसे की ही बात आयी, यह सब ऐसी ही आयी। पैसा कमाना, कमाना, अमुक ऐसी बात किसलिए करते हैं ? परन्तु उसमें हेतु है। तू चौबीस घण्टे मथता है कि मैं ऐसे कमाऊँ, ऐसे कमाऊँ, ऐसे पैदा करूँ। यह तेरा भाव मिथ्यात्वभाव है, मिथ्यादृष्टि का भाव है। चारित्रदोष तो दूसरा, यह तो मिथ्यात्व का महान पाप है।

मुमुक्षु : तेरे दोष बताते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। पोपटभाई ! विपरीत माना है कि हम ऐसा कमायें और ऐसा करें। क्या कमाये ? धूल। पैसे तेरी इच्छा से मिलते होंगे ? और पुण्य से मिले, उसमें सुख माना कि यह ठीक (हुआ)। तेरी मूढ़ता है। आत्मा के स्वभाव में साधन शुद्ध है, उसे तू गिनता नहीं और इस साधन को गिनता है, यह तेरी विपरीतता, आत्मा से तेरी विपरीतबुद्धि है। वह बात है यह। समझ में आया ? कहो, रंगलालजी ! भाई ! दो-पाँच हजार रुपये हों, पाँच-पचास हजार आजीविका मिले, फिर निश्चिन्तता से करें। क्या है ? मूढ़ है, क्या है तुझे ?

मुमुक्षु : ब्याज मिलता रहे न!

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु किसका ब्याज ? यह तेरा ब्याज चढ़ता है मिथ्यात्व का बढ़ा। ऐसा होवे तो मुझे ठीक पड़े और फिर निश्चिन्तता से धर्मध्यान करूँगा, यह तेरी मान्यता सत्य है नहीं, ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया ? पहले जवानी में कमा लें, वृद्धावस्था में वह काम आयेगा। जब शरीर इन्द्रियाँ शिथिल पड़े, कोई कामकाज करनेवाला न हो, पैसा होवे तो काम आवे। यह महिलाएँ कितनी ही ऐसा ढोंग करे। कुछ न हो तो अन्दर सन्दूक में रखे। बहू को ऐसा लगे, कुछ लगता है बाईजी के पास। इसलिए फिर सेवा करे या ऐसा करे। महामिथ्यादृष्टि मूढ़ है। बाहर के ऐसे दिखाव खोटा रखे और दूसरे सेवा करेंगे, सेवा करे उसमें आत्मा को क्या लाभ है ? समझ में आया ? आहा..हा.. ! वृद्ध होवें न कितने ही ? खाली सन्दूक हो, पत्थर रखे हों बड़े-बड़े और ताला लगाकर रखा हो। बहुओं को मोह हो। बाबूजी के पास, ससुरजी के पास कुछ है, अपन सेवा करो। यह भी मूढ़ हैं। मिथ्यात्वभाव, ऐसी भ्रमणा करके तुझे वह सुख देगी, सेवा करेगी। वे भी मिथ्यादृष्टि मूढ़ है। उनके पास कुछ है, अपने को बाद में देंगे। मर जाने के बाद खोला तो मात्र पत्थर। पहले जाना था कि कुछ है सन्दूक में, कुछ है बापूजी के पास, उस सन्दूक को कोई छूना नहीं, हों ! एक चाबी मेरे पास रखना। कुछ लगता है उसमें। पाँच-पाँच सेर के आठ-दस पत्थर रखे हुए। मोहनभाई !

मुमुक्षु : वार्ता होगी न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; यह बना हुआ है। वार्ता होगी ? ऐसा एक ठग बराबर का ससुर था, वह मानो कि यह कुछ करता नहीं। कोई बहुएँ मेरे सामने देखती नहीं। एक-एक अलग होती जाती है। सब लड़के (गये), एक छोटा लड़का शामिल रहा, वह कौन जाने क्या करेगा यह ? दिखाव कर। ऐई ! इस संसार में तेरी दृष्टि में विपरीतता किस प्रकार पोसाती है, उसका यह उपदेश है। समझ में आया ? ठीक होगा या नहीं। चिमनभाई ! आहा..हा.. !

मुमुक्षु : पर में....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह कहते हैं यहाँ। कुछ भी मेरे सिवाय पर में कुछ भी ठीक

है, मूढ़ मिथ्यादृष्टि है, कहते हैं। स्वद्रव्य के अतिरिक्त परद्रव्य से कुछ भी ठीक है, कुछ भी मजा आता है—महामूढ़ता, तेरे आत्मा के स्वभाव की विपरीत मान्यता है। और इस आत्मा के अतिरिक्त विपरीत भाव मैं राग करूँ तो दुःख होगा, (ऐसा नहीं मानता) इसके अतिरिक्त परचीज मुझे दुःख का कारण है, परचीज मुझे अहितकर है, मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया ? मोहनभाई ! यह शरीर काम नहीं करे। भाई ! हमने तो पहले किया था। दोनों प्रकार से मूढ़ है, कहते हैं। पहले शरीर से काम हुए थे, वह तूने नहीं किये थे। वे परद्रव्य के काम मैं कर सकता हूँ, कर सकता था, (यह) अत्यन्त मिथ्यात्व, जड़ को चैतन्य माननेवाला मिथ्यादृष्टि है और अभी भी शरीर मेरा प्रसन्न हो तो मैं कर सकता और अब मैं नहीं (कर सकता), अब मेरे हाथ नीचे पड़े, कमर टूट गयी। कहते हैं न कितने ही ? अब नहीं हो सकता। वह भी मूढ़ है। जड़ से कब होता था ? वह तो मिट्टी की अवस्था है। शरीर की अवस्था शरीर के कारण होती है। आत्मा से होती होगी ? समझ में आया ?

मुमुक्षु : कल दोपहर की बात में और अभी की बात में बहुत अन्तर लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके लिये ही यहाँ कहते हैं कि पर से मिथ्या मान्यता भ्रमणा को छोड़। आत्मा में आनन्द है, वहाँ दृष्टि कर। ऐसा है यहाँ ? उसे इस प्रकार से भास हुए बिना पर से हटेगा कैसे ? समझ में आया ? पर में कहीं सुख नहीं है, पुण्य के परिणाम में सुख नहीं है, पाप के परिणाम में सुख नहीं है, बाहर की चीज में सुख नहीं है। शरीर की निरोगता में सुख नहीं है, शरीर के रोग में दुःख नहीं है, निर्धनता वह दुःख नहीं है, सधनता वह सुख नहीं है। ऐसी मान्यता बराबर हुए बिना पर से हटकर अन्तर में कैसे जायेगा ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? अन्तर में लो ! आत्मा आत्मा (करे), परन्तु किस प्रकार जायेगा ? यह वस्तु बिल्कुल मुझे लाभदायक नहीं है। शुभराग का एक विकल्प उठे, वह भी मुझे सुखरूप नहीं है। नया पुण्य का भाव। समझ में आया ? तो पूर्व का पुण्य और पैसा तो धूल कहीं रह गयी। आहा..हा.. ! कहो, कामदार ! क्या है इसमें ? बहुतों को ऐसा होता है कि अपने लड़के बराबर पहुँच गये हैं। एक लड़का मुम्बई और एक लड़का राणपुर, और एक इन्दौर है। तीन-तीन कमावें, इसलिए निश्चिन्तता से बैठा जा सकता है। ऐसा होगा यहाँ ! ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : वे तो अब कमाने लगे, पहले कहाँ कमाते थे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यहाँ कुछ करते थे न ? वहाँ राणपुर । परन्तु क्या है ? किसे कमाना कहना ? कहते हैं कि तुझे मिथ्यात्व के पाप का नुकसान होता है और तू कमाया ऐसा कहता है, तेरी दृष्टि में बड़ा अन्तर है । तेरे माप में-दृष्टि में अन्तर है । समझ में आया ? कहते हैं कि हमें पाँच लाख इस वर्ष में मिले । क्या मिला तुझे ? मिथ्यात्व मिला, महापाप-पाखण्ड मिला । क्या ? मिथ्यात्व का पाखण्ड तुझे मिला और तू कहता है कि मुझे पाँच लाख मिले । मूढ़ है । ऐसी दृष्टि कहाँ से लाया ? हमने कमाया । हार गया है, उसमें कमाना कहाँ से आया ? आहाहा ! पाँच लाख में एक तो तेरा पूर्व का पुण्य जल गया और आया, वह मुझे ठीक पड़ा, ऐसी तेरी मान्यता महामिथ्यात्व का अनन्त संसार बढ़ावे, ऐसी मिथ्यादृष्टि है । कहो, चिमनभाई ! क्या करना इसमें ? गजब बात, भाई ! यह तो जरा लड़के ने पूछा, इसका सब चला थोड़ा, हों ! किरीट लड़का नहीं था एक ? यहाँ पहले पढ़ता था न ? वह कल यहाँ (आया था) । व्याख्यान के (बाद) आहार करके घूमते थे । अकेला आया । किसी समय होवे न ! थोड़े से पाठशाला गये हों, कल तो सोमवार था (वह कहता है) इसमें ऐसा उपदेश किया, उसमें आत्मा की बात दोपहर में की, वह बहुत सरस आती है, लो ! अभी कहा नहीं ? ऐई ! इस दोपहर की बात की ही बात है । दोनों में कोई अन्तर नहीं है ।

यह आत्मा अनन्त आनन्द का कन्द अकेला है । उस पर दृष्टि देने से सब परद्रव्य मुझे हितकर कुछ है नहीं, ऐसा निर्णय करे तो स्व ऊपर द्रव्य में दृष्टि जाती है, उसके लिये यह बात है । समझ में आया ? आहाहा ! यह शरीर कुछ ठीक रहे । ऐसे बैठे, ऐसे रहे न ठीक से, ऐसे ठीक से ऐसा रहे तो ठीक - यह तेरी भ्रमणा है । शरीर तो जड़ है । कैसे रहेगा और कैसे बैठेगा, यह तेरा अधिकार है उसमें ? तू तो अरूपी ज्ञानघन भिन्न चीज है । समझ में आया ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो यहाँ कहते हैं कि भाई ! तुमने पैसे की बहुत निन्दा की, समझे न ? परन्तु पैसे से तो दान होता है, पूजा होती है, भक्ति होती है । दान होने के पहले पाप होवे, उसका क्या है ? फिर तो तुझे तृष्णा घटेगी या नहीं ? यह सब बढ़ेगा, इसलिए (तृष्णा घटेगी), ऐसा किसने कहा ? पुण्य के लिये भी ऐसा कहा है तो धर्म के लिये ? पैसा होवे तो क्या और लक्ष्मी होवे तो क्या ? दान दिया उसमें धर्म कहाँ हुआ ? वह तो परद्रव्य

है। समझ में आया ? करोड़ रुपये हुए और निन्यानवे लाख दे दिये। समझ में आया ? एक लाख रखे, भाई ! हमारे आजीविका के लिये। तुझे क्या हुआ ? परन्तु इसमें धर्म कहाँ है ?

मुमुक्षु : ऐसा करता कौन है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बात तो सत्य है। ऐसा कोई नहीं करता। उसका रखे न। महान कठिनाई से... करोड़ में एक लाख दे, वहाँ तो ऐसे बड़े हो-हल्ला करे। हमें दिया है भगवान ने, तो देते हैं। भगवान ने पैसा दिया होगा ? धूल तो उसके कारण आती है और उसके कारण से जाती है। धूल, रजकण, मिट्टी है। भगवान ने दिया.. वे कहते थे न, गिरधरभाई, नहीं ? वृद्ध। परमेश्वर ने दिया है तो खर्च करते हैं। बहुत खर्च करते थे। गिरधर मनसुख लीमड़ीवाले। नहीं ? दिशाश्रीमाली। यह तुम्हारे वृद्ध आते थे न ? यहाँ बैठते थे, सुनते अवश्य। यह तो पहिचाने नहीं तो सर्वत्र मुंढाया है, चारों ओर। सर्वत्र जा आये थे। कहो, समझ में आया ?

अरे ! भगवान ! इस आत्मा को लक्ष्मी दे कौन ? भगवान देते होंगे ? तेरे राग और कमाने के भाव से मिलते होंगे ? यह पूर्व के पुण्य के रजकण वे तेरे हैं कि उनसे तुझे मिले ? वे रजकण तो जड़ हैं। पूर्व के पुण्य के रजकण, वह मिट्टी-अजीव है। उससे मिले, वह किसे मिले ? मिले कहाँ ? कि यहाँ आये। वे तो उनके कारण से आये हैं। वास्तव में तो पूर्व के पुण्य के कारण भी आये नहीं हैं। एक-एक रजकण-मिट्टी स्वतन्त्र है। उसे आना होता है तो आते हैं और जाना होता है तो जाते हैं। उसके बदले कहे, मेरे पुण्य के कारण मिले हैं (तो) मूढ़ है, मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं। ऐई ! मेरे पुण्य के कारण मिले। पुण्य तेरा है ? जड़ तेरा है ? या तेरा आत्मा ज्ञानानन्द, वह तेरा है ? ऐई ! हमारे पुण्य के कारण मिले। पुण्य तेरा होगा ? जड़-रजकण मिले, वह मिट्टी है, वह तो अजीव है। पूर्व में बाँधा हुआ कर्म जो है, वह तो अजीव है। वह अजीव तेरा है ? ऐसा यहाँ कहते हैं। पागल हुआ, पागल ?

पुण्य का भाव वर्तमान दया, दान, भक्ति, व्रत का पुण्य का भाव करे तो वह शुभभाव है; वह धर्म नहीं है, तो फिर वह कहाँ से तुझे धर्म का साधन हो गया ? छगनभाई ! 'रण चढ़ा रजपूत छिपे नहीं' वह कहीं धर्म की दृष्टिवाला छुपता है ? कहते हैं। ऐसे पंगु की तरह चलने लगा। ऐसा करेंगे और इससे होगा और इससे होगा। धूल भी नहीं होगा मर जायेगा

तो भी। शरीर का सदुपयोग करते हैं। शरीर है और उसका सदुपयोग करेंगे, सेवा करेंगे, परोपकार करेंगे। भाई! जो हो, वह अपने वह करते हैं।

मुमुक्षु : हाँ परन्तु तन-मन और धन। किसी के पास धन हो...

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई तन से करे, कोई मन से करे, कोई धन से करे। मूढ़ है। तन, मन और धन परवस्तु है। परवस्तु से तुझे लाभ होता है? समझ में आया? शरीर अच्छा होवे तो बहुतों को काम आयें। किसे काम आवे? धूल। शरीर तो मिट्टी, जड़ है। तुझे काम आवे, ऐसा नहीं है। तुझे काम आवे ममता के लिये। समझ में आया? ममता करे तो निमित्त होता है।

भगवान आत्मा से निराले अनन्त पदार्थ कोई भी रजकण से लेकर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव परद्रव्य जीव को हित कर सके या उनसे अहित हो, यह मान्यता ही मिथ्यात्व है। आहाहा! समझ में आया? वह मिथ्यात्व छुड़ाने के लिये यह बात ली है। दोपहर को चलता है, वह सम्यग्दर्शन की सिद्धि। वह भी मिथ्यात्व छुड़ाने के लिये (कहते हैं)। ऐसे हटे तब, वहाँ जाये न! यहाँ रुचि और प्रेम रहे, तब तक वहाँ रुचि कैसे करेगा? पोपटभाई! आहाहा! लो! आधा घण्टा इसमें हुआ। वह किरीट बोला था न थोड़ा। मैंने कहा, बात सत्य है। यह स्पष्टीकरण आया नहीं। यह है तो आता है क्षण-क्षण में थोड़ा-थोड़ा।

यह आत्मा आनन्दमूर्ति अनन्त आनन्द की खान, अनन्त लक्ष्मी का सागर, इसके अन्तर रुचि और दृष्टि करना लाभदायक है। इसके अतिरिक्त किसी भी पुण्य के भाव से और पुण्य के फल से या लक्ष्मी से, शरीर अनुकूलता से आत्मा को लाभ हो, यह मान्यता अत्यन्त मिथ्यात्व का महा अधर्म पाप है। समझ में आया? सात व्यसन से भी यह मिथ्यात्व का महान पाप है। आहाहा! इसलिए यह बात करते हैं। समझ में आया या नहीं? जहाँ तहाँ यह मुझे ठीक और यह मुझे अठीक। ठीक-अठीक क्या? परवस्तु है तो ज्ञान में ज्ञेय है। जाननेयोग्य है, उसमें फिर ठीक-अठीक दो भाग कहाँ से किये तूने? समझ में आया?

मुमुक्षु : मिथ्यात्व सब पापों का बाप है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पाप ही है। दूसरा तो साधारण पाप अभी कहेंगे। शिष्य पूछेगा, आप कहते हो कि भोग भोगना नहीं। तत्त्वज्ञानी ने कितने ही भोग तो छोड़े नहीं और

आप कहते हो कि तत्त्वज्ञानी भोग को छोड़ दे। समझ में आया ? आप कहते हो, ज्ञानी है, वह भोग को छोड़ दे, भोग न भोगे परन्तु हमने तो ऐसा (देखा है) बहुत से समकिति हों और भोग भोगते हैं। तो यह क्या है ? सुन न ! भोग में सुखबुद्धि नहीं मानते और राग का जरा सा दोष है, तथा सुखबुद्धि है नहीं; इसलिए वास्तव में वे भोगते नहीं। यह तो तुझे भोग की बुद्धि में सुखबुद्धि है, इसलिए तुझे कहते हैं कि छोड़ बुद्धि। समझ में आया ? आहाहा ! ऐसा करके कोई बाहर स्त्री-पुत्र छोड़ दे, इसलिए भोग छोड़ा - ऐसा भी नहीं है। समझ में आया ? और नियम लिया कि लो ! अपने अब स्त्री को भोगना नहीं। ऐसा भी भोग का त्याग नहीं। उसमें होनेवाला राग, वह सुखरूप नहीं है; आत्मा आनन्दरूप है - ऐसी दृष्टि करके राग को छोड़े तब भोग को छोड़ा, ऐसा कहने में आता है। आहाहा ! समझ में आया इसमें ? लो ! इतना उपोद्घात आया।

भोगोपभोग कमाये जाने के समय,.. देखो ! एक तो बात कहते हैं, जब तू शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श कमाना चाहता है, तब शरीर, इन्द्रिय और मन को क्लेश पहुँचाने का कारण होते हैं। शरीर में क्लेश, मन में क्लेश-आकुलता। समझ में आया ? इन्द्रिय में भी क्षीणता। कमाने बैठा हो, वहाँ साथ-साथ ऐ ! पसीना उतरे, वह हो और यह सभी जन जानते हैं कि गेहूँ, चना, जौ आदि अन्नादिक भोग्य द्रव्यों के पैदा करने के लिए खेती करने में एड़ी से चोटी तक पसीना बहाना आदि दुःसह क्लेश हुआ करते हैं। बनिये को दुकान में बैठना पड़ता है और बड़ा... ऐसे बैठे दो-दो घण्टे। भिखारिन जैसी हो, चार आने का... ऐ बहिन ! क्या लेने आये ? लो ! ठीक ! भिखारी है या नहीं ? एक बर्तन लेने आया हो कोई पाँच रुपये का। चार आने की कमायी हो या आठ आना कदाचित्, लो न ! बहिन ! क्या लेने आयी हो ? आओ, आओ। ओहोहो ! गजब भाई ! ऐई ! भिखारीपना है। लोभ का भिखारीपना। वह ग्वालिन वहाँ दस्त करके पानी भी न लेती हो और यहाँ आवे (तो कहे), बेन क्या आये ? आओ.. आओ.. आओ.. आओ.. कहो ! ऐसे के ऐसे भिखारीवत् को कहे, हम होशियार हैं। हम दुकान पर बैठें और बराबर व्यापार करते हैं और कमाते आना चाहिए, कला चाहिए। पोपटभाई ! है न वह कुँवरजीभाई की दुकान तो बहुत बड़ी, परन्तु चिमनी लेने आयी हो तो कहे, आओ.. आओ.. बहिन ! आओ। चिमनी में तो दो पैसा, चार पैसा की कमायी हो। क्यों फावाभाई ! उसे भी बर्तन में क्या हो ? कोई साधारण

निकली कोलीन को कुछ दो रुपये का तपेला चाहिए हो। आओ.. आओ। इतनी दीनता! कमाने में इतनी तो तुझे दीनता है और तू कहता है कि मैं कुछ कमाता हूँ, हम सुखी हैं। धूल है सुख, ऐसा कहते हैं। पोपटभाई!

मुमुक्षु : ग्राहक....

पूज्य गुरुदेवश्री : अच्छा है, धूल में अच्छा है परन्तु वह तो पुण्य बिना होगा ? और पुण्य से हो, उसमें जीव को क्या ? आत्मा को क्या लाभ ? समझ में आया ? उसमें आत्मा को क्या लाभ हुआ। वह मिला, वह रजकण है। मुझे मिला, यह मान्यता पाप है। उसमें तुझे लाभ क्या हुआ ? नुकसान हुआ। आहाहा! गजब भाई!

चोटी तक पसीना बहाना आदि दुःसह क्लेश हुआ करते हैं। सब निभाव करना स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, लड़का-लड़की कमजोर पतले हों, लड़के-लड़कियों को विदा करना, उन्हें एकान्त में बातें करना, किसी का कुछ करना... समझ में आया ? इस सब क्लेश का पार नहीं होता और तू कहता है कि मुझे भोग में सुख है। कहाँ से लाया ? पोपटभाई! एड़ी से चोटी तक... हों!

कदाचित् यह कहो कि भोगे जा रहे भोगोपभोग तो सुख के कारण होते हैं। अरे! बाद में तो हमें सुख होता है ? पहले भले कमाने में, इकट्ठा करते समय भले हम दुःखी होवें, परन्तु बाद में तो सुख होता है न! खाने-पीने में, निश्चिन्तता से बँगले में बैठना, पचास लाख रुपये, आहाहा! झूले में झूलना, सोने का पंखा डालते हों। समझ में आया ? तो उस समय तो सुख होता है न! ऐसे चूरमे के लड्डू पड़े हों, स्त्री खाने बैठी हो साथ में, पंखा चलाकर मक्खी उड़ाती हो, दाल में न पड़े...

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री :ऊपर रह गयी परन्तु नीचे ? मक्खी गिरे उसका क्या करना ? समझ में आया न ? वह वृद्ध खाते थे। हमने तो सब देखा हुआ है न! एक-एक, हों! बेचारी स्त्री ऐसे बैठे। दिखे नहीं। स्त्री बैठी हों। दाल में, कढ़ी में (कुछ) न गिरे, इसलिए बैठे। वह देखता हो परन्तु खाने में ध्यान हो और उसमें न गिर जाये इसलिए, हों! उसे ऐसा लगता है कि आहाहा! खाने में भी कितनी.. मूढ़ है। भ्रमणा मानकर, यह मेरी सेवा करती है। कौन

है ? वह तो परद्रव्य है। वह किसकी सेवा करे ? समझ में आया ? यहाँ तो सब अंकों का हिसाब लिया जाता है, भाई !

कहते हैं कि भले हमारे कमाने के समय जरा क्लेश (होता है) परन्तु फिर तो भोगोपभोग में खाने-पीने का सुख का कारण होता है न ! इसके लिये यह कहना है कि इन्द्रियों के द्वारा सम्बन्ध होने पर वे अतृप्ति अर्थात् बढ़ी हुई तृष्णा के कारण होते हैं, .. लो ! इन भोगों के समय तृष्णा बढ़ेगी, उसमें भी दुःख है। भोगते-भोगते कभी तृप्ति नहीं होगी। पाँच लाख मिले, दस लाख; दस लाख मिले तो पच्चीस लाख; पच्चीस लाख तो पचास लाख। अच्छी कन्या एक जगह जहाँ विवाही, वहाँ दूसरी कन्या को अच्छी जगह बढ़िया जगह विवाहाना। होली सुलगेगी, तृष्णा... सुख है नहीं। कहो, समझ में आया ? दाह होती। अरे ! बड़े भाई का लड़का बहुत अच्छी जगह विवाहित हुआ, हों ! और मेरा लड़का अच्छा होशियार परन्तु अच्छी कन्या मिली नहीं। बहुत छटपटाहट की। मूढ़ है। ऐसा होता है या नहीं ? हाँ। अरे ! जल जाये। छोटा भाई होवे और पाँच लाख की पूँजी हो और लड़का होशियार हो तो कहीं करोड़पति मिल जाये, करोड़पति। और वहाँ भी लड़का न हो तथा एक ही लड़की हो तो कल सवेरे उसका पिता-ससुरा मर जायेगा तो करोड़ यहाँ आयेंगे। ऐसा होता है। दस लाख अभी दिये और फिर नब्बे लाख बाद में आनेवाले हैं। अस्सी वर्ष का वृद्ध है इसका पिता। आहा ! छोटा भाई तो नाराज। किसका नाराज ? मूढ़ ! तेरी गिनती खोटी है। समझ में आया ? छगनभाई ! मिथ्यात्वभाव को पोषण करता है और तू गिनती ऐसी करता है उसे ? उसे मिला और उसे मिला, वह भी दुःखी है, उस मिथ्यात्वभाव से। और तू उसे सुखी मानता है। तेरी कल्पना कैसी ? समझ में आया ?

मुमुक्षु : पूरी गणित उल्टी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म की दृष्टि और पाप की दृष्टि की गिनती में ही अन्तर है, इसलिए तो यह बात चलती है। आहाहा ! भाई ! तेरा सुख तो आत्मा में है न ! भाई ! एक रजकण और पुण्य के परिणाम की भी जिसे जरूरत नहीं है। आहाहा ! तेरे आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग परमेश्वर फरमाते हैं, हम अतीन्द्रिय आनन्द को-पूर्ण को अनुभव करते हैं। वह अतीन्द्रिय आनन्द हमारे आत्मा में से आया है, कहीं बाहर से नहीं आया, तो तुझसे कहते हैं कि उसमें (आत्मा में) अतीन्द्रिय

आनन्द है। देख, देख अन्दर! इस ओर से दृष्टि बदल दे। कहीं सुखरूप और दुःखरूप (नहीं है), दृष्टि बदल दे। कहीं पर में सुख-दुःख नहीं है। उसके लिये यह सब बात चलती है। बाहर से इसे निवृत्त कराने के लिये (बात चलती है)। समझ में आया? दृष्टि में से निवृत्त करने को, हों! वैसे तो निवृत्त ही है न! दृष्टि में तो यहाँ होगा और ऐसा होगा और फिर ऐसा होगा, अमुक ऐसा होगा, अमुक ऐसा होगा। अरे! भाई! कुछ आबरू-बाबरू... यह जीव्या क्या कहते हैं? जशजानगरो। बापू! यश मिलना, वह कहीं कम बात है? आहाहा! जिसका जीवन सफल हुआ। मूढ़ है, मरकर जायेगा नरक में। अब सुन न! यश किसका तेरा यश? सोजिश है बड़ी। समझ में आया? इज्जत प्राप्त करना। कुछ नहीं था हमारे पिता के पास में और यह बाहुबल से कमाकर सब इकट्ठा किया। विवाह किया, लड़के-लड़कियाँ, मकान सब हमने किया है, लो! समझ में आया?

मुमुक्षु : यह बात तो सच्ची है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। यह बात झूठ है। वे तो उनके कारण से चीज़ें आयी हैं। तेरे कारण से आयी है? आहाहा!

कहते हैं, उन्हें प्राप्त करने के समय भी क्लेश है, भोगने के समय अतृप्ति है। भोगने के समय तृप्ति होगी ही नहीं। यह करूँ, यह करूँ, यह करूँ, यह करूँ, बढ़ाऊँ, यह थोड़ा बढ़ाऊँ, यह थोड़ा बढ़ाऊँ, यह साधारण है। अपने पास पूँजी है, उसमें थोड़ा पाँच लाख डाले न तो दो लाख पैदा हो ऐसा है। लाओ और भले इतना कर डालो, लो! दो हिस्सेदार अच्छे मिले। समझ में आया? ऐई! पूँजी कहाँ डालना? दो लाख अच्छे व्यक्ति को (देना) पैसा उसके पास नहीं परन्तु व्यक्ति खानदानी है। काम करेगा, परन्तु पाँच लाख में दो लाख पैदा करायेगा। डालो भाई, दुकान लो! यह तृप्ति नहीं होगी, ऐसा कहते हैं। बराबर है।

मुमुक्षु : सुनी हुई बातें सब अभी ही याद आ जाती है?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यहाँ है या नहीं? इसमें देखो न! अतृप्ति अर्थात् बड़ी हुई तृष्णा.. तृष्णा बड़ी होगी, वहाँ होली है। आत्मा में शान्ति है, भाई! सम्यग्दर्शन प्रगट कर। आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान परमात्मा है, उसका साधन अन्तर (में) है। वह साध्य और साधन स्वयं ही है; उसे किसी साधन की आवश्यकता नहीं है। ऐसे आत्मा को बाहर के साधन से सुख मानना, वह बड़ी भ्रमणा तूने ओढ़ी है, कहते हैं। समझ में आया?

जैसा कि कहा गया है-‘अपि संकल्पिताः कामाः०’ देखो! ‘ज्यों ज्यों संकल्पित किये हुए भोगोपभोग,.. संकल्प किया कि ऐसा होवे तो ठीक। प्राप्त होते जाते हैं,.. जैसे-जैसे मिल जाये, मिलते जाये। त्यों त्यों मनुष्यों की तृष्णा बढ़ती हुई सारे लोक में फैलती जाती है। सब करूँ, ऐसा करूँ, दुनिया ऐसा करूँ। बड़ा क्या कहते हैं तुम्हारे? खेल करे और क्या कुछ व्यापार नहीं करते? यह ऐसा करूँ और वैसा धन्धा करूँ? पचास लाख हुए हैं। पूरी मुम्बई में दारचीनी का एक ही अपना (व्यापार)। पूरे गाँव का दारचीनी इकट्ठा (किया)। दारचीनी का व्यापार किया था। चला था न एक बार? ऐसा हुआ था अभी। सब खबर है। एक व्यक्ति ने दारचीनी का खेल किया, इसलिए स्वयं महँगा कर डाला। सब इकट्ठा करके फिर महँगा किया। ऐसा बहुत होता है न? मुम्बई में ऐसे बहुत प्रकार (होते हैं)। ऐसे सब मेरा बड़ा सांड जैसा ममता का लदुआ बैल, ममता का लदुआ बैल। और माने कि हम होशियार। रुई का राजा! फावाभाई! कपासिया का था वहाँ इन्हें। धूल में भी नहीं। व्यर्थ का भ्रम (करते हैं)। वह धुँआ को पकड़ना। धुँआ उड़ता हो तो थोड़ा पकड़ लूँ। वह पकड़ में नहीं आता। वह तो चला जायेगा। मुट्टी में भी नहीं रहे और वहाँ पकड़ने से भी नहीं रहे। जगत की चीज़ है, जगत के पदार्थ हैं, आते और जाते हैं, रोकने से रहते नहीं, टालने से टलते नहीं। समझ में आया? आवे तो टले नहीं और आनेवाले हों तो रुके नहीं। वह बाहर की चीज़ है, वहाँ क्या लगा है? यहाँ देख न अन्दर। अन्दर भगवान परमानन्द की मूर्ति विराजता है। समझ में आया? उसके समीप में जा न, वहाँ शान्ति है; अन्यत्र कहीं नहीं। उसके लिये यह बात करते हैं।

जैसे-जैसे संकल्पित अर्थात् संकल्प किया कि इतना होवे तो ठीक। इतना मिला तो अब बढ़ गया वापस। इतना होवे तो ठीक, बापू! एक हजार होवे न तो अपने कमा खायेंगे। फिर एक हजार के दस हजार हुए; दस हजार हुए तो दस हजार के लाख; लाख के पाँच लाख; पाँच लाख के दस लाख... चला वह चला, सन्तुष्टि नहीं मिलती। कहो, पोपटभाई! बढ़वान में था ऐसा कुछ?

मुमुक्षु : अब मजा करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी मजा नहीं है, कहते हैं। हाँ, परन्तु यह सबके लिये ऐसा है न! क्यों मलूपचन्दभाई! आहाहा!

मनुष्य चाहता है कि अमुक मिले। अमुक मिले न, फिर ठीक। उसके मिल जाने पर आगे बढ़ता है,.. यह ठीक, परन्तु थोड़ा इतना होवे न, क्योंकि पाँच लड़के हैं, छह हैं लड़के और मैं एक पच्चीस लाख का आसामी कहलाऊँ तो एक-एक को पच्चीस आवे तो ठीक कहलाये। ऐ.. डेढ़ करोड़ की लगायी। है या नहीं? मैं पच्चीस लाख का आसामी कहलाता हूँ और लड़के छह, उन्हें क्या आवे? पच्चीस में आवे क्या छह को? चार-चार लाख आवे। इज्जत तो टुकड़े हो गये, छह भाग पड़ गये। अपने कुछ थोड़ा बढ़ जाये तो दस-दस लाख एक-एक को आवे तो ठीक। मेल नहीं रहता तेरा, सुन न!

मनुष्य चाहता है कि अमुक मिले। उसके मिल जाने पर आगे बढ़ता है, कि अमुक और मिल जाय। थोड़ा और इससे थोड़ा और मिल जाये और एक मकान अच्छा मिल जाये तो फिर निश्चिन्तता से रहें, सामने मध्य में एक दुकान अच्छी मिल जाये तो फिर निश्चिन्तता से लड़के काम किया करें। फावाभाई! पूरी दुनिया की यहाँ तो सब लगायी है। उसके भी मिल जाने पर मनुष्य की तृष्णा विश्व के समस्त ही पदार्थों को चाहने लग जाती है कि वे सब ही मुझे मिल जायें। लो! पूरी मुम्बई का... क्या कहलाता है वह शेर.. शेर..? मेयर... मेयर..। मेयर कहलाता है। मेयर होऊँ और... एक आठ दिन यदि मेयर होऊँ तो ऐसा कर डालूँ, अमुक कर डालूँ, सब परिवार को पैसा दिला दूँ, बड़े धन्धे में लगा दूँ। परन्तु होली सुलगती है न! ऐ.. मोहनभाई! अब एक का एक लड़का परन्तु वहाँ रुका है। सन्तोष किसे कहना? बाप यहाँ भटके और वह लड़का वहाँ भटके। वर्ष के वर्ष (जाये), इकट्ठे कब हो इसमें? क्या इसमें? सुख कब था इसमें?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह और अलग बात परन्तु यह तो इकट्ठे हैं, तथापि दो को, दो को पिता-पुत्र को चैन कहाँ है? यह बहू वहाँ पकावे और यहाँ पकावे कोई। यहाँ खाना किसी का। वह विवाही, अलग रहते हैं, तब यह पकाकर वहाँ खिलावे। है कहीं इसमें मेल? परन्तु रसोईया रखा हो किन्तु विवाह किसलिए तुझे? कुछ घर का व्यक्ति हो, लड़के की बहू हो तो कुछ सुविधा का ध्यान रखे। समझ में आया? पापड़-बापड़ हो, अचार-बचार तरोताजा ठीक सा (है या नहीं)? ध्यान रखे। किसी के व्यक्ति में ध्यान किस प्रकार रहता होगा?

कहते हैं ओहो ! एक-एक बढ़े तो बढ़ती जाये तृष्णा । परन्तु यदि यथेष्ट भोगोपभोगों को भोगकर तृप्त हो जाय, तब तो तृष्णारूपी सन्ताप ठण्डा पड़ जायगा । परन्तु यह तो किसी दिन होता नहीं । इसलिए वे सेवन करने योग्य हैं । आचार्य कहते हैं कि वे भोग लेने पर अन्त में छोड़े नहीं जा सकते,.. लो ! यह आसक्ति ऐसी रहा करे, छूटे तो भी, चले जाये तो भी आसक्ति-लोलुपता रहा करे, तेरी गृद्धि नहीं छूटेगी, कहते हैं । इस गृद्धि में पड़ गया । नहीं छूटेगी, लगाव रह जायेगा अन्त में, ऐसा कहते हैं । देखो, छोड़े नहीं जा सकते,.. अर्थात् आसक्ति ।

अर्थात् उनके खूब भोग लेने पर भी मन की आसक्ति नहीं हटती, 'जैसा कि कहा भी है- अन्दर में आसक्ति (नहीं छूटती) । अरे ! वस्तु चली गयी, ऐसा हुआ, अमुक हुआ । गृद्धि नहीं छूटती । यह तो कमाने में पाप, रखने में पाप, भोगने में अतृप्ति, अन्त में आसक्ति छूटेगी नहीं, छोड़े नहीं जाते । इसलिए किसी प्रकार कहीं सुख है नहीं । कहो, बराबर होगा न इसमें ? तुम्हारे लागू पड़ती होगी पूनमचन्द्र को इसमें ? यहाँ नहीं मिले । क्या करें ? नहीं तो सुनावें ठीक सा । आहाहा !

आचार्य ने भी देखो न कैसी बात ली है ! कहते हैं, तीन बातें ली हैं । शुरुआत में कमाने में क्लेश; भोगने में अतृप्ति; यह छूटे तो तेरी गृद्धि नहीं जायेगी, ले । आसक्ति नहीं जायेगी, इसलिए कहीं चैन नहीं है । लगा न यहाँ आत्मा में । समझ में आया ? क्यों चिमनभाई ! जैसे-जैसे दो-दो हजार, पाँच-पाँच हजार, तीन-तीन हजार महीने चूना में कमायी होने लगे, उसमें मकान बनाना, वह ऐसा करना, धूल करना । चारों ओर हो, लो ! यह भी कहाँ तुझे चौड़ा होना है ? ऐसा कहते हैं । बाहर में चौड़ा होना है या अन्दर में ?

'दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि०' लो ! 'यद्यपि अग्नि,.. दृष्टान्त देते हैं, हों ! घास, लकड़ी आदि के ढेर से तृप्त हो जाय । अग्नि में लकड़ियाँ होवे तो तृप्त हो जाती है न ? अग्नि तृप्त होती होगी या नहीं ? बुझ जाती है या नहीं अब ? समुद्र, सैकड़ों नदियों से तृप्त हो जाय,.. कहते हैं सैकड़ों नदियाँ पड़ने से कदाचित् समुद्र तृप्त हो जाये । परन्तु वह पुरुष इच्छित सुखों से कभी भी तृप्त नहीं होता । मूढ़ की तृष्णा तो चलती जाती है मरने तक और उसके उस तृष्णा के बल में मरते-मरते जाये नरक में । समझ में आया ? सर्प ऐसे

बल डालता आवे न ? बल डालता । सर्प ऐसे चक्कर मारता । बल मारता अन्दर से तृष्णा के ऐसे मारे बलिया... जा नीचे । धूल में भी नहीं, कहते हैं । आत्मा में आ न ! व्यर्थ का । आसक्ति रहेगी छूटा नहीं जायेगा फिर । आहाहा ! मिठास सेवन की है न ! बापू ! युवा अवस्था में यदि प्रतिकूलता आयी होती तो सहन होती । यह वृद्धावस्था और शरीर में रोग आया, अभी (ऐसी प्रतिकूलता) आयी । हाय.. हाय.. ! यह होली तेरी मूढ़ता है । बराबर है या नहीं ?

मुमुक्षु : दो-दो घण्टे बातें करे...

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ, क्या करे ? मिठास की करे, करे मिठास की । वह गया, फिर बात तो करे, मिठास तो रहे । ऐसी दुकान थी, ऐसे कमाते थे, ऐसा करते थे, अभी भले नहीं करते परन्तु ऐसा करते थे । परन्तु क्या है ? होली । अब कुछ नहीं मिलता । क्या करता था ? धूल करता था । उसकी मिठास वेदन करता है । मोहनभाई ! अभी कुछ नहीं हो तो पूर्व का था, (उसकी मिठास लेता है) । ऐसे करते थे, ऐसा करते थे, ऐसा था, वहाँ ऐसा था । ऐसे नौकर-चाकर, बड़ी अलमारियाँ, माल और बड़े वे होते हैं न ? सिंगापुर चावल नहीं । पट्टा के आते थे न ? थैली पर । हरे पट्टे के बड़े पाँच मण के खोका । थैलियाँ आती थी । लाख-लाख थैलियाँ और बड़ा धन्धा और ओहोहो ! अभी क्या है ? परन्तु मिठास तो है । होली गत काल की मिठास वेदन करता है । वह मूढ़, यहाँ कहते हैं कि तेरी मूढ़ता का पार है ?

दो घड़ी बातें करने लगे तो मिठास करने लगे । सगे-सम्बन्धी इकट्ठे हुए हों और ऐसा था, ऐसा था और यह स्वयं ने कमाया, स्वयं ने कमाया है और स्वयं कमाये कि अलग ही जाति होती है । पिता छोड़कर उत्तराधिकार रखकर खावे और स्वयं कमाकर खावे, उसकी बात अलग होती है । दुनिया में सब सुना हुआ है, हों ! ये सब मूर्ख हैं, कहा । ऐ.. पोपटभाई ! बोलते भी नहीं आता, जिसे विवेक का भान भी कुछ नहीं होता । तू कौन है ? यह क्या बोलता है ? और क्या होता है यह ?

कहते हैं अग्नि, घास, लकड़ी आदि ढेर से कदाचित् तृप्त हो जाये और समुद्र सैकड़ों नदियों से तृप्त हो जाये परन्तु वह पुरुष इच्छित सुखों से कभी भी तृप्त नहीं

होता। इच्छा तो लम्बी चला ही करती है, सुलगा ही करती है। आहा! अहो! कर्मों की कोई ऐसी ही सामर्थ्य या जबरदस्ती है।' बलवत्ता लिखा है न?...है न? कर्म का अर्थात् बलवत्ता तेरी नहीं और यह तूने कर्म को बलवत्ता... ऐसा। बलवत्ता। भगवान आत्मा का बल है, उसे भूलकर तूने कर्म का बल डाल दिया, उसके सिर पर डाल दिया। उसमें दब गया, दब गया, दब गया। समझ में आया ?

और भी कहा है – 'किमपीदं विषयमयं०' 'अहो! यह विषयमयी विष कैसा गजब का विष है.. देखो! यह विषयमय जहर। पाँच इन्द्रिय के विषय जहर हैं। आत्मा में आनन्द है, उसे छोड़कर पाँच इन्द्रिय के विषय जहर, विषय कहते ही विष है, वह जहर है। समझ में आया ? भगवान अपने स्वसन्मुख को भूलकर और परसन्मुख के विषय में सुख मानता है, कहते हैं जहर है। विष कैसा गजब का विष है.. वापस ऐसा। कि जिसे जबरदस्ती खाकर यह मनुष्य, भव-भव में नहीं चेत पाया है। जबरदस्ती खाता है, खाकर चार गति में भटकता है। दौड़कर दुर्गति में जाता है। आहाहा! होश से-हर्ष से जाता है, पड़ता है।

एक सर्प था न? सर्प 'चुड़ा' में, वह ऊपर से पड़ा होगा। कुँवरजीभाई के यहाँ, हलवाई के यहाँ बड़ा सर्प इतना। यहाँ नीचे कुछ तेल की कढ़ाई करते होंगे। ऊपर जाता था, गिरा ऐसे आधा, आधा गिरा तेल में और आधा बाहर। उसने बाहर निकाला तो अग्नि में गया। क्योंकि उसे खबर नहीं रही, दुःख हुआ न बहुत, इसलिए बाहर ऐसे निकाला, आधा ऐसे निकाला अग्नि नीचे सुलगती थी, वहाँ गिर गया, जल गया। ऐसे कहाँ से जाऊँ और कहाँ जाता हूँ तथा कहाँ हूँ, इसकी कुछ खबर नहीं होती।

तृष्णावन्त प्राणी आत्मा की शान्ति को नहीं चाहनेवाला, श्रद्धा नहीं करनेवाला। आत्मा में आनन्द और सुख है। कहीं तीन काल में अन्यत्र है नहीं। ऐसा नहीं माननेवाला तृष्णा की लोलुपता में कहाँ घुस जाते हैं, इसका उन्हें मेल नहीं रहता। बेचारे कमाने में ऐसे मिल जायें हिस्सेदार, उसमें यदि इतना डालोगे तो ऐसा होगा, ऐसे करते.. करते.. करते.. उलझा डाले, इसलिए सब जाये, फिर रोवे। हाय.. हाय.. ! अरे रे! हमें लोगों ने-हिस्सेदारों ने ठग लिया। समझ में आया न? परन्तु तेरी तृष्णा से ठगाया है। यह तुझे खबर नहीं ?

कहते हैं, पाँच इन्द्रिय के विषय; भगवान आत्मा की दृष्टि को छोड़कर, चिदानन्दमूर्ति आत्मा की श्रद्धा छोड़कर, उसका प्रेम छोड़कर, उसमें सुख है, यह बुद्धि छोड़कर अज्ञानी तृष्णा में खिंच गया है। गजब के विषय के विष को सेवन करता है, कहते हैं। समझ में आया? **भव-भव में नहीं चेत पाया है।** इतने भव किये परन्तु कभी इसे चेतने का (अवसर) नहीं आता। कितने भोग मिले स्वर्ग में, बड़ा राजा अरबोंपति अनन्त बार हुआ। इसे कहीं शान्ति नहीं मिलती। अभी तो लूँ.. लूँ.. और लूँ, जहर खाऊँ, खाऊँ और खाऊँ।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : जाये अन्दर में जाये, जबरदस्ती जाये, जबरदस्ती दौड़कर (जाये), खबर नहीं कि मूढ़ हो गया है। कहते हैं कि उस पर में कहीं सुख और दुःख नहीं है, आत्मा में सुख है, (पर से) अब विमुख हो, ऐसा कहते हैं। मूल तो यहाँ ऐसा कहना है। समझ में आया? परन्तु विमुख होना इसे रुचता नहीं है।

इस तरह आरम्भ,.. अर्थात् शुरुआत। भोगोपभोग की शुरुआत, उसके मध्य.. में अर्थात् अतृप्ति। शुरुआत में क्लेश, कमाने में क्लेश; मध्य में अतृप्ति और अन्त में क्लेश-तृष्णा एवं आसक्ति के.. जाये तो भी आसक्ति जायेगी नहीं। झपट्टे मारेगा अन्दर। इज्जत के लिये देखो न! कितना करते हैं। एक व्यक्ति को पिच्यानवे लाख रुपये हुए। अब रहने दे, रहने दे। राजा कहे, पिच्यानवे लाख हुए, अब रहने दो, भाई! अब पाँच लाख ले आऊँ तो करोड़ हो जायें न! वे गये वहाँ सब गया, नौकरी हो गयी। वे तो आये थे, यहाँ आये थे। समझ में आया? पिच्यानवे लाख हुए। दरबार कहे, मेरे पास इतने पैसे नहीं, हों! कोठारी। क्या कुछ था? हाँ यह खबर है, खबर है। नाम नहीं लिया। कोठारी ऐसे नहीं। पिच्यानवे लाख रुपये हैं तुम्हारे पास, हमारे पास नहीं, हों! हम राजा हैं तो भी रहने दो। तुम्हारे राजरत्न का सम्मान देते हैं। पाँच लाख इकट्ठे करूँगा, पिच्यानवे में पाँच लाख। सब गये, नौकरी (करनी पड़ी)। यह तो पुण्य-पाप का लेखा-जोखा है। इसके साथ आत्मा को क्या सम्बन्ध है? आहाहा! उसका लेखा और उसका जोखा। उसे जोखना, पुण्य के कारण दिखता है सब, तेरे कारण नहीं। आहाहा!

कहते हैं, शुरुआत में भी क्लेश, भोग उपजाने के लिये कमाना आदि, बीच में

भोगने पर अतृप्ति और अन्त में तृष्णा के कारण आसक्ति के कारणभूत इन भोगोपभोगों को कौन बुद्धिमान इंद्रियरूपी नलियों से अनुभवन करेगा ? आहाहा ! देखो ! इन पाँच इंद्रियों द्वारा भोग करके मानो मुझे तृप्ति होगी । नहीं होगी, भाई ! आत्मा में आनन्द है, बापू ! वह आनन्द ऐसा है कि सिद्ध समान आनन्द है । आहाहा ! छोड़ दे पुण्य-पाप की रुचि कि पुण्य-पाप से मुझे लाभ होगा । छोड़ दे, पुण्य-पाप के फल में सुख और दुःखबुद्धि, ऐसा कहने का आशय है । समझ में आया ? आत्मा में शान्ति है, भाई ! आत्मा शान्ति का सागर है । इस शान्ति से भरा हुआ स्वरूप ही है । उसे कहीं खोजने जाना पड़े, ऐसा नहीं है । उस पर नजर कर, उसका विश्वास कर । तू तेरा विश्वास कर । तुझे तेरा विश्वास हो, तब तुझे शान्ति मिले ऐसा है । समझ में आया ? कौन बुद्धिमान इंद्रियरूपी नलियों से अनुभवन करेगा ? यह प्रश्न अन्तिम । इसमें से शिष्य ने प्रश्न निकाला । समझ में आया ?

यहाँ पर शिष्य शंका करता है कि तत्त्वज्ञानियों ने भोगों को न भोगा हो, यह बात सुनने में नहीं आती है । तत्त्वज्ञानी भी स्त्री और पुत्र में पड़े थे तथा भोग भोगते थे, ऐसा हम देखते हैं, सुना है शास्त्र में । चक्रवर्ती समकिति थे, छियानवे हजार में पड़े थे । तुम कहते हो तत्त्वज्ञानी भोग को नहीं भोगता, समयज्ञानी भोग को नहीं भोगता । मिथ्यादृष्टि भोग को भोगता है । हमने तो शास्त्र में सुना है । तीन ज्ञान के धनी तीर्थंकर छियानवे हजार स्त्रियों में स्थित थे । समझ में आया ? श्रेणिक राजा, समकिति - क्षायिक समकिति (थे), तथापि हजारों रानियों के भोग में पड़े थे । तत्त्वज्ञानी नहीं भोगते, यह बात कुछ हमें जँचती नहीं है । शास्त्र में आता है ।

अर्थात् बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानियों ने भी भोगों को भोगा है, यही प्रसिद्ध है । तब 'भोगों को कौन बुद्धिमान्-तत्त्वज्ञानी सेवन करेगा ?' आप तो ऐसा कहते हो । कौन बुद्धिमान-तत्त्वज्ञानी सेवन करेगा ? यह उपदेश कैसे मान्य किया जाय ? समझ में आया ? शिष्य कहता है । सुन भाई ! सुन भाई ! इसका उत्तर है । उन्होंने सुखबुद्धि से नहीं भोगा, जहर-बुद्धि थी । सुखबुद्धि आत्मा में थी और तुझे तो सुखबुद्धि अन्दर है (भोगों में है), उसे छुड़ाने के लिये हम कहते हैं । यह बात विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. १५

गाथा-१७-१८

बुधवार, दिनाङ्क ३०-०३-१९६६

चैत्र शुक्ला ८,

वीर संवत् २४९२

यह पूज्यपादस्वामी का इष्टोपदेश। १७वीं गाथा चलती है। देखो! यह शिष्य का प्रश्न है। शिष्य को जब समझाया, समझाये जाने से श्रद्धान उत्पन्न हो रहा है... ऐसा लिखा है। इसका शीर्षक। ऊपर २० गाथा तक बात की न? चिन्तामणि आदि आत्मा है, उसकी चिन्तवना में चिन्तामणि मिले तो वह कहीं खली के टुकड़े की इच्छा करे? वह भोगों को क्यों भोगे? - ऐसा प्रश्न आया है।

धर्मी उसे कहते हैं, धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा में ही अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव-वेदन हुआ है। समझ में आया? स्वयंसिद्ध आत्मा है। आत्मा इस देह से भिन्न चीज़ है। वह अनादि है, उसका कोई कर्ता नहीं है। स्वयंसिद्ध वस्तु है और वस्तु में अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द पड़े हैं। स्वभाव, शक्ति उसके सत्व में (पड़े हैं)। ऐसा जिसे अनन्त काल में विषय और पुण्य-पाप में प्रेम था, पुण्य-पाप के भाव में रुचि थी, उसे उनके फल में भोग में रुचि थी; इसलिए वह तो मिथ्यादृष्टि भोग को प्रेम की रुचिपूर्वक भोगता है। समझ में आया? धर्मी को भोग की रुचि नहीं है, क्योंकि आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद सम्यग्दर्शन में, भान में आया होता है। सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा अखण्ड आनन्दकन्द प्रभु, पूर्ण स्वरूप की अन्तर्दृष्टि होकर अभेद स्वभाव की, एकरूप चैतन्य - ऐसा अनुभव में धर्मी को अतीन्द्रिय आनन्द जो शक्ति में है, उसकी व्यक्तता / प्रगटता आंशिक आनन्द आया है; इसलिए धर्मी को आत्मा में आनन्द के स्वाद के कारण, वह विषय-भोग को भोगता नहीं है - ऐसा यहाँ कहा। तब शिष्य का प्रश्न हुआ। समझ में आया?

(गाथा-१७) महाराज! तत्त्वज्ञानियों ने भोगों को न भोगा हो यह बात सुनने में नहीं आती है। आप कहते हो कि तत्त्वज्ञानी हो, वह भोग को नहीं भोगता। हम तो सुनते हैं कि तत्त्वज्ञानी हो, उसे स्त्री, पुत्र, परिवार और सब पड़ा होता है, भोग होते हैं - हम तो ऐसा शास्त्र में सुनते हैं। समझ में आया?

आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप—सत्-शाश्वत्, ज्ञान और आनन्द का स्वरूप, ऐसा स्वतन्त्र भान हुआ, ऐसे जीवों ने कहीं स्त्री, पुत्र छोड़ दिये और भोग छोड़े, ऐसा हम तो कुछ

सुनते नहीं। ऐ.. भट्टभाई! शिष्य का प्रश्न है। ऐसे भी संसार में तो हमने बहुत देखे हैं। चक्रवर्ती, तीर्थंकर, राजा, महाराजा... समझ में आया या नहीं? क्यों तुम्हारे नहीं आये? ठीक। कहो, समझ में आया? आये, याद किया और आये।

यह आत्मा है, आत्मा। यह तो देह है, जड़ है, मिट्टी है। यह वाणी जड़ है और ये दूसरे स्त्री, पुत्र, परिवार आदि तो पर है। अब यह आत्मा जो है, वह अनादि का स्वरूप उसका ऐसा है कि अन्दर आनन्द और शान्ति आत्मा में है। वह शान्ति... कल दोपहर को आ गया या नहीं? सुख का सागर और सुख का पूर आत्मा है। आहा..हा..! समझ में आया? आत्मा में अन्तर नजर करने से... अनन्त काल से इसने अन्तर-नजर नहीं की। ऐसा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा है। उसकी अन्तर नजर करने पर जो आत्मा का आनन्द तत्त्वज्ञानी को आया; तत्त्वज्ञानी; तत्त्व अर्थात् आत्मा, उसका ज्ञान और रागादि दुःखरूप, उसका ज्ञान। समझ में आया? रागादि दुःखरूप का ज्ञान; आत्मा आनन्दरूपी का ज्ञान। ऐसे तत्त्वज्ञानी भोग भोगते नहीं। ऐसा ऊपर आया न?

कौन बुद्धिमान इन्द्रियरूपी नलियों से अनुभवन करेगा? है न ऊपर? इन भोगोपभोगों को कौन बुद्धिमान इन्द्रियरूपी नलियों से अनुभवन करेगा? तब शिष्य कहता है कि तत्त्वज्ञानियों ने भोग न भोगे हों - यह बात सुनने को नहीं मिलती। बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानियों ने भी भोगों को भोगा है, ... बड़े-बड़े सम्यग्दृष्टि, क्षायिक समकिती, तीन ज्ञान के धनी तीर्थंकर जैसे - उन्हें भी स्त्री, पुत्र और सब था, उन्हें भोग थे। ऐ.. पोपटभाई! शिष्य का प्रश्न है। यही प्रसिद्ध है। यह शास्त्र में प्रसिद्ध है। समझ में आया? ऐ... ऐसे आओ, इस ओर जगह बहुत है। वे धूप में बैठे हैं। इस ओर बहुत जगह है। अन्दर जाओ, अन्दर।

शिष्य का क्या प्रश्न है, यह पहली बात चलती है कि तुम कहते हो कि तत्त्वज्ञानी कौन भोगे भोग को? जिसे आत्मा के आनन्द का भान हुआ, वह पर को कौन भोगे? हम तो सुनते हैं (कि) तत्त्वज्ञानी सब ऐसे के ऐसे भोग में पड़े थे। समझ में आया? यही प्रसिद्ध है। तब 'भोगों को कौन बुद्धिमान-तत्त्वज्ञानी सेवन करेगा?' यह उपदेश कैसे मान्य किया जाय? तत्त्वज्ञानी धर्मात्मा भोग को नहीं भोगता, यह बात हमें कैसे मान्य हो? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। इस बात पर कैसे श्रद्धान किया जाय? इस बात

पर हमें श्रद्धा किस प्रकार आवे ? हमें किस प्रकार भरोसा आवे कि तत्त्वज्ञानियों ने भोगों को भोगा नहीं ?

आचार्य जवाब देते हैं – कि हमने उपर्युक्त कथन के साथ ‘कामं अत्यर्थं०’ यह शब्द लगाया है। है न मूल पाठ में ? ‘कामं कामान्’ १७ गाथा का मूल पाठ है न ? ‘कामं कामान् कः सेवते सुधीः’ भोगों को रुचिपूर्वक कैसे सेवन करता है ? समझ में आया ? मूल श्लोक है न ? ‘कामं कामान् कः सेवते सुधीः’ आचार्य कहते हैं कि हमने ‘कामं’ शब्द लगाया है। अज्ञानी आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द का भान नहीं है। वह तो संसार के शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श में प्रीतिपूर्वक, रुचिपूर्वक, उल्लासपूर्वक, वीर्यपूर्वक, उत्साहपूर्वक इन भोगों को राग से – एकत्वबुद्धि से भोगता है।

धर्मी (कहते हैं), हमने शब्द लगाया था। ‘कामं’ आसक्ति के साथ रुचिपूर्वक यह भी विशेषण लगाया है। समझ में आया ? धर्मी को स्त्री, कुटुम्ब आदि हों, परिवार आदि हों, परन्तु उसे रुचि नहीं है, रुचि नहीं है; रुचि तो आत्मा के आनन्द में है। रुचि नहीं, परन्तु जरा आसक्ति का राग आता है, इससे संसार में भोग लेता है, ऐसा ज्ञात होता है। अन्तर रुचि नहीं है। समझ में आया ?

तात्पर्य यह है कि चारित्रमोह के उदय से भोगों को छोड़ने के लिये असमर्थ होते हुए.. जरा कमजोरी है न ! परिणाम में-भाव में आसक्ति के कारण राग में जरा कमजोरी है; इसलिए राग को छोड़ नहीं सकता। समझ में आया इसमें ? तत्त्वज्ञानी पुरुष भोगों को त्याज्य-छोड़ने योग्य समझते हुए ही सेवन करते हैं.. देखो ! रामचन्द्रजी जैसे पुरुष; चक्रवर्ती; बलदेव; भरत जैसे पुरुष। भरत चक्रवर्ती को छियानवें हजार स्त्रियाँ (रानियाँ) थीं, परन्तु अन्दर में... आहा..हा.. ! अरे ! हमारा आत्मा, हम अतीन्द्रिय आनन्द का सेवन करनेवाले, हम तो अतीन्द्रिय आनन्द, भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति है; उसके प्रेम में उन्हें पर के विषय में प्रेम नहीं आता। समझ में आया ? यह रुचि में अन्तर है – ऐसा कहना है।

अज्ञानी वह के वह विषय भोगे अथवा छोड़े; ज्ञानी उन्हीं विषयों में पड़ा हो, तथापि उसे रुचि नहीं है। आहा..हा.. ! पकड़-पकड़ में अन्तर है। बिल्ली उसके बच्चे को

पकड़ती है। बिल्ली उसके बच्चे को पकड़ती है और चूहे को मुँह से पकड़ती है। दोनों में बहुत अन्तर है। चूहे को पकड़ती है तो दबाव से पकड़ती है और बच्चे को पकड़ती है तो पोचा-पोचा पकड़कर अन्यत्र ले जाती है। पकड़ तो दोनों में दिखती है। बिल्ली के मुँह में पकड़ तो उसके बच्चे की और चूहे की दोनों की दिखती है, परन्तु अन्दर (में) अन्तर है। एक चूहे को पकड़ा है तो ऐसे दबाव से (जोर से) पकड़ा है, खींचकर पकड़ा है और बच्चे को पकड़ा है तो ऐसे मुँह (रखती है), दाँत बाहर रह जाये और उसके मुँह को होंठ के बीच में दबाती है।

इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव (को) आत्मा के स्वभाव की आनन्द की दृष्टि की खबर नहीं। मैं एक सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ, ज्ञानानन्द की ज्योति हूँ-ऐसा जिसे आत्मा का भान नहीं; वह पुण्य को और विषय को भोगते हुए, जैसे वह बिल्ली चूहे को पकड़ती है, वैसे भोग में लीन हो जाता है। समझ में आया? आहा..हा..!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न? दिखे सरीखा, दिखे सरीखा, परन्तु भाव में अन्तर है या नहीं? वे हमारे बोलते थे। सात वर्ष की एक लड़की थी, बेचारी क्षयरोग में मर गयी। पोपटशाह थे, उनके लड़के की लड़की थी। 'पकड़-पकड़ में फेर'। लड़की यह बहुत बोलती थी। बहुत छोटी उम्र, सात वर्ष की थी। सात वर्ष में उसे क्षय (रोग) हो गया। मर गयी। अन्तिम स्थिति में देखी थी।... डालते, बेचारी पड़ी रहती। बहुत सुन्दर थी। सात वर्ष की। यह बहुत बोलती थी। ऐसे २५-५० बहुत सीखे हुए, बहुत सीखे हुए। दीया-बत्ती का नहीं आता? दीपक जलाओ कहा। डाला ज्वाला में। वह बोलती। दीपक सुलगाने का कहते हैं न? दीपक सुलगाओ। डाला ज्वाला में। परन्तु सुलगाने का अर्थ यह ज्वाला में नहीं होगा, सुलगाने का अर्थ दीपक में बत्ती कर, ऐसा होता है। सुलगाने का कहे वहाँ तू ऐसा कहे कि दीपक सुलगाओ, सुलगाओ अर्थात्? ज्वाला में डाला। दीपक को सुलगाओ अर्थात् वह दीपक है, उसे दियासलाई से प्रगटाओ, ऐसा उसका अर्थ है। सुलगाओ अर्थात् ऐसा अर्थ ले ले? उल्टा समझ बिना का। ऐसा शब्द था। अब भूल गये। पहले बहुत बोलता। (संवत्) १९८० के वर्ष में। १९८० के वर्ष में हमारा चातुर्मास था न? तब बहू बोलती। उसी-उसी में गुजर गयी। दीपक सुलगाओ कहा। समझाया समझे नहीं, करे

कुछ का कुछ, दीपक सुलगाओ कहा डाला ज्वाला माही। पोपटभाई शाह थे न उनका लड़का था न? बड़ा लड़का उसकी लड़की थी। समझाया समझे नहीं, करे कुछ का कुछ, दीपक सुलगाओ कहा डाला ज्वाला माही।

इसी प्रकार यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी यह भोग भोगते हैं न? परन्तु सुन तो सही! समझता नहीं कुछ। उन्हें अन्दर रुचि नहीं है, परन्तु राग का भाग जरा आसक्ति का आता है, उसे छोड़ने को समर्थ नहीं है, इससे वह भोग भोगता है, ऐसा तुझे दिखता है। अन्दर में रुचि नहीं है। आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है, आत्मा ज्ञानानन्द है, उसके स्वरूप में आनन्द का सरोवर है, शान्ति का सरोवर आत्मा है। वह आत्मा भगवान परमेश्वर ने ऐसा कहा और ऐसा देखा है। समझ में आया? तीन लोक का नाथ परमेश्वर सर्वज्ञ ने ऐसा कहा, देखा और वैसा है। तू देख जरा अन्दर कि यह आत्मा देह, वाणी से पर, पुण्य-पाप के दया, दान, व्रत के भाव से भी पर, वह अलग चीज़ है। समझ में आया? वह स्वयंसिद्ध तत्त्व है और स्वयंसिद्ध तत्त्व हो, वह दुःखरूप और अपूर्ण नहीं हो सकता। स्वतन्त्र वस्तु महान पदार्थ, आनन्द से भरपूर भण्डार है। उसकी जिसे रुचि और प्रेम नहीं है, वे सब भोग के काल में रुचि में फँसकर भोग भोगते हैं। ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

चारित्रमोह के उदय से.. ज्ञानी.. अरे..! जहर है। ज्ञानी को भोग की वृत्ति आवे तो उपसर्ग मानते हैं। समझ में आया? उपसर्ग मानते हैं। आहाहा! अरे! हमारा आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द की ज्योत जलहल जलती है, प्रभु! ऐसी शान्ति में से निकलकर यह आसक्ति? उसे दुःख लगता है, परन्तु पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण वह राग छोड़ नहीं सकता परन्तु उसका अन्तर प्रेम नहीं है। कहो, समझ में आया? **चारित्रमोह के उदय से..** वह कोतवाल का आता है न? गधे पर बैठना पड़ेगा। गधे पर बैठे, काला मुँह करे, उसे रुचता होगा? परन्तु क्या करे? जरा राग में पकड़ा गया है, इसलिए उसे कोतवाल कहता है, जा, बैठ गधे पर, निकाल बाहर, मुँह काला कर। इसी प्रकार धर्मी आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द की रुचि के स्वाद में, यह हटकर राग में आते हैं, वह मेल है, आसक्ति है, दुःख लगता है, जहर है परन्तु पुरुषार्थ की कमजोरी छोड़ नहीं सकते; इसलिए उस भोग को भोगते हैं, ऐसा दिखता है। समझ में आया? आहाहा!

भोगों को त्याज्य-छोड़ने योग्य समझते हुए.. भगवान आत्मा.. अहो! जहाँ

अन्तर्मुख दृष्टि जमी है, भगवान् आत्मा अन्तर्मुख दृष्टि में जहाँ आनन्द और शान्ति देखी है, उसे कहते हैं कि वह भले गृहस्थाश्रम में हो, स्त्री, कुटुम्ब में हो, चक्रवर्ती तीर्थकर छियानवें-छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में पड़े दिखायी दें, उन्हें रुचि नहीं थी। समझ में आया ? आसक्ति थी। आसक्ति अलग और रुचि अलग। रुचि (अर्थात्) उसमें सुख है, ऐसा मानकर भोगना, उसका नाम रुचि है; और उसमें सुख नहीं है परन्तु छोड़ नहीं सकता, इसलिए जरा आसक्ति आती है, इसका नाम चारित्रदोष कहा जाता है। समझ में आया ?

त्याज्य-छोड़ने योग्य समझते हुए ही सेवन करते हैं और जिसका मोहोदय मंद पड़ गया है,.. दूसरी बात लेते हैं। परन्तु धर्मात्मा... अहो ! भगवान् आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का अकेला सागर। ऐसा भान होने के बाद थोड़ी आसक्ति रही, वह भी जिसने टाल दी है। मोहोदय मंद पड़ गया... आसक्ति घटा दी है। वह ज्ञान-वैराग्य की भावना से इन्द्रियों को रोककर इन्द्रियों को वश में कर शीघ्र ही अपने (आत्म) कार्य करने के लिये कटिबद्ध-तैयार हो जाता है... समझ में आया ? आहाहा !

दोनों बातों में बहुत अन्तर है। चक्रवर्ती छह खण्ड के राज्य में दिखायी दे, ऐसे हीरा के सिंहासन में बैठे हों, सिर पर अरबों रुपये के मुकुट और हीरा के हार हों, अन्तर में रुचि कहीं (नहीं है), कहीं रुचि जमती नहीं है। आत्मा के आनन्द के समक्ष रुचि के कारण उन्हें कहीं रुचता नहीं है, परन्तु सिर पर उपसर्ग आ पड़ा हो, ऐसा उन्हें देखते हैं। अरे ! मेरा पुरुषार्थ मन्द है, मैं इन्हें छोड़ नहीं सकता मेरी इतनी आसक्ति है, मेरा दोष है, परन्तु यह चारित्रदोष है। सम्यग्दर्शन का दोष नहीं है। श्रद्धा में दोष नहीं है।

अज्ञानी को तो उसमें प्रेम, रुचि और सुखरूप लगते हैं। राग का भाग—पाप का और पुण्य का, जिसे सुखरूप लगता है, वह दृष्टि मिथ्यात्व है। आहाहा ! समझ में आया ? नया पुण्य और पाप का भाव, हों ! नया शुभाशुभभाव, वह ठीक और सुखरूप लगता है, (उसकी) दृष्टि मिथ्यात्व है, विपरीत अभिप्राय है। भगवान् आत्मा में आनन्द और सुख है। उसकी जिसे खबर नहीं। समझ में आया ? आहाहा ! जिसका मोह मन्द पड़ गया अर्थात् पुरुषार्थ द्वारा जिसने आसक्ति को छोड़ा है, वह जीव तो अपना कार्य शीघ्र करने के लिये इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति रोककर आत्मा का कार्य करने के लिये कटिबद्ध-

तैयार हो जाता है। ओहो! मुनिपना दिगम्बर सन्त! आत्मा के आनन्द में वनवासी हो जाते हैं। समझ में आया? परन्तु जो आसक्ति नहीं छोड़ सकते, वे गृहस्थाश्रम में भोग में दिखते हैं परन्तु उनकी सुखबुद्धि नहीं है, कहीं सुखबुद्धि नहीं है। मुर्दे को श्मशान में लकड़ियों का पॉलिस करके जलावे तो लकड़ियों को सुख नहीं है। मुर्दे को श्मशान में पॉलिस समझते हो? रंग लगाकर, पॉलिस करके लकड़ियाँ ठीक से (करके रखे), वह पॉलिस लकड़ियाँ होती हैं न? ऐई! मनुभाई! रंग किया हुआ, ऊपर पॉलिस लकड़ीवाला। फिर मुर्दे को जलावे तो मुर्दा प्रसन्न होता होगा? और कोई साढ़े तीन-तीन महीने बड़ा लोहा रखे तो नाराज होता होगा? इसी प्रकार जिसे आत्मा के आनन्द का-सम्यग्दर्शन का भान हुआ है, उसे वे अनुकूल संयोग, वह सब पॉलिस किये हुए लकड़ियाँ जैसे मुर्दे को सुख उत्पन्न नहीं करते, वैसे वे सुख नहीं उत्पन्न करते।

इसी प्रकार उस सम्यग्दृष्टि को प्रतिकूल संयोग, विघ्न इतने आवें—निर्धन हो, गरीब हो जाये, अविवाहित हो, बांझ हो, अकेला भी हो। धर्मी हो, इसलिए कहीं पैसेवाला और बाहर में सुखी हो, ऐसा है कुछ? ऐई! आत्मा का सम्यक्भान हुआ और बाहर में निर्धन हो। समझ में आया? उसके पास दूसरे लाखों, करोड़पति दिखते हों परन्तु जैसे तीन मण का बड़ा लोहा... क्या कहलाता है? काँटा, मुर्दे पर डालो तो मुर्दे को दुःख होता है? इसी प्रकार धर्मी को ऐसी प्रतिकूलता से दुःख लगता ही नहीं।

मुमुक्षु : उसमें तो जीव नहीं, इसलिए खबर नहीं...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भान बिना का जड़ है, उसे भान नहीं, यह कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

धर्मी अर्थात् आत्मा के भान में है, उसे भले बाहर में निर्धनता तो, एकदम काला शरीर हो, उसके साथ क्या सम्बन्ध है? समझ में आया? और प्रतिकूलता का पार न हो, रोटियाँ और छाछ मिलना कठिन पड़ता हो। मोहनभाई! ऐसा होता है या नहीं? अरे! रोटियाँ और छाछ मिलना मुश्किल पड़े, समकित्ती ऐसे कोई पड़े हों, आत्मा के ज्ञान में, (उन्हें) दुःख नहीं मानते। आनन्द है। रोटी आती है, खाते हैं, आनन्द है अन्दर।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका फल ? बाहर का या अन्दर का ? ऐई ! यह कहते हैं कि धर्मफल अर्थात् बाहर में कुछ पैसा-वैसा मिलना चाहिए न ?

मुमुक्षु : वह भी किसी को मिलते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वे कहाँ इसके कारण हैं ? इसकी बात भी यहाँ कहाँ है ? धर्म और धर्म के फल में लक्ष्मी नहीं होती । धर्म के फल में अन्दर शान्ति होती है । धर्म के फल में लक्ष्मी-धूल मिले ? वह तो जरा पुण्य हो, राग पुण्य का हो तो वह मिले । धर्म में तो शान्ति मिलती है । आहाहा ! समझ में आया ? जैसे मुर्दे को बड़ी लकड़ियाँ.. रखे या पॉलिस से जलावे, दोनों में कुछ नहीं है ।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव गृहस्थाश्रम में हो, स्त्री हो... समझ में आया ? और घर में कोई गिनता न हो, कोई बुलाता न हो, आनन्द मानते होते हैं । ऐई ! हम आत्मा हैं, हमारे में आनन्द है । हमें किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं है । आहाहा ! समझ में आया ? और मूढ़ पूर्व के पुण्य के कारण लाखों और करोड़ों मिले हों, मूढ़ ! यह मेरे- (ऐसा) मानकर अन्दर राग करता है, वह मूढ़ पागल है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं । आहाहा ! ऐ... मोहनभाई ! गजब बात, भाई ! वह (अज्ञानी) चतुर है । ऐसे निर्धन, काला कूबड़ा शरीर हो, अकेला हो । उसको एक महीने का पाँच-पाँच हजार का वेतन, दस-दस हजार का वेतन (होवे) । यहाँ (ज्ञानी को) हाथ में लटकता (हो) ओहो ! उसको तो रोटी के पाँच रुपये मिलना भी मुश्किल, हों ! पहला (अज्ञानी) अभी तो पाँच-पच्चीस न हो, पाँच रुपये तो गरीब व्यक्ति को मुश्किल पड़ते हैं । दो रुपये में खाते थे न पहले ? साठ वर्ष पहले... सुनते थे न ? विधवा महिला होती है, दो-ढाई रुपये बाँध देते । ऐ.. शिवलालभाई ! सुना है या नहीं ? हमने तो सुना था । यहाँ ७६ हुए न ! साठ वर्ष पहले उमराला में विधवा महिला हुई तो ढाई रुपये बाँध दे तो सब कहे ओहोहो ! महिला भाग्यशाली है । पाँच सौ रुपये हों पूरे... तरीके से, हों ! पाँच सौ । ढाई रुपये । बस ! उसे जवान मनुष्य को... बहुत हुआ । अभी तो ढाई की सब्जी भी हो ऐसा नहीं है, कठिनाई पड़े । उसमें उस समय सन्तोष था, ऐसा कहता हूँ । कुछ नहीं, अपने धर्मध्यान करेंगे । अपने निवृत्ति हुई । साढ़े पाँच सौ रुपये... क्या कहलाता है कोट । कोट कहलाता है । बनिया मरे फिर बाद में कोट में पाँच सौ रुपये आये, कहे । ऐई ! कालीदासभाई ! सुना है या नहीं ? यहाँ तो बहुत सब सुना और बहुत देखा है । पाँच सौ

अपने आये। आहाहा! साढ़े तीन सौ थे, और एक भाई ने डेढ़ सौ बढ़ा दिये, उसमें पाँच सौ आये। आहाहा! सन्तोष हो अन्दर, यदि धर्मी हो तो बात है। अज्ञानी होवे तो पाँच-पाँच हजार की आमदनी लड़के को हो तो चैन नहीं होती, मूढ़ को यह चाहिए और यह चाहिए और यह चाहिए।

यहाँ कहते हैं, धर्मी भोग भोगते हुए तुझे दिखायी देते हैं, वे रुचि बिना दिखते हैं, वह तुझे खबर नहीं पड़ती। आहाहा! और अज्ञानी भोग का त्यागी दिखायी दे परन्तु उसे पुण्य के परिणाम में प्रेम है, वह भोग का त्यागी नहीं है। समझ में आया? आहाहा! यह अन्तर? पूरब-पश्चिम का अन्तर है। कहो, पोपटभाई! धर्मी तो कटिबद्ध हो जाता है, कहते हैं। समझ में आया? तैयार हो जाता है... लो!

जैसा कि कहा गया है- 'इदं फलमियं क्रिया०'.. ज्ञानार्णव में ये श्लोक है। वहाँ उक्तं कहा है आधार है। पृष्ठ ७६ में है। कहो, समझ में आया? धर्मी जीव जिसे आत्मा के विवेक का भान है, वह तो यह फल है, उसका वह विद्वान विचार करता है। क्या? यह पुण्य और पाप का फल बन्ध है, दुःख है-ऐसा विचार करता है। मेरे आत्मा की श्रद्धा-ज्ञान का फल शान्ति है, ऐसा वह विचार करता है। समझ में आया? यह धर्मी को विवेक होता है, ऐसा कहते हैं।

यह फल है,.. कि यह आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप है, इसकी मैंने जो श्रद्धा-ज्ञान किये हैं, उसका फल मुझे शान्ति है। उसका फल मुझे समाधान-शान्ति है। जितना पुण्य-पाप का भाव होता है, उसका फल बन्धन है, वह दुःख है, ऐसा ज्ञानी-विवेकी धर्मी ऐसे विचार में-मन्थन में ऐसी क्रिया उसे होती है। समझ में आया? अज्ञानी को बेभान में कुछ खबर नहीं। पागल की भाँति खाना-पीना, भोगना और ऐसा का ऐसा चला जाता है।

यह क्रिया है,.. देखो! यह शरीर की जड़ की क्रिया है, ऐसा ज्ञानी जानता है। रागादि के परिणाम विभाव हैं, ऐसा जानता है और आत्मा शुद्ध श्रद्धा में जितना परिणमे, उतनी स्वाभाविक क्रिया है। ऐसा ज्ञानी जानता है। समझ में आया? आहाहा! तीन प्रकार की तीन क्रिया है। यह देहादि मिट्टी है, यह तो जड़ है। हिले-चले, वह उसकी जड़ की क्रिया है। अन्दर शुभ-अशुभ रागादि हो, वह विभाविक क्रिया है और आत्मा विभावरहित जितना स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान में एकाकार हुआ है, वह स्वाभाविक क्रिया है। उस क्रिया

को तत्त्वज्ञानी, विद्वान भलीभाँति जानता है। अज्ञानी को कौन सी क्रिया मेरी और कौन सी क्रिया तेरी, कौन सी विभाविक और कौन सी जड़ की, कौन सी आत्मा की-कुछ खबर नहीं। कहो, समझ में आया ?

यह करण है,.. करण अर्थात् साधन। कहो, मेरे आत्मा का, मैं शुद्ध आत्मा पवित्र हूँ, उसका साधन मेरा स्वभाव शुद्ध, वह साधन है। समझ में आया ? और पुण्य आदि के परिणाम, वह व्यवहार निमित्तरूप से साधन कहे जाते हैं। वास्तव में वह बन्ध का साधन है, वह पुण्य का परिणाम होता है, परन्तु बन्ध का करण है। ऐसा धर्मी विद्वान, ज्ञानी भलीभाँति गृहस्थाश्रम में होने पर भी (जानता है)। समझ में आया ? हजारों रानियों के वृन्द में पड़ा होने पर भी उसका ऐसा विवेक होता है।

यह क्रम-सिलसिला है,.. यह क्रम है कि पहले अनुभव-सम्यग्दर्शन होता है; पश्चात् राग की मन्दता करके व्रतादि के परिणाम होते हैं; पश्चात् मन्दता के परिणाम टलकर स्थिरता होती है - ऐसा क्रम है, उसे ज्ञानी भलीभाँति जानता है। अज्ञानी को क्रम की कुछ खबर नहीं है। समझ में आया ?

मुमुक्षु : अज्ञानी को सुनने के बाद तो खबर पड़नी चाहिए न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनने के बाद करे तो खबर पड़े तो खबर पड़नी चाहिए या न करे तो ? सुना किस काम का ? सुना वह तो कान में पड़ा। सुनकर समझे तो खबर पड़े न ? समझे बिना क्या खबर पड़े ? समझ में आया ? सुनते तो बहुत हैं परन्तु अन्दर आत्मा.. अहो ! एक स्वरूप प्रभु आत्मा विराजमान है, उसकी दृष्टि बिना कल्याण की शुरुआत कहीं तीन काल में नहीं है। ऐसी अन्तर्दृष्टि किये बिना इसे सम्यग्दर्शन साधन प्रगट नहीं होता। मुक्ति का साधन यह है, वह तो प्रगट नहीं होता। ज्ञानी जानता है कि उसका क्रम है। प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, कहीं चारित्र एकसाथ प्रगट नहीं होता। यह कहा न ? तत्त्वज्ञानी भोग छोड़ नहीं सकते। वह आसक्ति है, उसमें क्रम जानते हैं। पहले आत्मा की दृष्टि हो, पश्चात् स्वरूप की स्थिरता हो, पश्चात् शुक्लध्यान हो और केवल (ज्ञान) हो। एकदम पहले धड़के सम्यग्दर्शन हो और भोग छोड़ दे, ऐसा नहीं हो सकता - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

यह खर्च है,.. यह खर्च होता है। इसमें मेरी थोड़ी शान्ति जाती है। इस पुण्यपरिणाम में राग विभाव होता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री :खर्च का क्या काम है ? यहाँ तो घर का खर्च अन्दर की बात है। मेरा वीर्य विकार में इतना खर्च होता है और इतना स्वभाव में खर्च होता है, ऐसा उसे विवेक होता है।

यह आनुषंगिक (ऊपरी) फल है,.. कहते हैं कि जहाँ आत्मा का धर्म हो, वहाँ थोड़ा पुण्य हो, उसका बन्ध-फल स्वर्गादि साथ में होता है। सौ कलथी अनाज हो, वहाँ सौ गाड़ा घास साथ में होता है। इसी प्रकार आत्मा का धर्म करनेवाला, आत्मा की शान्ति करे, उसे अभी थोड़ा पुण्यभाव होता है, उसका फल स्वर्गादि मिलता है, ऐसा धर्मी जानता है। समझ में आया ?

यह मेरी अवस्था है,.. देखो ! धर्मी जानता है कि यह मेरी दशा की यह अवस्था है। मैं तो सम्यग्दर्शनपूर्वक दशा को रख सकता हूँ या मैं पंचम गुणस्थान की दशा को रख सकता हूँ या मुनिदशा को मैं रख सकता हूँ। ऐसी अपनी दशा को वह जानता है। अज्ञानी को उस दशा की खबर नहीं है। समझ में आया ? भाई ! धर्म अवश्य, परन्तु अभी मेरी दशा इस भोग के त्याग की मेरी दशा नहीं है। आसक्ति को मैं अभी नहीं छोड़ सकता। मुझमें आसक्ति है, समझ में आया ? उस मेरी अवस्था के प्रमाण में मुझे धर्म है परन्तु आसक्ति है, उसे मैं छोड़ नहीं सकता। उसकी अवस्था का ज्ञानी को भान होता है। देखो ! अवस्था का भान होता है, ऐसा कहते हैं। अन्ध नहीं होता, ऐसा यह कहते हैं। कुछ खबर नहीं, कौन जाने हम कहाँ हैं, किस अवस्था में हैं ? ऐसा नहीं है। अवस्था कौन ? यह युवा, बाल और वृद्ध ? उसका क्या काम है ? वह तो जड़ है। मेरी वीतरागदृष्टि इतनी प्रगट हुई है, वीतरागता इतनी हुई है और राग इतना रहा है। ऐसी अवस्था का ज्ञानी को ख्याल होता है, विवेक होता है। अज्ञानी को उसका विवेक नहीं होता। कुछ खबर नहीं होती। अन्धे अन्ध कुटाय।

यह मित्र है,.. देखो ! देव, गुरु, शास्त्र आदि मित्र। बाकी विरोधी। यह शत्रु है,.. व्यवहार से जाने। वास्तव में आत्मा का स्वभाव मित्र; विकार, वह शत्रु। समझ में आया ?

बाहर का भी विवेक रखे, कौन प्रतिकूल है ? कौन अनुकूल ? उसका ख्याल होता है । ख्याल होता है, इतना हों ! इतना विवेक होता है । अन्दर में आत्मा पवित्रधाम शुद्ध चैतन्य, वह मेरा स्वभाव ही मेरा मित्र है और जितने विकारभाव होते हैं, वे मेरे शत्रु हैं ।

मुमुक्षु : अपने से भिन्न हो, उसे मित्र कहा जाता है या अपने ही अपने को मित्र कहा जाता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं अपना मित्र । और दूसरा कौन मित्र धूल में था ? ऐसे मरता हो ऐं.. ऐं... करे, दूसरा मित्र हो, वह देखे, क्या करे इसे ? शाल डाले ।

मुमुक्षु : आश्वासन दे ।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या आश्वासन दे ? वह सुन सके नहीं । कान में कुछ हो गया । बीस वर्ष का मरता हो, लो ! समझ में आया ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या करे परन्तु ? उसे भान में ऐसे-ऐसे डग-डग होता हो, हाय.. हाय.. ममता में । क्या सुनावे ? आहाहा ! हमारे पालेज में एक जवान लड़का था, बहुत जवान, पाटीदार, हों ! हमारी दुकान के साथ में । ऐसा जवान । दो जवानों को ऐसे खड़ा रखे, स्वयं बाईस वर्ष का परन्तु बाईस-बाईस वर्ष के दो जवानों को ऐसे हाथ में ऊँचा करके ऐसे घुमावे । ऐसी ताकत । उसे मरते हुए मैंने देखा, वहीं का वहीं, उसी मकान में । दुकान साथ में थी वहाँ । समझे न ? आहाहा ! विवाहित । पेटलाद का पाटीदार था । मरते हुए ऐसे... देखने गये, आँखें ऐसे टक.. टक.. टक.. अन्दर में दुकान की ममता.. ममता.. ममता.. आहाहा ! रात्रि में निवृत्त होवें, फिर दुकान के नीचे खेले, बाईस वर्ष का था परन्तु बाईस-बाईस वर्ष के जवानों को ऐसे हाथ में ऊँचा करे ऐसे, हों ! पूरा ऊँचा करके दोनों को घुमावे । ऐसे और ऐसे घुमाता था, ऐसी शक्ति । वह मरने पड़ा तो आँखें ऐसे.. ऐसे.. मरने की तैयारी । अरे ! क्या हुआ यह ? ऐसा ही कोई रोग हो गया था । बुखार और कफ और... एकदम । जवान जोध मनुष्य, हों ! मर गया । साथ में पाँच गाँव है, गाँव है कुछ, नहीं ? नर्मदा निकली वह । चाँदोल ? वहाँ मुर्दे को जलाने ले गये । जवान, पाटीदार । धूल में परवस्तु कहाँ साधन है ? मित्र किसे कहना ? हम गये थे उसके पास । हम साथ में सब मित्र कहलाते थे । सुनने

को नहीं मिले। आँखें ऐसे फटती थी... टक.. टक.. अन्दर घिर गया। कौन मित्र ? बापू! तेरा आत्मा.. करे वह तेरा मित्र है और विकारभाव वह शत्रु है, उसका ज्ञानी को विवेक होता है, अज्ञानी को भान नहीं है। दूसरे मित्र और शत्रु मानता है। धूल में भी कोई शत्रु-मित्र (नहीं है)।

यह देश है,.. समझ में आया ? यह देश है, अभी पाक ऐसा है, अमुक ऐसा है। स्वयं कहता है, देश, काल की योग्यता। तदनुसार स्वयं त्याग करता है, ऐसा कहते हैं। देश, काल को जानकर स्वयं समझकर त्याग करे। एकदम उतावला होकर छोड़ दे, ऐसा नहीं। यह देश है।

यह काल है,.. यह काल कैसा है ? जिसमें निर्दोष किस प्रकार से निभे ? किस प्रकार से हो ? यह सब विवेक करता है, ऐसा कहते हैं। देश, काल को देखे। ऐसे का ऐसा धुत होकर पड़े, ऐसा नहीं। यह कैसा काल है ? कैसी स्थिति है ? इस काल में कितना करने योग्य है ? यह सब उसे विवेक होता है।

इन सब बातों पर ख्याल देते हुए.. देखो! बुद्धिमान पुरुष प्रयत्न किया करता है। सबका ख्याल रखकर वह प्रयत्न करता है। कहो, समझ में आया ? मूर्ख ऐसा नहीं करता। दो बातें ली हैं, लो ! मूर्ख ऐसा नहीं करता। समझ में आया ? 'प्रयतते बुधो नेतरः' है न ? पाठ में शब्द ही है। 'प्रतिवितर्कयन् प्रयतते बुधो नेतरः' इतर अर्थात् मूर्ख ऐसा नहीं करता। पाठ में है, हों ! 'नेतरः' अपने पाठ के शब्द हों तो ठीक रहे। आधार होवे न ! आहाहा ! इतर अर्थात् मूर्ख है, वह फल का विचार नहीं करता। क्रिया क्या ज्ञान की, राग की, पर की (क्रिया क्या) ? - इसका विचार नहीं करता। करण-साधन किसका ? अन्तर का, विकार का, इसका कुछ विचार नहीं करता। क्रम क्या पड़ता है ? पहले सम्यग्दर्शन हो, फिर चारित्र (होता है) यह तो एकदम व्रत ले लेवे और फिर भान बिना निभ नहीं सके, ऐसे मूर्ख ऐसा करते हैं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : उत्साह आ जाये तो जवानी में करे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका उत्साह ? धूल का ? उत्साह में आकर मनुष्य कुँ में कूद पड़ता है ? वहाँ विचार करता है। आहाहा ! वहाँ उत्साह में आकर एकदम कुँ में नहीं

गिरता। वह विचार करता है। खर्च का भी विचार करता है, हों! कितना खर्च होता है, कैसे है, कैसे नहीं, ऐसे बाहर में भी विचार विवेक रखता है। होवे पाँच हजार की पूँजी और खर्च डाले पाँच हजार, बहुत होशियार होकर दे दे पाँच हजार, जाओ। समझ में आया? वह विचार करे, मेरी शक्ति कितनी है? मैं कितना पहुँच सकता हूँ? मेरा काल क्या है? कैसे निभ सकूँगा? ऐसा विचार करे? समझ में आया? यह विचार मूर्ख नहीं करता। खर्च का विचार नहीं करता। आवे दस और जावे बारह। खर्च का विचार नहीं कि मैं पहुँच सकूँगा नहीं, हैरान हो जाऊँगा। समझ में आया? ऐसे आनुसांगिक फल क्या आयेगा? दुनिया शत्रु होगी या यह होगा या उसका फल... उसका विचार नहीं करता। मेरी अवस्था क्या है, उसका मूर्ख को भान नहीं है, शत्रु-मित्र का भान नहीं है, देश काल का भी भान मूर्ख को नहीं होता। लो!

**दोहा - भोगार्जन दुःखद महा, भोगत तृष्णा बाढ़।
अंत त्यजत गुरु कष्ट हो, को बुध भोगत गाढ़।।१७।।**

भोगार्जन दुःखद महा,.. भोग के करने में तो बड़ा दुःख है। भोगत तृष्णा बाढ़। भोगते-भोगते तृष्णा बढ़ जाती है। अंत त्यजत गुरु कष्ट हो,.. छोड़ते हुए आसक्ति छूटती नहीं। भोग के शुरुआत में आताप, उसे भोगने में अतृप्ति और छोड़ने में आसक्ति छोड़ी नहीं जाती-छूटती नहीं। आसक्ति... आसक्ति... आसक्ति... ऐसी चीजों को... जाये। लोलुपता अन्दर रहा करती है। आहाहा! यह करना न आया होता और... आ जाये वह रुचता नहीं। ऐसा कहती है न दुनिया? आया पोसाये, आया हो, वह समाये। जाये, वह समाये नहीं, मूढ़, अब आवे-जावे कौन? सुन न अब समझ में आया? कहते हैं अंत त्यजत गुरु कष्ट हो,.. महाकष्ट हो। गुरु अर्थात् आसक्ति बहुत होती है, ऐसा। को बुध भोगत गाढ़। कौन ज्ञानी रुचिपूर्वक भोगेगा? कहते हैं, हों! गाढ़ अर्थात् — कौन रुचिपूर्वक भोग को और विषय को सेवन करेगा। आत्मा के आनन्द को छोड़कर उनमें रुचि कौन करेगा? कहो, समझ में आया? देखो! यह धर्म की रीति कहते हैं। भाई! यह शरीर, वाणी, मन की क्रियाएँ धर्म नहीं हैं। अन्दर के पुण्य-पाप के भाव हों, वह धर्म नहीं है। आत्मा शुद्ध चैतन्यप्रभु की अन्तर में दृष्टि, ज्ञान और स्थिरता करे, वह धर्म है। वह धर्म आत्मा को मुक्ति देनेवाला है। इसके अतिरिक्त कोई मुक्ति को देनेवाला नहीं है। समझ में आया?

उत्थानिका - आचार्य फिर और भी कहते हैं कि जिस (काय) के लिये सब कुछ (भोगोपभोगादि) किया जाता है वह (काय) तो महा अपवित्र है, जैसा कि आगे बताया जाता है -

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि।

स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा॥१८॥

अर्थ - जिसके सम्बन्ध को पाकर-जिसके साथ भिड़कर पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं, वह शरीर हमेशा अपायों, उपद्रवों, झंझटों, विघ्नों, एवं विनाशों कर सहित हैं, अतः उसको भोगोपभोगों को चाहना व्यर्थ है।

विशदार्थ - जिस शरीर के साथ सम्बन्ध करके पवित्र एवं रमणीक भोजन वस्त्र आदिक पदार्थ अपवित्र घिनावने हो जाते हैं, ऐसा वह शरीर हमेशा भूख प्यास आदि संतापोंकर सहित है। जब वह ऐसा है तब उसको पवित्र अच्छे-अच्छे पदार्थों से भला बनाने के लिये आकांक्षा करना व्यर्थ है, कारण कि किसी उपाय से यदि उसका एकाध अपाय दूर भी किया जाय तो क्षण-क्षण में दूसरे-दूसरे अपाय आ खड़े हो सकते हैं।

दोहा - शुचि पदार्थ भी संग ते, महा अशुचि हो जायँ।

विघ्न करण नित काय हित, भोगेच्छा विफलाय॥१८॥

गाथा - १८ पर प्रवचन

शिष्य वापिस प्रश्न करता है आचार्य फिर और भी कहते हैं.. आचार्य कहते हैं। जिस (काय) के लिये सब कुछ (भोगोपभोगादि) किया जाता है, वह (काय) तो महा अपवित्र है, जैसा कि आगे बताया जाता है - लो! दुनिया शरीर के लिये मथती है। धूल। कहीं का ढेर यहाँ आकर पड़ा, उसे रखने के लिये मथती है। आचार्य कहते हैं दुःखी... दुःखी अज्ञानी। यह रजकण का पिण्ड कहीं था जहर का, विषा का, कहीं का था, वह यहाँ आया है। यह शरीर.. शरीर। शरीर, यह बाल, यह हड्डियाँ, यह नाक सब परमाणु है, रजकण का पिण्ड है, पुद्गल का स्कन्ध... स्कन्ध-जत्था है। यह जत्था पहले कहीं

था। विष्टा में था, कोई तलवार में था, कोई हथियार में था, कोई सड़े हुए कुत्ते में था, कोई सड़ी हुई बिल्ली में था, सड़े हुए ऊँट में था, उस रजकण के स्कन्ध आकर यहाँ यह शरीर हुआ है। आहाहा!

भाई! तू तो अरूपी प्रभु भिन्न है न, बापू! यह तो रजकणों का पिण्ड बहुत बार किस प्रकार आकर पलट गये। ऐसे-ऐसे शरीर के तो अनन्त बार वमन किये और उसके जो रजकण के स्कन्ध वापस तेरे पास आये हैं। नदी के पानी के पूर देखने जाये और कहे, हमारे यहाँ पानी आया। हमारे कालूभार में बहुत पानी। गहरी बहुत है और लम्बी बहुत है। लड़के थे न तब देखने जाते थे। पानी.. पानी.. जाने न दे, बहुत छोटे थे न! गढ़ है न? गढ़ के अन्दर जाने न दे, बाहर खड़े रहना पानी बहुत आता है। तब तो बहुत आता था (संवत्) १९५७ में इतना पानी आता था। घोड़ापूर की बात नहीं की थी? घोड़ापूर... ऐसा, हों! घोड़ापूर, कालूभार नदी। जाने न दे। क्यों? बापू! तुम्हारा काम नहीं वहाँ। पानी का पूर खींच डालेगा। समझ में आया? शरीर की सम्हाल के लिये करते हैं।

यहाँ कहते हैं, ऐसा शरीर। देखो! इसमें से सड़ा हुआ हो, वह इकट्टा होकर यह शरीर हुआ है, लो! आहाहा! कहीं के रजकणों का पिण्ड था, वह पिण्ड यहाँ आकर खड़ा रहा है। यह थोड़ी देर अवधि से रहेगा वहाँ, फू.. होकर चला जायेगा। भगवान आत्मा तो वह का वह है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ख्याल आवे, तब खबर पड़े कि....

पूज्य गुरुदेवश्री : ख्याल आवे तब खबर पड़े। आहाहा! उसके उस दुश्मन के रजकण शरीररूप आवे और उसके उस दुश्मन का आत्मा घर में पुत्ररूप से आवे। उस दुश्मन का आत्मा लड़का (होकर आवे) और उसके शरीर के रजकण जो बाहर थे, वे इस शरीर के ऊपर आवे, तो यहाँ प्रेम करने लगे। वह लड़का हो तो कहे मेरा लड़का। अरे.. अरे..! यह भ्रमणा तो देखो! पूर्व का लड़का हो, वह मरकर यहाँ शत्रु हो। वह का वह लड़का आगामी भव में शत्रु हो। यह तो परिवर्तन भिन्न-भिन्न है न! रजकण भिन्न हैं, आत्मा भिन्न है। आहाहा! यह नाटक का खेल।

इसे दरकार नहीं है। अरे! मैं त्रिकाली तत्त्व हूँ और यह संयोगी चीज़ तो एक समय

के सम्बन्ध में खड़ी है। सम्बन्ध में खड़ी है, अन्दर में तो आयी नहीं। मैं निरालम्बी निराधार पर के आश्रयरहित तत्त्व हूँ। मुझे किसी का आधार नहीं है। ऐसे आत्मा की श्रद्धा की इसे खबर नहीं पड़ती। भगवान आत्मा... समझ में आया ? कहो, समझ में आया इसमें ? आहाहा !

दो वर्ष का लड़का हो और जरा रूपवान हो और भरा हुआ शरीर हो, फिर ऐसे पेट के ऊपर बटका भरे न ? बक्की भरे ऐसे.. ऐसे..। उसके वे रजकण जहर जैसे थे, वह जहर होकर यहाँ आये हैं परन्तु कुछ भान नहीं न। आहा ! बेटा ! कोमल हाथ होवे तो वापस ऐसे करे, एक हाथ यहाँ डलावे एक हाथ यहाँ डलावे।

मुमुक्षु : हू-ब-हू वर्णन करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु ऐसा करते हैं न ? आहाहा ! ऐसे बक्की भरकर फिर ऐसे-ऐसे करते हैं परन्तु क्या है ? कुछ विवेक-खबर है ? तू कौन ? यह क्या ? कुछ खबर है ? यह तो जड़ के रजकण के पिण्ड तेरे शत्रु थे, वे आकर इस शरीररूप हुए हैं, सुन तो सही। आहाहा !

मुमुक्षु : ऐसा करे तो प्रिय कब हो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं, प्रिय करनेयोग्य नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। आत्मा, आत्मा पर प्रिय करनेयोग्य है, सच्चिदानन्दस्वरूप अनन्त आनन्द का कन्द नाथ तू है न ! भाई ! तीन लोक का नाथ कण-कण का भिखारी होकर घूमे, यह तुझे शोभा देता है ? भाई ! आहाहा ! इन्द्रों के इन्द्रासन चिगाने आवे तो भी चलित न हो, ऐसी तेरी गति की जाति है, तू यह क्या करता है ?

यहाँ कहते हैं, यह शरीर... समझ में आया ? **सब कुछ (भोगोपभोगादि) किया जाता है, वह (काय) तो महा अपवित्र है,.. शरीर की बात लगायी अब, दूसरी तो एक ओर रही।**

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि।

स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा॥१८॥

आहाहा ! जिसके सम्बन्ध को पाकर-जिसके साथ भिड़कर पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं,.. भाई ! तेरा स्वरूप तो अन्दर पवित्र है, हों ! 'तेरी नजर के

आलसे रे ते निरख्या न नैयने हरि' वह हरि स्वयं पाप और पुण्य से रहित प्रभु तू स्वयं है हरि। हरि-बरि दूसरा कोई कर्ता-वर्ता नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा पवित्र प्रभु, उसके सामने यह अपवित्र का पिण्ड साथ में लेकर घूमना, तुझे शर्म नहीं आती? कहते हैं। उत्साह करे। गधा मर गया (और) हाथ से उठाकर चले तो? और इस मुर्दे को साथ में लेकर घूमे और उत्साह करे। मेरा शरीर है, अमुक है। गधे के मुर्दे को उठाते शर्म होती है और यह तो मनुष्य का मुर्दा। गधे के मुर्दे में से कुछ उसकी लाद भी निकले, यह तो इसकी लाद भी काम नहीं आती। उसकी लाद भी विष्टा होती है। समझ में आया? आहाहा!

आचार्य कहते हैं, इसके तीन प्रकार—एक तो उत्पत्ति अपवित्र। शरीर की उत्पत्ति खून और वीर्य से इसकी उत्पत्ति हुई। वर्तमान में हड्डियाँ, चमड़ा और खून – दो। और तीसरा, जो इसका संग करे, उसे अपवित्र बनाता है। चार सेर घी पिलाया हुआ मैसूर यहाँ डाले तो तुरन्त अपवित्र बनावे, ऐसा यह शरीर है। ऐसी मशीन जगत में कोई नहीं है। अपवित्र से उत्पन्न हुआ, अपवित्र स्वरूप स्वयं और जो इसका संग करे, उसे क्षण में अपवित्र बनावे। आहाहा! तू स्वयं पवित्रता का पिण्ड, उसकी एकाग्रता हो तो तुझे दशा में पवित्रता आवे और तू दुनिया को समझावे तो पवित्रता समझे, तो पवित्रता को तू निमित्त हो, ऐसा तू आत्मा है। आहाहा! समझ में आया? कहीं का पिण्ड आकर कहीं आवे, वहाँ कहे-मेरा हो गया। यह जड़ वह मेरा, (यह) मान्यता मिथ्यात्व है, ऐसा बताते हैं। समझ में आया? मिथ्यादृष्टि उस जड़ शरीर को अपना मानता है। आहाहा! गजब बात!

मुमुक्षु : वैराग्य कराने को कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वैराग्य कराने को (नहीं), सच में ही नहीं होता यह? भावभासन नहीं होता यहाँ? ऐसे सड़ता है तो गधा जैसा सड़ जाये। सड़े तब। आहाहा! एक बनिये को वहाँ देखा था। वावड़ी में। अन्दर गन्ध मारता था। गोपाणी था न? हम गये थे। गन्ध मारता था। गली में सामने घर है 'वावड़ी' ऐसा गन्ध मारे, ऐसा गन्ध मारे... उसकी बहू कहे मांगलिक सुनाओ। ऐसा गन्ध मारे। मांगलिक सुनाया। सड़ गया। महाराज आये हैं, हों! अपने नियम ले लेवें। तो कहे, अभी नहीं, अभी नहीं। रात्रि में मरना है। उपाश्रय छोटा था न? छोटा उपाश्रय था, उसके बाद आगे वहाँ हम उतरे थे। रात्रि में मर गया। गन्ध मारे, गन्ध मारे, गन्ध मारे, यह सब सड़ गया परन्तु इसमें न सड़े तो क्या? सबके सड़ते होंगे?

कहते हैं कि भाई! इस पवित्रता का नाथ आत्मा, वह ऐसी अपवित्रता का प्रेम-मित्रता कैसे की? ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया? कहो, जैचन्दभाई! यह तो सब इसमें समझने जैसा आता है, हों! आहाहा! तेरी चीज़ है, वह तो अनन्त आनन्द और शान्ति से भरपूर पावर अन्दर है। जितना एकाग्र हो, उतना अन्दर से शान्ति का फब्बारा फूटेगा। ऐसा तू भगवान तीन लोक का नाथ प्रभु! तेरी क्या बात! कहते हैं। उसे इस पिण्ड के साथ रुचता है, तुझे कैसे रुचता है? आहाहा! रुचि छुड़ाते हैं, हों! फिर आसक्ति हो परन्तु पहले इसकी रुचि (छुड़ाते हैं)। शरीर ऐसा है। तू ऐसा और शरीर ऐसा। दोनों इकट्ठे कैसे रहे? रहते कैसे हैं? उसे तो मानो कोमल शरीर हो तो बटका भर लूँ। कर क्या लूँ इसमें? धूल में कुछ नहीं। पागलपने के गाँव अलग नहीं होते। हर गाँव में पागल (होते हैं)। आहाहा! समझ में आया?

जिसका सम्बन्ध पाकर, जिसके साथ भिड़कर, पवित्र परन्तु भिड़ते हैं न? मैसूर का टुकड़ा अच्छा हो, चार सेर घी पिलाया हुआ, उसे इसके साथ थोड़ी देर रखे तो? यह छाती अच्छी-अच्छी किया करता है न? ऐसी अच्छी-अच्छी। फिर ले खा। खाता नहीं और ले खा, पसीना छू गया। परन्तु तू कहता था तेरा शरीर अच्छा है। उसे छुआ है या नहीं? अच्छे घी का पिलाया हुआ फर्स्ट क्लास, हों! चार सेर घी पिलाया हुआ। उमराला में मैसूर बहुत बढ़िया होता है। चार सेर घी का पिलाया हुआ। वह होशियार हलवाई है न? नहीं तो बाहर ही रखे। छू गया, मुँह छू गया। परन्तु खाना है न? ऐसी शरीर की स्थिति तुझे दिखती है। उसे स्पर्श किया हुआ नहीं खाया जाता। वह ऐसा हो जाता है, तो भी कहता है, यह अच्छा मेरा।

मुमुक्षु :धर्म होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी धर्म नहीं होता। कहो, समझ में आया?

वह शरीर हमेशा अपायों, उपद्रवों, झंझटों, विघ्नों, एवं विनाशों कर सहित हैं, अतः उसको भोगोपभोगों को चाहना व्यर्थ है। उसे भोग में, उसमें जड़ में क्या करना? आत्मा के आनन्द में देख न! कहते हैं। उसके साथ भोग भोगने की रुचि करना वृथा है।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १६ गाथा-१८-१९ शुक्रवार, दिनाङ्क ३१-०३-१९६६
चैत्र शुक्ला ११, वीर संवत् २४९२

यह इष्टोपदेश है। इसकी १८वीं गाथा चलती है। यहाँ सर्वज्ञ भगवान तीर्थंकर परमात्मा ने शरीर और आत्मा भिन्न कहे हैं और हैं। यहाँ कहते हैं कि यह शरीर ही तेरी चीज़ नहीं है तो इससे तुझे कुछ लाभ हो-ऐसा है नहीं। धर्म का लाभ तो अन्दर आत्मा के पवित्र स्वभाव की दृष्टि करने से धर्म लाभ होता है। शरीर से कुछ नहीं होता। यह शरीर ही परद्रव्य है। यह तो अजीव, मिट्टी, धूल, पुद्गल है। इसकी बात जरा इसकी रुचि छुड़ाने को यह बात करते हैं। भाई! शरीर की रुचि छोड़! वह अजीवतत्त्व है, पुद्गल है, रूपी है, मिट्टी और इस चमड़ी से लिपटा हुआ माँस-हड्डियों का एक पुतला है। वह कहीं तेरी चीज़ नहीं है और तू उस चीज़ में रुचि करता है तो तेरे चैतन्य की रुचि टलती है। समझ में आया? ज्ञानानन्दस्वरूप....

मुमुक्षु : दोनों की साथ में हो सकती है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों की साथ में हो ही नहीं सकती। इसके लिए तो यहाँ बात करते हैं। आत्मा ज्ञानानन्द सिद्धस्वरूप, परमात्मा जैसे अरिहन्त हुए, वैसा ही इस आत्मा का अन्तर स्वरूप है। ज्ञान और आनन्द से भरपूर आत्मा पदार्थ है। उसकी रुचि छोड़कर और इस शरीर की तू रुचि करता है, तो शरीर तो अपवित्र और तू तो पवित्र का धाम! तुझे दोनों का मेल किस प्रकार होता है?-ऐसा कहते हैं। समझ में आया? तू तो ज्ञानानन्द, केवलज्ञान आदि अनन्त आनन्द की गाँठ (पिण्ड) आत्मा है। प्रभु परमात्मा केवली ने आत्मा तो शुद्ध आनन्दकन्द पवित्र धाम देखा है। उसके साथ तुझे इस अपवित्रता की प्रीति कैसे है? समझ में आया?

मुमुक्षु : इकट्ठा है न, इसलिए...

पूज्य गुरुदेवश्री : इकट्ठा बिल्कुल नहीं, यही यहाँ कहते हैं। मूँग और खिचड़ी, उसमें भी मूँग की दाल और चावल दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

मुमुक्षु : पकाने के समय एक हो जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कभी एक होते ही नहीं। मूँग के रजकण भिन्न और चावल के भिन्न। प्रत्यक्ष जड़-मिट्टी है। इसलिए तो यहाँ बात करते हैं कि भाई! तुझे हित करना हो तो यह शरीर जड़ है, मिट्टी है, अजीव है, मूर्त है, इसकी रुचि छोड़ कि यह मुझे लाभदायक है और मुझे हितकर है, यह रुचि छोड़। समझ में आया? आत्मा आनन्दस्वरूप ज्ञानानन्द सर्वज्ञ परमेश्वर तीर्थकरदेव ने आत्मा पवित्र देखा है। वह पवित्र तू ही है। उसकी अन्तररुचि कर तो तुझे शान्ति और धर्म होगा। इसकी (शरीर की) रुचि करने से क्या (होगा)? यह कहते हैं, देखो!

अर्थ - जिसके सम्बन्ध को पाकर-.. जिसके सम्बन्ध को पाकर अर्थात् इस शरीर के सम्बन्ध को पाकर आत्मा को जिसके साथ भिड़कर.. इस शरीर के साथ में कोई भी बाहर की चीज़ जोड़ दो तो पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं,.. आत्मा के साथ रहा हुआ शरीर, इस शरीर के साथ किसी भी चीज़ का सम्बन्ध करो तो उसे अपवित्र बनायेगा, ऐसा यह शरीर है। दाल, भात, सब्जी, यह मेसूर, लड्डू डालो यहाँ से, ऐसे थूक-धूल बनायेगा, छह घण्टे में विष्ठा बनायेगा, वह यह शरीर है।

मुमुक्षु : आत्मा तो अनादि का साथ में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि का साथ में कब था? यह शरीर भिन्न है, वह भी भिन्न है। इसके पहले दूसरा शरीर था, तीसरा था। उसके साथ में कब (था?) भिन्न-भिन्न शरीर हैं। ये तो भिन्न-भिन्न हैं। अनन्त बार मिले। आत्मा तो वह का वही है और ये भिन्न-भिन्न हैं। समझ में आया?

कहते हैं, जिसका सम्बन्ध पाकर अर्थात् क्या? इस शरीर का सम्बन्ध पाकर जिसके साथ भिड़कर.. जिसके साथ जुड़ने से पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं,.. कहो, दाल, भात, सब्जी, मेसूर, वस्त्र-वस्त्र अच्छे से अच्छे ऊँचे होते हैं, पाँच सौ-पाँच सौ के वस्त्र, हजार-हजार के बनाते हैं न? अभी देखो न! कैसे बड़े होते हैं-क्या कुछ ५०-५२ रुपये का वार। सेलालीन, अपने को नाम भी आते नहीं। यह सब लड़के बहुत करते हैं। एक व्यक्ति कहता था, तीन सौ रुपये का कपड़ा है। एक क्या कहलाता है तुम्हारा? नीचे का, पतलून और ऊपर का वह। कितने का? तीन सौ रुपये का, तीन सौ रुपये का। दर्जी

का कितना ? पैंतीस रुपये की सिलाई । बाप के पास पैसे पड़े हैं, क्या करें तब ? व्यर्थ में प्रयोग तो करें या नहीं ! आहा ! तीन सौ रुपये । तीन सौ रुपये में तो पहले बाँध देते । बेचारी विधवा महला को डेढ़ रुपये-दो रुपये हो, ब्याज में, कोट में । यह तो वह तीन सौ रुपये का कपड़ा । एक-एक ही कपड़ा, हों ! मात्र एक जोड़ी-एक नीचे का एक ऊपर का ।

मुमुक्षु : सुख बढ़ा न !

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी (सुख) बढ़ा नहीं, कहते हैं । व्यर्थ का दुःखी है । ऐसे कपड़े भी शरीर के सम्बन्ध से ऐसी दुर्गन्ध मारते हैं, दुर्गन्ध मारते हैं । समझ में आया ? इसमें मेसूर डाला, मोसम्बी का पानी डाला, मलिन पेशाब-विष्ठा होगी । यह (शरीर) विष्ठा उपजाने की मशीन है । यह कहते हैं, देखो न ! बापू ! रुचि छोड़, रुचि । यह (शरीर) अजीव है-जड़ है, भाई ! यह मिट्टी है, तू नहीं, तेरा नहीं, तुझमें नहीं और तू इसमें नहीं । दोनों चीजें भिन्न हैं, भाई ! इसलिए यह बात करते हैं । समझ में आया ? **पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं,...**

वह शरीर हमेशा अपायों,... अन्दर नुकसानकारक है, कहते हैं । है न अपाप ? चाहे जैसी चीज़ डालो, उसे छुआओ, तुरन्त गन्ध मारेगी, गन्ध मारती है, लो ! दुर्गन्ध... दुर्गन्ध । उसे तू भोग के साधन मानकर और मिथ्यादृष्टिरूप से शरीर (मेरा) मानकर उसमें-भोग में रस लेता है, बापू ! तेरे आत्मा की हिंसा होती है । समझ में आया ? मिथ्यात्वभाव से शरीर मेरा-ऐसा मानकर; जो शरीर जड़ का है, उसे 'मेरा' मानकर उसके भोग की वासना में प्रेम करता है, भाई ! यह रुचि करना मिथ्यात्वभाव है । उसमें-भोग में सुख नहीं है; आत्मा में सुख है । आत्मा में सुख है-उसकी रुचि कर । इसके भोग में सुख नहीं, यह तो दुःख का कारण है । देखो !

शरीर हमेशा अपायों,... अनर्थ का कारण है, **उपद्रवों,...** उपद्रव का कारण है । शरीर क्षण में ऐसा हुआ, अमुक हुआ । मोहनभाई ! क्यों जयचन्द्रभाई ? यह सत्य बात आर्तध्यान के कारण । वह नहीं परन्तु शरीर ऐसा कहते हैं कि आत्मा के हित से यह उल्टी चीज़ है, ऐसा कहते हैं । इसलिए इसकी रुचि छोड़ना-ऐसा कहते हैं । यह किसलिए कहते हैं ? यह जड़ है । भगवान परमात्मा कहते हैं कि भाई ! यह जड़ मिट्टी है और तू तो आत्मा

है। दो चीज़ पूरब-पश्चिम का अन्तर अत्यन्त भिन्न जाति है। उसकी रुचि से आत्मा की रुचि टल जाती है।

आत्मा आनन्दमूर्ति! सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा वीतराग की मूर्ति आत्मा देखा है। तेरी दशा में विकार होता है, वह तो क्षणिक उपाधि है। अन्तरस्वभाव तो वीतराग है। भाई! उसमें नजर करनी चाहिए, उस आत्मा को अपना समीप भाव करना चाहिए। ऐसी रुचि छोड़कर यह शरीर मिट्टी, हड्डियाँ और चमड़ा ऊपर लपेट, उसे मेरा मानकर तू दुःखी हो रहा है। यह अनर्थ का कारण है। रुचि-रुचि छोड़ने की बात करते हैं, हों! एकत्वबुद्धि छोड़, ऐसा कहते हैं। जड़ और चैतन्य की एकत्वबुद्धि छोड़। समझ में आया ?

उपद्रवों,.. क्षण-क्षण में कुछ (होता है)। यह हुआ, धूल हुआ और अमुक हुआ। चौबीस घण्टे की लगायी हो। आँख में ऐसा होता है। जड़ रजकण अनन्त परमाणुओं का पिण्ड मिट्टी है। काया तो अजीव है न, तू तो जीव है, तू अरूपी है, यह रूपी है, यह मूर्त है तू अमूर्त है; तू आनन्द है, यह उपद्रव का घर है। भेदज्ञान कराते हैं। आहाहा! उपद्रव का घर है।

झंझटों,.. एक व्याधि मिटावे वहाँ दूसरी; दूसरी मिटे वहाँ तीसरी। उपाधियाँ चला ही करती हैं और शरीर के जो रागी हों, ठीक से साफ-सूफ करके रहते हों और ऐसे नहा-धोकर ठीक से (रहते हों), उन्हें तो घड़ीक में कुछ ऊँ..हूँ... हो गया, मिट्टी चिपटी तो अमुक हो गया, अमुक हो गया। बेचारे हैरान-हैरान। पोपटभाई! साफ-सूफ, ऐसे रुपये-रुपये के साबुन। पहले बारह आने में आता था हमारे समय में अच्छा-अच्छा। अब बढ़ा होगा। क्या पता पड़े? पहले अच्छे में अच्छा बारह आने का साबुन (आता था)। तीन साबुन की पेटी सवा दो रुपये की आती थी। वहाँ दुकान-धन्धा था न! वहाँ पालेज में। समझ में आया? अभी तो बड़ा आता होगा। होली भी वहाँ उससे क्या? कहते हैं, यह शरीर तो मिट्टी है। कितना साफ करेगा? उठकर धोये कादव निकलेगा। उसे साफ करके अच्छा (रखूँ)... आहा! सुन्दर रखे। वह तो धूल, माँस का पिण्ड है। यहाँ रुचि छुड़ाते हैं, हों! वह तू नहीं, तेरी चीज भिन्न है, भाई! आत्मा है, भाई! तू आत्मा है न! वीतराग कहते हैं कि हमारी नात का और हमारी जाति का तू आत्मा है। समझ में आया? ऐसे आत्मा की तुझे

रुचि नहीं होती और इस उपद्रवकारी, झंझटकारी ऐसे शरीर का तुझे प्रेम ! क्या बोले कोई ? क्या कहा ?

मुमुक्षु : वीतराग की जाति का तू है, ऐसा कहा ।

पूज्य गुरुदेवश्री : वीतराग की जाति का है यह । किसकी जाति का है ? 'सर्व जीव हैं सिद्ध सम' सुना नहीं ?

मुमुक्षु : बनिये की जाति का नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : बनिया कैसा बनिया था ? यहाँ बनिया कैसा और ढेड कैसा ? वह तो आत्मा वीतराग की जाति का है । 'सर्व जीव हैं सिद्ध सम' सुना नहीं ? ऊपर लिखा है, देखो ! तुम्हारे पीछे । ('जो समझे वे होंय') ये शब्द मुखाग्र कर रखे हैं । कहा था कल प्रकाश को, यहाँ रहे, यहाँ बराबर ठीक से उलहाना सुनने का । नहीं तो ठीक नहीं रहे । ऐ.. मोहनभाई ! वहाँ फिर शोर मचायेगा, कहीं बम्बई ले जाओगे पन्द्रह दिन । ऐसे से ऐसे हैरान कर डालेगा सबको । यह शरीर ही मिट्टी, धूल है । कहते हैं कि रुचि छोड़, ऐसा कहते हैं ।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ गिर गया है । परन्तु किया किसने ? इसने-जीव ने किया है । यह तो यहाँ कहते हैं । कहाँ से कहाँ गिरे ? अध्धर से गिरता है ? भगवान कहते हैं कि तूने तेरे आत्मा का प्रेम छोड़कर शरीर की रुचि तूने की है, करे कौन ? कर्म-बर्म कराते हैं ? ईश्वर है कोई ? ईश्वर-विश्वर कोई कर्ता-फर्ता है नहीं ।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह क्षण-क्षण में करे नये जन्म का । नया-नया विकार करे और रुचि करे-यह मेरा । यह भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का पिण्ड है, उसकी रुचि भूल जाता है । रुचि नहीं करता, श्रद्धा-विश्वास नहीं करता । मुझमें आनन्द है, शान्ति है, यह विश्वास नहीं करता । धूल में आनन्द है और उसमें इस मिथ्यादृष्टि का विश्वास शरीर में पड़ गया है, ऐसा यहाँ कहते हैं । समझ में आया ?

गृहस्थाश्रम में तीर्थकरादि थे परन्तु शरीर के प्रति उनकी रुचि नहीं थी । नहीं, यह हम नहीं, यह हम नहीं, हों ! हमारा आत्मा आनन्दस्वरूप है । श्रेणिक राजा संसार में थे या

नहीं ? श्रेणिक राजा । भगवान के समय में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त हुए, तीर्थकर गोत्र बाँधा । पहले नरक में हैं, वहाँ से निकलकर आगामी चौबीसी में तीर्थकर होंगे । भान था अन्दर – यह नहीं, शरीर नहीं, यह राज नहीं, स्त्री-कुटुम्ब नहीं; हम तो आत्मा हैं, हमारा आत्मा आनन्दमूर्ति है । समझ में आया ?

ऐसा सम्यग्दर्शन कराने के लिये यह बात करते हैं । आहाहा ! तेरा आत्मा... भाई ! दोपहर को चलता नहीं ? शुद्ध चैतन्यमूर्ति है न, प्रभु ! आहाहा ! तुझमें तो सुख का पूरा पड़ा है न, नाथ ! अतीन्द्रिय आनन्द का पूरा तू है, भगवान परमात्मा कहते हैं । अन्दर में आत्मा के शान्ति के रस में चैतन्य के पूरे में पड़े हैं, उसकी तुझे रुचि नहीं, उसका तुझे विश्वास नहीं, उसका तुझे भरोसा नहीं और इस जड़-मिट्टी के भरोसे तू जड़ के भरोसे भूल जाता है । आता है न ? सेठिया कहते हैं न ? सेठिया का गायन नहीं ? जड़ के भरोसे भूल जाता है । चेतन भोला । अरे ! चेतन भोला / मूर्ख ! इस जड़ के भरोसे तेरा जीवन जाता है, भाई ! तेरा चैतन्य जीवन अन्दर अलग है । समझ में आया ?...

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि भाई ! तेरा आत्मा अन्दर पूर्णानन्द शुद्ध चैतन्यस्वरूप है और यह देह है मिट्टी, हड्डियाँ, चमड़े का पिण्ड है । समझ में आया ? तू अन्दर आत्मा है, उसमें तो ज्ञान और आनन्द भरा हुआ है ।

मुमुक्षु : कहाँ छुप गया होगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : इस शरीर के प्रेम में शोर मचाता है न, इसलिए छुप गया है वह ? शरीर की रुचि पूरे रात और दिन चौबीस घण्टे । इस शरीर को कुछ होवे तो मुझे हुआ, शरीर को अच्छा होवे तो मुझे अच्छा हुआ । धूल में वह तो मिट्टी है, हड्डियाँ हैं । वह कुछ रूपवान (हो) तो मैं रूपवान, वह काला तो मैं काला, रोग तो मैं रोगी । मूढ़ है ? शरीर की अवस्था जड़ की उसमें तुझे कहाँ से आया वह ? तू तो भिन्न चीज़ है । ऐ.. पोपटभाई !

भगवान परमात्मा वीतरागदेव कहते हैं कि भाई ! तू इस शरीर में रुचि करके पड़ा है, वह तो माँस और हड्डियाँ तथा चमड़ा है । ऊपर यह चमड़ा लिपटा हुआ दिखता है । एक बाल जितना, गन्ने का छिलका जितना छीलकर खड़ा रखो तो मक्खियाँ ऊपर भिनभिनायेंगी । ऐसा चमड़ा और हड्डियाँ, वह जड़तत्त्व है, प्रभु ! तेरा तत्त्व तो अन्दर अरूपी ज्ञानघन आत्मा

है। आत्मा तो अरूपी अनन्त आनन्द का कन्द है। उसकी रुचि छोड़कर इन मिट्टी, हड्डियों की रुचि करता है, मूढ़ है? यहाँ ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह तो मूल में चोट डालते हैं। समझ में आया? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ दिव्यध्वनि में सौ इन्द्रों की उपस्थिति में समवसरण में भगवान की वाणी कहती, इन्द्रों को वाणी ऐसा कहती थी। इन्द्र तो समकित्ता हैं, ज्ञानी हैं। यह तो अज्ञानी को कहते हैं, बापू! यह हड्डियाँ और चमड़े का पिण्ड वह तेरा? अन्दर कोई चीज़ नहीं तेरी?

विघ्नों,.. यह शरीर तो विघ्नों का घर है। यह विघ्न का घर। घड़ीक-घड़ीक में रोग आवे, घड़ीक में.. रह जाये, पक्षघात हो जाये, पैर रह जाये, खाली चढ़ जाये, यह धूल हो जाये, शूल चढ़े यह मिट्टी है, बापू! इसमें तुझे विघ्न में रुचि क्यों होती है? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **एवं विनाशों कर सहित हैं,..** घड़ीक में फूँ हो जाये यह.. यह.. यह.. क्या हुआ? भाई! डॉक्टर खड़ा था और नाड़ी देखने को ऐसे पकड़कर? चला गया। नाड़ी हाथ में नहीं आती। गया लगता है। मरकर गया नीचे। दूसरा क्या? राग का ऐसा प्रेम, धूल का-मिट्टी का प्रेम, उसे चैतन्यस्वामी का प्रेम नहीं। आनन्दकन्द शुद्ध चैतन्य सहजात्मस्वरूप की जिसे सम्यक् रुचि नहीं, उसे ऐसी रुचि के फल में तो नरक और चार गति में भटकता है, कहते हैं। कहो, समझ में आया इसमें? यहाँ तो पहला शरीर पर ही चोट मारी है, फिर कहेंगे लक्ष्मी-बक्ष्मी की बातें, हों!

अतः उसको भोगोपभोगों को चाहना व्यर्थ है। ऐसे शरीर का उपभोग करूँ, भोग लूँ, बारम्बार उपभोग करूँ, वह तो व्यर्थ है। धूल में, मिट्टी में तुझे क्या है? भाई! समझ में आया? आठ वर्ष की लड़की हो, सम्यग्दर्शन पावे तो उसे आत्मा में आनन्द भासित हो, भले वह विवाह करे परन्तु उसे कहीं आनन्द भासित नहीं होता। कहीं आनन्द नहीं है, मेरा आनन्द मेरे पास है। वे पति और पत्नी भले रहें शामिल, अन्दर में उदास हैं। हमारी चीज़ तो यहाँ है, हों! समझ में आया?

सीताजी, रामचन्द्रजी जैसे देखो! ऐसे देखो तो पति-पत्नी दिखायी दें। अन्दर में आत्मा हमारा आनन्द तो हमारे पास है, हों! इस पति से हमें आनन्द है, यह तीन काल में नहीं है, ऐसा मानती हैं। आहाहा! समझ में आया? और पति, पत्नी से आनन्द है, ऐसा नहीं

मानता। धर्मी, जिसकी आत्मदृष्टि हुई है, जिसे आत्मज्ञान प्रगट हुआ है, हम तो आत्मा हैं। 'सिद्ध समान सदा पद मेरौ' सिद्धस्वरूप परमात्मा जैसे शरीररहित सिद्ध हुए, वैसा ही यह आत्मा अन्दर है। यह विकार से अन्दर ढँक गया मानता है। वस्तु भगवान परमानन्द मूर्ति है। उसका जिसे प्रेम जगा, उसे हड्डियों का प्रेम अन्दर गृहस्थाश्रम में रहने पर भी नहीं रहता। आहाहा! समझ में आया ?

विशदार्थ - जिस शरीर के साथ सम्बन्ध करके पवित्र एवं रमणीक भोजन वस्त्र आदिक पदार्थ अपवित्र घिनावने हो जाते हैं,.. ऐसा शरीर परन्तु यदि इसे मैसूर छुआओ तो थूक हो जाता है। चार सेर घी पिलाया हुआ मैसूर, उसका टुकड़ा मुँह में डालो तो थूक होता है, कुत्ते की जूठन। मुँह फाड़कर नीचे उतारने को काँच में देखो तो खबर पड़े क्या खाता हूँ। मैसूर होवे, हों! बढ़िया। यह मैसूर कहते हैं न? चार सेर घी पिलाया हुआ, ऐसा होवे जाली वाला। एक रुपया भार उसे... यहाँ पूरा टुकड़ा तो कुछ प्रविष्ट न हो। पिघलेगा या नहीं दो, चार मिनट में? वह पिघले कितना? कुत्ते की जूठन जैसा हो पश्चात् उतरे। मैसूर खाता हूँ। मुँह फाड़कर दर्पण में देखना। कुत्ते की जूठन है। तेरी कल्पना है, बापू! वह वस्तु जड़, मिट्टी, धूल है। आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : याद आया करे। मूढ़ है न! यही यहाँ कहते हैं, भाई! तेरे आत्मा में आनन्द का स्वाद है, भाई! तू सच्चिदानन्दस्वरूप है। तेरे आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। आहाहा! समझ में आया? आत्मा जिसे अन्दर कहते हैं, यह तो हड्डियाँ हैं, यह वाणी है, कर्म जड़ मिट्टी है, पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वह तो विकार आस्रव है। उनसे (भिन्न) जो चैतन्यतत्त्व है, उसमें तो अतीन्द्रिय आनन्द है। भाई! तुझे उसकी रुचि नहीं होती, उसके स्वाद की तुझे दरकार नहीं, तुझे आत्मा के स्वाद का प्रेम नहीं। भाई! इस जड़ की हड्डियों में प्रेम करके तेरा काल वृथा जाता है। आहाहा! समझ में आया ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वाद कब आया था? जाना कि यह मैसूर मीठा है, ऐसा ज्ञान हुआ। मीठा तो जड़ में रहा, मीठा यहाँ आत्मा में घुस जाता है? मीठा तो जड़ है। आत्मा

में घुस जाये तो आत्मा जड़ हो जाये। आत्मा तो अरूपी है। जानता है कि यह मीठा है, यह मीठा है। मैं मीठा हूँ? परन्तु इसे भान नहीं होता यह क्या है और मैं कौन हूँ?

मुमुक्षु : अच्छा लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अच्छा क्या लगे? मूढ़ मानता है। अच्छा क्या लगता था? ऐई! यहाँ तो जड़ से भगवान आत्मा भिन्न है, उसकी श्रद्धा कराते हैं। बापू! तुझे श्रद्धा नहीं। तुझे तेरा भरोसा नहीं, हों! और इस जड़ के भरोसे तेरा काल चला जाता है, बापू! आहाहा! ऐसा अनन्त काल में मनुष्य देह मिला, उसके भरोसे भगवान तो चला जाता है, बापू! तेरा काल जाता है, हों! ऐसा कहते हैं, देखो!

शरीर के सम्बन्ध से पवित्र पदार्थ—यह मैसूर, यह बढ़िया-बढ़िया वस्त्र, लो न! रेशमी वस्त्र बढ़िया पाँच-पाँच हजार के परन्तु इसे (शरीर को) स्पर्श कराओ तो पसीना गन्ध मारता है। इसे स्पर्श कराओ तो गन्ध मारता है, ऐसे दीवार को स्पर्श कराओ तो गन्ध नहीं मारता। इसे स्पर्श कराओ तो गन्ध मारता है ऐसे वस्त्र। ऐसा शरीर अपवित्र है और तू पवित्र का धाम आनन्दकन्द है। ऐसे पवित्रता का प्रेम छोड़कर इसके प्रेम में, रुचि में क्यों पड़ा है? ऐसा कहते हैं। एकत्वबुद्धि की बात करते हैं, हों! धर्मी को जरा आसक्ति राग हो, परन्तु यहाँ तो वह मेरा और उसमें मुझे सुखबुद्धि है, उसमें से मुझे सुख होता है, बापू! तेरी मिथ्याश्रद्धा है। तूने जड़ में आत्मा को माना, चैतन्य को भूल गया। आहाहा!

जिसके सम्बन्ध के साथ पवित्र रमणीक भोजन—रोटी, दाल, भात, पूरणपोली, ऐसा। कहो, समझ में आया? गर्म-गर्म पूरणपोली निकली हो और घी दो सेर-चार सेर पड़ा हो तपेले में, उसमें एकदम डाले और उसमें डालकर डूबोकर खाये। खाने के साथ विष्टा हो। यह विष्टा की मशीन है, यह अमृत की मशीन नहीं है। भगवान आत्मा अन्दर अमृत की मशीन है। आहाहा! आत्मा प्रभु, उसकी तू अन्तर एकाग्रता कर। आत्मा में एकाग्रता कर, तुझे आनन्द आयेगा। ऐसा आनन्द आयेगा कि जैसा सिद्ध को आनन्द (आता है), वैसा तू है। ऐसी रुचि छोड़कर इस धूल में, भोग में, मिट्टी में रुचि करता है, बापू! तेरा काल वृथा जाता है। समझ में आया? कहते हैं न, देखो!

पदार्थ अपवित्र घिनावने हो जाते हैं,.. ऐसे इसे स्पर्शित थूक, जो खाया हो ऐसे

मुँह में पड़ा हो, फिर उतारे (निगले), उतारने से पहले ऐसे बाहर निकले, गले में उतारने से पहले। मैसूर, दाल, भात, रोटी यह खाते हैं या नहीं? यह तेरे मुँह में पड़ने (के बाद), (गले में) उतारने से पहले जरा एक बार बाहर निकाल ले तो खबर पड़े कि यह क्या गले उतरता है। कुत्ते की वमन है। व्यर्थ की होली करके, रुचि करके एकाकार (होकर आत्मा को) भूल जाता है। आत्मा क्या और यह क्या, भूल जाता है। कैसे होगा फावाभाई? अच्छा मैसूर का टुकड़ा हो और सालमपाक होवे तो? सूरत की बर्फी। लो! तुम्हारे सूरत की बर्फी बहुत अच्छी। कहते हैं नहीं। धूल में भी नहीं थी बर्फी अब। बर्फी, विष्ठा का पूर्व रूप है। आहाहा! पूर्व रूप। आहा!

यहाँ तो शरीर और आत्मा दोनों भिन्न हैं, ऐसी श्रद्धा कराते हैं। समझ में आया? उस पर द्वेष नहीं कराते, हों! आहाहा! बापू! वह तो रजकण है न, भाई! बहुत रजकण एकत्रित हुए। गन्ध मारे, यहाँ सड़े,... वह क्या कहलाता है? वह रोग होता है। कैंसर। आहा! यह कहाँ अमृत का पिण्ड था। भाई! यह तो मिट्टी है न! पुद्गल है न! रूपी है न! मूर्त है न! अजीव है। तू चैतन्य है न! अरूपी है न! आनन्द है न! बापू! तुझे तेरा प्रेम नहीं होता और इसकी (जड़ की) रुचि तुझे होती है, तेरा समय चला जाता है, भाई! ऐसा कहते हैं। ऐ.. पोपटभाई! आहाहा! इस्त्री (किये हुए) टाइट वस्त्र ऐसे ठीक से पहने। मुर्दे को शृंगार करना। यह मुसलमान नहीं? मर जाने के बाद मुर्दे को नहलाते हैं। मुसलमान में न? मुर्दे को शृंगार करते हैं। ऐसे लूँगिया लटकते (रखते हैं)। आहाहा! भाई! यह तो मिट्टी है न बापू! यह माँस का, हाड़ का है, चमड़ी ऐसे उतारो तो हड्डियाँ दिखे। अन्दर यह माँस का पिण्ड और लट पड़ी है। उसके भिन्न-भिन्न (भाग करके) एक बर्तन में हड्डियाँ, एक बर्तन में माँस, एक बर्तन में बाल, और एक बर्तन में खून, ऐसे पाँच भाग करे। इसके और आत्मा के भाग करे तो... आहाहा! उसमें एक ओर ज्ञान, एक ओर आनन्द, एक ओर शान्ति-चारित्र, एक ओर श्रद्धा, एक ओर स्वच्छता, निर्मलता, स्वसंवेदनता प्रभुता आदि अनन्त गुण पड़े हैं अन्दर। समझ में आया?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ क्या दिखता है? धूल दिखती है। यह नहीं दिखता? यह

पसीना निकलता है। नहाकर जरा बैठा हो, वहाँ मलमल ऊँचा-ऊँचा शर्ट-बर्ट पहना हो वहाँ गन्ध दे। शाम को उतार डाले। धूल-मिट्टी है, उसकी तुझे रुचि हो गयी, क्या है? ऐसा कहते हैं। यह रुचि बदलाते हैं, हों! यह शरीर कहीं तुरन्त छूट नहीं जाता। राग भी नहीं छूटता। राग आसक्ति होती है। समकिति हो, गृहस्थाश्रम में तीर्थकर थे, छियानवे हज़ार स्त्रियाँ से विवाह किया था, रुचि नहीं थी। मुझे मेरी शान्ति मुझमें भासित होती है। मुझे कहीं भासित नहीं होती। मेरी शान्ति मुझे कहीं भासित नहीं होती, कहीं शरीर में, राग में कहीं भासित नहीं होती - ऐसे सम्यग्दृष्टिपने में आत्मा की रुचि होती है, उसे पर की रुचि टल जाती है। उसके लिये यह बात करते हैं।

मुमुक्षु : आपकी प्रस्तुति ही ऐसी होती है कि तत्काल वैराग्य आ जाये।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु प्रस्तुति तो है और दिखता भी है या नहीं? देखो न यह? आहाहा! सड़ा हुआ दिखायी दे। ओहोहो! नहीं कहा था? शरीर ऐसे गन्ध मारे, हों! गधा गन्ध मारे ऐसा गन्ध मारता था। वहाँ वावड़ी में एक बार गये थे। वावड़ी। मांगलिक सुनाओ। परन्तु गन्ध मारे, गधा जैसा गन्ध मारे। मरने की तैयारी परन्तु सुभट के पुत्र को... स्त्री कहती है, नियम ले लें, हों! अब रात्रि को मरना है। यह महाराज आज ही आये हैं, हों! ये सबेरे तो चले जायेंगे। अभी नहीं, आज वार-कवार है। आहाहा! परन्तु दुनिया इस मिट्टी के प्रेम की रुचि और यह आसक्ति ऐसी सेवन की है कि यह छोड़ी नहीं जाती। कौन जाने इसमें से कदाचित् जीवता खड़ा होऊँ तो? तो यह नियम बाधक होगा। हाय.. हाय..! परन्तु मार डाला है न जगत को। माया मोह पर में मेरापन मानकर और भगवान आत्मा को स्वयं भूल गया है। समझ में आया? यह सब भूल-भूलैया बताते हैं। भोजन, अरे! वस्त्र अच्छा पहना हो, लो न! गन्ध मारे। **अपवित्र घिनावने..** ऐसे घिनावने हो जाते हैं।

ऐसा वह शरीर हमेशा भूख प्यास.. बराबर आहार न मिले, प्यास लगे। आदि संतापोंकर सहित है। संताप। घड़ीक में ऐसे धूल का पिण्ड ठीक से रोटी न मिले तो सूख जाये। कैसे है? बापू! कुछ रुचि नहीं होती, शरीर में ठीक नहीं आता। दूसरा कुछ दिखता नहीं परन्तु रुचि नहीं होती, कौन जाने? मुँह के सामने आवे वहाँ उल्टी होती है। आहाहा! ऐसा सन्ताप का कारण शरीर, उसे तू आत्मा मानकर, अपना मानकर बैठा, तेरी कितनी

भूल ! समझ में आया ? सहजात्मस्वरूप भगवान आत्मा जो अनादि शान्तरस का कन्द है, उसका स्वामीपना छोड़कर उस जड़ का स्वामीपना (करना), वह मिथ्यादृष्टि का लक्षण है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

जब वह ऐसा है, तब उसको पवित्र अच्छे-अच्छे पदार्थों से.. देखो ! भला बनाने के लिये.. बराबर खिलाओ, पिलाओ... श्रीखण्ड, पूड़ी, अरबी के भुजिया.. ऐसे। आहाहा ! मखमल का गद्दा, शरबत मखमल बिछाया हो, ऐसे भाईसाहब सोते हों। भाई ! तेरा व्यर्थ में काल जाता है, हों ! तुझे एकत्वबुद्धि में बहुत पाप बँधता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आकांक्षा करना व्यर्थ है,.. ऐसे धूल जैसे पदार्थ के, पवित्र मन को अपवित्र बनावे ऐसे भला बनाने के.. उसे अच्छा करने के लिये।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : किसका ?दूध, घी तो सड़ जाता है, लटें पड़ी हैं। दूध, घी खानेवाले को देखा है। ऐसे लटें पड़ी हुई। ऐसे जहाँ करे, वहाँ पच्चीस-पचास लटें पड़े। क्या हुआ ? सिर का दर्द था अवश्य, रात्रि को दर्द उठा था। माँस की लटें हो गयी। समझ में आया ? ऐसा किया वहाँ पच्चीस-पचास लटें (पड़ी)। वहाँ कोई अमृत पड़ा है, वह निकले उसमें से ? ऐई ! पोपटभाई !

कहा न ? एक मनुष्य को उल्टी आयी, उल्टी। विष्टा का पिण्ड था न अन्दर का ? यह, यह है न ? यह क्या कहलाता है ? आँत लम्बी है न बड़ी ? पेशाब निकलने का और यह सब हड्डियाँ हैं और वहाँ क्या है ? आत्मा कहाँ वहाँ था, आत्मा तो भिन्न चीज़ है अन्दर। ऐसे उल्टी आयी, वहाँ इतनी विष्टा की गाँठ मुँह से निकली। जो नीचे निकलना हो, वह मुँह में निकली। इतना निकला, वह अन्दर वापस जाये नहीं और बाहर निकले नहीं। आहाहा ! यह दामनगर में बना था। आनन्दजी का ससुर। आनन्दजी के ससुर को बना था। हमने तो सब सुना हुआ, निर्णय किया और देखा है न। दामनगर। ऐसे उल्टी हुई, वह तो पहले गुजर गया, परन्तु सुना था। कठिनाई से बाहर मल की गाँठ ऐसी निकली। बहुत उल्टी हुई थी, आँत यहाँ ऐसे (लटकती थी)। बापू ! यह कहाँ अमृत है, भाई ! तुझे खबर नहीं। यह तो अनन्त रजकण का कन्द / पिण्ड है। तू तो अरूपी आनन्दकन्द भिन्न चीज़

है। ऐसे आत्मा के ज्ञान और भान बिना उसके लिये उपाय करना वह व्यर्थ है, ऐसा कहते हैं।

कारण कि किसी उपाय से यदि उसका एकाध अपाय दूर भी किया.. कोई रोग आया और दवा से एकाध दूर किया। **जाय तो क्षण-क्षण में दूसरे-दूसरे अपाय आ खड़े हो सकते हैं।** एक जाये वहाँ दूसरा, एक साँधे वहाँ तेरह टूटे, ऐसी कहावत है न अपने या नहीं? धूल में क्या हो? वह तो अठारह टेढ़ापन है शरीर में। भगवान तो महा आनन्द का कन्द है। यह रुचि कराने को बात करते हैं, हों! यह इष्टोपदेश है। आहाहा! तेरी नजर में अन्तर है, भगवान! जहाँ नजर आत्मा में शान्ति है, उसकी नजर करनी चाहिए, उसके बदले इसमें-धूल में, भोग में नजर करता है, तेरी काँक्षा व्यर्थ-व्यर्थ जाती है। एक अपाय टले अन्दर, वहाँ दूसरा खड़ा होता है; दूसरा टले, वहाँ तीसरा खड़ा होता है। कहो, समझ में आया इसमें? कहीं सुख नहीं इसमें, इसलिए रुचि छोड़ दे - ऐसा कहते हैं। अजीव जड़ मिट्टी के द्रव्य, गुण और पर्याय अजीव है। अजीव का द्रव्य अर्थात् वस्तु, उसके गुण अर्थात् रंग, गन्ध और अवस्था, सब अजीव, तीनों अजीव हैं। उस अजीव को अपना जीव मानना, इसका नाम मिथ्यादृष्टि है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्य, गुण और पर्याय यह क्या कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह द्रव्य-गुण-पर्याय क्या कहा? पहला संक्षिप्त हुआ, इसलिए (कहते हैं)। ये रजकण है न? मूल रजकण है, उन्हें भगवान द्रव्य कहते हैं। उनमें रंग, गन्ध, रस, स्पर्श गुण भरे हैं, उन्हें गुण कहते हैं और यह उनकी अवस्था है, यह अवस्था दुर्गन्ध, सुगन्ध, कोमल, यह सब पर्याय कही जाती है परन्तु इस ज्ञान के बिना भान नहीं होता। वीतराग क्या कहते हैं, इसकी खबर नहीं होती। द्रव्य-गुण-पर्याय जड़ का क्या, आत्मा का क्या? अन्ध पड़ा ऐसे का ऐसे। ऐ.. मोहनभाई! आहाहा!

यह कहते हैं कि जड़ की पर्याय भिन्न, बापू! तेरी पर्याय भिन्न और उसकी पर्याय भिन्न। भाई! तुझे क्यों रुचि है? आहाहा! वह धोखा देगी, भाई! क्षण में चला जायेगा। हाय.. हाय.. मैंने कुछ किया नहीं। मैंने कुछ किया नहीं। मेरी जिन्दगी ऐसी की ऐसी गयी। मरते हुए रोयेगा, हों!

एक व्यक्ति बनिया होशियार था। मरते हुए देखने जाये सब। गाँव में होशियार कहलाये और सब काम ऐसे (किये हुए)। मरने के समय देखने जाये तो ऐसे रोता था। रोने का हेतु यह कि अर..र..! कुछ किया नहीं। इस जगत के बड़प्पन-महत्ता और सेठाई में तो मर ही गया इसमें। मैंने मेरा कुछ किया नहीं। सेठाई या बड़प्पन या अधिपति या... सेठ हूँ और धूल का सेठ हूँ... मर गया परन्तु उसी और उसी में। समझ में आया? एक बार इस चैतन्य का सेठ हो, कहते हैं। आहाहा! भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त शान्त, आनन्द का रस है, उसकी रुचि कर। इसके लिये यहाँ इष्टोपदेश है।

**दोहा - शुचि पदार्थ भी संग ते, महा अशुचि हो जायँ।
विघ्न करण नित काय हित, भोगेच्छा विफलाय॥१८॥**

श्लोक रखा, श्लोक। शुचि पदार्थ—यह अच्छे-अच्छे निर्मल पदार्थ इसके (शरीर के) संग से महा अशुचि हो जायँ। मौसम्बी का दो सेर पानी डाले, एक क्षण में पेशाब हो जाये। समझ में आया। उस नारियली में यदि नीचे पानी डाले तो नारियल में ऊँचे मीठा पानी चढ़े। हों! देखा! नारियली होती है न? नारियली। इस जंगल में बहुत तृषा लगी हो और नारियल होवे तो यह उसका गन्दा पानी हो और गन्दला वह भी इसे नारियल में, उसमें नीचे डाले, क्या कहलाता है? उसके मूल में, तो पानी एकदम नारियल में चढ़ जाये और मीठा हो जाये। इसमें (शरीर में) यदि पानी डालो तो पेशाब हो जाये। अच्छे में अच्छा पानी डालो, हों! मौसम्बी! पेशाब हो जाये। उसमें वहाँ पानी डाले, गन्दला पानी हो, दो घड़ी हो, वहाँ ऊपर नारियल में पानी दो-चार नारियल फोड़े और तृषा लगी हो, पियो, वह मशीन ही अलग प्रकार की है, कहते हैं।

शुचि पदार्थ भी संग ते, महा अशुचि हो जायँ। है? विघ्न करण.. विघ्न का करण। बिना ठिकाने का है परन्तु प्रेम नहीं छोड़ता। पूरे दिन इसकी सम्हाल.. सम्हाल.. सम्हाल.. सम्हाल.. सबेरे से उठे, वह.. क्या कहलाता है? टाइमटेबल हो सब। उठा तो नहाना, धोती ऐसे पहनना, पटली ऐसे करना, फिर ऐसे करना, फिर यहाँ मशीन डालना। अभी तो बहुत शीघ्र हो गया है देखो न! छोटे लड़के सब हाथ में रखते हैं, क्या कहलाता है वह? माँग एक यहाँ से पाड़े, एक यहाँ से पाड़े और एक यहाँ पाड़े। पहले ऐसा

कुछ नहीं था। बालों का गुच्छा था गुच्छा। ऐसे गोल। या वह था, क्या कहलाता है वह ? टेडी बस ! टेडी और गुच्छा दो थे। पचास-साठ वर्ष पहले। अभी तो तृष्णा की अधिकता है, उसको एक यहाँ देखे, इंडिपेंड चाहिए, एक यहाँ घड़ियाल चाहिए, एक यहाँ साथिया के लिये चाहिए, कपड़ा पचास-पचास वार का। एक-एक वार का पचास रुपये का वार। ऐसा कपड़ा। अब यह वैभव भोगना और खर्च करने में फिर लूटना कहीं से, लूटे बिना पूरा हो नहीं। आहाहा ! धीरुभाई ! इत्र की शीशियाँ कैसी रखे ? ऐसी ऊँचे में ऊँची रखे, ऊँचे में ऊँची। कपड़े में ऐसे डाले चारों ओर। कपड़ा होवे न ? उसके चार छोर होवे न ? छोर में जरा डाले, इसलिए छोर ऐसे-ऐसे हिले तो सुगन्ध आती जाये। यहाँ डाले तो बराबर ठीक न रहे। छोर होवे न चार ? यह तुमने नहीं देखा। हमें तो सब खबर है। अभी एक भाई नहीं था वहाँ अपने ? वेणीभाई बख्शी। तीन-तीन, चार-चार कोस प्रतिदिन चलते थे परन्तु हमारे सामने देखे, मिले फिर दर्शन करके चरण-स्पर्श करे परन्तु उसके छोर बराबर ऐसे डाले हुए हों, ऐसे-ऐसे होवे न छोर ? वह स्वयं को सुगन्ध भी आवे और हे.. य ! आहाहा ! गजब ! मार डाला, कहा। यहाँ चौपड़ा हो तब तो वहाँ वार, परन्तु यहाँ छोर में अधिक डाले। खुला छोर होवे न कोट का या कढ़िया का, वहाँ डाला हो। ऐसे इस्त्री टाईट हो कपड़ा। हों ! और उसमें यह इत्र डाला हो थोड़ा सा।

मुमुक्षु : जवान मनुष्य था ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, वृद्ध था। वह तो वृद्ध था। बख्शी था। शरीर ऐसा था। प्रतिदिन छह मील चले तो ठीक रहे। छह मील... व्याख्यान में आता था। कहो, समझ में आया इसमें ? यह तो हमारे जगत के सब नाटक देखे हुए हैं न ! आहाहा !

विघ्न करण नित काय हित,.. अरे ! विघ्न के करनेवाला जो इस काय के हित के लिये भोगेच्छा जो करता है, वह विफल है। तेरे लिये कुछ फलदायक नहीं, नुकसान है। अब शिष्य ने प्रश्न किया।

उत्थानिका - फिर भी शिष्य का कहना है कि भगवन् काय के हमेशा अपायवाले होने से यदि धनादिक के द्वारा काय का उपकार नहीं हो सकता, तो आत्मा का उपकार तो केवल उपवास आदि तपश्चर्या से ही नहीं बल्कि धनादि पदार्थों से भी हो जायगा।

आचार्य उत्तर देते हुए बोले, ऐसी बात नहीं है। कारण कि -

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्याऽपकारकम्।

यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम्॥१९॥

अर्थ - जो जीव (आत्मा) का उपकार करनेवाले होते हैं, वे शरीर का अपकार (बुरा) करनेवाले होते हैं। जो चीजें शरीर का हित या उपकार करनेवाली होती हैं, वही चीजें आत्मा का अहित करनेवाली होती हैं।

विशदार्थ - देखो जो अनशनादि तप का अनुष्ठान करना, जीव के पुराने व नवीन पापों को नाश करनेवाला होने के कारण, जीव के लिये उपकारक है, उसकी भलाई करनेवाला है, वही आचरण या अनुष्ठान शरीर में ग्लानि शिथिलतादि भावों को कर देता है, अतः उसके लिये अपकारक है, उसे कष्ट व हानि पहुँचानेवाला है। और जो धनादिक हैं, वे भोजनादिक के उपयोग द्वारा क्षुधादिक पीड़ाओं को दूर करने में सहायक होते हैं। अतः वे शरीर के उपकारक हैं। किन्तु उसी धन का अर्जनादिक पापपूर्वक होता है। व पापपूर्वक होने से दुर्गति के दुःखों की प्राप्ति के लिये कारणभूत है। अतः वह जीव का अहित या बुरा करनेवाला है। इसलिये यह समझ रखो कि धनादिक के द्वारा जीव का लेशमात्र भी उपकार नहीं हो सकता। उसका उपकारक तो धर्म ही है। उसी का अनुष्ठान करना चाहिये।

दोहा - आतम हित जो करत है, सो तन को अपकार।

जो तन का हित करत है, सो जियको अपकार॥१९॥

अथवा काय का हित सोचा जाता है, अर्थात् काय के द्वारा होनेवाले उपकार का विचार किया जाता है। देखिये कहा जाता है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' शरीर धर्म-सेवन का मुख्य साधन-सहारा है। इतना ही नहीं, उसमें यदि रोगादिक हो जाते हैं, तो उनके दूर करने के लिये प्रयत्न भी किये जाते हैं। काय के रोगादिक अपायों का दूर

किया जाना मुश्किल भी नहीं है, कारण कि ध्यान के द्वारा वह (रोगादिक का दूर किया जाना) आसानी से कर दिया जाता है, जैसा कि तत्त्वानुशासन में कहा है - 'यत्रादिकं फलं किञ्चित्।' ॥१९॥

गाथा - १९ पर प्रवचन

उत्थानिका-फिर भी शिष्य का कहना है कि भगवन्! काय के हमेशा अपायवाले होने से.. शरीर के लिये तो आपने कहा, वह ठीक है। शरीर हमेशा अनर्थकारक होने से यदि धनादिक के द्वारा काय का उपकार नहीं हो सकता,.. लक्ष्मी द्वारा शरीर का तो उपकार हो, ऐसा नहीं लगता। वह तो सड़ा हुआ, दुर्गन्ध.. परन्तु आत्मा का उपकार तो केवल उपवास आदि तपश्चर्या से ही नहीं बल्कि धनादि पदार्थों से भी हो जायगा। परन्तु आत्मा का उपकार धर्म करें, उपवास करें और लक्ष्मी से भी दान दें तो आत्मा का उपकार होता है, इसलिए तो धर्म को-धूल को कुछ अच्छा कहो, ऐसा कहता है। तुम तो लक्ष्मी का अपवाद ही करते हो। दो-पाँच लाख मिले, धूल मिली और... ऐई! शिष्य कहता है।

मुमुक्षु :पैसा मिले, तब तो मन्दिर तो हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में। मन्दिर मन्दिर की जगह हो, उसमें तुझे क्या है? आहाहा! प्रश्न स्पष्ट करते हैं, सुनो! कहते हैं कि इस काया के लिये लक्ष्मी तो भले अनर्थ का कारण हो। क्योंकि उसमें लक्ष्मी का चाहे जितना उपयोग करो तो दुर्गन्ध होती है, वह होती है, इसलिए कुछ उसका लाभ नहीं है परन्तु यह लक्ष्मी और अपवास दो करें, अपवास से कहें तो आत्मा को लाभ हो और धनादि से धर्म हो। धनादि से तो आत्मा का उपकार होता है या नहीं? शरीर को भले उपकार न हो, चलो। शरीर बिगड़ जाये, सड़ जाये, आपने बात की वह बराबर है परन्तु यह लक्ष्मी होवे तो आत्मा का उपकार होता है या नहीं? पाँच-पच्चीस लाख हों, मन्दिर बनावें, वह करावें, दान दें, अमुक (करें), तो यह लक्ष्मी उपकार करती है या नहीं? शिष्य प्रश्न करता है।

नहीं, नहीं सुन न! धूल क्या आत्मा का उपकार करेगा? तब तो निर्धन को रोना

पड़ेगा, पैसेवाले को पैसे से धर्म हो तो निर्धनतावाले को रोना पड़ेगा, पैसा खोजना पड़ेगा। ऐसा नहीं है। धीरुभाई! यहाँ तो सबकी गर्दन पकड़ी है। केवल उपवास आदि.. तो नहीं। ऐसा कि भले जब आत्मा अपना धर्म शान्ति से करे, मुनिपना ले, आत्मा का ध्यान करे, उससे आत्मा को लाभ हो और लक्ष्मी से भी लाभ हो। ध्यान से भी लाभ हो और लक्ष्मी से भी लाभ हो। धन और ध्यान दोनों से आत्मा को उपकार है, ऐसा पूछता है, भाई! क्या पूछा? कि शरीर के लिये तो लक्ष्मी काम की नहीं है, निन्द्य है, आपकी बात सत्य है। शरीर तो रोग का घर है, उसमें कुछ लक्ष्मी काम नहीं करती परन्तु आत्मा का ध्यान करे, आनन्दस्वरूप है, इससे भी लाभ हो और लक्ष्मी आवे, उसका धन हो पाँच-पचास लाख तो धर्मध्यान मदद की जाये, लक्ष्मी खर्च की जाये, पाँच, दस लाख दिये जायें, कोई प्रौषध करता हो उसे... क्या कहलाता है? प्रभावना की जाये, ऐसा हो। उससे कुछ आत्मा का उपकार होता है या नहीं?

केवल उपवास आदि तपश्चर्या से ही नहीं.. ऐसे कि आत्मा के ध्यान से तो मात्र उपकार नहीं परन्तु धनादि पदार्थों से भी हो जायगा। ऐसा कहते हैं, भाई! दो बातें। इससे होगा। आत्मा अपने स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान करे, ध्यान करे तो भी आत्मा को लाभ होगा और लक्ष्मी मिली हो, पाँच-पचास लाख तो भी लाभ होगा। आत्मा को दो लाभ होंगे लो! सुन.. सुन!

आचार्य उत्तर देते हुए बोले, ऐसी बात नहीं है। कारण कि-

यज्जीवस्योपकाराय तद्देहस्याऽपकारकम्।

यद्देहस्योपकाराय तज्जीवस्यापकारकम्॥१९॥

अर्थ- आहाहा! जो जीव (आत्मा) का उपकार करनेवाले होते हैं, वे शरीर का अपकार (बुरा) करनेवाले होते हैं। ध्यान रखना जरा। जो आत्मा का उपकार करनेवाले धर्मध्यान हैं, आत्मा का ध्यान-धर्मध्यान आत्मा का उपकार होगा, वह शरीर का अपकार करेगा अर्थात् शरीर शिथिल पड़ जायेगा। ग्लानि आदि निमित्त हों उसमें। आत्मा में अन्दर श्रद्धा, ज्ञान, ध्यान करे तो इस आत्मा का उपकार होगा, शरीर को अपकार होगा, शरीर गल जायेगा, शिथिल पड़ जायेगा, ढीला होगा। इसका (आत्मा का) उपकार हो, वह इसे (शरीर को) अपकार हो।

जो चीजें शरीर का हित या उपकार करनेवाली होती हैं,.. देखो! जो चीज़ दाल, भात, सब्जी, लक्ष्मी आदि से इस शरीर का खाना-पीना, सामग्री, शृंगार करे, वही चीजें आत्मा का अहित करनेवाली होती हैं। शरीर का उपकार वह आत्मा का अपकार; आत्मा का उपकार, वह शरीर का अपकार। विस्तार करते हैं, हों! यह तो शब्द रखे हैं। आत्मा का हित अन्दर शरीर आदि की दरकार किये बिना, आत्मा की दरकार से आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान करे, धर्मध्यान करे तो आत्मा को उपकार होता है, परन्तु शरीर को अपकार होता है। उसका ध्यान करे नहीं अर्थात् ध्यान रखे नहीं। शरीर शिथिल पड़ जाये, ग्लान हो जाये, रोग हो जाये आदि हो जाये अर्थात् शरीर को अपकार हो। अपकार के निमित्त की बात है, हों! सब निमित्त की बात है। पाठ में निमित्त शब्द है, हों! दोनों में निमित्त है, देखो! 'ग्लान्यादिनिमित्तत्वात्' है अन्दर? 'निमित्तत्वात्' है, हों! 'दुःखनिमित्तत्वादपकारकं स्यादतो...' निमित्त की व्याख्या यहाँ तो बताते हैं, भाई! है अन्दर संस्कृत। दोनों जगह है। धर्म करे तो आत्मा को उपकार होता है। उपवास अर्थात् आत्मा में रहना, ऐसा। उपवास अर्थात् आत्मा के समीप में, आत्मा आनन्द है, उसके समीप में रहना। उससे आत्मा को लाभ होता है। उपवास अर्थात् मात्र लाँघन अपवास-बपवास करे, उसमें कुछ नहीं होता। समझ में आया? इसलिए शरीर को नुकसान होता है, नुकसान का निमित्त होता है, ग्लानि हो, शिथिल पड़ जाये, जीर्ण हो, दरकार न हो। आत्मा के ध्यान से उसे लाभ होता है तो इसे (शरीर को) नुकसान होता है।

जो चीजें शरीर का हित या उपकार करनेवाली होती हैं,.. निमित्त, हों! सब। शरीर का निमित्त वह। लक्ष्मी आदि हित अर्थात् निमित्त। वह शरीर का उपकार करनेवाली चीज़ निमित्तरूप से है, वह चीज़ आत्मा को अहित करनेवाली है। यह लक्ष्मी आदि आत्मा को अहित करनेवाली है, अहितकर दुःख में निमित्त है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। वह लक्ष्मी आदि जो शरीर को अनुकूल निमित्त है, वह आत्मा को नुकसान के लिये निमित्त है। आहाहा! वह लक्ष्मी मेरी, हम देते हैं। मूढ़ है, कहते हैं, मिथ्यादृष्टि है। श्वास निकल जाये, ऐसा है इसमें। पोपटभाई! अन्यत्र कहीं सुख नहीं है, कहीं शान्ति नहीं है, मर जाये तो भी।

इस लक्ष्मी से शरीर को ठीक लगे। रोटियाँ मिले, दाल मिले, रोग मिटे, डॉक्टर-बॉक्टर आवे, वह आत्मा को अहितकर है। क्योंकि वहीं का वहीं तृष्णा और राग, लक्ष्य

रहा करता है, वह आत्मा को नुकसान करनेवाला है। लक्ष्मी कमाने में भी नुकसान और प्रयोग करने में भी नुकसान। प्रयोग करने में लक्ष्य, राग करे कि मैंने खर्च किया, मैंने दिया और मैंने खर्च किया और मैंने किया, वह अभिमान मिथ्यादृष्टि का है। आहाहा! घात करता है, भाई! तुझे खबर नहीं है। इस लक्ष्मी से आत्मा को जरा भी लाभ नहीं होता। इस शरीर को भले हो। दाल, भात मिले, रोटियाँ मिले, कोमल सोने का (बिछौना) मिले, पैसा हो तो गद्दी मिले, कोमल सुकोमल मिले। कहते हैं कि वह तेरे आत्मा के लिये नुकसानकारक है। नुकसान के निमित्त की बात है, हों! धीरुभाई! गजब बातें की, भाई! इस इष्टोपदेश में... भाई! उस जड़ से तेरी चीज़ भिन्न है तो कोई शरीर से भी तुझे लाभ नहीं होगा, तथा लक्ष्मी से भी तुझे जरा भी लाभ नहीं होगा। समझ में आया? लक्ष्मी से जरा भी लाभ नहीं होगा, तुझे नुकसान का निमित्त है। आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अपेक्षा से बात की है। नुकसान का कारण वह राग है। वह नुकसान का कारण है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। राग है न? यह बात तो फिर जब अमुक बात कहनी हो, तब (कही जाती है) यह तो लोभ जरा तीव्र होवे तो टूटे। उसमें आत्मा को क्या? आत्मा तो इच्छारहित चीज़ है। सच्चिदानन्द स्वरूप शुद्ध आनन्दकन्द की दृष्टि करने से आत्मा को लाभ है, बाकी धूल से कुछ लाभ-वाभ है नहीं। सब पाँच-पचास लाख के धूल के धनी सेठिया-बेठिया कहलाते हैं या नहीं? पैसे के सेठ, धूल के! उसमें आत्मा को कुछ लाभ नहीं है। ऐई मलूपचन्दभाई!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : चले गये, मर गये कुछ अब चले गये। वह गरासिया बेचारा आया था न? वह कहे कि बनिया छिपाना बहुत जानते हैं। उस बेचारे गरासिया को तो दस आवे और बारह जावे, बारह आवे और दस जावे। वह बेचारा कहता था। आया था न अभी? आनन्दपुर का दरबार नहीं? दो दिन पहले। मुश्किल से दो हजार की आमदनी हो वहाँ तीन हजार का खर्च रखे। लड़कियों को विवाह करे तो बड़ा अभिमान.. अभिमान, वे चारण-वारण चढ़ावे सिर पर। खाली कर डाले। घोड़ी-बोड़ी दे, मार डाले कि हमें। बनिया छुपाना बहुत जानते हैं। ममता जाने, कहा। वह आनन्दपुर का दरबार आया था न, वह

पति-पत्नी दो ही हैं, साधारण है। बेचारा पहले आया था, पाँच वर्ष पहले। कुछ नहीं होता। अभी तो गरासिया दुःखी हैं, कहता था। बनिये सुख हैं। कहा, झूठ बात है। पैसे से दुःखी, यह बात भी मिथ्या और बनिया पैसे से सुखी, यह बात भी मिथ्या। ऐई! आहा! देखो न! छह-छह महीने, बारह-बारह महीने से, आठ-आठ महीने से आते हैं यहाँ ?

मुमुक्षु : उलझ गया।

पूज्य गुरुदेवश्री : उलझ गया है बहुत। देखो! इसका लड़का। दो करोड़ रुपये वहाँ हैं, मुम्बई में। यहाँ आठ महीने से, छह महीने से आता नहीं।

मुमुक्षु : आयेगा.. आयेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह आयेगा-बायेगा नहीं। वह तो नहीं आया अभी तक। नहीं तो छह महीने हो गये। वहाँ दिल्ली जाये और धूल जाये और भटका-भटक (करे) दो करोड़ सम्हालने के लिये मर जाये बेचारा। घट गये, पचास लाख सरकार (को) देने गया... दो करोड़ अभी है न, पूनमचन्दभाई के पास? दो करोड़ उनके पुत्र के पास, सरकार (को) पचास लाख देता था। तब कहे एक करोड़ लूँ। नहीं करोड़ नहीं लूँ, फरियाद करूँ। छह महीने, बारह महीने नियम निकाल डाला। धूल में भी नहीं, हैरान होकर मर जाता है। समझ में आया ?

देखो! यहाँ कैसी शैली रखी है। इस शरीर को निमित्तरूप से अनुकूल है, वह आत्मा को दुःख में निमित्तरूप है, ऐसा कहते हैं तथा आत्मा को जो सुखरूप है, आत्मा का ध्यान, श्रद्धा-ज्ञान आदि हैं, वे शरीर के निमित्त में प्रतिकूल होते हैं। शरीर में ध्यान न रहे, आहार-पानी कैसा है, धर्मध्यान-आत्मा के ध्यान में हो, उसे शरीर की कुछ दरकार नहीं और शरीर की दरकार नहीं, तथापि शरीर में होना हो, वह होता है परन्तु यहाँ तो दरकार नहीं, ऐसा निमित्तपना देखकर उसे नुकसानकारक बताया है। आहाहा! समझ में आया ?

विशदार्थ - देखो जो अनशनादि तप का अनुष्ठान करना,.. अर्थात् मूल तो मुनिपना कहना है, हों!

मुमुक्षु : दोनों को सुख हो, ऐसा तीसरा रास्ता...

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों को सुख हो, ऐसा तीसरा रास्ता नहीं है। नहीं, न्यालभाई गये

अभी बेचारे। धूल को सुख क्या होता होगा? वह तो मिट्टी है। उसे चैन है कुछ? वह तो जड़ है, मिट्टी है, मैं.. मैं.. मैं.. श्मशान की राख कहीं से इकट्ठी हुई, श्मशान की राख। आहा! बापू! तू आत्मा है न, प्रभु! शाश्वत् वस्तु है, अनादि है, नया है नहीं, नाश होवे - ऐसा नहीं। अनादि-अनन्त है—ऐसी चीज़ की तुझे रुचि और दृष्टि नहीं तथा इस नाशवान क्षणिक संयोगों का तुझे प्रेम है। वह प्रेम छुड़ाने के लिये, रुचि छुड़ाने के लिये बात करते हैं। समझ में आया?

मुमुक्षु : संयोग छुड़ाने की बात नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : संयोग कौन छोड़े? धूल छोड़े। उसे रुचि छुड़ते हैं। आहाहा! भाई! परन्तु यह विचार भी कब किया है? समय कहाँ मिलता है लोगों को? पाप के कारण समय नहीं मिलता। ऐसा सुनने का और विचार करने का समय नहीं मिलता, मरने का समय मिलता है। यह कहे कि मुझे मरने का समय नहीं है। बापू! समय मिलेगा, तब तो टें.. होकर पड़ेगा ऐसे पलंग में। आहाहा! कुछ बेचैनी है, बेचैनी है... उठो! वहाँ भावनगर दरबार नहीं? बेचारे सुनते थे। खड़े हुए, मुझे असुख है, इतना बोले। असुख है इतना बोले, लो! रानी आयी। मुझे असुख है। रानी टेलीफोन करने गयी, यहाँ गये परभव में। छोटी उम्र थी, छोटी थी नहीं? ५३ वर्ष, ५३ वर्ष। अब वह तो लौकिक में आर्य मनुष्यरूप से नरम था। प्रजा के लिये लौकिक प्रिय था। हाय.. हाय..! रानी जहाँ आती है, वहाँ कुछ नहीं मिलता। क्या था धूल में? वह तो उसका जिस पल में पलटेगा, उसमें (कोई क्या करे)?

यह लालबहादुर लो न बेचारे! कहाँ गये थे? एक मिनट में क्या हुआ कौन जाने? उन्होंने चाहे जो किया, फिर किसी ने दगा (किया) और ऐसी लोग बातें करते हैं। चाहे जो हो परन्तु वह आयुष्य पूरा होने का काल था। उसमें कोई आयुष्य पूरा करने में समर्थ है, कोई देव, देवी आकर और उसका आयुष्य तोड़ सके, तीन काल में लाभ किसी को नहीं है। उस स्थिति में उस काल में देह छूटना.. छूटना और छूटना ही है। भगवान के ज्ञान में आया था कि इस समय छूटेगा। उसमें कहीं तीन काल में देव और इन्द्र आवे तो भी बदल नहीं सकता। आहाहा!

यह तो मिट्टी की स्थिति है या नहीं? अवधि है इसकी। इस अवधि से आया है, अवधि पूरी होगी... एकदम..! भागा। मोरिया छूटा, फूटा। गाड़ा के नीचे मोरियो नहीं

रखते ? पानी का रखें न गाड़ा के नीचे ? उसमें कोई पत्थर बाधक हो तो फुं सब । यह गाड़ा जोड़ते हैं न ? पहले जोड़ते थे । पानी ऊपर तो रखे नहीं, इसलिए नीचे छीका रखे, उसमें कुछ डोरा-बोरा आ गया... (तो फूट जाये) । इसी प्रकार आत्मा ऊपर लटकता हुआ यह है, उसमें कहीं आयुष्य की स्थिति पूरी (हुई) तो फुं.. हो जायेगा । भगवान ! तू तो शाश्वत् अनादि-अनन्त है । ऐसे अनादि-अनन्त को इस संयोग की चीज़ में तुझे इतनी रुचि की तू एकत्वरूप से भूल ही गया आत्मा को ? समझ में आया ?

जो जीव को उपवास आदि अन्तर के तप का अनुष्ठान करने से जीव के पुराने व नवीन पापों को.. नाश होता है । जीव के लिये उपकारक है,.. आत्मा का धर्म । उसकी भलाई करनेवाला है,.. वही आचरण या अनुष्ठान शरीर में ग्लानि शिथिलतादि भावों को कर देता है,.. अर्थात् निमित्त है । वह आचरण और अनुष्ठान अर्थात् भाव, हों ! शरीर में ग्लानि, शिथिलतादि का निमित्त कारण होता है । क्या कहा ? जो आत्मा अपने शुद्ध चैतन्य की दृष्टि और ज्ञान में रमना चाहता है, उसे आत्मा के ध्यान का लाभ है, उसे आत्मा का लाभ होता है । परन्तु शरीर को नुकसान होता है क्योंकि शरीर पर उसका लक्ष्य (नहीं रहता) । उस अनुष्ठान से आत्मा को लाभ, उस अनुष्ठान से शरीर को निमित्तरूप से नुकसान का कारण होता है । निमित्तरूप से, हों ! ग्लानि शरीर में होती है, शिथिल होता है, ढीला पड़ जाता है ; इसलिए आत्मा के हित की चीज़, वह शरीर को अहित का कारण ; शरीर को हित का कारण, वह आत्मा को अहित का कारण । चीज़ ही भिन्न है । समझ में आया ? विशेष बात करेंगे, लो !

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. १७

गाथा-१९-२०

शनिवार, दिनाङ्क ०१-०४-१९६६

चैत्र शुक्ला १२,

वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश, १९वीं गाथा चलती है। शिष्य का प्रश्न था कि इस शरीर का उपकार लक्ष्मी से तो उपकार नहीं होता। धन आदि, स्त्री-कुटुम्ब आदि से इस शरीर का तो नहीं होता, परन्तु आत्मा का तो उपकार होता है न? लक्ष्मी आदि सब अनुकूल होवे तो आत्मा को धर्मध्यान में सरल पड़े, तो आत्मा को लक्ष्मी आदि सब उपकारक हैं या नहीं? वे तो उपकारक हैं न? अनुकूल, इतना तो कहो। समझ में आया? लक्ष्मी आदि शरीर को भले उपकारक न हो, परन्तु आत्मा को तो उपकारक होते हैं, लक्ष्मी आदि; एक तो अपवास आदि करे उससे और फिर लक्ष्मी आदि दोनों से उपकार होता है। आत्मा का ध्यान करे, ज्ञान करे, और शरीर के साधन में लक्ष्मी आदि होवे तो उस साधन से उपकार (होवे)। उपकार होता है या नहीं मोहनभाई? लक्ष्मी होवे तो यहाँ निवृत्ति लेकर बैठे हो न? देखो! कहो, क्या है इसमें पोपटभाई!

मुमुक्षु : जेचन्दभाई को ही पूछो न!

पूज्य गुरुदेवश्री : जेचन्दभाई को नहीं पूछा जाता। अभी वे तो शरीर से दुःखी हुए हैं। उन्हें शरीर की (बात) होवे तो उन्हें पूछा जाये।

शिष्य का प्रश्न है कि इस आत्मा का उपकार... शरीर को उपकार न हो - लक्ष्मी से, बाहर के साधन से शरीर का भले उपकार न हो, परन्तु आत्मा का तो उपकार होता है न बाह्य साधन से? आत्मा का ज्ञान-ध्यान भी होता है और फिर शरीर के बाहर के साधन लक्ष्मी आदि होवे तो आत्मा को लाभ हो। दान दिया जाए, भक्ति हो, पूजा हो, प्रभावना की जाए - ऐसे दोनों उपकार आत्मा को हो। (तो कहते हैं) नहीं, नहीं; भाई! ऐसा नहीं है। तू कहता है - ऐसा नहीं है।

देखो! विशदार्थ है न? १९ वीं गाथा का विशदार्थ। जो अनशनादि तप का अनुष्ठान करना,.. अर्थात् आत्मा का ज्ञान-ध्यान करना। १९वीं गाथा का विशदार्थ। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, शुद्ध पवित्र है, उसका अन्तर में एकाग्र होकर ध्यान करना, उसे

यहाँ तप कहते हैं। बाह्य तप से व्याख्या की है। समझ में आया ? अनशन आदि, अवमौदर्य आदि तप हो, तब अन्तर में स्वभाव सन्मुख की एकाग्रता होवे, इसलिए उसे अनशन से-निमित्त से ज्ञान कराया है। अन्तर में निवृत्ति होवे तो आत्मा का ध्यान हो, आहार की इच्छा छूट जाए, ऐसे ध्यान से आत्मा को लाभ हो। इससे जीव के पुराने व नवीन पापों को नाश करनेवाला होने के कारण,.. आत्मा पवित्र भगवान के अन्तर में एकाग्र होने से आत्मा को पुराने कर्मों का नाश होता है। समझ में आया ?

नवीन पापों को नाश करनेवाला होने के कारण,.. लो! जीव के पुराने व नवीन पापों को नाश.. उन पुराने का नाश होवे और नये बँधे नहीं, इसलिए नये का नाश होवे - ऐसा इसका अर्थ है। जीव के लिये उपकारक है, उसकी भलाई करनेवाला है,.. आत्मा को। वही आचरण या अनुष्ठान शरीर में ग्लानि शिथिलतादि भावों को कर देता है,.. जहाँ आत्मा का ध्यान-ज्ञान आदि करे, (तब) शरीर में ग्लानि हो, शरीर में आहार आदि हो नहीं, शरीर कमजोर पड़ जाए। आत्मा के उपकार के लिए अन्दर के श्रद्धा-ज्ञान आदि ध्यान है, वह शरीर को नुकसान का कारण है। यहाँ निमित्त से बात है, हों! समझ में आया ? अपने स्वरूप का ज्ञान, धर्मध्यान करे (तो) शरीर की दरकार न रहे। शरीर में शिथिलता हो, ग्लानि हो, आहार न हो, बैठक में दुःख हो, अन्दर ऐसा हो। समझ में आया ? तो शरीर में ग्लानि आदि, शिथिलतादि के निमित्त भाव हो।

अतः उसके लिये अपकारक है,.. शरीर के लिये आत्मा का धर्म, वह अपकारक-नुकसान का निमित्त है। समझ में आया ? उसे कष्ट व हानि पहुँचानेवाला है। देखो! आत्मा अपना ज्ञान-ध्यान करे, श्रद्धा-ज्ञान करे, चारित्र/ स्वरूप में रमे, (उससे) आत्मा को लाभ होता है, परन्तु यह अनुष्ठान शरीर को कष्ट करता है, शरीर को जीर्ण करता है, कमजोर कर दे, हानि पहुँचावे, शरीर को हानि पहुँचा दे। आत्मा को लाभ करे, वह शरीर को नुकसान करे - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का करता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अभी निमित्त की बात है। करने की कहाँ बात है ? यहाँ तो आत्मा अपने स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान में रुकता है, तो शरीर की दरकार नहीं रहती। शरीर में ग्लानि, हानि, रोग इत्यादि हो आवें तो यह आत्मा का अनुष्ठान अपने आत्मा को

लाभदायक है, परन्तु शरीर को नुकसान का निमित्त होता है, क्योंकि यह होता है तो वह पर्याय तो उसके कारण से होती है। समझ में आया ? यह दूसरे ढंग से बात है।

मुमुक्षु : दोनों पर्याय....

पूज्य गुरुदेवश्री : और दो किसमें कही ? दो कही कहाँ से ?

मुमुक्षु : भिन्न-भिन्न द्रव्यों की...

पूज्य गुरुदेवश्री : भिन्न-भिन्न द्रव्यों की भिन्न-भिन्न पर्याय। आत्मा-अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप है, उसे अन्तर में साधता है, तब स्वयं को लाभ होता है, आत्मा को उपकार होता है, परन्तु शरीर को नुकसान होता है। उस समय शरीर का ध्यान नहीं रहता। नुकसान होता है अर्थात् ? उस समय वह पर्याय होने की, परन्तु उसे इस भाव में निमित्त गिनकर, नुकसान होता है - ऐसा कहा गया है।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या ? यहाँ तो गुजराती भाषा है। तुम समझते नहीं ? हिन्दी समझते हो ? यहाँ मराठी नहीं, मराठी भाषा नहीं। यहाँ तो किसी को आती नहीं। यहाँ तो मराठी किसी को नहीं आती। समझ में आया ?

आत्मा अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप, उसका जहाँ ध्यान करे तो धर्मी जीव को शरीर की दरकार नहीं रहती। धर्मी को अपने आत्मा का लाभ हो, अपने अनुष्ठान दर्शन-ज्ञान-चारित्र से (आत्मा को लाभ हो), ऐसे अनुष्ठान से शरीर को नुकसान हो। शरीर ग्लानि हो, जीर्ण हो, हानि पहुँचे, शरीर में कुछ दरकार रहे नहीं। बराबर है ? शरीर को **कष्ट व हानि पहुँचानेवाला** है। परन्तु इसका अर्थ क्या ? शरीर की शिथिलता हो, ग्लानि हो यह।

मुमुक्षु : अपवास करे....

पूज्य गुरुदेवश्री : अपवास यह ऐसा नहीं, अपवास-बपवास नहीं। अपवास अर्थात् आत्म उपवास ऐसे अपवास। आत्मा ज्ञान शुद्धस्वरूप का अन्तर आचरण, अनुष्ठान अर्थात् आचरण, आत्मा अखण्डानन्द प्रभु शुद्ध आनन्दकन्द है, उसका अनुष्ठान-अन्तर में एकाग्रता का आचरण, वह आत्मा को धर्मरूप मुक्ति का कारण है, आत्मा को उपकारक है। वह अनुष्ठान शरीर की दरकार बिना होता है। इसलिए शरीर की क्रिया में वह निमित्तरूप

से नुकसानकारक है। ग्लानि हो, शरीर की दरकार न हो, धर्मी को आहार-पानी कैसे मिलना, न मिलना, उसके साथ कुछ लक्ष्य न हो, इससे शरीर को नुकसान हो। यहाँ तो वह आत्मा को हितकारक, वह इसे (शरीर को) नुकसानकारक; इसे (शरीर को) नुकसानकारक, वह आत्मा को हितकारक, यह यहाँ सिद्ध करना है। आहाहा!

और जो धनादिक हैं, वे भोजनादिक के उपयोग द्वारा क्षुधादिक पीड़ाओं को दूर करने में सहायक होते हैं। जो लक्ष्मी है, वह भोजनादिक उपयोग द्वारा क्षुधादिक मिटाने में अनुरूप होती है। अतः वे शरीर के उपकारक हैं। लक्ष्मी आदि से शरीर का-इस धूल दुश्मन का पोषण होता है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, इससे शरीर दुश्मन विरुद्ध है। लक्ष्मी, स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब अच्छी सेवा करनेवाले हों तो शरीर को लाभ होता है। यह निमित्त से बात है, हों! शरीर के उपकारक हैं। किन्तु उसी धन का अर्जनादिक पापपूर्वक होता है। परन्तु यह लक्ष्मी कमाना वह तो अकेला पाप, पाप और पाप है। कमाना पाप, उपार्जन करना पाप, उसे खर्च करने का भाव भी भावबन्ध का कारण है।

मुमुक्षु : कमाये नहीं तो खाये कहाँ से ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन कमाता था ? धूल। ठीक! अभी तो इसे कमाना है। देखो! एक ओर कहते हैं, मुझे पैसा मर गया, ऐसा कहते हैं एक ओर, तथा एक ओर कमाना, उसे कमाना कहते हैं।

मुमुक्षु : गहरे-गहरे तो लक्ष्मी...

पूज्य गुरुदेवश्री : गहरे-गहरे तो अन्दर लक्ष्मी बहुत अच्छी लगती है। धूल में भी लक्ष्मी अच्छी नहीं है वहाँ। वह तो यहाँ कहते हैं कि जो लक्ष्मी शरीर आदि को उपकारकरूप दिखायी देती है, भोजन-पानी, आहार-पानी, सोना, गद्दा, पानी, मकान-बकान मिले, वह आत्मा को नुकसानकारक है, क्योंकि उसकी पैसा कमाने की चिन्ता और वर्तमान पैसा है, उसे वापस खर्च करने का भाव, वह भी बन्ध का ही कारण है - ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

मुमुक्षु : खाये कहाँ से ?

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या ? परन्तु खाता कौन है ? खाता है, कौन खाता है ? आहाहा!

अरे! भाई! वह तो पैसा आदि होवे तो शरीर को मिले, परन्तु शरीर तो दुश्मन है। उसे लाभ हो और इसे (आत्मा को) नुकसान हो, आत्मा को तो नुकसान होता है। दुश्मन है। जड़ और चैतन्य दोनों विरोधी तत्त्व है। यहाँ यह कहना है न!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : हैरान कोई नहीं करता, व्यर्थ में मानता है। समझ में आया? लड़के कहाँ कमाते हैं? लड़का खाता है या नहीं? दो वर्ष का लड़का और दो वर्ष की लड़कियाँ कहीं कमाने जाते हैं? उन्हें मिलता है या नहीं?

मुमुक्षु : उनके लिए उनका बाप कमाता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो, किन्तु उनके पुण्य के कारण मिलता है न! बाप कमाता है, इसे पुण्य के कारण मिलता है। बाप तो पाप करता है। कमानेवाला तो अकेला पाप करता है। पाप से लक्ष्मी उपार्जन करे, पाप बाँधकर। कहो! अब वह लक्ष्मी शरीर को लाभ करे तो आत्मा को नुकसान करती है, ऐसा कहते हैं। अरे! लक्ष्मी की ओर लक्ष्य जाकर दया, दान में खर्च करना कदाचित् (होवे), वह भी शुभभाव बन्ध का कारण है। वह आत्मा को नुकसान का कारण है। ऐसा कहते हैं। आहाहा! पर के प्रति लक्ष्य जाता है न इसका? आहाहा!

मुमुक्षु : जगत के लोग कहते हों, उनकी अपेक्षा आपकी बात एकदम अलग ही है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया की अपेक्षा वीतरागमार्ग ही अलग है। समझ में आया?

भाई! आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। यह शरीर मिट्टी, धूल का पिण्ड है। अब इसे कुछ भोजन आदि से लाभ हुआ परन्तु आत्मा को तो इसकी ओर के लक्ष्य और ममता से नुकसान हुआ। समझ में आया? शरीर के उपकारक हैं। किन्तु उसी धन का अर्जनादिक.. अर्जनादिक अर्थात् उपजाना, यह कमाना, यह खर्च करना, सम्हालना, ब्याज पैदा करना, दूसरों को देना, यह सब पापपूर्वक होता है। उसका स्वामी हो, लक्ष्मी, लो न दूसरों को दे वहाँ कहे, मैंने दी, लक्ष्मी मेरी थी। यह मिथ्यात्व का पाप बाँधता है। कहो, समझ में आया? लक्ष्मी तो पर है, जड़ है, अजीवतत्त्व है। उसे यह माने कि मैंने दिया, मैंने यह काम

किया, देखो ! इतने धर्मादा के मैंने खर्च किये । वह अपने में अजीव का स्वामी होता है । उसे मिथ्यात्व का पाप लगता है, महान पाप ।

मुमुक्षु : देने से पाप होवे तो कौन दे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : देने से पाप किसने कहा ? वह मेरा है, ऐसा मानता है कि मैंने यह दिया, ऐसा मानता है, वह मिथ्यात्व का पाप है । ऐसा कहा था । कहो, समझ में आया इसमें ? जड़ का एक रजकण भी इससे लिया नहीं जाता, देने से दिया नहीं जाता, लेने से लिया नहीं जाता, तथापि अज्ञानी मानता है कि देखो ! यह पाँच-पच्चीस लाख मिले । बारह महीने में पचास हजार तो हमारे हमेशा घर में से जाते हैं । उनका अभिमान होवे उसे । समझ में आया ? परन्तु मूढ़ पचास हजार तेरे कहाँ (थे) ? वे तो जड़ के थे, अजीव के हैं, वे तो मिट्टी के हैं ।

मुमुक्षु : किसी को बात करनी हो तो किस प्रकार करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : करने की बात कौन करता है यहाँ ? बात का कहाँ काम है यहाँ ! समझ में आया ? उस लक्ष्मी से शरीर को लाभ दिखता है । आहार-पानी मिले, गर्म फूले हुए फूलिया क्या कहलाते हैं ? फूलके मिलें, नौकर अच्छे हों ऐसे ठीक से, सब... मिले, हलुवा मिले, पैसा होवे तो सब (मिले) परन्तु वह तो धूल को और इस बैरी को, बैरी को लाभ है । तुझे तो नुकसान है । तेरा स्वरूप का लक्ष्य चूककर जितना पर के प्रति लक्ष्य जाता है, वह सब तुझे नुकसानकारक है । ऐसा कहते हैं । कैसे होगा ? ओहोहो !

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह यहाँ नहीं, यहाँ कुछ नहीं । यहाँ तो धर्म की बात चलती है । वह मानो कुछ पूछें । यहाँ तो आत्मा के धर्म की बात चलती है । समझ में आया ? आहाहा !

अर्जनादि शब्द है न ? पैसा इकट्ठा करना, स्त्री-पुत्र को रखना, उसका विवाह करना, उसे पैदा करना, यह सब अकेला पाप, पाप और पाप है । दुकान में बैठाया, उसे सम्हाल करना, ध्यान रखना, तुम अब निश्चिन्त रहना, यह सब भाव पाप, पाप और पाप है । कैसे होगा, नटुभाई ? फिर वकालात को पूछते हैं । आहाहा !

वे पापपूर्वक होने से दुर्गति के दुःखों की प्राप्ति के लिये कारणभूत है । यह

लक्ष्मी, कुटुम्ब, स्त्री, जिसे शरीर का लाभदायक माने कि भई यह सब हो तो सेवा करे, सुश्रुषा करे तो शरीर को ठीक हो तो आत्मा को लावी... फिर शिष्य कहेगा। शिष्य प्रश्न करेगा, भाई! शरीर से तो कितना उपकार होता है, तुम यह क्या कहते हो? सब काठी निकाल डालना चाहते हो, सब काठी 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्' सुन! यह फिर कहेंगे। समझ में आया?

भाई! तेरी चीज तो, प्रभु! अखण्ड आनन्द शुद्ध कन्द आत्मा है, सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसका अन्तर साधन अपनी अन्तर से एकाग्रता से होता है। एकाग्रता से होता है, उसमें शरीर-बरीर कुछ लाभ नहीं करता। लक्ष्मी, शरीर, सब कुटुम्ब, सब सुविधा हो, लोग ऐसा कहते हैं न भाई, सब सुविधा होवे न तो ऐई! धूल में भी नहीं, सुन न! बाहर की सुविधा शरीर को निमित्त है, तुझे तो नुकसानकारक है। कहो, मोहनभाई! पोपटभाई! छह-छह लड़के हों, इतने पैसे हों, जाओ बापूजी, जाओ बापूजी जाओ। यहाँ मकान पच्चीस हजार करके रहे हैं निश्चिन्तता से, लो! पैसा धूल भी नहीं कहते हैं। वह तो बाहर के निमित्त हैं, शरीर के लिये निमित्त हुए। आत्मा को क्या हुआ? आत्मा ने तो जितना आत्मद्रव्य को छोड़कर परद्रव्य पर लक्ष्य का आश्रय जितना किया है, सब आत्मा को नुकसान और बन्ध का ही कारण है। समझ में आया? आहाहा! देखो!

वे पापपूर्वक होने से दुर्गति के दुःखों की प्राप्ति.. दुर्गति। दुर्गति अर्थात् आत्मा की गति के अतिरिक्त सब दुर्गति है। फिर स्वर्ग में जाये तो भी दुर्गति है और मनुष्य होवे तो भी दुर्गति है। सब दुर्गति है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसमें गति श्रद्धा-ज्ञान और रमना, वह एक ही आत्मा को लाभदायक है; बाकी कोई लाभदायक नहीं है। कहो, समझ में आया? अतः वह जीव का अहित या बुरा करनेवाला है। यह लक्ष्मी आदि पैसा, कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र, अच्छा मकान, साम, दाम और ठाम—ऐसे जो साधन, वे तो जीव को अहित और बुरा करनेवाले हैं।

मुमुक्षु : उत्साह... उत्साह से करता है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : उत्साह... उत्साह से करता है, पाप बाँधता है और उससे नुकसान करता है। आहाहा! भाई! यह तो दुनिया से उल्टी बात है। समझ में आया? देखो!

वह जीव का अहित.. यह लड़का और लड़कियाँ, यह इज्जत और यह कीर्ति, यह

मकान और पैसा सब आत्मा को दुःखदायक और अहित के करनेवाले निमित्त हैं। समझ में आया ? बुरा करनेवाला है। इसलिये यह समझ रखो कि धनादिक के द्वारा जीव का लेशमात्र भी उपकार नहीं हो सकता। निर्णय करो कि इनसे उपकार नहीं तो आत्मा पर इसका लक्ष्य जायेगा। नहीं तो इनसे उपकार (मानेगा) तो इकट्ठा करो तो फिर होगा, इसलिए लक्ष्य आत्मा पर विघ्न करेगा, वह वैरी है आत्मा का। आहाहा! लड़के-लड़कियाँ अच्छे हों निवृत्ति मिले या नहीं ? यह इनकार करते हैं, कहते हैं। इस शरीर को है। बापू! वहाँ चलो, बापूजी वहाँ चलो, बापूजी वहाँ चलो। क्या है ? हम आजीविका का साधन भेजेंगे, जाओ। तीन जनें मरोगे तब उठाने आयेंगे। अभी तुम तुम्हारे भटको अकेले। तुम्हारा विवाह किया, स्त्री, पुत्री किये, सब किया, तुम वहाँ रोटी खाओ निश्चिन्तता से और हम अकेले यहाँ खायें ? वह बुढ़िया पकावे और यहाँ खाना उसे, लो! कहो, समझ में आया ? इनकी काकी माँ है न! वह तो वृद्ध है न, उन्हें निकालकर ये सब जवान महिलाएँ लहर करेंगी और वे वहाँ करे और वे वहाँ करे हैरान होने गये हैं, लो! ऐई! इनका सुमनभाई हैरान होने गया है। महीने में दस हजार का वेतन मिलता है। सुमनभाई को ऐसे दस हजार। ऐसे दूसरों को ऐसा हो जाता है कि रामजीभाई का लड़का सुमनभाई! ओहोहो! दस हजार का मासिक वेतन। ऐई! लो! धूल में भी नहीं, कहते हैं। वह लक्ष्मी आत्मा को नुकसान करनेवाली है। कहो, उस पर लक्ष्य जाये तो नुकसान करनेवाली है, अकेला पाप है। लाख पैदा करता हो, पाँच लाख महीने कमाता हो, उसका लक्ष्य वहाँ है तो अकेला पाप बाँधता है।

मुमुक्षु :पैसा तो कमाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ नहीं कमाता। पाप कमाता है। यह इसे पैदा-पैदा घुस गया है अन्दर से और एक ओर कहे, मर गयी लक्ष्मी, एक बार ऐसा कहता था। अन्दर घुस गयी है लक्ष्मी। ऐ... मोहनभाई! यह तो तुम्हारी सब पोल खुलती है।

इष्टोपदेश है न! भगवान! तू तो आनन्दकन्द है न प्रभु! तुझमें अतीन्द्रिय आनन्द का सागर भरा है, वह सुख का सागर है। सुख के सागर का साधन तो तुझमें तुझसे है। कोई बाहर से साधन है नहीं। शरीर-बरीर अच्छा हो और शरीर तथा साधन अच्छा हो तुझे उपकार हो, (ऐसा) बिल्कुल नहीं है। सब नुकसान करनेवाले हैं। निमित्त से बात है, हों! अभी निमित्त से बात है न! इसे वहाँ से लक्ष्य छुड़ाना है। लक्ष्य छुड़ाना है। शरीर के जितने

साधन लक्ष्मी आदि हैं, उनसे लक्ष्य छोड़कर चैतन्य पर लक्ष्य कराना है। छोड़ न इतनी लप (लालसा) अब। यह सब तुझे लाभदायक धूल भी नहीं है। जहाँ-जहाँ लक्ष्य करेगा, लड़के पर और स्त्री पर, पुत्री पर और अमुक पर... भाई! सबके अच्छे लड़के अच्छे ठिकाने डाले हों, विवाहित हुए हों न तो अपने को ठीक रहे। नहीं तो अपने को खेद रहे। मूढ़ है, कहते हैं। ऐ.. मोहनभाई! यह सब बातें करे फालतू होकर। भगवानभाई!

दुर्गति का कारण है। अहित और बुरा करनेवाले हैं। भगवान आत्मा का लक्ष्य छोड़कर जितना परद्रव्य में तेरा आश्रय और लक्ष्य जाता है, सब तुझे अहित करनेवाला है। समझ में आया? परन्तु यह लक्ष्मी देकर इस दान में जाये परन्तु उसका लक्ष्य वहाँ है, इसलिए पुण्यबन्ध का-आत्मा को बन्धन करनेवाला नुकसान करनेवाला है यह भी। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। समझ में आया? पैसे हुए और उन पर लक्ष्य हुआ कि इसे खर्च किया, वह भी शुभराग है, वह बन्धन का कारण है, आत्मा को नुकसान का कारण है; जरा भी लाभ नहीं। आहाहा! पैसा होगा तो मन्दिर बनाऊँगा, अमुक करूँगा, धूल करूँगा। अब यह कर न अब। वह तो होना होगा तो होगा। ऐई! अब यह तो कहीं बात रही।

व्यवहारिक बातें सब ऐसी हैं। बाहर दूसरा और अन्दर दूसरा 'चबाने के दूसरे और दिखाने के दूसरे।' हाथी के दाँत बाहर के दूसरे होते हैं, चबाने के दूसरे होते हैं। इनसे चबाया नहीं जाता, (चबाने में) काम नहीं आते। दूसरों की बातें करे कि बापू! यहाँ करना। इस लड़के को कहे मन्दिर बनाना अच्छे में अच्छा। अहमदाबाद में दूसरों की अपेक्षा पाँच लाख का मन्दिर बनाना चाहिए। यहाँ तो ऐसा कहे। सामने अमुक। पहले से लगावे कि पचास हजार मुझे ऐसे हैं और अमुक है, अमुक ऐसा नहीं चलेगा। पैसे की हीनता की बात नहीं सुने। ऐसा रामजीभाई कहते, खबर है? कम पैसे की बात सुनाना नहीं। पैसा नहीं, पैसा नहीं, ऐसी बात नहीं सुनी जाये तुम्हारे। मलूकचन्दभाई ऐसा कहे? पोपटभाई! पैसा कम है ऐसा मलूकचन्दभाई से नहीं कहा जाये, ऐसा कहते हैं। मोहनभाई कहते हैं। आहाहा! जितना आत्मा के चैतन्य के लक्ष्य का आश्रय छोड़कर जितना पर के पदार्थ पर लक्ष्य जाता है, वह सब बन्धन का ही कारण है। आहाहा! यह मन्दिर और देव-गुरु और शास्त्र की ओर जितना लक्ष्य जाता है, वह भी आत्मा को बन्धन का ही, नुकसान का ही कारण है। यह तो बात कोई अजब की है न! ऐसा यह कहते हैं अन्दर।

भगवान आत्मा अबन्धस्वरूपी सद्चिदानन्दनाथ, अनन्त गुण का सागर प्रभु आत्मा है। उसका अन्तर्लक्ष्य और आश्रय करके हित करना चाहिए। वह हित करना, वह इस शरीर को नुकसान करनेवाला होगा और इसके लाभ के कारण से तुझे नुकसान का कारण होगा। आहाहा! यह तो दुनिया का, परद्रव्य का उत्साह उड़ा देते हैं, ऐसा कहते हैं, भाई! तेरे आत्मा के अतिरिक्त पर अनन्त द्रव्य चाहे जो हों, लाख सुविधा और मकान और ऐसे ढेर पैसे (हों), और एक-एक दिन की लाख-लाख दो-दो लाख की आमदनी हो, कुछ मेहनत किये बिना सहज चले आवें, परन्तु बापू! तेरा तक्ष्य वहाँ जाता है, वही बन्धन है। क्या है तुझे? समझ में आया?

भगवान आत्मा चैतन्य की लक्ष्मी शुद्ध पड़ी है, उसमें प्रभु! तेरा लक्ष्य तो वहाँ अन्दर चाहिए। उसका लक्ष्य छोड़कर इन सब परलक्ष्य में जाता है, भाई! तुझे नुकसानकारक है। शरीर को तू लाभदायक माने परन्तु तुझे तो नुकसानकारक है, ऐसी बात है। आहाहा! वीतरागी सन्तों की यह बात है, भाई! समझ में आया? इसलिये यह समझ रखो कि धनादिक के द्वारा जीव का लेशमात्र भी उपकार नहीं हो सकता। पचास लाख, करोड़, पाँच करोड़ इकट्ठे हुए, मन्दिर बनाऊँगा, उससे जरा भी आत्मा को लाभ नहीं होगा, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :कोई बनायेगा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : बनाता है कौन, वह बनायेगा नहीं? ऐई! दो धारी तलवार है, दो धारी। आहा! बनाता कौन है? रजकणों की पुद्गल की पर्याय उस क्षण में होनेवाली हो, उसकी वह होती है। क्या वहाँ मूलचन्दभाई का भाव काम करता है? ऐई! जगत के तत्त्व अजीव परमाणु के स्कन्ध हैं। वे पलटते प्रवाह से आने पर जहाँ लगने हों, उस लगने के काल में ही लगनेवाले हैं। उसमें दूसरा कोई इन्द्र, नरेन्द्र, जिनेन्द्र उसका कर्ता है नहीं। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! इनके घर में मन्दिर होता है न? वह तीस हजार का होता है न वहाँ? कौन करे? भाई! तुझे खबर नहीं।

मुमुक्षु : पैसेवाले करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसावाला कौन करे? धूल करे। पैसा-पैसे में जाये, मकान, मकान में हो। पैसे से मकान होता होगा? एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य का होता होगा? आहाहा!

यह तो इस जगत से सब उल्टी बात है, भाई! समझ में आया? इसलिए समझ रखो, ध्यान रखो कि धनादि, धन, लक्ष्मी, कुटुम्ब, अच्छे लड़के हुए और यह सब हुआ और धूल हुई, मकान अच्छा हुआ, खिड़की दरवाजे और हवा-पानी ठीक से रहेंगे और शरीर की स्वच्छता रहेगी, ऐसी जगह पर्वत के ऊपर मकान बनाते हैं, भाई! लो! अच्छे में अच्छी जगह, वहाँ ऊँचे बनाते हैं, लो! समझ में आया? और हवा पानी रहे तथा आरोग्य हो तो सब ठीक पड़े। धूल में भी ठीक नहीं, सुन न! जितना लक्ष्य पर के ऊपर जाता है, उतना तेरा स्व-आश्रय नाश होता है। समझ में आया? आहाहा! कान्तिभाई! यह किस प्रकार की बात? वीतराग की ऐसी बात होगी? ऐसी बात वीतराग की लोगों ने सुनी नहीं। बापू! तेरा तत्त्व भिन्न है, प्रभु! ये रजकण इस शरीर के, मिट्टी के आकर पड़े, वे तेरे नहीं हैं और उन्हें बाहर के निमित्त से कुछ निरोगता—रोगता हो, उसमें तुझे क्या लाभ है? आहाहा! दृष्टि का बड़ा अन्तर है।

उसका उपकारक तो धर्म ही है। लो! आत्मा का उपकारक तो एक धर्म है। भगवान् शुद्ध आनन्द-सागर, चैतन्य के पूर जो पड़ा है आत्मा, उसकी अन्तर में एकाग्रता सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की एकाग्रता, वही आत्मा को उपकारक और लाभदायक है; बाकी कोई आत्मा को उपकारक है नहीं। वह शुभभाव होवे, वह उपकारक नहीं—ऐसा कहा इसमें, भाई! समझ में आया? यह कहेंगे, शुभभाव रहे, उससे पुण्य बँधे, शरीर को उपकार हो। अर्थात् शरीर कुछ ठीक मिलेगा। यह बाद में कहेंगे। तेरे आत्मा को कुछ लाभ नहीं है। आहाहा! समझ में आया? भगवान् आत्मा इस पुण्य और पाप के परिणाम से भी जीव को तो नुकसान ही है। शुद्ध अनाकुल चैतन्यमूर्ति आनन्द का कन्द प्रभु सच्चिदानन्द, जब तक आत्मज्ञान न करे, तब तक उसे सब भाव नुकसान का ही कारण है। एक आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, आत्मशान्ति एक ही जीव को उपकारक है। बाकी पुण्य का विकल्प, शरीर, लक्ष्मी कोई जीव को उपकारक है नहीं। आहाहा! समझ में आया?

उसी का अनुष्ठान करना चाहिये। देखो! उसका अनुष्ठान करना चाहिए, भाई! आत्मा महान् पदार्थ है न, प्रभु! तेरे पदार्थ में क्या भरा है, वह तुझे खबर नहीं। पूर्ण शान्ति पड़ी है, अनन्त आनन्द है, भाई! ऐसा तू आत्मा है। यह पुण्य और पाप, शरीर तू वह नहीं है। जिसमें नहीं तू, उसमें से तुझे उपकार कैसे होगा? जिसमें नहीं तू—पुण्य-पाप के

परिणाम में, शरीर में, लक्ष्मी में, पुत्र में-जिसमें नहीं तू, उनसे तुझे उपकार कैसे होगा ? समझ में आया ? जिसमें नहीं तू, उसका लक्ष्य करने से तुझे नुकसान, नुकसान, अलाभ है। आहाहा! यह तो सब उड़ जाता है। यह स्त्री, पुत्र अच्छे हुए, लड़के अच्छे हुए और हर्ष हुआ न... चिमनभाई!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : पक्की नहीं होती। इसने कभी नहीं की। यह उड़ाऊ बात बाहर की... बाहर की.. बाहर की.. यह उड़ाऊँ की सुनकर उड़ाऊ की बातें, इनके कारण अन्तर में क्या चीज़ है, उसका माहात्म्य, उसकी महिमा नहीं आयी। बिजली की चमक जैसे संयोग, इन संयोगों में ही इसकी अन्दर में कुछ... कुछ... कुछ... इसके कारण, कुछ इसके कारण लाभ, ऐसी अनादि की इसकी मान्यता पड़ी है परन्तु भगवान आत्मा शुद्ध चिदानन्द की मूर्ति प्रभु है। मेरा स्वाश्रयभाव एक ही मुझे उपकारक है, ऐसा इसने अनन्त काल में यथार्थरूप से निर्णय नहीं किया। उसका अभ्यास ही नहीं, वह अभ्यास ही पर का पूरा हो गया है। आहाहा! शरीर में जरा भोग का सुख मिले, तब तो कहते हैं कि कदाचित् इस शरीर को ठीक, परन्तु तेरे आत्मा को तो नुकसानकारक है। आहाहा! समझ में आया ? यह तो वीतराग की बातें हैं, भाई! तब अब शिष्य प्रश्न करता है। यह एक श्लोक पहले कहते हैं।

दोहा - आतम हित जो करत है, सो तन को अपकार।

जो तन का हित करत है, सो जियको अपकार॥१९॥

आतम हित जो करत है, सो तन को अपकार। वह तन को-शरीर को नुकसान करनेवाला है। आत्मा का हित अन्तर दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा का हित करनेवाले हैं। वे शरीर को लाभ नहीं करते। इतनी बात वहाँ अपकार में लेना। समझ में आया ? शरीर पर लक्ष्य नहीं रहता, शरीर का होना होगा वह होगा, परद्रव्य का होना होगा वह होगा, मेरे द्रव्य का लाभ लूँ न! परद्रव्य के लिये मुझे कुछ है नहीं।

जो तन का हित करत है, सो जियको अपकार। लो! जो शरीर के लिये अनुकूल दिखता है-पैसा, लड्डू, दाल, भात, स्त्री, परिवार, सेवा, सुश्रुषा करनेवाले, खम्मा.. खम्मा.. समझ में आया ? सेवा करनेवाले। देखो! ऐसे देखो! कहाँ गये ? कान्तिभाई! यह सेवा करनेवाले कैसे होते हैं ? लो न, वीरजीभाई की कैसी सेवा करते थे ? तो उसे आत्मा

का लाभ है या नहीं जरा भी ? नहीं। वह बेचारी खड़ी-खड़ी ऐसे काम-सेवा करें महिलाएँ बेचारी, लड़कियों की भाँति काम करती। ओहोहो ! लड़की काम न करे ऐसा। बापूजी का शरीर लुवे, सोते में पेशाब, दस्त साफ करे, अपने आप साफ करे। कहते हैं कि उसमें शरीर को भले ठीक हो परन्तु आत्मा को तो उस ओर का लक्ष्य है, उतना नुकसानकारक है। अरे... अरे.. ! गजब बात।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह किये बिना इसका छुटकारा कहीं नहीं है। मर जाये। दुनिया इसे दूसरे प्रकार से उल्टे रास्ते चढ़ा दे। इस मार्ग के बिना इसका उद्धार नहीं है। भगवान सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग ने कहा हुआ सत् सरल मार्ग यह एक ही है। स्वद्रव्य का आश्रय करना, परद्रव्य का आश्रय / लक्ष्य छोड़ना। इसके बिना तुझे लाभ नहीं है - यहाँ मूल तो ऐसा कहते हैं। अब शिष्य का प्रश्न है, हों !

अथवा काय का हित सोचा जाता है,.. महाराज सुनो ! मैं शरीर की कुछ बात करूँ, शिष्य कहता है। तुमने तो निकाल ही डाला सब। अर्थात् काय के द्वारा होनेवाले उपकार का विचार किया जाता है। शिष्य कहता है, सुनो महाराज ! हों ! जरा बात तो सुनो मेरी, हम कहते हैं, एकदम निकाल डालते हो, निकाल डालते हो, निकाल ही डालते हो सब। देखिये कहा जाता है कि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'.. शरीर, वह धर्म का साधन है और शरीर तथा लक्ष्मी साधन परम्परा सब आत्मा को लाभ का कारण है, हो गया। शिष्य कहता है, यह प्रश्न करता है, हों !

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : अब सुन तो सही न परन्तु सब। क्या करे ? डाले जहाँ-तहाँ विपरीत मान्यता। शरीर धर्म-सेवन का मुख्य साधन-सहारा है। महाराज ! तुम इतना सब निकाल डालते हो, परन्तु इस दुनिया में कहा जाता है कि 'शरीर से सुखी, वह सुखी सर्व बातें' यह तो उसने रट रखा है। खोटा-खोटा सूत्र। शिष्य ने यहाँ ही लगायी है, हों ! कि हम तो ऐसा सुनते हैं कि शरीर से सुखी, वह सुखी सर्व बातें। मूढ़ है। ऐसा कहाँ से निकाला ? शरीर को सुख, उसमें तुझे क्या है ? सुख अर्थात् शरीर में निरोगता में तुझे क्या

है ? निरोगता से आत्मा को बिल्कुल लाभ नहीं परन्तु निरोगता है, उसकी ओर लक्ष्य जाने पर तुझे अकेला पाप ही बँधता है। आहाहा!

मुमुक्षु : रट रखा है और सब मीठी शक्कर जैसा लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : तुमने अधिक कहा। बात तो मीठी शक्कर जैसी लगती है। है तो ऐसा। कहो, समझ में आया ? शरीर, धर्म सेवन का मुख्य साधन है। शरीर अच्छा न हो तो महाराज ! तुम धर्म-बर्म करो। ऐं.. ऐं.. होता होगा,... निकलता होगा, बैठा नहीं जाये, कमर टूटती हो, टूटती हो और १०५-५ डिग्री बुखार हो, छह-छह डिग्री बुखार हो, घनघनाहट हो। तुम कहो कि शरीर धर्म का साधन नहीं। परन्तु यह धर्म ऐसा शरीर होवे तो धर्म होगा। इसके बिना होती होगी सामायिक ? कहो, अरे ! शरीर में छह-छह डिग्री के बुखार के समय भी ध्यान करनेवाले आत्मा का ध्यान करके शान्ति को वेदन करते हैं। तुझे उसके घर में क्या काम है वहाँ ? समझ में आया ? शरीर में १०६-६ डिग्री का बुखार, सात-सात डिग्री का बुखार। उसके घर में रहा जड़। मुझे कहाँ स्पर्श करता है ? स्वयं भले सो रहा हो, बैठा नहीं जाये तो, समझ में आया ? आत्मा अन्दर से भिन्न करके, लक्ष्य करके वेदन करे। शरीर कहाँ उसे नुकसान करता है। समझ में आया ?

यह मुनि महाराज महान दिगम्बर सन्त जंगल में बसते हैं। यह बिच्छु का डंक हो, एक ओर यहाँ से उतरे, एक साथ में पाँच-दस बीस निकले हों, ध्यान में बैठे हों और बिच्छु काटे हों और ऐसा.. वहाँ कहाँ डॉक्टर बैठा था तुरन्त ? पाटा-पिण्डी करो और काट डालो, उसे जहाँ इतना काटा है और वहाँ अमुक है। एकदम ! अहो ! ऐसी पीड़ा नरक में अनन्त बार संयोग में मिली है। हम संयोगी चीज़ में नहीं हैं। हम जहाँ हैं, वहाँ संयोग स्पर्श नहीं करते। ऐसी अन्तर्दृष्टि बदलकर नजर लगाकर अन्दर आनन्द में स्थित होते हैं। बिच्छु के काटने में ! यह तो बिच्छु काटे तो चिल्लाने लग जाये। हाय.. हाय.. हाय.. करे। अब सुन, वह तो जड़ की दशा हुई।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : वह निमित्त हुआ नहीं, यह तो स्वयं ने किया, तब कहलाये। निमित्त कहाँ बात है ? यह तो कहना है कि ऐसे समय में भी ऐसी पीड़ा (होवे).. यहाँ तो अभी दो डिग्री निकाले, ९८-९९-१०० आवे वहाँ उं.. उं... उं... किया करे। बनिया

निर्बल। ऐ... नटुभाई! मूलजीभाई का दृष्टान्त देते थे। मूलजीभाई का, हों! अन्त में उन्होंने बहादुरी की। मूलजीभाई थे न? पहले एक बार गये थे, तब ९९-९९.५ (बुखार था)। गृहस्थ व्यक्ति थे। बहुत लाख तो (संवत्) १९७६ के वर्ष में लाये थे। लाख कितने? पन्द्रह लाख, सोलह लाख, चौदह लाख जितने। तब तो गृहस्थ वे अधिक थे, हों! जरा बुखार आवे वहाँ ऊं.. ऊं.. करे। परन्तु क्या है? महिलाएँ कहे यह तो एक ९९.५ हो तो ऐं.. ऐं.. करते हैं। परन्तु मरते समय उन्होंने बहादुरी की, हों! मरते हुए पीड़ा उठी। वह क्या कहलाता है? बुलाओ लालभाई को। वे (परिजन) कहें डॉक्टर को बुलाओ। पैसेवाले व्यक्ति थे। डॉक्टर को बुलाओ। ये कहें, लालभाई को बुलाओ। सबेरे बुलाकर कहा। वहाँ तो ठीक हो गया। दोपहर को वापस (दर्द) उठा, वे कहें बुलाओ डॉक्टर को। यह कहो, बुलाओ लालभाई को। लालभाई सुनाने लगे अरे! मूलजीभाई! इस शरीर का रोग होता है, वह आत्मा देखता है। आत्मा इसका शरीर का जाननेवाला है, आत्मा में रोग नहीं है। आत्मा उसका जाननेवाला है। शरीर का रोग... काया का धर्म जीवपद में ज्ञात होता है। यह शरीर का रोग ज्ञात होता है। मूलजीभाई कहते हैं, शरीर का रोग आत्मा जाने? या आत्मा अपने को जाने? पर को जाने? ऐई! यह तो मूलजीभाई की बात की। उनका तो अभ्यास बहुत वर्ष का था। यह अलग बात है। वीरजीभाई की लाईन अलग, उन्हें तो बहुत वर्ष का अभ्यास था। वह तो अलग प्रकार का व्यक्ति था।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो बस वह... शोर करे उसका।

मुमुक्षु : भानुभाई गुजर गये तब....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भानुभाई के समय सबने हिम्मत रखी थी। ऐसे अट्टाईस वर्ष का युवक लड़का, दो वर्ष का विवाहित (गुजर गया तो भी) समाधान, समाधान। स्थिति पूरी हो, समय से चला जाता है। वे... बहिन कहे, यह भी चला। स्थिति पूरी हो, वहाँ जायेगा, रोना नहीं ऐं.. ऐं.. करके। 'सहजानन्दी शुद्धस्वरूपी' मुर्दा उठाकर ले जाते हैं। अट्टाईस वर्ष का युवक। बड़ा बीस लाख में विवाहित। दो वर्ष की विवाहित स्त्री। अब होता है तो क्या है तुझे? समझ में आया? मरते यह एक शब्द उसका कठोर, हों! भाई ने

कहा था। उन रजनीभाई ने। है न बैरिस्टर? मूलजीभाई का लड़का बैरिस्टर है। बापूजी अन्त में ऐसा बोले थे, रोग देखे आत्मा? आत्मा रोग को जाने? वहाँ लक्ष्य करे कि यहाँ रोग है और रोग है, उसे मैं जानता हूँ, ऐसा लक्ष्य करे? आहाहा! इतना जोर तो किया। समझ में आया? आत्मा, आत्मा को जाननेवाला है। जड़ को जानने पर लक्ष्य रखे? वहाँ रखे? यहाँ रोग है और यहाँ रोग है और मैं जानता हूँ, अब मुझे सहन करना – ऐसा रखकर करे? समझ में आया?

आत्मा.. आहाहा! मैं स्वयं ही अपना जाननेवाला हूँ। उसमें भी समल-विमल अवस्था को भी नहीं, भेद नहीं, भेद नहीं, भेद नहीं। जानने-देखनेवाला, जानने-देखनेवाला स्व को, हों! जाओ छूट गये। समझ में आया? उसे फिर जन्म-मरण नहीं होता, होवे तो एकाध दो (भव) हों। ऐसी स्थिति उत्पन्न करनी चाहिए, उसमें आत्मा को परवस्तु कुछ लाभदायक है नहीं।

यह शिष्य कहता है महाराज! धर्म सेवन का साधन। इतना ही नहीं, उसमें यदि रोगादिक हो जाते हैं, तो उनके दूर करने के लिये प्रयत्न भी किये जाते हैं। साधन भी है, साधन नहीं – ऐसा नहीं। ध्यान का कहेंगे अधिक तो। समझ में आया? काय के रोगादिक अपायों का दूर किया जाना मुश्किल भी नहीं है,.. वापस बहुत तुम ऐसा कहते हो कि शरीर में रोग आवे और उसे नुकसान टाल न सके, ऐसा नहीं है। ध्यान से रोग मिट जाते हैं। आत्मा को ऐसे लाभ होता है और ऐसे भी लाभ होता है। देखो! यह लिया है। आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो भाई सिद्ध करना है न! काय के रोगादिक अपायों का दूर किया जाना मुश्किल भी नहीं है, कारण कि ध्यान के द्वारा वह (रोगादिक का दूर किया जाना) आसानी से कर दिया जाता है,.. अन्तर में ज्ञान का ध्यान किया, उसके कारण रोग भी मिट जाता है, वह पुण्य-बुण्य बँध जाये न (तो) रोग भी घट जाता है। आत्मा को तो लाभ हो जाये परन्तु रोग भी घट जाता है, ऐसा शिष्य कहता है। समझ में आया? ऐ.. शुकनचन्दजी! देखो, कैसा प्रश्न करता है?

यह आत्मा.. आत्मा.. आत्मा.. आत्मा.. अन्दर जहाँ शुद्ध चैतन्य की श्रेणी में चढ़ा, वहाँ तो शुद्धता तो बढ़े, परन्तु कहते हैं कि कुछ रागादि बाहर पुण्य बँध जाये, शरीर में निरोगता हो जाये, ध्यान से दोनों फल होते हैं। समझ में आया ? शिष्य का प्रश्न ध्यान में से निकाला, हों! ध्यान के फल में से निकाला, लक्ष्मी में से नहीं, अमुक में से नहीं। अब सुन, सुन! उसे नुकसान करनेवाला है न! आत्मा का अनुष्ठान शरीर को नुकसान करनेवाला है। नहीं, नहीं। आत्मा का ध्यान करे तो आत्मा को भी लाभ होता है और उसमें शरीर को भी लाभ होता है, निरोगता होती है। शुभराग से पुण्य बँध जाये तो निरोगता होती है, स्वस्थता रहती है। ध्यान के दो लाभ हैं। शरीर को लाभ करता है – ऐसा शिष्य प्रश्न करता है। आसानी से कर दिया जाता है,.. ऐसा सहज। आत्मा की अन्तर एकाग्र होने पर ऐसा कोई पुण्य बँध जाये, अन्दर रोग मिट जाये, लो! शरीर में रोग घट जाये, निरोगता हो जाये, दोनों को लाभ हो।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, आसानी से। यहाँ तो ध्यान लागू पड़ जाये ऐसा कि ऐसे पुण्य बँध जाये, शरीर निरोग हो जाये, तुरन्त का तुरन्त कोई पुण्य बँध जाये और साता का उदय आवे तो रोग मिट जाये।

जैसा कि तत्त्वानुशासन में कहा है—‘यत्रादिकं फलं किञ्चित्।’। देखो! जो इस लोक सम्बन्धी फल हैं, या जो कुछ परलोक सम्बन्धी फल हैं, उन दोनों ही फलों का प्रधान कारण ध्यान ही है। लो! तत्त्वानुशासन में कहा है, कहते हैं। इस लोक का भी फल मिले, पुण्य आदि शरीर निरोगता हो और आत्मा को शान्ति (मिले) अन्दर के धर्मध्यान से दोनों मिलें, दोनों मिलें। मतलब यह है कि ‘झाणस्स ण्सा दुल्लहं किं पीति च’ ध्यान के लिये कोई भी व कुछ भी दुर्लभ नहीं है,.. वह शिष्य कहते हैं। ध्यान से सब कुछ मिल सकता है। इस विषय में आचार्य निषेध करते हैं, कि ध्यान के द्वारा काय का उपकार नहीं चिंतवन करना चाहिये— मूढ़! शरीर को ठीक रहे, यह चिन्तवन करना नहीं। वह तो उसके कारण से होना हो, वह होगा। आत्मा का ध्यान कर, आत्मा का। आहाहा! काया में ठीक होगा, यह अब छोड़ दे।

जो इस लोक सम्बन्धी फल हैं, या जो कुछ परलोक सम्बन्धी फल हैं, उन दोनों ही फलों का प्रधान कारण ध्यान ही है। मतलब यह है कि 'ज्ञाणस्स ण्सा दुल्लहं किं पीति च' ध्यान के लिए कोई भी व कुछ भी दुर्लभ नहीं है, ध्यान से सब कुछ मिल सकता है। इस विषय में आचार्य निषेध करते हैं, कि ध्यान के द्वारा काय का उपकार नहीं चिंतवन करना चाहिए—

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम्।

ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्काऽऽद्रियन्तां विवेकिनः॥२०॥

अर्थ - इसी ध्यान से दिव्य चिन्तामणि मिल सकता है, इसी से खली के टुकड़े भी मिल सकते हैं। जबकि ध्यान के द्वारा दोनों मिल सकते हैं, तब विवेकी लोग किस ओर आदरबुद्धि करेंगे?

विशदार्थ - एक तरफ तो देवाधिष्ठित चिन्तित अर्थ को देनेवाला चिन्तामणि और दूसरी ओर बुरा व छोटा सा खली का टुकड़ा, ये दोनों भी यदि ध्यान के द्वारा अवश्य मिल जाते हैं, तो कहो, दोनों में से किसी की ओर विवेकी लोभ के नाश करने के विचार करने में चतुर-पुरुष आदर करेंगे? इसलिए इसलोक सम्बन्धी फल काय की नीरोगता आदि की अभिलाषा को छोड़कर परलोक सम्बन्धी फल की सिद्धि-प्राप्ति के लिए ही आत्मा का ध्यान करना चाहिए। कहा भी है कि 'यद् ध्यानं रौद्रमार्तं वा'॥२०॥

'वह सब रौद्रध्यान या आर्तध्यान है, जो इसलोक सम्बन्धी फल के चाहनेवाले को होता है। इसलिए रौद्र व आर्तध्यान को छोड़कर धर्मध्यान व शुक्लध्यान की उपासना करनी चाहिए।'

दोहा - इस चिन्तामणि है महत, उत खल टूक असार।

ध्यान उभय यदि देत बुध, किसको मानत सार॥२०॥

गाथा - २० पर प्रवचन

इतश्चिन्तामणिर्दिव्य इतः पिण्याकखण्डकम्।

ध्यानेन चेदुभे लभ्ये क्काऽऽद्रियन्तां विवेकिनः॥२०॥

अर्थ - इसी ध्यान से दिव्य चिन्तामणि मिल सकती है,.. क्या कहते हैं ? जिसके ध्यान से दिव्य चिन्तामणि परमात्मा शान्ति मिलती है। इसी से खली के टुकड़े भी मिल सकते हैं। एक खली का टुकड़ा मिले। जबकि ध्यान के द्वारा दोनों मिल सकते हैं, तब विवेकी लोग किस ओर आदरबुद्धि करेंगे ? वहाँ लक्ष्य रखेंगे कि मुझे ऐसा हो जाएगा, शरीर ऐसा मिला, ध्यान करूँ-धर्मध्यान करूँ तो मुझे निरोग शरीर होगा, वहाँ लक्ष्य रखना है इसे ? चिन्ता वहाँ करनी है ? यह कहाँ लग पड़ा वापस ? समझ में आया ?

आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप है। उसका आश्रय कर न! उसका आश्रय करने से होना होगा, वह सहज होगा। परन्तु आशा करना ? जिससे चिन्तामणि रत्न मिले, उससे चिन्तामणि को इच्छे कि यह मुझे खली का टुकड़ा देना। चिन्तामणि मिली, कहते हैं, चिन्तामणि देव अधिष्ठित। फिर क्या करे ? एक खली का टुकड़ा लाना। परन्तु वह उसके नहीं माँगा जाता। चिन्तामणि से तो ऐसा कहे कि लाओ, लाख महल बनाओ, और झूला डालो, सोने की साँकल डालो, यह करो, ऐसा करूँ उसके पास। ऐसा होता है चिन्तामणि के पास से। चिन्तामणि से खली का टुकड़ा माँगाया जाता होगा ? मूर्ख है ?

इसी प्रकार भगवान आत्मा पुण्य-पाप के रागरहित वस्तु है। उसके ध्यान में चिन्तामणि-आत्मा की शान्ति प्राप्त हो, उसका माँग कर न! उसमें मेरी निरोगता हो और यह हो और यह कहाँ मूर्खता की है तूने ? ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? इसी ध्यान से दिव्य चिन्तामणि मिल सकती है, इसी से खली के टुकड़े भी मिल सकते हैं। जबकि ध्यान के द्वारा दोनों मिल सकते हैं, तब विवेकी लोग किस ओर आदरबुद्धि करेंगे ? किस पर ध्यान रखे ? चिन्तामणि पर या टुकड़े पर ? आहा !

विशदार्थ-एक तरफ तो देवाधिष्ठित चिन्तित अर्थ को देनेवाला चिन्तामणि.. लो ! पत्थर मिला एक। और दूसरी ओर बुरा व छोटा सा खली का टुकड़ा,... बुरा

और वापस छोटा, सड़ा हुआ, पुराना खली का टुकड़ा। पुराना हुआ हो, पुराना। खोरा और वापस बुरा। ये दोनों भी यदि ध्यान के द्वारा अवश्य मिल जाते हैं, तो कहो, दोनों में से किसी की ओर विवेकी लोभ के नाश करने के विचार करने में चतुर-पुरुष आदर करेंगे? किसकी ओर विवेक लोभ के नाश करने के विचार करने में चतुर पुरुष किसका आदर करेगा? कहते हैं। अज्ञानी भले दूसरा माने। विवेकी, लोभ के नाश करनेवाला, वापस विचार करने चतुर। विचार करने में चतुर, वह पुरुष किसका आदर करे? चिन्तामणि का आदर करे या इसका करे? चिन्तामणि-चैतन्य चिन्तामणि है।

चिन्तामणि भगवान आत्मा चैतन्य आनन्दकन्द चिन्तामणि है। जितनी एकाग्रता हो, उतनी शान्ति का फल तुरन्त नगद मिले, ऐसा है। समझ में आया? भगवान आत्मा पूर्ण आनन्द से (भरपूर) पड़ा है। चैतन्य आनन्द, चैतन्य चमत्कार, आनन्द का चमत्कार, पर से हटकर जितना आत्मा के आनन्द में एकाग्र आया, उतनी तात्कालिक शान्ति और आनन्द का फल मिले, ऐसा चिन्तामणि आत्मा है। समझ में आया?

मुमुक्षु : वह (जड़) चिन्तामणि (तो) तुरन्त ही ख्याल में आता है....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह नहीं, इसे माहात्म्य नहीं आता। मैं इतना! उस पत्थर की कीमत लगती है, परन्तु पत्थर की कीमत करनेवाला कितना कीमती है? भगवान जाने! मैं इतना बड़ा, मैं इतना बड़ा! आहाहा! इसका लक्ष्य ही वर्तमान पर्याय और राग पर है तथा संयोग पर है, परन्तु पर्याय के अंश के पीछे भगवान बड़ा विराजता है, सच्चिदानन्द प्रभु स्वयं ही ध्रुवस्वरूप है। आहा! उसकी शरण में इसे माहात्म्य लगे बिना आश्रय ले नहीं।

कहते हैं कि जिसे ऐसास आश्रय मिला, जो चिन्ते, उतना हो। उस (जड़) चिन्तामणि में चिन्ते उतना बाहर में मिले। इसमें भी भगवान आत्मा जितना एकाग्र होता है, उतनी शान्ति तत्काल मिलती है। आहाहा! भगवान अतीन्द्रिय आनन्द का सागर है। सुख का सागर, नहीं आया था? सुख पूर-पूर है। उसमें जितना सन्मुख होकर एकाग्र होवे, तात्कालिक चिन्तामणि अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद को दे। उसे अब पुण्य और पुण्य के फल का काम क्या है तुझे? आहाहा! समझ में आया?

जिसकी कटाक्ष दृष्टि में चक्रवर्ती चैतन्य कंपकर उठे-जागे, ऐसे अन्दर से, आहा!

उसकी शरण लेना है तुझे। किसकी शरण लेना है? समझ में आया? आहा! जिसकी एक नजर पड़ने से पूरा निधान ख्याल में आवे, ऐसा भगवान आत्मा... भाई! उसकी एकाग्रता विवेकी चतुर पुरुष को होती है या उसे उस खली के टुकड़े की याचना (होती है)? पुण्य होना और फिर स्वर्ग मिलना और शरीर निरोग रहना। (यह तो) खली का टुकड़ा है, वह भी सड़ा हुआ। आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, तो भी... त्रांसी अर्थात् ऐसा है, उसे ऐसे करे - ऐसा कहते हैं। जिसके सन्मुख देखने से, भगवान जगकर शान्ति दे, ऐसा परमात्मा स्वयं तू ही है। आहाहा! उसकी याचना करे या राग और पुण्य बँधे तथा फिर शरीर निरोग रहे और स्वर्ग में जाएँ और धूल के टुकड़े, सड़े हुए - सड़े हुए खली के टुकड़े की याचना! चिन्तामणि मिला न? ऐसा कहते हैं। आहाहा!

इसी प्रकार भगवान चैतन्य चमत्कार प्रभु, जिसे दृष्टि में बैठा और एकाग्रता की चिन्तामणि का फल तो तत्काल ही मिलता है। वह किसकी इच्छा करे? पूरे जगत का राज हो तो भी खली के सड़े टुकड़े जैसा है। इन्द्र का पद मिले तो भी सम्यग्दृष्टि को सड़ा हुआ खली के टुकड़े जैसा है, ऐसा यहाँ कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! भाई! तेरे नाथ की तुझे खबर नहीं। समझ में आया? यह स्वामी सहजात्म भगवान आत्मा जिसे दृष्टि में आया, वह चिन्तामणि, चिन्तवे वैसा प्राप्त हो, ऐसा वह रत्न है। आहाहा! ऐसा कहते हैं। देखो न! कहते हैं कि ऐसा होगा, जरा-सा पुण्य बँधेगा, फिर शरीर ठीक रहेगा, स्वर्ग में जाऊँगा, फिर राग होगा न! अरे! ऐसी इच्छा होवे उसे? समझ में आया?

मुमुक्षु :खली तो ढोर भी नहीं खाता।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं खाता। तू ढोर जैसा है, यदि इच्छा करे तो, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह शरीर अच्छा रहे तो.. सड़ा हुआ खली का टुकड़ा है, कहते हैं। अब यह माँस का, हड्डियाँ चैतन्य से भिन्न अत्यन्त भिन्न है। कोई पूर्व-पश्चिम, शेढे-सिमाडे मेल नहीं होता दो को—शरीर को और आत्मा को। कहीं के रजकण यहाँ आकर चिपटे हैं।

एक बार कहा नहीं था? जहररूप से परिणामित हुए रजकण पहले वे देखने से तुझे

जहर होता, वे जहर के रजकण आकर यहाँ चिपटे हैं। उनके प्रति तुझे प्रेम होता है कि बटका भर लूँ। मानो क्या किया ? यह शत्रु है तेरा। पूर्व के रजकण जहररूप से परिणमित, छुरारूप से परिणमित, बाण के मुँहरूप से... ऐसे... हाय! हाय! उस मुँह के रजकण अभी यहाँ आये हैं। नटुभाई! किसका प्रेम तुझे ? यह परमात्मा भगवान अन्दर पड़ा है। देखो! यह तो सबको उपदेश ऐसा देते हैं। ऐसा नहीं कि अमुक को, बड़ों को, स्त्री-पुत्र को नहीं, अमुक को नहीं। सबके लिये ऐसा है। सामूहिक निमन्त्रण है। आहाहा!

इसलिए इसलोक सम्बन्धी फल काय की नीरोगता... देखो! इसलिए इसलोक सम्बन्धी फल काय की नीरोगता आदि की अभिलाषा को छोड़कर परलोक सम्बन्धी फल की सिद्धि-प्राप्ति के लिए ही आत्मा का ध्यान करना चाहिए। परलोक अर्थात् आत्मस्वभाव, हों! उत्तम लोक, वही परलोक है। समझ में आया ? कहा भी है कि 'यद् ध्यानं रौद्रमार्तं वा'। लो!

'वह सब रौद्रध्यान या आर्तध्यान है, जो इसलोक सम्बन्धी फल के चाहनेवाले को होता है। इस लोक की इच्छावाले को आर्तध्यान-रौद्रध्यान ही होता है। उसे धर्मध्यान-आत्मा का ध्यान बिल्कुल नहीं होता। देखो न! इन लोगों को विचार चढ़े, वहाँ भूल जाते हैं या नहीं सब ? ऐसे आँख ऐसे की ऐसी फटकर सब भूल जाते हैं अन्दर, एकाकार हो जाते हैं पाप में। फावाभाई! आँखें भले उघाड़ी रहे। दूसरे को लगे, आत्मध्यान करते होंगे यह ? परन्तु ऐसा विकल्प आया होवे न किसी का, (तो) आँख स्थिर हो जाए। ऐसे स्थिर हो जाए अन्दर में, ऐसा कहते हैं।

जो इसलोक सम्बन्धी फल के चाहनेवाले को होता है। इसलिए रौद्र व आर्तध्यान को छोड़कर धर्मध्यान व शुक्लध्यान की उपासना करनी चाहिए। छोड़ अब उसका। यह तो अनन्त काल से किया, कहते हैं। ऐसे चिन्ताएँ तो अनन्त बार कीं, परन्तु तूने आत्मा की चिन्ता नहीं की। कहो, समझ में आया ? इसलिए आत्मा के स्वभाव के ओर की दृष्टि और ज्ञान तथा उसकी भावना रखना। पुण्य होगा और निरोगता होगी और धूल होगी - यह भावना धर्मी को नहीं होती। धर्मी को आत्मा की एकाग्रता से शुद्धि बढ़े, यह भावना होती है। विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. १८, गाथा-२०-२१ रविवार, दिनाङ्क ०३-०४-१९६६ (महावीर जयन्ती)
चैत्र शुक्ला १३, वीर संवत् २४९२

आज महावीर भगवान का जन्मदिवस है। चैत्र शुक्ल तेरस। उन्हें मोक्ष पधारे हुए २४९२ वर्ष हुए हैं। उससे पहले ७२ वर्ष पूर्व जन्म था। वे एक आत्मा थे, शरीर में रहे हुए आत्मा... यह शरीर है, वह जड़ और अचेतन है।

मुमुक्षु : कब ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अभी; कब क्या ? यह मिट्टी है। ये तो जड़ रजकण हैं। रूपी, परमाणु रंग, गंध, रस, स्पर्शवाले, अजीव, मूर्त तत्त्व, यह जड़ है। भगवान अन्दर आत्मा... यहाँ आत्मा को ही भगवान कहा जाता है। उसी की यह गाथा ठीक आज आयी है। आत्मा ज्ञानानन्द सच्चिदानन्दस्वरूप है। किरतचन्दभाई! ये सब बातें दूसरे प्रकार की हैं तुम्हारी अपेक्षा।

यह भगवान, देह में रहा हुआ आत्मा सत् है। सत्.. सत्.. सत्.. अर्थात् किसी काल में नया बना है - ऐसा नहीं। अकृत्रिम है; और सत् होता है, वह कभी वर्तमान नाश नहीं होता और भविष्य में भी नाश नहीं होता। सत्, वह अनुत्पन्न और सत्, वह अविनाशी तत्त्व होता है, नाशरहित। ऐसा यह आत्मा, देह के रजकणों के परमाणुओं से पार स्वयं का स्वरूप शुद्ध आनन्दकन्द के कारण अनादि का यह तत्त्व है।

यह महावीर परमात्मा का आत्मा भी ऐसा ही अनादि का भटकता आत्मा था, परन्तु उन्होंने अपने आत्मा का, पूर्व भव में- इस भव से पहले, पूर्व भव में आत्मा का भान किया। ..कहा नहीं जाता कि 'सन्त बीज पलटे नहीं, भले युग जाए अनन्त।' सुना है या नहीं? 'ऊँच-नीच घर अवतरो तो ए सन्त का सन्त।' पूर्व में इस देह में रहा हुआ आत्मा वर्तमान वीर परमात्मा का अवतार होने के पहले उनके आत्मा के पूर्व भव में देह के रजकण-रजकण से और अन्दर पुण्य-पाप के विकल्प-विकार वृत्ति है, उससे भिन्न यह चैतन्य है, इस स्वसंवेदन से पूर्व भव में इस आत्मा का साक्षात्कार-अनुभव किया था। समझ में आया ?

इस देह में रहा हुआ चैतन्य ज्ञानज्योति, ज्ञानसूर्य है। चैतन्य का सूर्य है, यह चैतन्य

सूर्य है और उसमें अनन्त आनन्द है। अभी कहेंगे, उस अन्तर स्वभाव में अनन्त आनन्द पड़ा है। उसका भान वीर आत्मा ने पूर्व में किया था। बाकी रहा हुआ जो पूर्णानन्द की प्राप्ति नहीं हुई, इससे उन्हें एक अन्तिम अवतार यह हुआ। इस अवतार में तीन ज्ञान आदि तो लेकर (आये थे)। मतिज्ञान की दशायें होती हैं, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल – यह ज्ञान की दशायें होती हैं। यह सब अभी स्पष्टीकरण नहीं होता, थोड़ी-थोड़ी बात होती है। यह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा चैतन्य की शक्ति की दशा के अंश पाँच प्रकार हैं। उनमें तीन प्रकार तो स्वयं लेकर आये थे। पश्चात् जब दीक्षित हुए, नग्न मुनि हुए, अत्यन्त बनवासी, शरीर में वस्त्र का एक टुकड़ा भी नहीं। अकेले आत्मध्यान में मस्त। सच्चिदानन्दस्वरूप शाश्वत् अन्दर ज्योत पूर्ण स्वभाव और आनन्द का कन्द, उसका अन्तर साधन करते-करते वह जो शक्तिस्वभाव से पूर्ण है, उसकी वर्तमान दशा में व्यक्तता पूर्ण दशा में हो गयी।

जैसे पीपर के दाने में चोसठ पहरी चरपराहट और हरा रंग अन्दर में पूर्ण अन्दर शक्तिरूप से पड़ा है। यह पीपर.. पीपर। पीपर कहलाता है न? छोटी पीपर। वह तो इतनी छोटी। दृष्टान्त देते हैं। छोटी पीपर इतनी, बाहर में काली, अन्दर में हरी। बाहर में चरपराहट की अल्पता, अन्दर में चरपराहट की चोसठ पहरी पूर्णता। घिसने तब चोसठ पहरी होती है या नहीं? वह कहाँ से आयी? पत्थर में घिसने से आयी? पत्थर में घिसने ओ आवे तो कोयला और कंकर घिस डालना चाहिए। प्राप्त की प्राप्ति है। उस पीपर के दाने में चोसठ पहरी चरपराहट का रस अन्दर शक्तिरूप से, सत्त्वरूप से, भावरूप से, स्वभावरूप से था। यह तो लॉजिक से बात चलती है। कहो समझ में आया या नहीं इसमें?.. बात नहीं कुछ। परन्तु कभी इसका पता लिया नहीं कि यह क्या है? समझ में आया?

इस पीपर के दाने-दाने में इतना छोटा होने पर भी उसे घोंटने से चोसठ पहरी चरपराहट का रस, रस व्यक्त-प्रगट होता है। वह प्रगट हुआ, वह कहाँ से हुआ? पत्थर से हुआ? उसकी वर्तमान दशा तो काली है और अल्प चरपराहट, बहुत अल्प चरपराहट है। अब वह चोसठ पहरी प्रगट व्यक्तता शक्ति में थी, वह प्रगटरूप हुई है। समझ में आया? वह अन्दर में शक्तिरूप था हरा रंग और चरपराहट की पूर्णता चोसठ पहरी। अभी सौ पैसे का रुपया कहलाया, परन्तु अभी तक तो अपने चौसठ पैसे का था न? चौसठ पैसे का

रूपया अर्थात् सोलह आने का रूपया। इसलिए सोलह आना कहो, पूर्ण कहो, रूपया कहो, पूरा कहो – सब शब्द एक (ही) है। इसी प्रकार इस पीपर के दाने में सोलह आना अर्थात् चोसठ पहरी चरपराहट पूरी-पूरी भरी थी। तब वह शक्ति में थी, वह व्यक्ति में / प्रगटता में आती है। अन्दर में न होवे तो बाहर में आवे नहीं। प्राप्त की प्राप्ति होती है। कुएँ में हो, वह होज में आता है। समझ में आया ?

यहाँ तो समझ में आती है, इसकी पूरी वस्तु की बात है। अनन्त काल से इसने आत्मज्ञान ही नहीं किया। आत्मा क्या चीज़ है – उसके माहात्म्य बिना अनन्त काल से चौरासी लाख में भटक रहा है। ऐसा नरसिंह मेहता नहीं कहते ? सुना है या नहीं ? 'ज्यां लगी आत्मातत्त्व चिह्नयों नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी।' हाँ, तुम बोले। 'ज्यां लगी आत्मा तत्त्व चिह्नयो नहीं, त्यां लगी साधना सर्व झूठी, शु कर्यु तीर्थने तप करवा थकी, शु कर्यु सेवा ने जाप करवा थकी।' सब शून्य है – ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? यह बँधता है उसमें, पुण्य हो जरा, परन्तु आत्मा का कल्याण और जन्म-मरण के अन्त का अवसर (आवे ऐसा), आत्मा के भान बिना कभी तीन काल में होता नहीं। वह आत्मा; जैसे पीपर में चोसठ पहरी चरपराहट का स्वभाव पड़ा है, वैसे भगवान आत्मा में इस देह में (स्थित आत्मा में) (पूर्ण स्वभाव भरा है), परन्तु उसकी इसे कीमत नहीं। इन दुनिया की चीज़ों की कीमत करने जाता है। समझ में आया ? ...भाई! वहाँ क्यों बैठे ? यहाँ आओ यहाँ। दुनिया अपने चैतन्य की कीमत न करके दुनिया के दूसरे पदार्थों की कीमत करने में तल्लीन है। लो !

यहाँ मूल तत्त्व जो परमात्मा वीर जो महावीर हुए, वे हुए कहाँ से ? उन्होंने पूर्व में आत्मज्ञान का भान किया। आत्मा शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, शान्ति का पूरा सत्व है। पश्चात् वर्तमान में अन्तिम अवतार हुआ, वह इस चैत्र शुक्ल तेरस को। राजकुमार रूप से देह, देह (हुई) आत्मा तो अत्यन्त भिन्न था। वे पश्चात् मुनि होकर दिगम्बर नग्न मुनि हुए थे, वनवास में रहते थे। वे आत्मा को; जैसे उस (पीपर को) चोसठ पहरी घोंट-घोंटकर चोसठ पहरी शक्ति की व्यक्तता होती है; वैसे आत्मा में पूर्ण आनन्द और ज्ञान पड़ा है, उसे एकाग्रता के घोंटन से शक्ति में से पर्याय में-अवस्था में व्यक्त किया, उसका नाम आत्मा में केवलज्ञान दशा कही जाती है। समझ में आया ? यह तो समझ में आये ऐसा है, हों ! इसमें

कोई बहुत ऐसा नहीं है। परन्तु कभी इसने आत्मा क्या चीज़ है और आत्मा में क्या माहात्म्य है - उसका इसे अनन्त काल में विचार करने का अवसर ही मिला नहीं। यह होली पूरे दिन (कि) यह किया और यह छोड़ा और यह किया और यह छोड़ा। दुनिया की झंझट में चैतन्य भगवान सच्चिदानन्द रत्न पड़ा है, उसकी इसे खबर नहीं।

इन महावीर परमात्मा के अन्तिम अवतार में आज के जन्मदिवस का दिवस है। उसे मनाने का हेतु यह है कि जिन्होंने इस भव में पूर्ण आत्मा की प्राप्ति की है, उनका जन्मकल्याणक और जन्मदिवस कल्याणरूप से, मांगलिकरूप से कहे जाते हैं। बहुत से पिल्ले, श्वान और केंचुआ जन्मे और मरे, वैसे जगत के प्राणी अनन्तबार अनन्त अवतार में जन्मे और मरे हैं, परन्तु जिस जन्म में इस आत्मा की शक्ति की पूर्णता की दशा प्रगट की, वह उस अवतार को सफल और धन्य कहा जाता है। कहो, समझ में आया इसमें? इसलिए यह वीरजयन्ती का जन्मदिवस आज कहा जाता है। उन वीर प्रभु को अन्दर में तीन काल-तीन लोक का ज्ञान हुआ।

जैसे (पीपर में) चौंसठ पहरी शक्ति प्रगट हो गयी, वैसे आत्मा अन्दर जलहलज्योति ज्ञ-स्वरूप, ज्ञानस्वभाव (विराजता है)। शरीर, वाणी, मन पृथक्, वे तो मिट्टी-धूल हैं। अन्दर कर्म रजकण, जिन्हें प्रारब्ध कहते हैं, वे रजकण की अजीव-धूल हैं, भिन्न की भिन्न चीज़ है। अन्दर शुभ और अशुभ के भाव होते हैं - दया, दान, व्रत, भक्ति, सेवा का विकल्प उठता है, वह भी एक पुण्यरूपी शुभ विकार है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग-वासना, काम-क्रोध की वृत्ति उठती है, वह पापरूपी वासना का विकार है। उस विकार के पीछे; जैसे छोटी पीपर में काली के पीछे पूरी चरपराहट और हरा रंग पड़ा है; वैसे विकार के पीछे भगवान आत्मा में पूर्ण आनन्द और ज्ञान का स्वभाव पूर्ण पड़ा हुआ है। उसे जिसने एक समय में, जिस भव में व्यक्त अर्थात् प्रगट किया, उन ऐसे परमात्मा वीर की यह जयन्ती कहने में आती है। इसका यह श्लोक भी आज ऐसा आया है, भाई! स्वसंवेदन। सहज आया है, हों! अपने पढ़ते-पढ़ते। इस पुस्तक का नाम इष्टोपदेश है। इष्ट-उपदेश—आत्मा को हितकारी उपदेश। केशुभाई! ऐसे आओ ऐसे। केशुभाई! यह तो ३१ वर्ष हुए न, यहाँ? यह आज ३२वाँ लगता है। यह ३२वाँ वर्ष लगता है। क्या कहते हैं, समझ में आया इसमें? यह सब सफलता आत्मा का भान और पहिचान करे तो सफल है। बाकी सब व्यर्थ है।

मलूकचन्दभाई! यह पाँच-पचास लाख मिले तो भी व्यर्थ है। यह पूर्व का पुण्य जल जाए, तब पैसा मिलता है। यह पैसा मिलता है, वह सोजिस (सूजन) है। उसमें आत्मा को कुछ लाभ नहीं है।

यहाँ तो आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा है। ऐसे स्वरूप की जिसे पूर्ण प्राप्ति हो गयी, उनका आज वीर जन्म जयन्ती दिवस कहा जाता है। अब यह श्लोक भी जरा आया है, देखो! वह श्लोक तो थोड़ा बोल लें।

दोहा - इस चिन्तामणि है महत, उत खल टूक असार।

ध्यान उभय यदि देत बुध, किसको मानत सार॥२०॥

यह जरा श्लोक पूर्व में गया, उसका सार है। यह चिन्तामणि एक रत्न होता है। एक विश्वास का विषय है। एक चिन्तामणि पत्थर होता है। वह पुण्यवन्त हो, उसे हाथ में आता है। उस पुण्यवन्त को, हों! और वह चिन्तन करे, तदनुसार होता है; तो कहते हैं कि जिसके हाथ में चिन्तामणि रत्न आया, वह चिन्ते क्या? उस खली का पुरानी खली का टुकड़ा मिले तो ठीक—ऐसे चिन्ते? या चिन्तामणि रत्न जिसके हाथ में आया, वह तो कोई करोड़ों और अरबों के बँगले और महल की इच्छा करता होगा? या सड़े हुए खली के टुकड़े की इच्छा करता होगा? यह तो दृष्टान्त है, हों!

इसी प्रकार यह भगवान आत्मा अन्तर आनन्दकन्द सच्चिदानन्दस्वरूप है। कहते हैं कि इसकी एकाग्रता के अन्दर ध्यान करने से जो चिन्तामणि रत्न-आत्मा प्राप्त हुआ, वह अन्तर की एकाग्रता के आनन्द से (प्राप्त हुआ)। भगवान आत्मा जैसे यह विकार परिणाम करता है तो वह दुःख है। शुभ-अशुभ जो विकल्प करता है न? वह विकार है, वह दुःख है, वह आनन्द नहीं। आत्मा का आनन्द उस पुण्य-पाप के विकल्प के पीछे सच्चिदानन्द—यह सत्, ज्ञान और चित् अर्थात् ज्ञान, आनन्द अर्थात् अतीन्द्रिय आनन्द का आत्मा में रस पड़ा है। उस अतीन्द्रिय आनन्द के रस का स्वाद जहाँ आवे, ऐसे धर्मी को कहते हैं कि चिन्तामणि हाथ आया। ऐसे आत्मा को अन्तर में सच्चिदानन्द सत्... सत... सत्... सत्... शाश्वत् ज्ञान और आनन्द, ऐसा चिन्तामणि रत्न जिसकी दृष्टि में आत्मा पड़ा। वह पत्थर नहीं अब, उस पत्थर का दृष्टान्त था, वह पत्थर चिन्तामणि मिला होवे तो खली के टुकड़े को इच्छे, ऐसा नहीं होता। वह तो कहे, करोड़ रुपये होओ, धूल होओ। वह तो धूलवाला

धूल ही माँगे न, दूसरा क्या माँगे ? यहाँ आत्मा में एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में पूर्णानन्द प्रभु, ऐसा चिन्तामणि रत्न जिसे दृष्टि में, प्रतीति में, अनुभव में, वेदन में आया, ऐसा जीव आत्मा की शान्ति के समक्ष उस स्वर्ग के सुख और सेठपने के सुख को खली का टुकड़ा, सड़ा हुआ टुकड़ा जैसा, उसकी भावना उसे नहीं होती। समझ में आया ? नटुभाई ! इतना जरा ध्यान उभय यदि देत बुध,.. आत्मा का आनन्द...

वस्तुस्वरूप प्रभु ! वस्तु पदार्थ है न ? अरूपी परन्तु वस्तु है न ? अरूपी भी पदार्थ है न ? अरूपी समझ में आया ? आत्मा में रंग, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं है, इसलिए अरूपी है। यह मिट्टी, रंग, गन्ध, स्पर्श है। प्रभु ! आत्मा में रंग, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं है क्योंकि वह तो जड़ को होता है, आत्मा को वह नहीं होता, परन्तु है वह रंग, गन्ध, रस, स्पर्श बिना की वह चीज़ है, वस्तु है, पदार्थ है, महान चैतन्य ज्योत है। जिसमें अनन्त-अनन्त बेहद ज्ञान और आनन्द पड़े हैं, ऐसा आत्मा जिसे कहते हैं कि सम्यक् अन्तर में अनन्त काल में भान नहीं हुआ और भान हो, वह जीव उस आत्मा की शान्ति माँगे या वह जीव उस स्वर्ग का सुख माँगे ? क्या चाहे ? शान्ति चाहे। अन्तर की शान्ति। धूल का टुकड़ा और यह पैसा, स्त्री, पुत्र और ऐसी धूल तो अनन्त बार मिली है। करोड़ों रुपये और अरबोंपति अनन्त बार हुआ है परन्तु अभी भिखा को-भिखारी को ऐसा लगे मानो पाँच लाख मिले तो मानो आहाहा ! धूल भी हुआ नहीं, सुन न ! समझ में आया ?

भाई ! तू आत्मा प्रभु तू अनादि का है। अनादि का है तो आत्मा के भान बिना तूने अनन्त भव किये हैं। अनादि का है या नहीं ? या उसकी आदि है ? तब कहाँ रहा अभी तक ? आदि नहीं। है, है और है तो रहा कहाँ ? मुक्ति हुई है इसकी ? मुक्ति होने के (बाद अवतार नहीं होता)। घी होवे उसका मक्खन फिर से होगा ? मक्खन का घी होता है। इसी प्रकार आत्मा के आनन्द की प्राप्ति की मुक्ति हुई होवे तो फिर से अवतार नहीं होता। अतः यह अनन्त काल से भटकता है तो अवतार है इसे अनादि काल के। ढोर के, मनुष्य के, रंक के, राजा के, स्वर्ग के, नरक के। नीचे नारकी हैं, हों ! कल्पना नहीं है। अभी कुछ सब सिद्ध नहीं किया जाता। नीचे नारकी जीव है। बहुत पाप करे न, शराब (पीवे), माँस खावे, उसके भोगने के लिये नीचे उसके स्थान सात स्थल हैं। एक-एक नरक में असंख्यात नारकी अभी हैं। वह अनादि के हैं, कोई नये नहीं हैं। मरकर यहाँ आवे और जाये, ऐसा

का ऐसा हुआ करता है। ऐसे अवतार में उसने अनन्त अवतार में अनन्त भव किये, उसमें क्या नहीं मिला इसे ? स्वर्ग मिला, पैसा मिला, रंकता मिली, राज्य मिला, सब मिला है; एक आत्मा का अन्तरज्ञान सच्चिदानन्दस्वरूप को इसने प्राप्त नहीं किया। समझ में आया ?

यह कहते हैं कि जिसे आत्मा का भान होता है, उसे तो चिन्तामणि रत्न मिला। वह तो अन्दर आनन्द की ही भावना करता है। एकाग्र होकर शान्ति, शान्ति का सागर आत्मा है। बात यह है कि उसकी कीमत नहीं है। एक दृष्टान्त दिया था, उस मोती का दृष्टान्त, भाई! दिया था न एक बार ? एक मोती नहीं होता ? मोती होता है, वह उच्च मोती। अभी मोती तो (साधारण हैं)। शास्त्र में तो ऐसा आता है, एक नींबू पकता है न ? नींबू, नींबू के अन्दर एक माणिक पकता है। बीस-बीस हजार रुपये का, हों! एक माणिक। नींबू में, हों! नींबू में। यह तुमने नहीं सुना होगा, शास्त्र में है और अभी प्रत्यक्ष हो गया है। नींबू होता है न ? उसमें कोई पुण्यवन्त प्राणी हो तो उस नींबू में वह बीज पके न उसके बदले माणिक पकता है। बीस-बीस हजार का, भाई वीरजीभाई कहते थे। कहाँ गये ? ऐई! ये रहे, इनके पिता हैं। कान्तिभाई! वीरजीभाई कहते थे। वीरजीभाई, अभी ९५ वर्ष में गुजर गये।

मुमुक्षु : दृष्टान्त देते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हाँ। स्वयं मुझे कहा था न मैं कलकत्ता गया था, तब एक माणिक था बीस हजार का। नींबू में से बीज की जगह माणिक पका। वह बीस हजार का कहते थे वीरजीभाई। इनके पिताश्री, ९५ वर्ष में अभी गुजर गये। इस फाल्गुन शुक्ल तीन। मुझे तो दूसरा कहना है अन्दर, कि उस नींबू के बीज में माणिक पके। बहुत कीमत का, बहुत कीमत की चीज़। समझ में आया ? परन्तु फिर भी उसकी कीमत आत्मा के लिए क्या ? समझ में आया ? ऐसे नींबू के बीज में पके माणिक, जिसका पुण्य हो, उसे मिले। ऐसा जिसका पुण्य हो, उसे यह पैसा आदि मिले, परन्तु उसमें आत्मा को कुछ नहीं मिलता। समझ में आया ? उस आत्मा में यहाँ कीमत चाहिए। मोती की कीमत का दृष्टान्त देते हैं, यह हीरा का कहा न ?

एक सेठ था। मोती बहुत ऊँचा होता है, भाई! एक-एक मोती अभी वहाँ एक श्रवणबेलगोला है... क्या कहा ? मूढ़बिद्री, मूढ़बिद्री में सैंतीस प्रतिमाएँ हैं। करोड़-करोड़ रुपये की एक-एक। एक करोड़ की! पचास लाख की तो एक इतनी एक मूर्ति है। हम

देख आये हैं और बड़ा झबेरी हमारे साथ में थे। पूछा था कि इसकी कीमत (क्या) ? कि कोई ले नहीं-दे नहीं, चोरे नहीं। चोरकर कहाँ डाले ? कोई इसे ले नहीं। बड़ी-बड़ी कीमत की चीजें। पहले के अरबोंपति थे। उसमें एक-एक मोतियों की मूर्ति है। मोती की मूर्ति, हों! एक-एक।

वह मोती बहुत ऊँचा था एक सेठ के पास। उगाही करने गया, उगाही। गाँवों में पहले उगाही थी न, भाई! दरबार! उगाही करने गया तो फिर किसान के घर में गया। वहाँ खाट बिछा दी। आओ.. आओ.. सेठ! तब तो पानी-बानी नहीं पीते थे न। अब तो सब समान हो गया है न! पहले नहीं पीते थे। किसान के घर में डाली खाट और (कहा), पटेल! पानी ले आओ। ब्राह्मण के यहाँ से पानी लेने गया, वहाँ एक नींबू पड़ा था ऊँचा मोतिया। कहा न? ऊँचा। पड़ा हुआ। पानी (आने में) देर लगी वहाँ खोलकर ऐसे देखने लगा। वहाँ पटेल पानी लेकर आया (उसने कहा), पटेल! इसमें पानी बहुत है। मोती में पानी ऐसे झलक मारता है न! झलक। यह वह वस्त्र नहीं होता? क्या कहलाता है वह? दरियामोजा, ऐसे-ऐसे दिखता है। लहरें कुछ नहीं होती, दिखाब ऐसा होता है, यह लहरें उठे न, ऐसे मोती में ऐसी चमक की लहरें उठे, बहुत लहरें उठे। वे उठे इसलिए जरा पटेल को कहा कि इसमें पानी (बहुत है)। सेठ! पानी किसलिए मँगाया था? इसमें पानी होवे तो मँगाया किसलिए? बनिया भी जरा ठग था न, तो कहा, पटेल! इसमें तो समुद्र भरा है। चमक मारे न! चमक.. चमक.. चमक.. बड़ी कीमत का। इसमें तो समुद्र भरा है। अरे! सेठ गप्प मारते हो बड़े सवेरे, वहाँ समुद्र भरा था तो फिर लाओ मेरा पछेड़ा है न? छोर स्पर्श कराकर (देखूँ) गीला होवे तो मानूँ। केशूभाई! अरे! पटेल उस पानी की कीमत इस पछेड़ी से नहीं होती। उस मोती के पानी की कीमत तो नजर से होती है। यह कहाँ गप्प मारी तूने?

मोती में जो पानी है, उसका तेज है, उसकी कान्ति और उसकी झलक है, वह तो जिसकी नजरों में उसकी कीमत होती है, वह निर्णय करे। कोई कपड़े की पछेड़ी से (उसकी कीमत नहीं होती)। पानी कहता हूँ तो वहाँ पानी भरा है? उसका तेज, उसकी कान्ति, उसकी चमक, उसका सामर्थ्य इतना सतत झलकता है कि समुद्र उछलता हो, वह पानी। वह तो नजर से परखा जाता है, वह पछेड़ी से नहीं परखा जाता।

इसी प्रकार भगवान आत्मा यह चैतन्यमूर्ति देह में रहा हुआ आत्मा, इसकी कीमत नजर से परखी जाती है। बाहर के क्रियाकाण्ड और शरीर में धूल से करके मर गया कुछ परखा नहीं। लाओ, मैं थोड़ी क्रिया करूँ, मुझे भगवान दिखता है या नहीं? क्या दिखे वहाँ? समझ में आया? कोई दया, दान, व्रत परिणाम करें, वह तो पुण्यराग है। उसकी कीमत से आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं है।

आत्मा यहाँ कहते हैं, देखो! स्वसंवेदन। पहला श्लोक पड़ा है। नटुभाई! है? स्वसंवेदन। २१वाँ श्लोक है और पहला शब्द यह है। यह भगवान आत्मा... वीर प्रभु हुए, उन्होंने आत्मा को वेदन कर, आनन्द से पूर्ण प्राप्ति की, ऐसा ही उपदेश जगत को कहा वाणी द्वारा, ओम ध्वनि द्वारा। उन्हें इच्छा नहीं होती, ओम आवाज / ध्वनि खिरती है। जगत के प्राणी अपने हित के लिए समझ लें, उसमें यह उपदेश आया कि हे आत्मा!

अब वह शिष्य जिसे समझाये जाने से श्रद्धान उत्पन्न हो रहा है, पूछता है कि जिसे आपने ध्यान करने योग्यरूप से बतलाया है, वह कैसा है? उस आत्मा का क्या स्वरूप है? आचार्य कहते हैं -

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।

अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥२१॥

अर्थ - आत्मा लोक और अलोक को देखने जाननेवाला, अत्यन्त अनन्त सुख स्वभाववाला, शरीरप्रमाण, नित्य, स्वसंवेदन से तथा कहे हुए गुणों से योगिजनों द्वारा अच्छी तरह अनुभव में आया हुआ है।

विशदार्थ - जीवादिक द्रव्यों से घिरे हुए आकाश को लोक और उससे अन्य सिर्फ आकाश को अलोक कहते हैं। उन दोनों को विशेषरूप से उनके समस्त विशेषों में रहते हुए जो जानने-देखनेवाले हैं, वह आत्मा है। ऐसा कहने से 'ज्ञानशून्यचैतन्यमात्रमात्मा' ज्ञान से शून्य सिर्फ चैतन्यमात्र ही आत्मा है, ऐसा सांख्यदर्शन तथा 'बुद्ध्यादिगुणोज्झितः पुमान्' बुद्धि सुख दुःखादि गुणों से रहित पुरुष है, ऐसा योगदर्शन खण्डित हुआ

समझना चाहिये। और बौद्धों का 'नैरात्म्यवाद' भी खण्डित हो गया। फिर बतलाया गया है कि 'वह आत्मा सौख्यवान् अनंत सुखस्वभाववाला है'। ऐसा कहने से सांख्य और योगदर्शन खण्डित हो गया। फिर कहा गया कि वह 'तनुमात्रः' 'अपने द्वारा ग्रहण किये गये शरीर-परिमाणवाला है'। ऐसा कहने से जो लोग कहते हैं कि 'आत्मा व्यापक है' अथवा 'आत्मा वटकणिका मात्र है' उनका खण्डन हो गया। फिर वह आत्मा 'निरत्ययः' 'द्रव्यरूप से नित्य है' ऐसा कहने से, जो चार्वाक यह कहता था कि 'गर्भ से लगाकर मरणपर्यन्त ही जीव रहता है,' उसका खण्डन हो गया।

यहाँ पर किसी की यह शंका है कि प्रमाणसिद्ध वस्तु का ही गुणगान करना उचित है। परन्तु आत्मा में प्रमाणसिद्धता ही नहीं है - वह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। तब ऊपर कहे हुए विशेषणों से किसका और कैसा गुणवाद? ऐसी शंका होने पर आचार्य कहते हैं कि वह आत्मा 'स्वसंवेदन-सुव्यक्त है,' स्वसंवेदन नामक प्रमाण के द्वारा अच्छी तरह प्रगट है। 'वेद्यत्वं वेदकत्वं च।'

'जो योगी को खुद का वेद्यत्व व खुद के द्वारा वेदकत्व होता है, बस, वही स्वसंवेदन कहलाता है। अर्थात् उसी को आत्मा का अनुभव व दर्शन कहते हैं। अर्थात् जहाँ आत्मा ही ज्ञेय और आत्मा ही ज्ञायक होता है, चैतन्य की उस परिणति को स्वसंवेदन प्रमाण कहते हैं। उसी को आत्मानुभव व आत्मदर्शन भी कहते हैं। इस प्रकार के स्वरूपवाले स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष (जो कि सब प्रमाणों में मुख्य या अग्रणी प्रमाण है) से तथा कहे हुए गुणों से सम्पूर्णतया प्रकट वह आत्मा योगिजनों को एकदेश विशदरूप से अनुभव में आता है।'॥२१॥

दोहा - निज अनुभव से प्रगट है, नित्य शरीर-प्रमान।

लोकालोक निहारता, आतम अति सुखवान्॥२१॥

गाथा - २१ पर प्रवचन

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।

अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥२१॥

यह २१वाँ श्लोक है, इष्टोपदेश। अर्थ - आत्मा लोक और अलोक को देखने

जाननेवाला,.. ऐसा कहा पहले। भगवान आत्मा..! यह जगत चौदह ब्रह्माण्ड, इसके अतिरिक्त खाली भाग है। खाली भाग, समझ में आया? यह भरा हुआ जो है न? यह सब दिखता है, वह असंख्य योजन के माप में है, पश्चात् खाली.. खाली.. खाली.. है या नहीं? या कहीं उसका (अन्त है)? विचार भी किया नहीं कभी। यह सब भरा हुआ है न ऐसा और ऐसा, फिर कहाँ तक ऐसा होगा? पश्चात् खाली है। असंख्य योजन, असंख्य योजन के पश्चात् खाली है। फिर खाली का अन्त कहाँ? खाली.. खाली.. खाली.. खाली.. खाली.. खाली.. जिसे शास्त्रकार अलोक कहते हैं। कहीं अन्त नहीं परन्तु वहाँ अन्त आवे तो फिर क्या? श्रीचन्द्रजी! कौन जाने कहाँ निवृत्ति है?

यह वस्तु है या नहीं? यह चौदह ब्रह्माण्ड देखो! है या नहीं यह? जड़-चैतन्य का संग्रहात्मक। यह चीज़ कोई अनन्त योजन में नहीं, असंख्य योजन में है। असंख्य योजन अर्थात् एक योजन दो हजार कोस का। असंख्य योजन लम्बा, चौड़ा। परन्तु बाद में क्या? अनन्त.. अनन्त.. योजन, अनन्त कोस.. अनन्त कोस.. अनन्त कोस.. चले जाओ परन्तु बाद में क्या? इसके पश्चात् खाली भाग है। खाली जिसे अलोक कहते हैं, जिसमें यह जड़-चैतन्य कोई नहीं है। आकाश है। इन अनन्त दसों दिशाओं में अपार... अपार.. अपार..

यहाँ कहते हैं कि उस अपार आकाश को और इस लोक के भाग को भी यह आत्मा जानने की ताकतवाला है। आहाहा! अभी किसे अलोक कहना, यह विचार नहीं किया होगा। महेन्द्रभाई! निवृत्ति नहीं मिलती। इन इन्द्रियों के विषय और भोग और खाने-पीने के कारण यह चैतन्य कौन है, उसे (पहिचानने को) निवृत्ति नहीं मिलती। मर जाये, तब निवृत्त होगा। अब कुछ विचारा हुआ काम नहीं होता।

कहते हैं ओहोहो! कैसा है आत्मा? स्वसंवेदनं। स्वयं अपने से वेदन में आवे अर्थात् ज्ञात हो ऐसा है। ज्ञान से ज्ञान ज्ञात हो ऐसा है। वह ज्ञान, राग से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। पुण्य-पाप के विकल्प से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। इस शरीर की जड़ की क्रिया से ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। ज्ञान से ज्ञान ज्ञात हो, ऐसा वेदन। आत्मा शान्त अनाकुलस्वरूप, अरूपी चैतन्यधाम, वस्तु अरूपी, स्वरूप अरूपी स्वरूप, महान अरूपी पदार्थ अनन्त शान्तरस का कन्द है। उसे अन्तर में राग और विकल्प की दशा के लक्ष्य को छोड़कर, भगवान

आत्मा ज्ञानप्रकाश की मूर्ति है, ऐसे चैतन्य के, चैतन्य के अंश के द्वारा वह 'यह आत्मा' ऐसा ज्ञात होनेयोग्य है। ऐसा इसने अनन्त काल में कभी किया नहीं। समझ में आया? हमारे तो यहाँ आत्मा की बात है। यहाँ कोई दूसरी धूल की या फूल की नहीं। यह सब पैसेवाले तो यहाँ बहुत आते हैं। उन पर तो डण्डा पड़ता है। कितने ही तो ऐसा कहते हैं महाराज के पास पैसे हैं, (वहाँ) जायें, वे सब पैसे होते हैं। केशुभाई! लोग बातें करते हैं। यहाँ हमारे पास पैसा है? हमारे पास यह आत्मा है। कहो, समझ में आया?

यहाँ तो कहते हैं भगवान! यह आत्मा... यहाँ तो भगवान आत्मा को कहते हैं, हों! तू भगवान है, भाई! तेरी महिमा का पार नहीं, भाई! वचन द्वारा नहीं कही जा सके, ऐसी तेरी ताकत है। वह आत्मा स्वसंवेदन अपने से वेदन से जाना जा सके, ऐसा सुव्यक्त है। पण्डितजी! यह व्यक्त शब्द उसे लागू पड़ा है न? स्वसंवेदनसुव्यक्त.. भाई! सुव्यक्त है, ऐसा कहते हैं। जरा शान्ति से (सुनो)। भगवान आत्मा ऐसा अन्तर चैतन्य का कन्द अरूपी आनन्दघन वस्तु है। सच्चिदानन्द है न? सत्, चिद् और आनन्द। चिद् अर्थात् ज्ञान और आनन्द। ज्ञान और आनन्द का भण्डार पूर्णानन्द वस्तु। वह स्वयं स्वसंवेदन से सुव्यक्त है। कोई कहे कि वह कैसे ज्ञात हो? उसका कोई प्रमाण? कि हाँ।

यह कहते हैं कि यह प्रमाण उसका यह भाई (कि) जिस चीज़ में ज्ञान और आनन्द है, उसे उसके ज्ञान और आनन्द द्वारा वह प्रगट ज्ञात हो ऐसी है। बाहर के क्रियाकाण्ड, शरीर, वाणी, मन की, दया, दान, व्रत के परिणाम से भी वह ज्ञात हो और अनुभव हो, ऐसा नहीं है। इसलिए पहले कहा 'जां आत्मा तत्त्व चिह्नयो नहीं' बाहर के पुण्य-पाप करे वह सब बाहर में भटके। पुण्य से तो यह स्वर्ग और धूल मिलेगी, पाप से नरक और ढोर (गति) मिलेगी। बाकी आत्मा के भव के अन्त का उपाय इस आत्मा के भान बिना कोई दशा इसकी कला है नहीं।

यह यहाँ कहते हैं। स्वसंवेदनसुव्यक्त.. क्या कहा? सुव्यक्त। स्वसंवेदन से तथा कहे हुए गुणों से योगिजनों द्वारा अच्छी तरह अनुभव में आया हुआ है। भाई! आत्मा है न? एक जगत की घी जैसी चीज़, परन्तु खाने के भानवाला हो, उसे ख्याल में होता है कि यह घी का स्वाद, गाय के घी का (स्वाद), उसमें मागसर महीने के प्रातःकाल का

तबे का ताजा घी, सवेरे के तबे का ताजा, ख्याल में हो उसे कि यह मिठास है परन्तु कह सकने को कोई उदाहरण नहीं। श्रीचन्दजी ! कहो, दृष्टान्त दो। सब लड़कों को दृष्टान्त होवे तो दो। घी का स्वाद कैसा होता है ? बताओ। जन्म से मिला है न, बापू! उसे यह क्या कहलाता है ? जन्मता है, तब देते हैं न ? जन्मघुटी, जन्मघुटी। हिन्दुस्तान में क्या कहते हैं ? जन्मघुटी कहते हैं। हिन्दुस्तान में उसे जन्मघुटी कहते हैं। जन्मे तब देवे न। छह महीने का कुछ अन्दर हो और निकल जाये। वह जो घी जन्म से मिला है, जन्मघुटी से मिला है, उसे साठ-साठ वर्ष तक अनुभव किया परन्तु कहने की ताकत किसी पदार्थ को तुलना करके उसमें है नहीं कि भाई इसके जैसा। वह घी कैसा ? मीठा। बहुत मीठा मिश्री जैसा ? नहीं वह नहीं, मिश्री जैसा नहीं। तब केले जैसा ? नहीं वह नहीं। तब घीतेला जैसा ? घीतेला होता है न ? तालाब में होता है। उस घीतेला जैसा ? स्वाद ऐसा नहीं है परन्तु कह न तब कैसा ? कि वह कहा जाये ऐसा कुछ लगता नहीं। तथापि वह जानने में नहीं है - ऐसा है ? कह नहीं सकता परन्तु जानने में नहीं है, ऐसा है ? जानने में होने पर भी कहने में किसी पदार्थ को मिलान-करके तुलना करके कहना ऐसी ताकत नहीं है। जब जगत के ऐसे साधारण घी जैसे पदार्थ कि जो स्थूल, मिट्टी-धूल है, घी तो धूल है या क्या है ? धूल है, वह तो मिट्टी है। घी खाये और विष्टा हो। छह घण्टे में विष्टा हो जाये। विष्टा होकर निकलकर राख हो जाये, राख के गेहूँ हों, गेहूँ का आटा हो... ऐसे जगत चला ही करता है, तो जो मिट्टी जैसे घी के स्वाद का ख्याल महाविद्वान विचक्षण बड़ा पण्डित हो, बेरिस्टर हो, ऐई! यह बड़े वकील हैं, लो ! कहो, दे सकते हो ? वकील के कानून कैसे निकालते हो वहाँ ? ऐ.. कनुभाई ! यह कनुभाई जज हैं, लो ! यह दिया नहीं जाता इसका अर्थ बापू ! ऐसा है प्रभु !

तेरी चीज़ ही कोई ऐसी है कि अन्तर में आनन्द का वेदन करने जाये तो वह ज्ञात हो ऐसी चीज़ है। बाकी बाहर के किसी उपाय से वह चीज़ ज्ञात हो और जानकर तू किसी को कह सके कि ऐसी चीज़ है। ऐसी वह उपमा योग्य चीज़ नहीं है। समझ में आया ?

इसलिए यहाँ शब्द कहा - स्वसंवेदन सुव्यक्त। भगवान ! प्रभु तेरा स्वरूप ऐसा है- प्रमाण सिद्ध है, हों ! तू गप्प मारना नहीं कि नहीं नहीं ऐसे ज्ञात नहीं होता, यह कुछ खबर नहीं पड़ती और वह किसी ने जाना नहीं, ऐसे रहने देना-ऐसा कहते हैं। धर्मी जीवों ने अन्तर आत्मा को राग की क्रिया के परिणाम से, देह और जड़ से भिन्न उन्होंने जाना है—

यह आत्मा। योगी अर्थात् स्वरूप में जुड़ान करनेवाले। योगी अर्थात् बाबा हो जाये और योगी हो ऐसा कुछ नहीं है। योगी अर्थात् आत्मा के शुद्धस्वरूप में एकाग्र हो, उसे योगी कहा जाता है। योगी अर्थात् जोड़ना। जुड़ान-जुड़ान होना। नटुभाई! आहाहा!

भाई! इस देह में, मिट्टी के पिण्ड में प्रभु! अरूपी चैतन्यघन विलास करता हुआ आत्मा है। उसका तुझे सुव्यक्तपना कब होगा? मैं अन्दर में ज्ञानस्वरूप हूँ। उस ज्ञान का कण जो यह चैतन्यघन यहाँ है, वह ज्ञान हूँ, ऐसा जहाँ अन्तर में पकड़े तो इस राग, विकल्प, मन, वाणी, देह से अतीत / पार ऐसे चैतन्य को अन्तर्वेदन द्वारा जाना जा सकता है, प्रगट जाना जा सकता है, प्रगट ख्याल में आवे, ऐसा वह प्रमाणशील भगवान आत्मा है। समझ में आया? ऐ.. पोपटभाई! आहाहा! बाहर की बात कितनी प्रत्यक्ष करते हैं? ऐसा है और उसमें सुख है। प्रत्यक्ष देखना है न धूल में! ऐसे पचास लाख की पूँजी धूल की, यह और उसमें यह मजा, मोटर चलावे उसमें सुख। लाख-लाख की मोटर आती है या नहीं? धूल है। क्या है उसमें? तेरा राग का वेदन है वहाँ। वह कोई चीज़ भोगी नहीं जाती। वह तो जड़ है, मिट्टी है। मिट्टी भोगी जाए यहाँ? उसे देखकर राग करता है-यह ठीक, ऐसे राग को वेदता है। पर को यह आत्मा अनुभव करे, यह तीन काल में नहीं होता। वह जड़ है, वह तो मिट्टी है। पैसा-बैसा, धूल-मिट्टी, आत्मा खा सकता होगा? पैसे को भोग सकता होगा? यह देखकर राग करे मूढ़ और राग में आनन्द माने, वह मूढ़ है। यह तेरी अनादि काल की दशा है, भाई! उसमें तूने नया क्या किया? यह तो अनादि काल का करता आया है।

अब कहते हैं कि यह आत्मा स्वसंवेदन कर। यह तेरी अपूर्व दशा नयी है, वह भी कैसी है? स्वसंवेदनसुव्यक्त.. आहाहा! इन परमात्मा महावीर आदि ने पूर्ण स्वरूप को प्राप्त किया। वैसा पूर्ण स्वरूप कैसे प्राप्त हो, वैसा उपदेश दिया, उसे इष्टोपदेश कहा जाता है। उन्होंने कहा कि भाई! स्वसंवेदन। यह कौन कहे? यह कौन इसे दे? यह गुरु से भी मिले, ऐसा नहीं है। यह तो स्वयं से जानकर वेदन करे तो ज्ञात हो, ऐसा है। आहा! इतनी इसे निवृत्ति नहीं, निवृत्ति। काम बहुत और काम बहुत। नटुभाई! आहाहा!

भाई! प्रभु! यहाँ तो भाई! प्रमाण सिद्ध, अन्दर सिद्ध करना है, हों! उसमें लिखा है न? प्रमाण है या कुछ? कि हाँ, प्रमाण है, प्रमाण है (उसके जैसा दूसरा कोई) प्रमाण नहीं

है। सुन न! तुझे खबर नहीं है। चैतन्यज्योत भगवान साक्षात् स्वरूप है। दुनिया के पदार्थों को जानते हुए राग से वेदे, उसे तू ऐसा कहता है कि यह वेदा जाता है, पर वेदा जाता है, यह बात झूठ है। वह तो रागरहित चीज़ है। अन्तर्दृष्टि कर, अनन्त काल में नहीं की। अनन्त काल में तूने यह किया नहीं और यह किये बिना तेरे भव का अन्त कभी आवे, ऐसा नहीं है। समझ में आया ?

भाई! यह सब सेवा-वेवा करके उसमें से कुछ हर्ष-वर्ष मिल जाए, उसमें से मिल जाए, ऐसा कुछ नहीं है। ऐसा यहाँ ना करते हैं, कहते हैं। ऐई..! भाई! यहाँ से कुछ मिल जाएगा। वे एक बार कहते थे, दरबार थे न? तुम्हारे भाई थे न तखुभाई (कहते थे) कि इसमें से कुछ धर्मध्यान है और दसवाँ भाग मिलेगा या नहीं? याद है? वे सेठ आये थे न? सर हुकमचन्द। तब भाई बोले थे, तखुभाई बोले थे। परन्तु हमारी यहाँ सब जमीन है न, यहाँ धर्म करे, उसका दसवाँ भाग मिलता है या नहीं? कहा, भाई! धर्म तो बापू! आत्मा से होता है, हों! यह तखुभाई बोले थे। जब अपने प्रवचन मण्डप का किया न... खातमुहूर्त के समय, तब। मैंने कहा, ये बोले अवश्य। मैंने वहीं का वहीं कहा, हों!

भाई! इस आत्मा का भान कहीं बाहर की चीज़ों से हो, ऐसा नहीं है। बाहर के पदार्थ मेरे हैं, यह मानना ही अज्ञान है। तेरा हो, वह तुझसे पृथक् पड़े नहीं और पृथक् पड़े नहीं वह तेरी चीज़ है। अतः तेरी चीज़ तो ज्ञान और आनन्द अन्दर है। प्रकाशमय मूर्ति और अतीन्द्रिय आनन्द, वह तेरी चीज़ है। कभी अनन्त काल में तूने तेरी रुचि और दृष्टि नहीं की। वह भगवान परमात्मा ने पूरी करके पूर्ण पद को प्राप्त हुए, उन्होंने यह उपदेश दिया है।

भाई! प्रभु! तू आत्मा है, मेरी नाथ का है मेरी जाति का है। जाति का समझ में आता है? बनिया हो, एक दशाश्रीमाली बनिया। एक को पाँच हजार की पूँजी हो और एक को चालीस करोड़ की, परन्तु बनिये की जाति तो एक कहलाये न? दरबार! तुम्हारे गरासिया हों। अभी साधारण हों भले पाँच सौ रुपये कमाकर खाता हो और एक होवे पाँच करोड़ का (आसामी), परन्तु कहलायेगा तो गरासिया न? जाति जीमण हो, तब एक पटिये में जीमते हैं या नहीं? वहाँ हरिजन को बैठने देते होंगे ?

इसी प्रकार आत्मा को पूर्ण दशा प्राप्त परमात्मा कहते हैं कि मेरी और तेरी जाति एक

जाति है। हमने प्रगट किया, तूने प्रगट नहीं किया, इतना अन्तर है, शक्ति-व्यक्ति का अन्तर है परन्तु तुझमें कुछ हीनता है, ऐसी यदि तू अन्तर में मानेगा तो तुझे आत्मा की खबर नहीं है।

यह आत्मा अपने वेदन से (ज्ञात होता है)। सूक्ष्म बात है, हों! कोई ऐसा माने अब अपने ३२ वाँ (वर्ष) आज लगता है, परिवर्तन को यहाँ ३१ वर्ष पूरे हुए। इस कोने में अन्दर... यह तब चैत्र शुक्ल तेरस को मंगलवार था, मंगलवार को मध्याह्न, ऐसा कहते हैं न? उस दिन सवा बजे, दरबार! सवा बजे हुआ था। आहाहा! भगवान! यह तो ३२ (वाँ वर्ष) लगता है। देखो, सोलह दूनी बत्तीस होते हैं न? आहाहा!

भाई! सन्त-मुनि तुझे प्रथम में प्रथम तेरा आत्मा (जानने को कहते हैं)। भाई! दूसरी चीज़ को तू प्रगट है, हमें प्रत्यक्ष ज्ञात होता है इतना तू दावा करता है, तो भाई! तेरी चीज़ प्रगट है, ऐसा तुझे ज्ञात नहीं होता, ऐसा दावा तू क्यों नहीं करता? नटुभाई! समझ में आया? यह प्रत्यक्ष है न! क्या धूल भी प्रत्यक्ष नहीं। सुन न! यह तो स्त्री, पुत्र, यह सब धूल बाहर की है। यह प्रत्यक्ष है और मौज करते हैं न? धूल की मौज है। वहाँ राग की होली है, वहाँ कहाँ मौज थी? आकुलता का स्वाद लिया करता है। विकल्प का स्वाद राग (लेता है)। उस विकल्प के पीछे ऐसा दावा कभी किया कि यह मेरा आत्मा मुझे प्रत्यक्ष है? पोपटभाई! आहाहा!

स्वसंवेदन से तथा कहे हुए गुणों से योगिजन.. धर्मात्मा.. यह आत्मा ही स्वयं धर्मात्मा हो सकता है और आत्मा ही स्वयं पूर्ण पद को जन्म-मरणरहित कर सकता है। हरगोविन्दभाई! पुस्तक-बुस्तक है या नहीं? अब इसे भी निवृत्ति नहीं। दो तो सही। कभी एक शब्द तो देखे। कुछ का कुछ फिर इसने मुंडाया है। स्वसंवेदनसुव्यक्त.. हरगोविन्दभाई! है? देखो! पहला शब्द है। देखो! स्वसंवेदनसुव्यक्त.. है भाई! क्या कहा? ऐसे का ऐसा अनन्त काल से किया ही करता है और कुछ चैन कहाँ आती है? पहले यहाँ से निकले, तब हम आये हैं न इसमें? यह खबर है तुम्हें? ये यहाँ पहले थे, निकलते नहीं थे और किराये पर नहीं देते थे और सहज ही मैं आनेवाला था और ये आये। यह सब खबर है हमें। मौके से ये निकले और मैं आया यहाँ, हों! परन्तु इन दरबारों को तो खबर होगी या नहीं? फिर ये हीराभाई प्रार्थना करने आये मैं धारूका से आया वहाँ... महाराज! मकान खाली

हुआ है मौके से, हों!... खाली किया है। यहाँ तो हमें तो सब खबर है, बत्तीस वर्ष हुए। भाई! यह तो ऐसा अनन्त बार हुआ ही करता है, यह कोई नया नहीं है।

नया तो यह तेरे आत्मा के अन्दर, बापू! एक बार तो पुरुषार्थ को जगा! अनन्त बार तूने दूसरी बातें सिरपच्ची करके मर गया, शुभाशुभपरिणाम-भाव करके पुण्य-पाप बाँधा और पुण्य-पाप बाँधकर स्वर्ग-नरक में भटका। उसमें कहीं आत्मा की शान्ति है नहीं। यहाँ तो स्वसंवेदन से और अपने गुणों से—ज्ञान, दर्शन और आनन्द आदि गुण हैं, शक्तियाँ हैं अन्दर, (उनसे ज्ञात हो ऐसा है) वस्तु है या नहीं?

अभी एक सूखड़ होता है, यह सूखड़ है, देखो न! यह सूखड़ की लकड़ी है। कोमलता है, सुगन्ध है। यह मुम्बई में होती है न? चीनी लोग नहीं बेचते? वह यह है रखने के लिए। लकड़ी खराब न पड़े (इसलिए) देखो कोमल है, भारी है, वह शक्तियाँ है या नहीं इसमें? इसी प्रकार आत्मा में आनन्द है, ज्ञान है, वीर्य है। वीर्य अर्थात् आत्मबल, हों! यह वीर्य अर्थात् शरीर की रेत नहीं। आत्मबल की ताकत अन्दर अनन्त वीर्य है। ऐसी अनन्त शक्ति है कि इसे एक क्षण भी भगवान आत्मा की स्वरूप की महिमा करके, पुण्य-पाप के भाव और उनके फल की महिमा दृष्टि में से उड़ा दे और चैतन्य के माहात्म्य में अन्दर जरा जाये तो कहते हैं कि प्रत्यक्ष ज्ञान से वेदन में आवे, ऐसा सुव्यक्त प्रगट आत्मा है। समझ में आया? कहो, पोपटभाई! परन्तु यह तो लोगों को तो रुपये प्रगट दिखते हैं। धूल में भी नहीं। रुपये के अन्दर गाढ़ दो तो? कितना सुख होता होगा अन्दर? इसके ऊपर रुपये गाढ़े ऊपर, पड़ा हो अन्दर। बहुत सुख होवे तो रुपये सुख देते हैं न तुझे! धूल में भी नहीं, अब सुन न!

यह भगवान आत्मा स्वसंवेदन से प्रगट ज्ञात हो और अत्यन्त लोक तथा अलोक अर्थात् जगत का स्वरूप और खाली भाग, सबको आत्मा जानने की ताकतवाला है। यह खाली है, ऐसा जाना किसने? अमाप.. अमाप.. अमाप.. अमाप.. यह विचार आता है या नहीं? समझ में आया इसमें? कभी विचार किया है लॉजिक से? ऐसे का ऐसे चला जाये अनन्त योजन.. अनन्त योजन.. अनन्त कोस.. अनन्त कोस.. अनन्त कोस.. अनन्त गुणा। अनन्त को अनन्त गुणा वर्ग करके (गुणित करो)। वर्ग-वर्ग समझ में आता है? अनन्त

आँकड़ा हो, उसे इतने अनन्त से अनन्त बार गुणा करना, ऐसे अनन्त चला जाये तो भी फिर क्या ? कहीं पाल होगी ? बाड़ होगी ? भाई ! यह अलोक खाली चीज़ अमाप है । कहीं इसका माप नहीं है । यदि माप होवे तो बाद में क्या ? ऐसी चीज़ को भी यह भगवान जानने की ताकतवाला है, ऐसा यहाँ कहते हैं । समझ में आया ?

यह अन्दर ज्ञान में कौन लेता है ? देखो ! ख्याल में लेता है । यह माप । यह मापवाली चीज़ जगत है, यह अमाप चीज़ है । दोनों का ज्ञान यह चैतन्यभगवान (करता है) । क्या कहा पहले ? देखो ! **लोक और अलोक को देखने जाननेवाला, .. ज्ञान सब जानता है ।** किसी का भोगनेवाला नहीं, किसी पर चीज़ को करनेवाला नहीं, परन्तु सब चीज़ों को जाननेवाला आत्मा है । कोई चीज़ जाने बिना रहे, ऐसा आत्मा नहीं है । ऐसा आत्मा का स्वरूप है, उसे आत्मा कहा जाता है । सबको जाननेवाले को आत्मा कहा जाता है । किसी को करनेवाला या राग करनेवाला, वह आत्मा का स्वरूप ही नहीं है । आहाहा ! बहुत सूक्ष्म परन्तु, भाई ! अब यहाँ सुनना पड़ेगा या नहीं ? हरगोविन्दभाई ! ३२-३२ वर्ष से यहाँ, फिर कहीं नया क्या है ? कितने वर्ष हो गये ? ५०-५०, ५२ कितने हुए होंगे ? ५४ हुए, लो ! आहाहा !

कैसा है ? कि तनुमात्रो वापस है कितने में ? इस शरीर प्रमाण । तेरा तत्त्व शरीर प्रमाण है । तेरा तत्त्व कहीं ऐसे बाहर में चौड़ा नहीं है । दूसरे का वहाँ, तीसरे का वहाँ, सब शरीर प्रमाण है । इतने में आने पर भी, अमाप ज्ञान को लोकालोक को जानने की ताकतवाला तू है । लोक अर्थात् यह जगत और अलोक अर्थात् खाली । अमाप, अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. अनन्त.. सबको जाननेवाला यह चैतन्य है ।

जैसे दर्पण सभी चीज़ों को जैसे प्रसिद्ध करके जानता है, वैसे यह चैतन्य दर्पण है । चैतन्य दर्पण में जगत का खाली भाग जानने की ताकत, इतनी ताकतवाला यह है । आहाहा ! शरीर, वाणी, जड़, उसकी पर्याय की क्रिया करने की ताकतवाला नहीं, भाई ! इस जगत के किसी परपदार्थ का काम कर दे, ऐसी ताकतवाला नहीं है, क्योंकि यह चैतन्य ज्योति है, परन्तु सबको जानने की ताकतवाला है । आहाहा ! समझ में आया ? यह आत्मा कितना, कैसा है और कैसे है, उसकी यह बात चलती है । इस आत्मा को इस प्रकार जब

तक अन्दर वेदन में न ले, तब तक इसके जन्म-मरण का अन्त नहीं आयेगा। भटका करेगा धूल में, चार गति में। नरक और निगोद, स्वर्ग और सेठाई, सब भटकने की रीतियाँ हैं।

कहते हैं लोक और अलोक को देखने जाननेवाला, अत्यन्त अनन्त सुख स्वभाववाला,.. देखो! है न? है या नहीं अन्दर? यह अत्यंतसौख्यवान.. आहाहा! भाई! तुझमें तो अत्यन्त.. अत्यन्त.. अत्यन्त.. अन्त न आवे ऐसा आनन्द तुझमें है। यह कैसे जँचे? कभी प्रमाण में लिया नहीं। बेहद आनन्द है। एक मिश्री की वह होती है न? क्या कहलाता है तुम्हारे..? ...कितनी मिठास! कहते हैं। अब वह तो धूल है, वह तो रजकण। रजकण की अवस्था की उग्रता की मिठास का वह श्वेत पिण्ड है। परमाणु का-रजकण का स्कन्ध है। स्कन्ध कहो या पिण्ड कहो। उस पिण्ड में इतनी मिठास दिखती है तो यह तो आत्मा ज्ञानानन्द आत्मा। कहते हैं कि अनन्त सौख्यवान है। है इसमें? अत्यन्त सौख्य। कैसे जँचे? इसे विश्वास नहीं आता।

दूसरी चीज़ की महिमा कहे तो कि, हाँ भाई! वह बहुत ऊँची, हों! देखो न! अभी यह रॉकेट और क्या कहते हैं सब? वह धूल-धाणी और ऐसे से ऐसे जाये और ऐसे से ऐसे ओहोहो! हो जाए अन्दर। परन्तु उसका जाननेवाला कितना उसका.. ओहो! होता है तुझे कुछ? यह भगवान आत्मा जाननेवाला भी अमाप है और सौख्य भी अत्यन्त है।

दो क्या कहा? भाई! हिम्मतभाई! लोक-अलोक का जाननेवाला, सब इतने में तू पूरा शरीर प्रमाण यहाँ है। जाननेवाला सबका इतने में और आनन्द इतने में, आनन्द तेरा अत्यन्त आनन्द है। आहाहा! यह रजकण अलग, यह देह भिन्न। देह तो भिन्न पड़ती है। दिखती है न! राख होती है, राख होकर वह चला जाता है। मरते हैं, तब ऐसा कहते हैं न कि आत्मा मर गया है, ऐसा कहते हैं कोई? जीव गया, भाई! ऐसा कहते हैं न? क्या गया? जीव गया, थोथा पड़ा रहा। वह जीव गया। डॉक्टर सब ऐसे इकट्ठे हों। नाड़ी हाथ नहीं आती, भाई! पल्स... क्या कहते हैं तुम्हारी? ऐसे हाथ नहीं आती, गये लगते हैं। गया, क्या गया? शरीर गया अन्दर से? शरीर तो यह धूल रही। यह सब उसका आकार पड़ा है, ऐसा का ऐसा। वह चैतन्यमूर्ति अरूपी आनन्दकन्द भगवान, अपनी भूल की हुई, भूल लेकर चला गया। भूल करके चला गया, हों! अनादि से भूल करता है, उस भूल को तोड़ने का

यह भगवान! सुव्यक्त आनन्द है। तुझमें आनन्द है। ऐसा आनन्द दुनिया में कहीं है नहीं, इन्द्र के इन्द्रासन में नहीं, ऐसा आनन्द तुझमें है। ऐसा अत्यन्त आनन्दमय है।

अनन्त सुखस्वभाव, देखो! अत्यन्त और अनन्त शब्द प्रयोग किया है। यह अत्यन्त की व्याख्या की। अन्त नहीं न, इसलिए अत्यन्त अनन्त। परन्तु जिसका स्वभाव आनन्द है, उसे माप क्या? जिसका स्वभाव स्वरूप, स्वतः स्वभाव ऐसा चैतन्य, उसकी शान्ति का रस और आनन्द-उसे हृद क्या? हृद का कारण क्या? जिसका स्वभाव, उसे माप क्या? ऐसा मापरहित अन्तर में अत्यन्त आनन्द है, उसकी तूने अनन्त काल में एक क्षण भी दृष्टि नहीं की और वह दृष्टि किये बिना आत्मा की प्रतीति नहीं होती। आत्मा की प्रतीति हुए बिना आत्मज्ञान नहीं होता। आत्मज्ञान हुए बिना आत्मा का स्वाद नहीं आता। स्वाद.. स्वाद..। और वह स्वाद कैसा होगा? इस दूधपाक के और सबके स्वाद कहते हैं। यह कहते हैं या नहीं? इस दूधपाक का स्वाद नहीं, हों! दूधपाक तो धूल है, वह तो मिट्टी है, उसका स्वाद आत्मा को आवे, आत्मा तो अरूपी है, वह तो रूपी है। उसे देखकर ऐसा विकल्प उठाता है (कि) यह ठीक है, बस! उस ठीक का वेदन है और प्रतिकूल देखे कि जहर है, यह ठीक नहीं, बस! यह द्वेष का वेदन है। द्वेष करे, अरुचि, उसका वेदन है, उस चीज़ (का वेदन) नहीं। चीज़ तो जड़ मिट्टी और धूल है। उस वेदन में जो विकार प्रत्यक्ष तुझे ज्ञात होता है, उसकी इसे खबर नहीं कि क्या वेदन होता है और क्या होता है। यह इसने कभी देखा नहीं। लड्डू खाया तो मैंने लड्डू खाया, लड्डू का स्वाद आया। धूल का स्वाद आता नहीं तुझे, सुन तो सही। देखा है? वह तो अरूपी है। उसे रूप कहाँ है? रूप स्पर्श करता है उसे? समझ में आया?

भगवान आत्मा तो रूप, गन्धरहित चीज़ है। उसे ऐसे देखते, ऐसे देखते ठीक-अठीक बस। ठीक-अठीक के विकल्प की राग की, द्वेष की वृत्ति का उसे वेदन है। यह संसार वेदन अनादि काल का है। उस वेदन में से ज्ञान का स्वसंवेदन प्रगट कर। आत्मा का भान हुआ और इस जन्म-मरण का अन्त उसे आया। ऐसा यहाँ आत्मा कहते हैं जन्म-मरण का अन्त लावे और स्वसंवेदन से प्रगट हो, ऐसा आत्मा है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। भाई! यह तू ऐसा है। तुझे ऐसा हो कि अर र! मैं ऐसा हो गया? परन्तु तू ऐसा है, हम तुझे कहते हैं। स्वसंवेदन ज्ञान। तेरे से तू ज्ञात हो, तेरे से तू वेदन में आये, तेरे से तुझे वह प्रत्यक्ष

प्रमाण से विश्वास हो, ऐसा तू है। अब यह इसे जँचता नहीं कि नहीं.. नहीं ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, ऐसा नहीं। कभी भी सुना नहीं, विचार किया नहीं। है ? कीरतचन्दभाई ! आहाहा !

पैर की खबर नहीं ? देखो न ! पैर अब जरा चलता है, अब हिला दो न इसे, लो ! जवान शरीर है। तब वे चलते थे न ? तब। पन्द्रह दिन पहले निकले थे न ? वे ऐसे निकलते थे। मैंने कहा, अरे ! यह तो कीरतचन्दभाई लगते हैं। मोटर, आठ दिन में घूमने जाते हैं न ? मैंने कहा, बैठ जाओ, बैठ जाओ इसमें। दोनों लोगों को हाथ डालकर चलते थे। उस रविवार को नहीं ? पन्द्रह दिन हुए, पन्द्रह। उस रविवार को। यह रविवार नहीं और उस रविवार को, पन्द्रह दिन हुए आज। देखो ! इस शरीर का कर दो, लो ! होशियार है न ! लड़के को बहुत दबाते हो, लो ! ऐसा सुना है, हों ! चीख मचावे लड़के को चीख मचावे। ऐसा सुना हो, हमने तो बात सुनी हो। हम कहीं गाँव में बहुत घूमते तो नहीं। बात आवे न, भाई ! कि चीख मचावे लड़के को। बाहर निकलने न दे। मैंने कहा, शरीर पर कर दो, लो ! शरीर को हिला दो ऐसे ठीक से पैर करके। यह जड़ है, प्रभु ! यह जड़ है, भाई ! इसे कौन करे ? भगवान ! यह तो रजकण है, भाई ! यह तो अजीव तत्त्व है। आत्मा इसका अधिकारी नहीं। यहाँ यह सिद्ध करते हैं। नाममात्र कहते हैं। व्यर्थ का अधिकार मानता है। अधिकार वहाँ नहीं है। तेरा अधिकार तो अन्दर ज्ञान के वेदन को प्रगट कर, वह तेरा अधिकार है, ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा ! समझ में आया ? आहाहा !

नित्य,.. है। भगवान आत्मा शरीरप्रमाण नित्य है, त्रिकाल है। या किसी दिन नहीं था और है ? आत्मा कब नहीं होगा, ऐसा बने ? वह तो नित्य है, अनादि-अनन्त है। शस्त्र से छिदता नहीं, भिंदता नहीं। आता है या नहीं ?.. वह छिदता कहाँ है ? वह तो अरूपी है, अखण्डानन्द वस्तु है। शस्त्र उसे स्पर्श नहीं करता, क्या छिदे ? धूल छिदे ? शरीर के टुकड़े-बुकड़े हों, ऐसा कहा जाये मनुष्य को। आत्मा अखण्ड चैतन्य ज्योति है, भाई ! उसकी तुझे प्रतीति और अनुभव उस क्षण में कभी किया नहीं। वह अनुभव हो सके, ऐसा उसका अधिकार है परन्तु शरीर आदि दूसरे के काम करना, यह उसमें अधिकार है नहीं। शरीर ही काम करता नहीं। पक्षघात हो जाए, ऐं.. ऐं.. ऐसा हो जाता है। यह हमारे बैठे, देखो न, जैचन्दभाई, लो ! ऐसे शरीर देखो तो कैसा लगे और पैर चलते नहीं, ऐसे-ऐसे। क्यों जैचन्दभाई ? परन्तु बापू ! भगवान ! तुझे खबर नहीं प्रभु ! यह तो जड़ चीज़ है, यह अजीव

वस्तु है। ये रजकण-रजकण जगत का रूपी अजीवतत्त्व है। इसकी दशा का पलटना, वह तेरे अधिकार की बात नहीं है परन्तु अज्ञानी मानता है। यह डॉक्टर-बॉक्टर सुधार देते होंगे न? हरगोविन्दभाई! स्त्री को किसलिए मरने दिया? वे लड़के छोटे थे न, समझ में आया? कौन मारे और कौन मरने दे? दरबार! लड़का तो बेचारा छोटा, लड़कियाँ छोटी हैं या नहीं? डॉक्टर होशियार होवे और कर देता है या नहीं? स्त्री का तो किया नहीं तूने। विशेष कहेंगे....
(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. १९

गाथा-२१

सोमवार, दिनाङ्क ०४-०४-१९६६

चैत्र शुक्ला १४,

वीर संवत् २४९२

समझाया, तब शिष्य को प्रश्न हुआ। पूछता है कि जिसे आपने ध्यान करने योग्यरूप से बतलाया है,.. महाराज! आपने ध्यान करनेयोग्य आत्मा कहा, वह कैसा है? यह प्रश्न है। समझ में आया? २१ वें श्लोक के ऊपर उपोद्घात है न ऊपर? यह आत्मा ही ध्यान करनेयोग्य है अर्थात्? लक्ष्य करनेयोग्य, ध्येय करनेयोग्य, ध्यान करनेयोग्य। इस जगत में हितार्थी को, मोक्षार्थी को अथवा सत्य के सुखार्थी को आत्मा ध्यान करनेयोग्य है—ऐसा आपने कहा था, वह आत्मा है कैसा? किसका ध्यान करना? वह क्या चीज़ है? उस आत्मा का क्या स्वरूप है? समझ में आया? और वह कैसा है? ऐसा शिष्य का प्रथम प्रश्न हुआ। यह उसका उत्तर दिया जाता है।

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।

अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः॥२१॥

आत्मा लोक और अलोक को देखनेवाला है। यह क्या सिद्ध किया? पहले ही यह सिद्ध किया कि आत्मा.. आत्मा करे, परन्तु उस आत्मा के ज्ञान की इतनी ताकत है कि लोक और अलोक को जाने। अर्थात् लोक और अलोक सिद्ध किये। लोक चौदह राजू लोक भी है और खाली अलोक है। जो है, वह सब। उसका यह एक ही आत्मा जाननेवाला साक्षात् है। उसमें इस आत्मा को आत्मा कहा जाता है। वह लोकालोक को

जाननेवाला है। यह अपनी सत्ता के अतिरिक्त दूसरी अनन्त सत्ता का स्वीकार है, है ऐसा, परन्तु उसकी सत्ता में अपना प्रवेश है या दूसरे की अनन्त सत्ता का अपने में प्रवेश है - ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : इतनी सब बात कैसे निकली ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह इसमें से निकली।

मुमुक्षु : ऊपर लोकालोक में क्या है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : लोकालोक। लोकालोक की सत्ता है। उसका यह सत्तावान जाननेवाला है। बस! इतनी बात। इस लोकालोक की सत्ता में इस सत्ता का प्रवेश है नहीं और उस लोकालोक की सत्ता का कोई अंश आत्मा की सत्ता में नहीं है परन्तु उस लोकालोक की सत्ता को जाननेवाला यह एक ही आत्मा है। देखो! पहले से यह बात की है। इतना आत्मा, सर्वज्ञस्वभावी आत्मा, ऐसा सिद्ध करते हैं। शशीभाई!

मुमुक्षु : अपवाद आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपवाद किसका आया? कहाँ आया अपवाद।

मुमुक्षु : अनियत....

पूज्य गुरुदेवश्री : अनियत, नियत कब है? वह सब जानता है, उसमें कहाँ प्रश्न है?

यहाँ तो ऐसा सिद्ध करना है कि आत्मा कैसा? ऐसा पूछते ही उसका उत्तर दिया कि आत्मा सब लोक और अलोक की अस्ति है, उसका स्वीकार ज्ञान करता है, ऐसी उसकी ताकत है, बस! उसका कुछ करे या उससे इसमें (कुछ हो), यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है परन्तु लोकालोक को जाननेवाला एक यह आत्मा, इतनी इसकी ताकत है। पहले यह सिद्ध किया। समझ में आया? अन्वयार्थ में यह मेल आता होगा इन्हें? भाई! टीका में ऐसा कहा न! सीधा यही कहा है। **लोकालोकविलोकनः.. जीवादिक..** पहला यही कहा है। इसलिए अन्वयार्थ में आता होगा नहीं? नहीं तो पहला स्वसंवेदन है। परन्तु ऐसा आत्मा-ऐसा सिद्ध करते हैं।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : नजर नहीं इसे, इसका ज्ञान इतना है, ऐसा कहते हैं। सर्वज्ञ सिद्ध, इसका आत्मा जो कहते हैं, आत्मा। अर्थात् ज्ञान से परिपूर्ण स्वरूप अर्थात् लोक और अलोक को जाननेवाला जो तत्त्व। लोक को अलोक को बनानेवाला नहीं, लोक और अलोक में एक होवे, ऐसा नहीं और लोक तथा अलोक को जाने बिना रहे, ऐसा नहीं। समझ में आया ?

वैसे तो आत्मा... आत्मा बहुत करते हैं। आत्मा करो। परन्तु ऐसा नहीं। प्रत्यक्ष जानने के योग्य तेरा स्वभाव है। एक राग का करना और पर का मिलना या पर से होना, उस पर के कारण से तेरा कुछ ज्ञान का होना, वह तेरे स्वरूप में नहीं है। लोकालोक है; इसलिए जानना होता है, ऐसा भी नहीं है। ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? लोकालोक है, इसलिए तू जाननेवाला है, ऐसा भी नहीं है। उसका स्वभाव ही लोकालोक को जानने का स्वतः स्वभाव अपना आत्मा का है। एक आत्मा का इतना स्वभाव है। क्या समझ में आया इसमें ?

मुमुक्षु : तो दूसरे का कब करे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : करे कब, करता कब था ? अज्ञानी मान्यता करे। सब जाननेवाला है। करनेवाला अपने पूर्ण स्वरूप का। समझ में आया ? उस स्वसंवेदन का करनेवाला, यह कहते हैं। स्वसंवेदन में भी किसी का करण और पर की अपेक्षा न रखे, ऐसा तत्त्व है—ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

अर्थ - आत्मा लोक और अलोक को देखने जाननेवाला,.. एक अत्यन्त अनन्त सुख स्वभाववाला,.. देखो! दो बातें सिद्ध की। ज्ञान और आनन्द दो सिद्ध करना है न पहले तो ? मूल तो। आहाहा! भगवान आत्मा गुरु ने जब इसे दूसरे को आत्मा को कहा कि भाई! आत्मा ऐसा है। चिन्तामणि रत्न जैसा। इसे एकाग्र होवे तो प्राप्त हो ऐसा है, ऐसा है। बहुत वर्णन किया न उस २० गाथा में ? तब शिष्य को लगा कि, परन्तु है कैसा आत्मा ? कि जिस आत्मा को हमें ध्यान करने को लक्ष्य में लेकर अन्दर वेदन करनेयोग्य है। वह आत्मा तो इतना है। लोकालोक के ज्ञान जितना है, लोकालोक के ज्ञान जितना है, लोकालोक के कारण ज्ञान जितना है, ऐसा नहीं। आहाहा! समझ में आया ? सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त यह बात अन्यत्र कहीं जैन के अतिरिक्त होती नहीं। समझ में आया ?

वस्तु कहो या आत्मा। उस आत्मा को जब ज्ञानस्वभाव कहो (तो) वह ज्ञानस्वभाव किसे न जाने? लोक और अलोक, वस्तु और वस्तु से खाली अलोक। वह भी एक वस्तु परन्तु खाली। पूरी चीज़। सब अमाप.. अमाप.. अमाप.. अमाप.. अलोक और लोक, उसकी अस्ति को ज्ञान की अस्ति में जाननेवाला आत्मा है। स्वयं जाननेवाला... जाननेवाला, यह आत्मा। ऐसे अनन्त आत्माएँ हैं, एक आत्मा नहीं। समझ में आया?

फिर था न अन्दर में? अत्यन्त सुखस्वभाव का। उसका अर्थ किया। अत्यन्त का अर्थ अनन्त सुख स्वभाववाला। समझ में आया? अनन्त सुखस्वभाव सौख्यवान है। अनन्त सौख्यवान-अनन्त सुखस्वभाव-ऐसा निकाला अन्दर में से। अनन्त सुखस्वरूप है। स्वयं ही बेहद आनन्दस्वरूप है। जिसका स्वभाव ही जहाँ ज्ञान है, उसकी हद बाँधी, उसकी हद की, कि लोकालोक को जाने। अब सुख में तो कुछ लोकालोक को जान-अजान की जरूरत नहीं। ज्ञान में तो बात की कि यह ज्ञान लोकालोक को जाने इतना और आनन्द अनन्त, आनन्द अत्यन्त, ऐसा। आनन्द अत्यन्त, कि जिस आनन्द का स्वभाव अमाप है परन्तु जिसका स्वभाव आनन्द है, उसे माप क्या? उसे प्रमाण क्या? उसे हद क्या? प्रमाण अर्थात् कि बस इतना, ऐसा क्या?

ऐसा यह आत्मा। इस आत्मा का, ऐसा आत्मा ज्ञान करके ध्यान करना, उसका नाम सच्चा आत्मा कहा जाता है। समझ में आया? अनन्त सुखस्वभाववाला। वापस स्वभाववाला। यह सुखस्वरूप ही ऐसा है। अनन्त आनन्दमूर्ति नित्यानन्द प्रभु है। आत्मा नित्यानन्द है। नित्य आनन्दस्वरूप है। उसकी पर्याय में विकृतभाव से दुःखी होता है, वह तो दशा है, वस्तु में वह नहीं है। समझ में आया? नित्यानन्द प्रभु अनन्त आनन्द की सत्ता के स्वभाव को रखनेवाला तत्त्व है, उसे आत्मा कहते हैं। वह आनन्द पर से नहीं, वह आनन्द पर से नहीं, वह आनन्द लोकालोक को जानता है, इसलिए नहीं—ऐसा कहते हैं। उसका स्वभाव ही अनन्त आनन्दस्वरूप ही है, वह भगवान। आहाहा! समझ में आया? अनन्त सुखवाला, सुखस्वरूप आत्मा। अनन्त बेहद आनन्दवाला आत्मा, उसे आत्मा कहा जाता है।

शरीरप्रमाण,.. तीसरा। शरीरप्रमाण है। कोई कहे कि इतना ज्ञान और इतना आनन्द! ऐसा तत्त्व (होवे तो) उसका क्षेत्र कितना बड़ा होगा? समझ में आया? जिसे लोकालोक को जानने की सामर्थ्य और अनन्त हदवाला बेहद आनन्द है तो उसके क्षेत्र

की क्षेत्र व्यापकता कितनी होगी ? कि शरीरप्रमाण । इतना ज्ञान और इतना आनन्द रखता है, इसलिए ऐसे लोक में व्यापक हो जाता है, ऐसा नहीं है । उसे क्षेत्र की अमापता की आवश्यकता नहीं है । उसके भाव के अमापता की आवश्यकतावाला वह तत्त्व है । शशीभाई ! आहाहा !

शरीरप्रमाण । भाई ! स्वयं के कारण, हों ! शरीर के कारण नहीं । अपना स्वरूप ही शरीर जितना है, इतने प्रमाण में अपना स्वरूप ही इतने क्षेत्र में है । क्यों ? ध्यान करनेयोग्य आत्मा कहा न ? तो ध्यान करनेयोग्य वह अन्तर में ऐसे ध्यान करना है । अर्थात् उसका क्षेत्र ही इतने में है । शरीरप्रमाण अर्थात् इतने क्षेत्र में वहाँ एकाग्र होना है इसे, इसे ऐसे एकाग्र होना नहीं । समझ में आया ? शरीरप्रमाण । ओहो ! इतना ज्ञान और इतना आनन्द और शरीरप्रमाण ? कि, हाँ; शरीरप्रमाण ही उसका व्यापकपना है । असंख्यप्रदेशी भगवान शरीरप्रमाण चौड़ा है, इतने में है । क्षेत्र की अचिन्त्यता की आवश्यकता नहीं । उसके क्षेत्र में इतने में होने पर भी बेहद ज्ञान और आनन्द का पिण्ड प्रभु आत्मा है, उसके स्वभाव का इतना सामर्थ्य है ।

नित्य,.. है । क्षण-क्षण में बदल जाये अथवा जन्मे और मरण तक आत्मा रहे, ऐसा नहीं है । नित्य है । बौद्ध आदि मानते हैं न ? उनके सामने कहेंगे । स्वसंवेदन से.. अब आया अन्तिम । ऐसा आत्मा अपने अन्तरज्ञान के वेदन द्वारा अर्थात् किसी दूसरे साधन बिना, ऐसा सिद्ध करना है । स्वसंवेदन से.. अपने अन्तर में शरीरप्रमाण में पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द स्वयं से अन्तर नित्य वस्तु ध्रुव कही, अब वेदन-अपने ज्ञान की पर्याय से वेदन करनेयोग्य है । उसका यह स्वकाल-काल कहा । वह स्ववेदन अपने ज्ञान से वेदन होने योग्य जीव है । उसका स्वरूप ही ऐसा है । उसे आत्मा कहते हैं । राग और निमित्त से ज्ञात हो, ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है, यहाँ तो ऐसा कहते हैं । समझ में आया ?

आत्मा आनन्द और ज्ञान का पिण्ड प्रभु शरीरप्रमाण होने पर भी नित्य है और स्वयं अन्तरज्ञान-वह ज्ञान स्वसंवेदन-स्व से ही अनुभव प्रत्यक्ष होने योग्य है । अपने ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव होने योग्य है । ऐसा ही उसका स्वरूप है । कोई कहे कि राग और निमित्त और संयोग और शरीर ठीक होवे तो ऐसा होवे तो आत्मा का वेदन हो सके—आत्मा ऐसा है ही नहीं । मोहनभाई !

मुमुक्षु : यह आत्मा....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्मा (होता है), वहाँ तक विकल्प है, ऐसा नहीं। यह आत्मा अर्थात् विकल्परहित ऐसा वेदन अन्दर में जाये, वह आत्मा। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है, भाई! यहाँ तो आत्मा का ध्यान करने को कहा तब, कि वह आत्मा कैसा कि जिसका हम ध्यान करते हैं? और ध्यानवाले तो बहुत सब लोग कहते हैं, चारों ओर कहेंगे ध्यान करना, ध्यान करना। अन्य में भी बहुत कहते हैं न कि यह ध्यान करते हैं। वे योगी जंगल में ध्यान करते हैं, वे अमुक ध्यान करते हैं। किसका? कैसे स्वरूप का? वह स्वरूप क्या है, जाना है? वह जाने बिना ध्यान खरगोश के सींग (समान है)। खरगोश को सींग नहीं होते, उसका ज्ञान सच्चा नहीं होता। व्यर्थ निकले। समझ में आया? स्वसंवेदन से। समझ में आया? ऐसा कहने से अपना, ज्ञान का, प्रत्यक्ष... मन के, राग के अवलम्बन बिना वह सीधा स्वसंवेदन होने योग्य ऐसा उसका स्वरूप है।

मुमुक्षु : सीधा अर्थात् ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सीधा अर्थात् राग और कोई भी पक्ष रागादि था या कुछ उसे सहारा मिला है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : ध्यान का फल ऐसा दिखाया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह ध्यान इसका करना, ऐसा कहते हैं। ऐसा आत्मा-उसका ध्यान करना। पहले से आत्मा कल्पना करे कि इस राग से लाभ होगा और यह तीन काल तथा तीन लोक का जाननेवाला मैं नहीं और पूर्ण नहीं.. ऐसा जो आत्मा जाने, उसे सच्चा ध्यान नहीं हो सकता। व्यर्थ निकले खरगोश के सींग जैसा। ससला समझते हो? खरगोश।

मुमुक्षु : कृतकृत्य होने का हो, परन्तु सीधे का अर्थ क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : सीधे का अर्थ कि राग का अवलम्बन नहीं, बिल्कुल सहज। ऐसा करूँ, ऐसी बुद्धि भी वहाँ नहीं, तथापि कर्ता हुए बिना स्वसंवेदन होता नहीं। समझ में आया ?

यह वस्तु है न! ऐसा कहते हैं, पदार्थ है न! बेहद ज्ञान, बेहद आनन्द आदि दो को मुख्य लिया। इन आदि गुणों से कहा गया आत्मा स्वसंवेदन से और कहे हुए गुणों से

योगिजनों द्वारा.. ऐसा ज्ञान और आनन्दवाला आत्मा, ऐसे गुणों की पर्याय द्वारा अच्छी तरह अनुभव में आया हुआ है। लो, समझ में आया ? ऐसा उसका...

देखो ! यह इष्टोपदेश । यह इष्टोपदेश, जिस उपदेश में ऐसा कहने में आता है कि आत्मा ऐसा नहीं है अथवा स्वयं सर्वज्ञ वर्तमान में नहीं है, सर्व को जानने की ताकतवाला अनन्त आनन्द नहीं है, शरीर से आगे विशेष है और शरीरप्रमाण नहीं है, नित्य नहीं माने और वह स्वयं से वेदन में आता है, ऐसा न माने और पर से ज्ञात होता है, (ऐसा कहे) वह उपदेश इष्टोपदेश नहीं है । शशीभाई ! गजब बात, भाई !

ऐसे कहे हुए गुण अन्दर में है, उनकी पर्याय द्वारा स्वसंवेदन—दूसरे के अवलम्बन बिना स्वयं स्वयं से वेदन में आये, ज्ञेय हो सके और ज्ञाता हो सके । स्वयं ही ज्ञेय और स्वयं ही ज्ञाता हो सके, ऐसी उसकी शक्ति का सत्व है । उसके ज्ञेय होने के लिए और ज्ञाता होने के लिए किसी दूसरे की आवश्यकता पड़े, ऐसा वह तत्त्व ही नहीं है—ऐसा कहते हैं । क्या कहा ? समझ में आया ? तू ऐसा है ही नहीं । आहाहा ! तू ऐसा है और ऐसा ही है – ऐसा सर्वज्ञ परमेश्वर ने ऐसा आत्मा देखा और वैसा कहा है । सर्वज्ञ परमेश्वर ने ऐसा आत्मा देखा और कहा और स्वयं जाना । वह आत्मा अपने ऐसे बेहद ज्ञान और बेहद आनन्द... बेहद ज्ञान की लोकालोक की प्रमाणता की । आनन्द में कुछ नहीं, आनन्द तो स्वयं अपना है । ज्ञानप्रमाण आनन्द है । ऐसा आनन्द का धाम गुणों द्वारा, अपने गुणों द्वारा—अपने गुणों द्वारा अर्थात् गुण की पर्याय द्वारा, उन गुण द्वारा गुणी अर्थात् उसकी पर्याय सीधी राग और विकल्प के आश्रय बिना एकदम अपने गुण द्वारा गुणी ज्ञात होता है । गुण द्वारा अर्थात् पर्याय द्वारा इसका अर्थ और पर्याय गुण-गुणी की एकता, गुण द्वारा गुणी ज्ञात होता है, ऐसा ही उसका स्वरूप है । समझ में आया ? यह प्रीतिभोज जीमाया जाता है । आहाहा ! यह तुम्हारे प्रीतिभोज होते हैं न ! देखो ! २० गाथा कही, बाद में यह २१ वीं यह ली है । आहाहा !

भगवान ! तू कैसा है ? उसकी ज्ञान की डोर भी ज्ञान में न बँधे, ऐसा है ऐसा ज्ञान जब तक निर्णय न करे, तब तक उसे अन्तर्मुख स्वतः झुकने की ताकत खिलती ही नहीं । समझ में आया ? कोई कहे कि परन्तु तब यह कैसे हमें होता नहीं ? परन्तु इसका अर्थ है कि कहीं इसे विकल्प के साधन से, विकल्प में प्रेम, मिठास, कुछ भी परचीज़ में मिठास

की लीनता बिना यह कार्य नहीं होता, उसका हेतु यह है। समझ में आया ? चन्दुभाई ! यह तो एकदम चैतन्य के रण में उतरने की पद्धति है।

भगवान आत्मा क्षेत्र से इतना, तथापि ज्ञान से—आनन्द से अमाप है। वह स्वयं नित्य और शरीरप्रमाण रहने पर भी, वह स्वयं अपने से ज्ञात हो, ऐसी ही उसकी जाति है। वह परजाति-रागादि परजाति विकल्प और शरीर, वाणी आदि वह परजाति, उसका तो इसमें (आत्मा में) अभाव है। ऐसे अभाव द्वारा ज्ञात हो, ऐसी वह चीज़ नहीं है, ऐसा सिद्ध करते हैं। उसमें भाव जो है—ऐसा कहा न ? गुणों से योगिजनों द्वारा.. जो इसमें भाव है (अर्थात्) ज्ञान है, आनन्द है, शान्ति है, स्वच्छता है, विभुता है, प्रभुता है—ऐसे अपने अनन्त गुण हैं, भाव है। उस भाव द्वारा ज्ञात होता है। यह भाव शब्द से यह गुण अर्थात् पर्याय। उस अपने भाव द्वारा ही भाववान ज्ञात हो, ऐसा वह तत्त्व है।

मुमुक्षु : निर्मल पर्याय होवे, उसके द्वारा ज्ञात होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह निर्मल पर्याय के भाव द्वारा यह भाव ऐसा उसके द्वारा ही ज्ञात हो, ऐसा ही वह तत्त्व है। दूसरा ऐसा तत्त्व दूसरे प्रकार से है ही नहीं, ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा ! कितने मन्दिर बनाने से यह समझ में आये ? पहले से इनकार करते हैं। हमारे यह कहते हैं कि सब हो रहे, फिर कहो। तुम्हारे सबके हो गया है परन्तु इन्हें बाकी रह गया है। यह क्यों नहीं आये सवेरे ? आहाहा !

शिष्य ने कहा, प्रभु ! यह श्रद्धा उत्पन्न हुई। तब पूछा, इस आत्मा का स्वरूप कैसा है, वह जिसे हम लक्ष्य में लेंगे ? वह कैसा स्वरूप है ? वह ऐसा स्वरूप है। आहा ! स्वयं ज्ञेय हो सके और स्वयं ज्ञाता, स्वयं ज्ञाता द्वारा ज्ञेय हो सके, ऐसा वह स्वरूप है।

मुमुक्षु : अनुभवी ऐसा कहता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुभवी नहीं, उसका स्वरूप ही ऐसा तेरा है, ऐसा कहते हैं। धर्मी कहते हैं कि परन्तु तुम्हारा स्वरूप ही ऐसा है, ऐसा कहते हैं। ज्ञानचन्दजी ! भाई ! तेरी जाति ही इतनी और इतनी है। ऐसी है कि भगवान आत्मा पूर्णस्वरूप से भरा हुआ अन्तर में जहाँ एकाग्र होता है, उसका क्षेत्र इतना ही है परन्तु उस एकाग्रता में अपना भाव जो भरा हुआ है, उसके द्वारा ही एकाग्र होता है। उस भाव के द्वारा अर्थात् पर्याय के द्वारा। वह सीधी

अपनी पर्याय सीधी अर्थात् अन्दर विकल्प और राग और निमित्त कुछ भी था, इसलिए ऐसा हुआ, वह था तो यह भाव (हुआ), वह था तो यह (भाव हुआ), ऐसा स्वरूप में नहीं है। आहाहा! बात तो बात है न परन्तु! ओहोहो!

भाई! तू इतना है न! इससे कम मानेगा तो वह हाथ में नहीं आयेगा। चन्दुभाई! इससे दूसरे प्रकार से कुछ भी यदि आत्मा को माना तो आत्मा का पता नहीं आयेगा। आहाहा! समझ में आया? ढिंढोरा पीटकर इष्टोपदेश पूज्यपादस्वामी ने जगत के सामने प्रसिद्ध रखा है, यह कुछ गुप्त रखने की चीज़ नहीं है। अरे! भाईसाहब! वह हमारा व्यवहार.. व्यवहार.. व्यवहार.. नाश होता है। सुन न! उस व्यवहार द्वारा प्राप्त हो, ऐसा यह तत्त्व ही नहीं है, ऐसा कहते हैं, भाई! आहाहा! सुन तो सही। इतनी महिमा लक्ष्य में नहीं आवे, तब तक वीर्य अन्दर में नहीं झुकेगा। आहाहा! समझ में आया? ऐ.. जैचन्दभाई! यह गजब, भाई! तब मैं यह मन्दिर बनाया बड़ा? मन्दिर और यह सब। ऐसा करो और वापस ऐसा कहो, दोनों का मेल नहीं खाता, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : किसे ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अज्ञानी को। भाई! वह शुभराग होवे, तब ऐसे निमित्त में लक्ष्य जाता है। वह वस्तु हो, परन्तु उसके द्वारा अन्दर की चैतन्य की प्राप्ति हो, यह वस्तुस्वरूप में नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

विशदार्थ - देखा? विशेष अर्थ न करके विशदार्थ किया है। विशद - अधिक स्पष्ट, ऐसा। आहाहा! यहाँ तो आठ वर्ष की बालिका हो या सौ वर्ष की वृद्धा हो, या आठ वर्ष का लड़का हो अथवा सौ वर्ष का अमलदार वृद्ध हो, यह आत्मा ऐसा सबका है। उसे शरीर और फरीर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **जीवादिक द्रव्यों से घिरे हुए आकाश को लोक..** अब लोकालोक की व्याख्या करते हैं। लोकालोक को जाननेवाला कहा न? कैसा लोक? कि जिसमें जीव आदि द्रव्य भरे हुए हैं। घिरे हुए अर्थात् भरे हुए हैं, उसे लोक कहते हैं। जिसमें छह द्रव्य हैं, उसे लोक कहते हैं। देखो! यह छह द्रव्य हैं, ऐसा सिद्ध किया। उसे लोक कहते हैं। लोक का वह जाननेवाला है। समझ में आया? है न अन्दर '**जीवाद्याकीर्णकाशं ततोऽन्यदलोकः**' टीका ठीक की है। समझ में

आया ? अब लोक और अलोक का जाननेवाला आत्मा (कहा) तो लोक अर्थात् क्या ?
- कि लोक अर्थात् जिसमें चौदह ब्रह्माण्ड, चौदह राजू लोक में जीव और जड़ छह द्रव्य होते हैं, उसे लोक कहा जाता है। यह लोक छह द्रव्यों से भरा हुआ है। अनन्त आत्माएँ, अनन्त परमाणु, असंख्य कालाणु, एक धर्मास्ति, अधर्मास्ति और आकाश के प्रदेश। यहाँ है।

और उससे अन्य सिर्फ आकाश को अलोक कहते हैं। सिर्फ अर्थात् खाली, ऐसा। खाली (अर्थात्) यह जीव और जड़ जिसमें नहीं है। खाली भाग.. खाली भाग.. खाली भाग.. ऐसा ही अस्तित्व है। लोक का अस्तित्व इन सब द्रव्यों से भरा हुआ अस्तित्व है। अस्तित्व अर्थात् मौजूदगी। अलोक का अस्तित्व अमाप और इन द्रव्यों का उसमें अभाव। अलोक का अस्तित्व क्षेत्र से अमाप और इन द्रव्यों का उसमें अभाव। इसलिए अलोक की व्याख्या की। समझ में आया ? यह लोक जिसमें चौदह ब्रह्माण्ड जीव आदि भरे हैं, उसे लोक कहते हैं। उससे खाली उसे अलोक (कहते हैं)।

उन दोनों को विशेषरूप से.. दोनों को विशेषरूप से-भेद पाड़कर, ऐसा। उनके समस्त विशेषों में रहते हुए.. उसमें सब जितने भेद द्रव्य-गुण-पर्याय के सब यहाँ पड़े हैं। जो जानने-देखनेवाला हैं,.. जो सबको जानने-देखनेवाला है। जितने विशेष जगत में पड़े हैं, अलोक में, आकाश में भी जितने उसके गुण और उसकी पर्यायों का सब जो विशेष भरा है और यहाँ भी जितने द्रव्य जीव—अनन्त आत्माएँ, परमाणु, उसका विशेष गुण-पर्याय सब। देखा ? वे कहते हैं कि सामान्य देखता है और विशेष नहीं देखता, कितने ही ऐसा कहते हैं। अरे ! भगवान ! तूने क्या किया ? भाई !

इसलिए दो शब्द प्रयोग किये। उन दोनों को विशेषरूप से.. अर्थात् सबके भेद करके। लोक और अलोक इकट्ठा, ऐसा नहीं। लोक अलग, अलोक अलग और वापस उसमें रहनेवाले द्रव्यों के सब गुण-पर्यायें जो भिन्न-भिन्न हैं, एक-एक आत्मा भिन्न, रजकण-रजकण भिन्न, एक-एक के गुण-गुण भिन्न, उनकी पर्यायें-पर्यायें भिन्न। स्वाध्याय नहीं करते। अरे ! स्वाध्याय करे न शान्ति से... भाई ! समझे न ? और ऐसा का ऐसा विवाद करते हैं। अध्यात्म के शास्त्रों का अभ्यास नहीं होता। उन शास्त्रों के अभ्यास में व्यवहार की दृष्टि पोसा गयी है। अब उस दृष्टि से सब पढ़े तो इसे, बापू ! ठीक कैसे पड़े ? इसे वस्तु हाथ नहीं आवे। समझ में आया ? व्यवहार के कथन कितने आवें ! लो ! कितने साधन,

कितने साधन। ओहोहो! यहाँ कहते हैं कि साधन से प्रगट हो, ऐसा आत्मा है ही नहीं।

मुमुक्षु : परन्तु उसे कब व्यवहार साधन कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु निर्णय इससे हुआ, तब उसे व्यवहार (कहा), व्यवहार अर्थात् अभाव। इसमें अभाव, भाव से प्रगटा न हो, वह इसमें अभाव है। तब अभाव का ज्ञान हुआ कि दूसरी चीज़ है।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो प्रमाण सिद्ध की बात है। प्रमाण.. प्रमाण यह है और ऐसा कहते हैं। आता है न जयधवल में? अपने नहीं कहा था एक? मुनियों को तो एक अपना प्रमाण, वही प्रत्यक्ष है। अपना प्रमाण, वही प्रमाण है, दूसरा प्रमाण नहीं। समझ में आया?

जो जानने-देखनेवाले हैं,.. यह देखो! अकेला जानने-देखनेवाला नहीं। ऐसे लोक और अलोक में रहे हुए विशेष जितने प्रकार, जितने भेद (हैं, उन) सबको जानने-देखनेवाला है। एक-एक द्रव्य के अनन्त गुणों और भेदों को जाननेवाला, एक-एक गुण की एक-एक पर्याय ऐसी अनन्त पर्यायें एक समय में हैं, उन्हें यह जाननेवाला है। बदलनेवाला नहीं, करनेवाला नहीं और उनसे होनेवाला नहीं। समझ में आया? आहाहा!

अरे! इसे अपने तत्त्व का माहात्म्य, माहात्म्य इसका कितना है, इसे ख्याल में नहीं आया। ऐसा कहे तो, नहीं.. नहीं.. नहीं। राग होवे तो होता है। तेरे माहात्म्य का घात हो जाता है, प्रभु! तू ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐ.. पोपटभाई! पैसा-वैसा होवे, कुछ साधन होवे, खाने-पीने का होवे, निरोगता होवे, कुछ हवा-पानी होवे, जंगल में होवे, निर्झर ऐसे पानी में बैठे होवे, जंगल में वृक्ष खुला हो, तब ध्यान हो सकता है। एकान्त हो, लोगों का कोलाहल न हो।

मुमुक्षु : शास्त्र में लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह लिखा, (वह) सब व्यवहार की बातें हैं। अब तुझे कितनी कल्पना करनी हैं? आहाहा! समझ में आया? इन सबको जानने-देखनेवाला है। ये सब चीज़ें जो कही कि यह सुविधा और बुविधा, उसका साधन लेकर समझे, ऐसा यह नहीं है। वे सब हैं, ऐसा इसे ज्ञान में, जानने में-देखने में आवे, ऐसा यह है। समझ में आया?

ऐसा कहने से 'ज्ञानशून्यचैतन्यमात्रमात्मा' ज्ञान से शून्य सिर्फ चैतन्यमात्र ही आत्मा है,.. अकेला जाने नहीं, जाने नहीं, जानना नहीं। जानना तो दुःखदायक है, ऐसा कितने ही मानते हैं। ऐसा सांख्यदर्शन.. का निषेध किया। जानना रह जाएगा ? जानना तो उपाधि है। यहाँ जानना और वहाँ भी जानना ? भाई ! जानना तो इसका स्वरूप है और वह अपने में रहकर लोकालोक को जानता है। लोकालोक में जाकर, लोकालोकरूप होकर और लोकालोक है, इसलिए जानता है, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? ऐसा भगवान आत्मा अपने में रहकर यह जाने और यह जानना उसका स्वरूप है। उसे निकाल डाले तो आत्मा नहीं रहेगा।

कितने ही ऐसा कहते हैं कि यह जानना, ऐसा जानना छोड़ दो। यहाँ पाँच-पच्चीस घर के लोगों में जानने में रुक जाए तो कितनी उपाधि (है, तो) लोकालोक का ऐसा जानना (उसमें) कितनी उपाधि ! अरे ! सुन न ! उपाधि जानने में होगी या उपाधि राग करता था उसमें होगी ? आहाहा ! ऐसा कि घर के दस लोग हों, पच्चीस लोग हैं, ऐसा पहिचानने में बाधा पड़े। फावाभाई ! भानेज को पहिचाने नहीं, लो ! यहाँ रहता था कितने दिनों से। इस लोकालोक को जानना, यह कितनी उपाधि !

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : सब हो गये न हमारे। एक बार पूछा था, कहा इसका नाम क्या ? मुझे खबर नहीं। भानेज इसका है न ? एक की एक लड़की, उसका लड़का। यहाँ रहता था।

यह तो कहते हैं कि लोकालोक को जाननेवाला आत्मा है, तो भी उपाधि नहीं, इसका स्वभाव है। उस चीज़ को जानता नहीं, यह जाननेवाले को जानता है। आहाहा ! जाननहार तत्त्व ही इतना है। लोकालोक को जाननेवाला ज्ञान, उसके ज्ञान को जाने, ऐसा वह तत्त्व है। आहाहा ! ऐसे आत्मा की इतनी चीज़ है और ऐसा है, यह बात इसे ख्याल में आयी नहीं। आहा ! समझ में आया ? आहाहा ! यात्रा और भक्ति... लो ! यह चैत्र पूर्णिमा कल है न ? (लोग) यात्रा में कितने जाते हैं, लो ! वे बेचारे यहाँ आवें, तब यहाँ कहते हैं कि यात्रा से धर्म नहीं होता। हाय..हाय.. ! शोर मचावें या नहीं बेचारे ? दान के लिए पैसा कितना खर्च करते हैं ! कितना पैसा खर्च करते हैं ! प्रतिदिन यहाँ पैसा आता है। बारह महीने

में कितना पैसा आता है ! और यहाँ कहते हैं कि इस पैसे के दान से धर्म नहीं होता, हों ! ओ..य.. ! पैसा तो जड़ है और उसमें राग की मन्दता तूने की हो तो वह पुण्य है और वह पुण्य कुछ आत्मा के स्व-संवेदन करने में बिल्कुल मदद नहीं करता। यह वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। आहाहा ! ऐ.. पोपटभाई ! इसने आत्मा कैसा है, यह सुना नहीं और बातें करे आत्मा ऐसा। अरे ! सुन रे ! सुन ! आहाहा ! भगवान सर्वज्ञ ने आत्मा को ऐसा देखा और ऐसा वह है, ऐसा तेरे ख्याल में आवे तो आत्मा का ध्यान यथार्थ हो सकता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :सबको होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह चीज़ है, देखे वह यह है, बस !

ज्ञान से शून्य... यह तो ज्ञानस्वरूप है न ! वे कहें, जानना उपाधि है। अरे ! सुन ! सुन ! जानना तो स्वभाव है। अनन्त लोकालोक के विशेषों को भेद पाड़कर जाने, वह तो निरुपाधि इसके ज्ञान का स्वभाव है। यह अनन्त जानना, वह उपाधि नहीं है, इसका निरुपाधि स्वभाव है। आहाहा ! ऐ... शशीभाई ! लोकालोक को जानना अर्थात् कोई कहे, ओहोहो ! इसे कितना याद रखना होगा। यहाँ याद की कहाँ बात है ? इसका स्वभाव ही ऐसा है। अपने में रहकर लोकालोक के प्रति लक्ष्य किये बिना अपने ज्ञान की जहाँ विकास शक्ति ही इतनी हो गयी है। इतनी ही इसकी शक्ति का सत्व यह है कि निरुपाधिरूप से लोकालोक को जाने, यह उपाधि है नहीं। अर्थात् कि यह तो गुण है। निरुपाधि अर्थात् यह तो इसका गुण है। इसके ज्ञानगुण का गुण है। ज्ञानगुण का गुण है कि जानना सब। यह जानना अधिक है, इसलिए उपाधि हो गयी, इसे आत्मा के ज्ञानगुण का सामर्थ्य कितना है, उसकी इसे खबर नहीं। समझ में आया ? आहाहा !

तथा 'बुद्ध्यादिगुणोज्झितः पुमान्'.. योगदर्शन कहता है। बुद्धि सुख-दुःखादि गुणों से रहित पुरुष है, ऐसा योगदर्शन खण्डित हुआ समझना चाहिए। योगदर्शन में कहते हैं कि बुद्धि और सुख तथा दुःख जिसमें नहीं होते, उसे आत्मा कहना। यह मिथ्या बात है। ज्ञान और आनन्द दोनों होते हैं, उसे आत्मा कहते हैं। आहाहा ! देखो ! यह आत्मा.. आत्मा.. तो बात बहुत सब बोलते हैं और अब तो फिर बहुत चला है। अपने यहाँ तीस वर्ष हो गये। यहाँ से पुस्तकें इतनी प्रसिद्ध हुई हैं और लोग अब आत्मा की बातें करने लगे हैं।

अन्यमति में भी, वहाँ आत्मा.. आत्मा.. करते हैं, लाओ अब अपने आत्मा कहें। परन्तु आत्मा कैसा और कौन ? यह समझे बिना आत्मा (करे)। क्या आत्मा ?

मुमुक्षु : भगवान जाने।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! भगवान तो जानते हैं, परन्तु तू कौन है ?

मुमुक्षु : यह भी भगवान जाने।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपनी पूँजी की कितनी ताकत है, उसकी इसे खबर नहीं होती और इस बेखबर को आत्मा हाथ आता होगा ? कोई चीज़ कहाँ है और कहाँ पड़ी है और कितनी है ? यह मुझे खबर नहीं। वह तो ऐसा का ऐसा हाथ आवे। धूल में भी हाथ नहीं आवे वहाँ। इसी प्रकार यह चीज़ कहाँ है ? इतने क्षेत्र में। कैसी है और कितने गुणवाली और कैसे स्वरूप से है ? खबर नहीं। जमुभाई! आँखें बन्द करके...

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : नाम इसमें क्या हुआ ? नाम का भाव है, वह तो ख्याल नहीं। आहाहा!

कितने ही कहते हैं कि बुद्धि और सुख-दुःख आदि पर्याय है न ? दुःख विकृत, उससे रहित है। नहीं, सुख की पर्याय और सुख का गुण और ज्ञान के गुण की पर्यायसहित तत्त्व है। समझ में आया ? **ऐसा योगदर्शन खण्डित हुआ समझना चाहिए।**

और बौद्धों का 'नैरात्म्यवाद'.. अर्थात् आत्मा बिना का वाद। भी खण्डित हो गया। आत्मा नहीं है, ऐसा बौद्ध कहते हैं। आत्मा नहीं। आत्मा पूरा नित्य है। नहीं, नहीं। वह आत्मा त्रिकाल है या नहीं, यह हम कुछ नहीं कहते, ऐसा कहते हैं। बौद्ध पूरा बड़ा है न ? अभी तो बहुत पक्ष है नहीं ? यही है न बहुत, नहीं ? चीन में... चीन में नहीं, बड़े देश में बौद्ध है, ख्रिस्ती से बड़ा यह है, नहीं ? बौद्ध अभी हैं। क्रिश्चियन की अपेक्षा बौद्ध (वर्ग) बड़ा है। बौद्ध को पूछो कि आत्मा नित्य है या नहीं ? वह कुछ नहीं।

आत्मा त्रिकाल है, त्रिकाल ज्ञान और आनन्दवाला त्रिकाल तत्त्व है, ऐसा नहीं माननेवाले बौद्धों का निषेध (हुआ)। बौद्ध अर्थात् यह तो न्याय दिया, परन्तु इस प्रकार से वे आत्मा को जानते नहीं।

फिर बतलाया गया है कि 'वह आत्मा सौख्यवान् अनंत सुखस्वभाववाला है'। भगवान् अनन्त आनन्दवाला है, अनन्त आनन्दस्वरूप है। जिसमें अनन्त आनन्द का ढाला पड़ा है। समझ में आया ? यह मोहनथाल का चोकोर टुकड़ा नहीं करते ? उसे क्या कहते हैं ? लोहे की क्या कहलाती है ? चोकड़ी-चोकड़ी, चौकी-चौकी, फिर ऐसा करते हैं न ? मोहनथाल और मैसूर और ऐसे झरझरता करके डाले। इसे खबर होगी अधिक।

मुमुक्षु : मावा डालकर करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : मावा डालकर। देखो ! यह अधिक डाला। वापिस मावा डालकर यह ऐसे चोकोर टुकड़ा करते हैं। अभी तो कि लूँ या न लूँ ऐसे अन्दर से... और अभी ताजा ऐसे छुरी मारे न ? छुरी से चोकोर टुकड़ा करे। पहला तो स्वयं ही उठावे। यह तो कहते हैं, बापू ! बाहर की बात, भाई ! यह तेरा आत्मा असंख्य प्रदेशी चौकी है। उसमें अनन्त आनन्द भरा है, भाई ! उसे एकाग्रता के भाव से उसे अनुभव करे, यह तेरी ताकत है, ऐसा कहते हैं। आहाहा ! समझ में आया ? इन सब लड़कों का पढ़ने-बढ़ने का कहाँ जाता होगा ? विपिन ! यह पढ़ने-बढ़ने में कहीं नहीं आया, हों ! इसकी कीमत भी नहीं आयी, नहीं ? कहो, बोर्डिंग में पढ़ाते हैं। मलूकचन्दभाई ! आहाहा ! भाई ! करनेयोग्य तो यह है, बापू ! यह बीच में सब भले हो। आहाहा !

असंख्यात प्रदेशी चौकी है ऐसे, अन्दर इतने में ही पूरा है। आनन्द के दल से भरपूर है। ऐसे आनन्द.. आनन्द.. आनन्द.. अतीन्द्रिय आनन्द, सिद्ध का आनन्द, ऐसा तेरा स्वरूप ही है। दुःख की गन्ध नहीं, राग का स्पर्श नहीं, शरीर का संयोग जिसमें है ही नहीं। संयोगीभाव, विकल्प है, वह संयोगीभाव है। स्वभावभाव नहीं। संयोगभाव से स्वभाव जागृत हो ऐसा वह नहीं है, ऐसा वह निर्बल नहीं है। आहाहा ! वह स्वभाव ही इतना ऐसा है। अनन्त-अनन्त बेहद आनन्द, बेहद आनन्द। दुःख की पर्याय तो एक समय की अल्प है। वह तो आनन्द जिसका स्वतः-स्वतः स्वभाव, स्वतः स्वभाव ऐसा बेहद आनन्दस्वरूप आत्मा है।

ऐसा कहने से सांख्य और योगदर्शन खण्डित हो गया। सांख्य कहता है या नहीं (कि) यह आनन्द नहीं होता। सबको सुख-दुःख भोगने का नहीं होता। ऐसा

(कहता है वह) झूठ बात है। फिर कहा गया कि वह 'तनुमात्रः' 'अपने द्वारा ग्रहण किये गये.. देखो! भाषा कैसी ली है! 'अपने द्वारा ग्रहण किये गये शरीर-परिमाणवाला है'। उसकी योग्यता प्रमाण शरीर उसने ग्रहण किया है अर्थात् निमित्तरूप से आया है, ऐसा कहते हैं। अपनी योग्यता थी और उस प्रमाण शरीर वहाँ आया है। इतने शरीर प्रमाण स्वयं है। भाषा देखो। आहाहा! 'शरीरपरिमाणः' ऐसा है न? संस्कृत में है। 'कीदशस्तनुमात्रः स्वोपात्त-शरीरपरिमाणः।' 'स्वोपात्त' अर्थात् क्या, समझ में आया? - कि इसने ग्रहण किया है, इसलिए इस समय इसके शरीरप्रमाण रहने की योग्यता में रहा है। ऐसा वह शरीर। तथापि उस शरीर से भिन्न है। शरीरप्रमाण ऐसा कहना है न? शरीरप्रमाण शब्द है सही न? समझ में आया?

'तनुमात्रः' है न? तनुमात्र शब्द है न मूल में? इसलिए तनुमात्र की व्याख्या की। कौन सा तन? वापस ऐसा। कौन सा तन? कि जो यह ग्रहण करने में अर्थात् यहाँ जानने में यह चीज़ यहाँ जो है, वह तन। उस तन प्रमाण भगवान आत्मा अन्दर है। आहाहा! अरे! उसका घर देखा तो नहीं इसने परन्तु घर को सुना नहीं कि तेरा कैसा घर है? ऐसे पाँच लाख का घर बनावे तो ऐसे प्रसन्न-प्रसन्न हो जाये। ऐसे देखा ही करे... देखने बुलावे। चलो.. चलो.. चलो.. चलो देखने। कैसा घर हुआ है। वास्तु करना है, वैशाख शुक्ल तीज को वास्तु करना है, कहते हैं। पहले वास्तु नहीं किया था? वैशाख शुक्ल वह कुछ दूज थी। उन खीमचन्द फोटोग्राफी। फोटोग्राफी नहीं? साठ हजार का मकान तब (संवत्) १९८९ के वर्ष। कितने वर्ष हो गये? ३३। फोटोग्राफर थे न खीमचन्द फोटोग्राफी। साठ हजार का मकान बनाया। तब साठ हजार का अर्थात्? कितने वर्ष बदल गये। अब अभी तो रुपया हो गया तीन आने का। साठ हजार का मकान! आहाहा! दीवान को बुलाया था, जूनागढ़ के दीवान को। परिचित थे न? पहले बात हो गयी थी। एक-दो बार व्याख्यान में आये थे फिर कहा भाई! इन महाराज का देखो! तो कितने लोग आते हैं यहाँ! तीन-तीन हजार लोग! सब खबर है। मैं आया हूँ व्याख्यान में। सब योग परन्तु यह मुझे सही अवसर पर व्यवधान आया। मुझे यह बराबर मकान का वास्तु करना है। ऐई! एक ज्योतिषी ने कहा है कि चौरासी वर्ष का आयुष्य है। इसलिए ऐसा हुआ। वहाँ वे देखने गये। ऐसे घूमते-घूमते ऐसे-ऐसे देखते हैं... मुझे कुछ होता है। एकदम..

मुमुक्षु : एक-दो डॉक्टर आये, इंजैक्शन दिया ।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु देने से क्या भला हुआ उसका ? कटी हुई उम्र कि ४८ । बदल गया चौगड़ा । ऐसे चौरासी वर्ष का आयुष्य है, बात सत्य है । महाराज आये हैं न ? आहाहा ! तीन-तीन हजार लोग तब तो भोजनशाल राजकोट । क्या कहलाता है ? दशाश्रमाली का बण्डा । तीन-तीन हजार लोग । ऐसे हकड़े ठाठ... मोटरें सुधरे हुए की भरे, घण्टे-घण्टे पहले ! (संवत्) १९८९ के साल का चातुर्मास । अरे ! इन महाराज का योग है । सब खबर है मुझे । महाराज का योग.. फिर से नहीं आयेगा, परन्तु अब मुझे यह हुआ, क्या करना ? ज्योतिषी ने कहा है, फिर होगा, चौरासी वर्ष है । वहाँ ४८ में निपट गया । तब हम बाहर थे । वे विनयचन्द, वे मोरबीवाले नहीं ? उसके सामने । उसमें ऐसे निकाला जुलूस-श्मशानयात्रा । परन्तु गृहस्थ व्यक्ति था न, इसलिए ऊपर-मुर्दे पर बहुत ऊँची शाख एकदम हुआ । पैसेवाला व्यक्ति नदी के उस किनारे से ऐसे साटम दिखायी दे । ओहो ! कौन है यह ? मुर्दा और लोग, अनेक लोग । कौन मर गया ? कौन है ? उसमें मौके से यह गुलाबचन्द पारिख थे न ? भाई ! यह... दादा । वे जलाते थे वहाँ आये, मेरे पास । यह खीमचन्दभाई गुजर गये । लोग बहुत, ऊँचे में ऊँची अर्थी पर साटन डाली हुई । ऐसी अर्थी प्रमाण, हों ! धूल-धाणी और वाहपाणी, क्या है परन्तु इसमें ? वहाँ नजदीक है न, ऐसे । वहाँ जलाते थे । वहाँ भाई आये गुलाबचन्द ! आहाहा ! यह दशा, कहा देखो न संसार की । अभी बाद में करूँगा, हो गया बाद का पिछवाड़ा, भव बदल गया, भव बदल गया । आहाहा !

कहते हैं कि शरीर ग्राह है, तदप्रमाण तेरा आत्मा अभी है, ऐसा यहाँ कहते हैं । यह शरीर छूटे तो इस शरीरप्रमाण आत्मा तेरा इतना रहेगा, अवगाहन इतना है, अवगाहन इतना है, ऐसा कहते हैं ।

ऐसा कहने से जो लोग कहते हैं कि 'आत्मा व्यापक है' अथवा 'आत्मा वटकणिका मात्र है'.. वटकणिका अर्थात् वट के बीज जैसा, ऐसा कहते हैं न कितने ही ? वट का बीज जैसा । यह.. आत्मा यह... ऐसा कहते हैं । वटकणिका है न ? उनका खण्डन हो गया । फिर वह आत्मा 'निरत्ययः' 'द्रव्यरूप से नित्य है'.. द्रव्य से तो कायम (रहता है) शरीर भले पलटो, राग-द्वेष पलटो, अन्दर पलटा मारो अनन्त, परन्तु वह वस्तुरूप से तो त्रिकाल नित्य है, ऐसा का ऐसा । समझ में आया ? साथ में शरीर के

रजकण अनेक पलटो, देह पलटो, कर्म पलटो, पुण्य-पाप के भाव अनेक पलटो, पलटो मार, मार पलटो। वस्तु-आत्मा तो नित्य त्रिकाल है। आहाहा! ऐसा कहने से, जो चार्वाक यह कहता था कि 'गर्भ से लगाकर मरणपर्यन्त ही जीव रहता है,' उसका खण्डन हो गया। लो, समझ में आया ? अब स्वसंवेदन की व्याख्या। विशेष कहेंगे...

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २०

गाथा-२१-२२

बुधवार, दिनाङ्क ०६-०४-१९६६

चैत्र कृष्ण १,

वीर संवत् २४९२

'इष्टोपदेश' हितकारी उपदेश। मुनि दिगम्बर पूज्यपाद स्वामी हैं, उन्होंने कहा है। पहले ऐसा हुआ, उसका अर्थ कि यह आत्मा पहले शास्त्र से जानना चाहिए कि इस लोकालोक को जाननेवाला यह आत्मा है। लोकालोक अस्ति है न? वस्तु, वस्तु है - ऐसा जाननेवाले के बिना यह वस्तु है - ऐसा किसने कहा? समझ में आया? यह लोक और यह अलोक है। उसे जाननेवाला ज्ञान है। ज्ञानस्वभाव आत्मा है, वह लोकालोक का जाननेवाला है - ऐसा इसे पहले निर्णय करना चाहिए। वह शरीरप्रमाण है, अपने शरीरप्रमाण है। वह ऐसे सर्वत्र व्यापक नहीं है। ऐसे नित्य है, कायम वह की वह चीज़ नित्य रहती है और अनन्त आनन्दमय है, सुखवाला तत्त्व है और स्वसंवेदनस्वरूप है, वह स्वयं अपने से जाना जा सके, ऐसा ही वह आत्मा है। उस आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है कि वह स्वसंवेदन आत्मा आनन्दमय और ज्ञानमय स्वयं से स्वयं वेदकर जाना जा सकता है, ऐसा उसका तत्त्व है। कोई निमित्त से या राग की मन्दता के भाव से वह ज्ञात हो, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। समझ में आया? उपदेशक के उपदेश से ज्ञात हो, ऐसा वह आत्मा नहीं है।

मुमुक्षु : सबका खण्डन हो जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सबका खण्डन है, परन्तु यह तो वापस अपने अज्ञान के खण्डन की अन्तिम बात है। ऐसा कि दूसरे बहुतों को हम समझावें तो अपने को कुछ लाभ हो, ऐसा स्वरूप में नहीं है। समझ में आया? दूसरों को समझाने का विकल्प है, वह तो

पुण्यबन्ध का कारण है; आत्मा को लाभ का कारण नहीं, क्योंकि स्वयं उससे ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं, उसके कारण बिल्कुल है नहीं। क्या कहना है तुम्हारे ? अपना ज्ञान और आनन्द स्वयं स्वतः स्वरूप है, अर्थात् स्वतः स्वभावी स्वतः से ही वेदनकर अनुभव किया जा सकता है। बिल्कुल किसी की अपेक्षा है नहीं, ऐसा यह आत्मा है। समझ में आया ?

यहाँ पर किसी की यह शंका है कि प्रमाणसिद्ध वस्तु का ही गुणगान करना उचित है। देखो ! शिष्य का प्रश्न है कि जो वस्तु प्रमाण से साबित हो, प्रमाण से सिद्ध हुई हो, प्रमाण से उस वस्तु की सिद्धि ज्ञान में आयी हो, उसका गुणगान करना चाहिए। जो चीज़ प्रमाण से ख्याल में नहीं आयी, उसका गुणगान क्या ? समझ में आया ? **प्रमाणसिद्ध वस्तु का...** प्रमाण से, ज्ञान से ऐसे सिद्ध / साबित सत्ता (हुई हो), यह है – ऐसा यदि सिद्ध हुआ हो, तो गुणगान करना उचित है।

परन्तु आत्मा में प्रमाणसिद्धता ही नहीं है... शिष्य का प्रश्न है। आत्मा में प्रमाण की सिद्धता ही नहीं है। प्रमाण से वह आत्मा किस प्रकार सिद्ध होगा ? वह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। किसी प्रमाण से आत्मा का भान हो सके, ऐसा वह है नहीं – ऐसा हमें लगता है। वह तो अरूपी ज्ञानघन है। वह किस प्रकार अपने को किसी प्रमाण में आवे ? – ऐसी शिष्य की शंका है।

तब ऊपर कहे हुए विशेषणों से किसका... शिष्य प्रश्न करता है, तुमने ऊपर कहा कि ऐसा लोकालोक का जाननेवाला, अनन्त सुखस्वरूप, शरीरप्रमाण, नित्य और ऐसा-ऐसा (आत्मा है), ऐसे गुणगान (किये) परन्तु किसके ? प्रमाण में आये बिना किसके गुणगान ? विशेषणों से किसका और कैसा गुणवाद ? ये विशेषण जो कहे, वे किसके ? और किसके विशेषण ? प्रमाण में आये बिना किसके ? समझ में आया ? और किसके गुणवाद ? ऐसी शंका होने पर आचार्य कहते हैं कि वह आत्मा 'स्वसंवेदन-सुव्यक्त है,' ... देखो ! पहला शब्द आया। इस श्लोक में जो था न मूल ? 'स्वसंवेदन-

सुव्यक्त है, '... यह आत्मा स्वयं से वेदन किया जा सकता है, जाना जा सकता है, ऐसा ही उसका स्वभाव है। सुव्यक्त ऐसा ही उसका प्रगट स्वभाव है। समझ में आया ?

स्वसंवेदन नामक प्रमाण के द्वारा... प्रमाण यह है, यह प्रमाण है। अपने आत्मा को जानने का स्वसंवेदन स्वयं यह आत्मा है। ऐसे ज्ञान द्वारा ज्ञेय करके ज्ञाता आत्मा और ज्ञेय स्वयं-ऐसे अन्दर जानकर प्रमाण से सिद्ध होने योग्य तो इस प्रकार से है। समझ में आया ? स्वसंवेदन नामक प्रमाण के द्वारा अच्छी तरह प्रगट है। अच्छी तरह प्रगट है। बराबर प्रगट है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप चैतन्यज्योति है। चौदह ब्रह्माण्ड में अपना भिन्न तत्त्व, लोकालोक को जाननेवाले स्वभाववाला तत्त्व अपने ज्ञान से ज्ञात हो, ऐसा वह प्रगट आत्मा है। कहो, समझ में आया इसमें ?

उसका आधार देते हैं। 'वेद्यत्वं वेदकत्वं च।' 'जो योगी को खुद का वेद्यत्व व खुद के द्वारा वेदकत्व होता है, बस, वही स्वसंवेदन कहलाता है। क्या कहते हैं ? जो धर्मी जीव को.. योगी अर्थात् आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध, लोकालोक का जाननेवाला, अनन्त सुखस्वरूप, शरीरप्रमाण, नित्य है। ऐसे आत्मा के अन्तर में एकाग्र होनेवाले। योगी अर्थात् उसमें जुड़ान करनेवाले। पुण्य और पाप के राग तथा संयोगों का लक्ष्य का जुड़ान छोड़कर और स्वरूप शुद्ध चैतन्यधाम अनाकुल आनन्दकन्दस्वरूप है, उसमें जिसने जुड़ान—अन्तरयोग जोड़ा है, ऐसे धर्मी को खुद का वेदत्व खुद / स्वयं ही ज्ञेय है और खुद के द्वारा वेदकत्व.. स्वयं के द्वारा ज्ञाता भी स्वयं और खुद के द्वारा वेदकत्व.. अर्थात् ज्ञेय और खुद के द्वारा वेदकत्व अर्थात् ज्ञाता। वह जाननेवाला भी स्वयं और ज्ञेय-ज्ञात होने योग्य भी स्वयं। सूक्ष्म बात है यह।

स्वयं, स्वयं से ही ज्ञात होने योग्य है। यह ज्ञेय भी स्वयं और ज्ञाता भी स्वयं। जाननेवाला ज्ञाता और ज्ञेय स्वयं। स्वयं को स्वयं ज्ञेय और स्वयं अपना ज्ञाता। आहाहा! समझ में आया ? राग ज्ञेय और आत्मा ज्ञाता-ऐसा भी नहीं और राग जनवानेवाला और आत्मा जाने, ज्ञेय, वह जनवानेवाला ज्ञाता को वह ज्ञेय हो, ऐसा भी नहीं। क्या कहा ? जरा समझ में आया ? भगवान आत्मा... ऐसे राग भाग है, वह आत्मा को जनाने में सहायता करे, ऐसा नहीं तथा राग उसे जान सके या राग का आत्मा ही ज्ञेय करे तो आत्मा ज्ञात हो, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : तो राग गया कहा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग, आत्मा में है ही नहीं। ज्ञेय-ज्ञायक में राग है ही नहीं। समझ में आया ? आहा ! जानने में आने योग्य भी आत्मा और जाननेवाला भी आत्मा। यहाँ तो जाननेयोग्य रागादि ज्ञेय, ऐसा भी नहीं, भाई ! ऐसा इतना सिद्ध करना है। रागादि जाननेयोग्य, ऐसा भी नहीं, शरीर आदि जनाने (योग्य), वह नहीं, वह वस्तु नहीं।

भगवान आत्मा स्वयं का स्वरूप ही इतना है कि स्वयं ही अपना ज्ञाता हो और स्वयं ही अपना ज्ञेय हो। लोकालोक का जो ज्ञेय है, वह तो दूसरी अपेक्षा से बात की है। उस लोकालोक को जानने जितना यहाँ स्वभाव है, ऐसी की बात है। समझ में आया ? लोकालोक ऐसे नहीं। लोक और अलोक जितना अस्तित्व है, उस अस्तित्व की मौजूदगी के ज्ञानवाली मौजूदगी उसे जाने। उसके बिना यह अस्तित्व है-ऐसा जाना किसने ? समझ में आया ? वह अपना ज्ञान इतना है, ऐसा। लोकालोक के कारण से नहीं। ज्ञानस्वभाव, जिसका 'ज्ञ' स्वभाव-ज्ञानकस्वभाव, वह स्वभाव ही स्वयं लोकालोक को जानने जितना वह अपना स्वयं का स्वरूप है। समझ में आया ? आहा !

शिष्य कहता है, परन्तु जो वस्तु प्रमाण में आये बिना किसके गुणगान ? किसके विशेषण ? किसके (विशेषण) दिये तुमने ये सब ऐसे ? इतना बड़ा, इतना बड़ा और ऐसे गुण, इतना बड़ा और ऐसे गुण। ऐई ! परन्तु किसके ? कोई प्रमाणसिद्ध वस्तु हुई हो, उसके या उसके बिना ? सुन न ! स्वयं से प्रमाणसिद्ध होने के योग्य आत्मा है। धर्मी जीव को.. योगी अर्थात् धर्मी। योगी अर्थात् वे बाबा-बाबा घूमते हैं, वे योगी नहीं।

भगवान आत्मा एक सैकेण्ड के असंख्य भाग में लोकालोक जानने का जितना ज्ञान धराता है, अपने में, हों ! अनन्त आनन्द है, शरीरप्रमाण है, नित्य है। वह स्वसंवेदन से अपने ही प्रमाणज्ञान से प्रमेय हो सके; अपने ही प्रमाणज्ञान से अर्थात् ज्ञान कहो या प्रमाण कहो और ज्ञेय कहो या प्रमेय कहो। अपने ही प्रमाण से स्वयं प्रमेय अर्थात् ज्ञेय हो सकता है। आहाहा ! समझ में आया ?

वस्तु है या नहीं ? वस्तु। वस्तु है, उसमें तो ज्ञानस्वभाव है। लोकालोक को जाने, इतना ज्ञानस्वभाव है और उसमें आनन्दस्वभाव है। जो स्वभाव है, वह स्वयं ज्ञाता होकर अपना ज्ञेय करके जानने के योग्य स्वभाव है। दूसरे को ज्ञेय करे और ज्ञात हो या दूसरे का

ज्ञाता तो दूसरा हो सकता नहीं, परन्तु दूसरे को ज्ञेय करे और इसका ज्ञाता हो, ऐसा नहीं है। स्व का ज्ञेय और ज्ञाता होने का उसका (आत्मा का) वास्तविक यथार्थ स्वभाव है। आहाहा!

बात यह है कि ये सब हड्डियाँ-बड्डिया-चमड़ा यह तो सब जड़ है, मिट्टी, धूल है। उनका जाननेवाला है। उनका जाननेवाला अर्थात्? उनका जो स्वरूप है, वैसा जानने का स्वरूप अपने ज्ञान में है। उनके कारण नहीं। इसका ज्ञानस्वभाव ऐसा है। जगत में लोकालोक है, उसमें एक जाननेवाला ज्ञान अपने स्वभाव के सामर्थ्यवाला न होवे तो 'यह है'-ऐसा किसने कहा? इसलिए इसके कारण (हैं, ऐसा) नहीं। यह जो सत्तावाला है-अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु हैं, उनके कारण नहीं, परन्तु वह सत्ता है, ऐसी यह एक सत्ता लोकालोक के जानने के स्वतः स्वभाववाला पूरा ज्ञान और आनन्दस्वरूप स्व सत्ता है। आहाहा! समझ में आया? पर को ज्ञेय करना नहीं और पर का जाननेवाला होना नहीं, यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब बात, भाई! यहाँ तो कहे परन्तु कितनी क्रियाएँ बाहर की! पोपटभाई! यह कौन करे क्रिया? वह तो उसके कारण बाहर का (होता है)। यह तो स्वयं अपना ज्ञाता और स्वयं अपना ज्ञेय, यह समा जाए, ऐसा इसका स्वभाव है। आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : ख्याल भी कहाँ लिया है? हीरा तो बहुत ऊँचा (कीमती) परन्तु इसने नजर कहा की है? कहो, नजर किये बिना आँखें बन्द करके? बहुत (ऊँचा) हीरा, बहुत ऊँचा, बहुत ऊँचा अरे! उसका तेज और इसका तेज!! परन्तु किसका तेज!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कहाँ करता है? कहता ही नहीं वास्तव में तो। यही कहते हैं कि यहाँ प्रमाण से सिद्ध होनेयोग्य वस्तु इस प्रमाण से सिद्ध होती है, दूसरे किसी प्रकार से साबित हो, वह वस्तु नहीं है। इसने प्रमाण कब किया है? ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया?

बाहर की प्रवृत्ति की क्रियाएँ तो स्वतन्त्र जड़ की (होती है), उन्हें जानना, वे ज्ञेय है-ऐसा भी यहाँ तो नहीं है। आहाहा! यह तो जो जगत का लोक और अलोक महासत्तास्वरूप

हो, परन्तु उसे जाननेवाली सत्ता स्वभाव मेरा ज्ञान ही इतना है। लोकालोक को अर्थात् 'ज्ञ' स्वभाव है। 'ज्ञ' स्वभाव है, उसका सत्त्व ही इतना है कि जितना जगत में सत्त्व है, उसे स्पर्श किये बिना, उसका लक्ष्य किये बिना, उस सत्ता की उपस्थिति है, इसलिए नहीं। समझ में आया? उस सत्ता की मौजूदगी इतनी है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? भगवान ज्ञान अन्तर ज्ञान वस्तु के प्रमाण से वह स्वयं ही प्रमेय होता है। वह प्रमेय होता है, वह ज्ञेय होता है और वह ज्ञाता (होता है)। वह स्वयं ज्ञेय और ज्ञाता है। पर, ज्ञेय और आत्मा, ज्ञाता—यह सब व्यवहार की बातें हैं। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : एक ही पक्षी। बराबर सत्य का एक पक्षी चुकादा होवे न? दो का चुकादा अच्छा होगा? तू भी सच्चा और तू भी सच्चा – ऐसा होगा वहाँ? एक सत्य पक्षी चुकादा है। आहाहा!

कहते हैं कि धर्मी जीव को... धर्मी ने स्वयं ज्ञान को ज्ञेय बनाकर अथवा ज्ञान से ज्ञेय बनाकर अपना प्रमाण सिद्ध किया है। प्रमाण सिद्ध किया है कि यह आत्मा। किसी के प्रमाण से नहीं, किसी के आश्रय से नहीं, किसी के सहारे नहीं, किसी के द्वारा नहीं, किसी ने कहा कि ऐसा (आत्मा), इसलिए (प्रमाण किया है)–ऐसा नहीं। समझ में आया? आहाहा! ऐसा ही उसका स्वभाव है। अभी कहेंगे, समझ में आता है?

स्वसंवेदन नामक प्रमाण के द्वारा अच्छी तरह प्रगट है। अनुमान भी नहीं। समझ में आया? परोक्ष नहीं। ओहोहो! भगवान आत्मा चैतन्य का सूर्य प्रभु, लोकालोक जितना है, उसे स्पर्श किये बिना, लक्ष्य किये बिना, उसका लक्ष्य किये (बिना) इसका स्वभाव ही लोकालोक को जानने का स्वभाव है। उस स्वभाव को जाननेवाले को किसी की अपेक्षा है नहीं। समझ में आया? गजब बात लगे! बाहर की बात समझ में आये, लो! सामायिक करो, प्रौषध करो। ए.. भगवानभाई! समझ में आये अज्ञान, अज्ञान, हों! वहाँ कहाँ भान था कुछ? ए.. मूलचन्दभाई! प्रौषध कर डाले। स्थूल शरीर हो और रात्रिभोजन न करे उसमें क्या वहाँ व्यवधान? जरा इतना सूखे तो और तीन लड्डू चढ़ा जाये वापस। चना पोचा हुआ हो तो वापस पानी में डाला थोड़ा। उसमें कुछ है? वह भी धर्म कब था।

सुन न! ऐ.. देवशीभाई! तब इतना अलग नहीं था, ऐसा (ये) कहते हैं। तब इकट्ठा हो गया। अरे! विद्यमान को अविद्यमान करे। अनुभव प्रकाश में नहीं आया?

मुमुक्षु : ऐसा सुना हुआ नहीं था।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं था। बात सत्य, बात सत्य। एक पिता हो, बाजार में बाहर निकला और लड़के घर में रहे। उसे पूछे कि तुम्हारे लड़के हैं? तो इनकार करेगा? साथ में नहीं न? साथ में नहीं न? साथ में नहीं अर्थात् घर में पड़े हैं या बैठे हैं या नहीं? विद्यमान को अविद्यमान करे? अनुभव प्रकाश में ऐसा दृष्टान्त दिया है। समझ में आया? विद्यमान को अविद्यमान करे? इसी प्रकार भगवान विद्यमान ज्ञानस्वभाव पूर्ण लोकालोक की अपेक्षा रखे बिना लोकालोक को जानने के स्वभाव का सत्व है। ऐसा भगवान अन्दर है, उस विद्यमान को अविद्यमान कौन करे? समझ में आया? वयोवृद्ध अकेला सब्जी लेने बाहर निकला हो। घर में यहाँ काम न हो। बापू! तुम्हारे कोई लड़का नहीं? तो वह इनकार करेगा? लड़का नहीं, ऐसा कहेगा? बापू! लड़के तो आठ हैं, बड़े लोहे जैसे, परन्तु काम करते हैं अभी। लड़की का ससुर सब लेकर आया है और वह है जरा सत्ता प्रिय। इसलिए उसको सामने सम्हालने के लिये वहाँ रुके हैं। पोपटभाई! सत्ता प्रिय हो, जरा कड़क हो और वह सामने ठीक से न सम्हाले तो... हो जाये। यह दुनिया कोई पागल है न परन्तु...

यहाँ कहते हैं कि भगवान विद्यमान को अविद्यमान कहे कौन? घर में लड़के पड़े हैं, और साथ में नहीं हैं, इसलिए नहीं हैं, ऐसा कहे वह? इसी प्रकार भगवान आत्मा एक समय में अखण्डानन्द लोकालोक को जाननेवाला तत्त्व और पूर्णानन्दवाला तत्त्व है। वह नहीं है - ऐसा कौन कहे? कहते हैं। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यही प्रमाण हुआ। यह प्रमाण तब ही प्रमाण कहलाया। यह अपना ही प्रमाण है, ऐसा कहते हैं। किसी के प्रमाण की इसे आवश्यकता नहीं है। यह अपने गुण को गाया, ऐसे गुण और ऐसे गुण और ऐसा है, यह ज्ञान द्वारा जाना, यही उसका प्रमाण है, दूसरा कोई प्रमाण है नहीं। धर्मी को वह अपना ही प्रमाण है, दूसरे का प्रमाण उसे है नहीं। भगवान कहते हैं, इसलिए माना, ऐसा भी नहीं है - यहाँ तो ऐसा कहते हैं। सर्वज्ञ ने कहा, इसलिए यह माना है, ऐसा नहीं है। भाई! अपने से वेदन किया है, जाना है कि

यह आत्मा ऐसा है। ओहो! अकेला चैतन्य का पुंज और वह ज्ञेय तथा ज्ञान दोनों में ही हूँ। दूसरी चीज़ मेरी अपेक्षा से जगत में नहीं है। ऐसा है।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : वह होवे (तो) उसके घर में। उसके कारण मैं नहीं, उसके कारण मेरा ज्ञान नहीं। उसके कारण मेरी सत्ता तो नहीं परन्तु उसकी सत्ता है इसलिए मेरा इतना ज्ञान है, ऐसा नहीं - ऐसा यहाँ कहते हैं। १९ गाथा लेने के बाद यहाँ से कैसी गाथा ली, देखो!

भाई! प्रभु ऐसे विद्यमान है न बड़ा! आहाहा! छह-छह लड़के बड़े गोरे (अंग्रेज) जैसे छह-छह हाथ के लम्बे और निरोगी शरीर (हो), रोग आया न हो, रोग आने की तैयारी न हो, ऐसे घर में बैठे हों और इनकार करे कि मेरे लड़के नहीं हैं। मूर्ख है न वह ? कहे कोई ? इसी प्रकार भगवान पूरी दुनिया के छह द्रव्य लोक में पड़े हैं, उन्हें लक्ष्य किये बिना, उन्हें स्पर्श किये बिना, उनकी अस्ति है, इसलिए इसकी अस्ति है, ऐसा नहीं-ऐसा भगवान अन्तर एक समय में पूर्ण जानने के स्वभाववाला पूरा तत्त्व है। वह स्वयं ही अपने प्रमाण से ज्ञेय करके स्वयंसिद्ध हो सकता है। उसे दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। समझ में आया ? आहाहा!

बस, वही स्वसंवेदन कहलाता है। अर्थात् उसी को आत्मा का अनुभव व दर्शन कहते हैं। लो! उसे आत्मा का अनुभव अथवा दर्शन कहने में आता है। यह स्वसंवेदन कहो, अनुभव कहो, सम्यग्दर्शन कहो या जो कहो वह यह है। समझ में आया ? बाद में कहेंगे, हों! ये सब व्यवहार के विकल्प और साधन-फाधन वहाँ बिल्कुल काम नहीं आते। यह बाद में कहेंगे। विकल्प आदि भले हो, वहाँ आत्मा के साधन में वे जरा भी काम नहीं आते। आहाहा! समझ में आया ? ज्ञानचन्द्रजी! स्वयं कैसा ज्ञानचन्द्र है, कहते हैं देखो! आहाहा!

जिसका स्वभाव, जिसका स्वरूप, स्व-रूप, स्व-रूप, अरूप-स्वरूप, जिसका सत्व, जिसका स्वभाव इतना है, उसे दूसरे के प्रमाण से माननेयोग्य कहाँ रहा ? वह तो अपने ज्ञान के वेदन से ज्ञान, ज्ञाता से ज्ञेय हो सकने के (योग्य), स्वयं ज्ञेय होने के योग्य

और स्वयं ज्ञान, ज्ञाता होने के योग्य, ऐसा उसका स्वभाव है, कहते हैं। आहाहा! व्यवहारवाले को भारी कठिन लगे, हों! यह व्यवहार भगवान का यह करे तो हो, यह करे तो हो, मन्दिर बनावे, पूजा करे, भक्ति करे, यात्रा करे.. धूल भी नहीं होता, सुन! कहते हैं। ऐई! अभी इन्हें मन्दिर बनाना है न बाकी? पाँच-दस लाख का मन्दिर बनाकर यात्राएँ निकालीं, उससे आत्मा बिल्कुल ज्ञात नहीं होता, ले! ऐसा कहते हैं। आहाहा! गले उतारना भारी। और वापस निकाले... हिम्मतभाई भी वे साथ में थे या नहीं वहाँ? आहाहा!

उस विकल्प के काल में भी विकल्प के कारण ज्ञान नहीं और ज्ञाता नहीं। विकल्प के कारण ज्ञाता और ज्ञेय नहीं। विकल्प के सहारे ज्ञाता और ज्ञेय नहीं। तब ही उसको-अवस्तु को व्यवहार कहा जाता है न? उसमें कहाँ वह वस्तु थी? वह तो ज्ञाता और ज्ञेय स्वयं वह वस्तु। रागादि अवस्तु। वह है, इसलिए इतना ज्ञान है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

इसके स्वभाव का माहात्म्य ही इसे नहीं आया। समझ में आया? भले भाषा में कदाचित्त कहे कि ऐसा आत्मा। परन्तु यह वस्तु.. ओहोहो! साक्षात् परमेश्वर स्वयं! स्वयं ही परमेश्वर स्थाप आत्मा को। स्थापित किये बिना तेरी ज्ञानदशा हाथ नहीं आयेगी। मैं ही परमेश्वर हूँ। ओहोहो! समझ में आया? अनुभवप्रकाश में कहते हैं न? स्वयं को प्रभु स्थाप! यदि कहीं प्रभुता दी तो ऐसे जा नहीं सकेगा, ऐसा कहते हैं। यदि कहीं महत्ता दी राग को और पुण्य को, व्यवहार को और निमित्त को तथा संयोग को (तो) अन्दर नहीं आयेगा। अन्दर आत्मा में नहीं आ सकेगा, आत्मा ऐसा है नहीं। आहाहा! ऐ.. पोपटभाई! कहते हैं, सम्मेदशिखर की पाँच यात्रा करें तो एकावतारी हो जायेंगे। तूने पर को महिमा दी है। तेरा यह आत्मा हाथ नहीं आयेगा। ऐसा है नहीं वह। आहाहा!

भाई! वस्तु ही स्वयं अलौकिक है। लौकिक पूरे जगत को जाननेवाला लौकिक का आश्रय लिये बिना जाननेवाला ऐसा ही स्वयं तत्त्व है। स्वतःसिद्ध तत्त्व है। वस्तु है, उसे उसके स्वभाव की क्या बात करनी! उसके स्वभाव की हद क्या? उसे मर्यादा क्या? उसे पराश्रयता क्या? समझ में आया? जो स्वभावभाव है, उस स्वभावभाव को पराश्रय का क्या? अपूर्णता क्या? उस स्वभाव की अचिन्त्यता में अपूर्णता क्या? आहाहा! अब (लोग) शोर मचाते हैं। भगवान को, भगवान को... तुमने नहीं पढ़ा होगा, पढ़ा? पण्डित हमारे हैं

तो कभी तर्क दे। भगवान को तुमने सिद्ध कर दिया, भगवान महावीर को भगवान सिद्ध कर दिया, मानव को भगवान सिद्ध कर दिया। जैन सन्देश में ऐसे लेख आते हैं। अरे! वह तत्त्व का अनादर करनेवाला है। एक-एक चैतन्यतत्त्व का खून करनेवाला है। समझ में आया ?

भगवान आत्मा साक्षात् स्वयं परमेश्वर का रूप ही आत्मा है। शक्ति और भगवान की व्यक्ति में कुछ अन्तर नहीं है। ऐसे प्रभु आत्मा को जब तक दृष्टि में स्थापित न करे, तब तक उसका स्वसंवेदन प्रमाण नहीं हो सकता। समझ में आया ? कहीं भी यदि जरा लार (लान्तरे), कहीं माहात्म्य दे दिया तो इस माहात्म्य में खण्ड होता है। माहात्म्यवाला तत्त्व हाथ नहीं आयेगा, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा! भाई! ऐसा कहते हैं कि उतर जाये ऐसा है। चक्कर उतर जाये ऐसा है। तुम ऐसे बोले और वह ऐसे बोले। आहाहा!

तू कितना है, कैसा है, यह तुझे खबर नहीं ? यह लगायी सबकी धूल की और शरीर की और वाणी की और यह भगवान ऐसे और भगवान ऐसे ! परन्तु तू कितना, यह खबर है तुझे ? भाई! भगवान की क्या बात करना ! सुन न अब ! उन भगवान को जिसने ज्ञान में लिया, उस ज्ञान की महिमा तेरे कारण है या उनके कारण है ? जिसने केवलज्ञान और केवलदर्शन ऐसा.. ऐसा.. ऐसा.. ऐसा.. आहाहा ! जो पर्याय ख्याल में ली, उस पर्याय की महिमा कितनी और उस पर्याय की अपेक्षा पूर्ण द्रव्य की महिमा कितनी ? आहाहा ! है (महिमा) ऐसे (और) देता है ऐसे; इसलिए दृष्टि में अन्तर है। ज्ञानचन्दजी ! शोर मचाते हैं। वे कहें, अरर र ! व्यवहार का लोप होगा। व्यवहार का लोप ही है। आत्मा में कब व्यवहार था ? सुन न ! ऐ.. बसन्तलालजी ! ये सब निकले हैं न, देखो ! शिक्षणवर्ग के लिये और अमुक के लिये। यहाँ कहते हैं कि कुछ नहीं मिले आत्मा में। पर से समझे, ऐसा आत्मा नहीं और पर को समझावे, ऐसा वह आत्मा नहीं। ऐई !

मुमुक्षु : यह साधन-साध्य कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : साधन, यही साध्य यह का यही। यह का यही साधन और यह का यही साध्य। दूसरा था कब ? दूसरा कहे उसे सुनावे न जब.. आहाहा ! समझ में आया इसमें ?

जिस प्रकार यह वस्तु स्व, स्वस्वभाव से जिस प्रकार स्वतः है और स्वतः स्वभाव

के प्रमाण से ही जानी जा सके ऐसी है। ऐसा जब तक इसके ख्याल में, रुचि में, श्रद्धा में न बैठे, वहाँ तक इसका वीर्य स्वसंवेदन अन्तर में झुकेगा नहीं। समझ में आया ? इतना यह नहीं, इस प्रकार से मानकर इसे निर्णय करने जाये (तो) वेदन किसी प्रकार नहीं हो सकेगा ? समझ में आया इसमें ? इसका नाम आत्म अनुभवदर्शन है।

अर्थात् जहाँ आत्मा ही ज्ञेय और आत्मा ही ज्ञायक होता है,.. देखो! जहाँ आत्मा ही ज्ञेय.. स्वयं ही ज्ञेय, स्वयं ही ज्ञेय। परज्ञेय तो व्यवहार हो गया। वह नहीं। निश्चय स्वयं ज्ञेय और आत्मा ही ज्ञायक होता है,.. देखो! चैतन्य की उस परिणति को स्वसंवेदन प्रमाण कहते हैं। यह प्रमाण। चैतन्य की उस परिणति अर्थात् पर्याय को स्वसंवेदन प्रमाण कहते हैं। पर्याय की बात ली न ? भगवान आत्मा ज्ञेय, ज्ञात होनेयोग्य और स्वयं जाननेवाला। जाननेवाला और जनानेयोग्य स्वयं का स्वयं है।

बहिर्मुख की वृत्ति में बहिर्बुद्धि में जितना माहात्म्य पर का रह जाता है, उसे बहिर्बुद्धि कहते हैं। समझ में आया ? और अन्तरज्ञेय तथा ज्ञायक परिपूर्ण प्रभु मैं ही इस स्वभाव के वेदन को करनेवाला वेदन, दूसरा किसी को ज्ञात होनेयोग्य भी मैं और जाननेवाला भी मैं, ऐसी परिणति को स्वसंवेदन प्रमाण कहते हैं, इसका नाम प्रमाण है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि 'जदि दाएज्ज पमाणं'। यदि कहूँ तो प्रमाण करना। वह यह प्रमाण। (समयसार) पाँचवीं गाथा में आता है न ? 'तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण। जदि दाएज्ज' दिखाऊँगा तो प्रमाण करना। तेरे स्वसंवेदन प्रमाण से प्रमाण करना। यह महाराज भगवान कुन्दकुन्द कहते हैं, (इसलिए प्रमाण है) ऐसा नहीं है। ऐसा नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! 'जदि दाएज्ज' यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण करना, हों! अर्थात् ? तेरे अनुभव से उसका स्वीकार (करना)। चैतन्य ऐसा है, ऐसे स्वसंवेदन से स्वीकार करना। आहाहा! समझ में आया ? चिमनभाई! क्या करना इसमें ? मकान बनाना, मन्त्रीपना करना ? यह सब कितने काम सिर पर ? चूने का व्यापार करना। थैलियाँ (भरना) दूसरे का चूना देखकर इसका चूना देखकर विचारे। यहाँ चूने का ट्रक आता है और इसकी चूने की थैलियाँ देखी। यह गये थे न ? कल-परसों नहीं ? थैलियाँ, थैलियाँ.. परन्तु उसका धन्धा करे तो अच्छी ही थैलियाँ लावे न यह तो। ऐसा कुछ नाम दिया था। वे थैलियाँ पड़ी थीं। यहाँ थैलियाँ नहीं रहतीं। यहाँ कहाँ थैलियाँ थीं ? यहाँ तो... साधारण,

साधारण वापस। घर का माल बेचे वह अच्छा-अच्छा ले या नहीं? इसी प्रकार इस घर का माल आत्मा आनन्दकन्द है, कहते हैं। आहाहा! थैलियाँ पड़ी हैं। मैंने कहा, किसकी थैलियाँ हैं? यह सब चिमनभाई की हैं। पत्थर और मकान के लिये लो न, ऐसा करके।

घर का व्यापार, इसलिए चूना दूसरे प्रकार का लाये। यह घर का व्यापार आत्मा का, यह कहते हैं यहाँ। भगवान तेरे अन्तर के प्रमाण के लिये, किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है। घर का माल पड़ा है और घर में माल पड़ा है और उसे तू प्रयोग नहीं करेगा? ऐसा कहते हैं। आहाहा! दुनिया में ऐसा नहीं कहते? अपने घर में है और अपने किसलिए लेने जाना? पोपटभाई! ऐसा है या नहीं? इतना तो अपने घर में माल पड़ा है, वह तो पहले प्रयोग करो और फिर घटे तो अपने लायेंगे। ऐसा कहे? परन्तु यह तो घटे, ऐसा नहीं है। आहाहा!

भगवान! तेरा माल तो अन्दर ज्ञान आनन्दस्वभाव... स्वभाव.. स्वभाव.. स्वभाव है। नास्तिक को भी, इस क्षेत्र का माप कहाँ है, उसे तर्क से ख्याल नहीं कर सकता। आहाहा! कहाँ अलोक? इस लोक-अलोक का ज्ञान कहा न यहाँ? अलोक अर्थात् कहाँ क्या है, यह वह वस्तु? यह उस ईश्वर की कला या लीला या वह तो कोई जगत के स्वभाव? इस क्षेत्र के बाद क्या होगा? अनन्त योजन। अनन्त के अनन्त वर्ग करके चला जाये ऐसे का ऐसा। लक्ष्य, लक्ष्य लग जाये, हों! बाद में क्या होगा? फिर ऐसे गोल होगा?

मुमुक्षु :अपनी सत्ता को स्वयं अनुभव करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस क्षेत्र की, इस सत्ता की अमाप की उसे खबर नहीं है, ऐसा मेरा कहना है। उसे खबर है? परन्तु है कैसा? कोई अचित्त्य क्षेत्र स्वभाव है! उसका भगवान जाननेवाला, उसके ज्ञान का अचित्त्य बेहद स्वभाव है। उसकी अस्ति को स्वीकार किसने किया? परन्तु जाना किसने? उसकी तो उसे खबर भी नहीं। समझ में आया? नास्तिक भी क्या है, ऐसा कहे। इसके बाद... बाद.. बाद.. बाद.. कहे क्या है? इसके बाद कहीं आड़ी आती है? क्या है? फिर क्षेत्र आया अमुक पटेल का या अमुक। फिर कुछ नहीं है, लो! ऐसा होगा? क्या है यह? ओहोहो!

क्षेत्र। यह क्षेत्रज्ञ। उसका तो यह जाननेवाला है। वह क्षेत्र है, इसलिए नहीं। इतने

क्षेत्र को जाननेवाला अचिन्त्यक्षेत्र! क्या पीछे क्या? पीछे क्या? 'नहीं' कहीं भी नहीं आवे। अस्ति ही ऐसी की ऐसी आयेगी। अस्ति ही आयेगी 'नहीं' कहीं नहीं आयेगी। ऐसे काल में कहाँ नास्ति आयेगी? ऐसे भूतकाल, भूतकाल... बाद में.. बाद में.. बाद में.. बाद में.. कहीं 'नहीं है'—ऐसा नहीं आता। है.. है.. है.. है.. है.. है। ऐसे काल में.. है.. है.. है ही चला आयेगा। यह इसके जाननेवाले के ज्ञान में है.. है.. है.. है.. ही चला जाता है। स्वभाव ऐसा भाव है, कहीं अभाव है नहीं। शक्ति का पर के कारण अभाव, वह अलग वस्तु है। समझ में आया? यह ज्ञान का भाव, यह आनन्द का भाव, यह स्वच्छता का भाव, यह शुद्धता का भाव, यह शान्ति-चारित्र का भाव, यह वीर्य का भाव कितना? कैसा? भाव में इतना ऐसा अमाप, तथापि स्वयं ज्ञेय और ज्ञान स्वयं से हो सके ऐसा है। समझ में आया? आहाहा!

परिणति को स्वसंवेदन प्रमाण कहते हैं। देखो! पर्याय ली, पर्याय। प्रमाण की परिणति से ही यह प्रत्यक्ष है, दूसरे प्रकार से है नहीं। उसी को आत्मानुभव व आत्मदर्शन भी कहते हैं। ऊपर आ गया बहुत। इस प्रकार के स्वरूपवाले स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष (जो कि सब प्रमाणों में मुख्य या अग्रणी प्रमाण है)... देखो! सब प्रमाण में यही (मुख्य) प्रमाण है। अब छोड़ न! प्रमाण तो अपना प्रमाण अपने को हुआ, वह प्रमाण है। समझ में आया? भगवान ज्ञान की ज्योति सूर्य प्रभु, आनन्द का बेहद सागर, वह स्वयं ज्ञेय और अपना ज्ञान से प्रमाण हुआ, वही मुख्य प्रमाण है। समझ में आया? भगवान को पूछकर प्रमाण करना, ऐसा यह नहीं है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? अरे! प्रभु! इतना तू है, यह तुझे भान में नहीं आवे और तुझे धर्म हो, कहाँ से हो? धूल में से धर्म (होगा)? अपने से ही प्रमाण है, ऐसा उसका स्वरूप है। उस स्वरूप से कम, विपरीत, अधिक माने तो वह तत्त्व के स्वरूप से विपरीत इसकी दृष्टि है। समझ में आया?

राजा हो, वहाँ ऊँचा (मूल्यवान) खाजा तला जाता हो। पाँच सौ-पाँच सौ, दस-दस सेर का खाजा। गरीब बाघर बेचार आवे तो ऐसे देखता रहे, हों! आहाहा! अपने को मिलेगा या नहीं इसमें से? वह दरबार गुजर गये न? गुजर गये और पूरा गाँव खाजा का जीमाया था। रणवीर सिंह गुजर गये न! जामनगर। पूरा गाँव जीमाया। कीमती खाजा। उसे पाँच-दस लाख खर्च करना हो, उसे क्या हो? बेचारे गरीब व्यक्ति को (ऐसा लगे कि) हमको कब मिलेगा? भाई! पूरे गाँव को जीमना है परन्तु उसका मुँह.. गरीब व्यक्ति बाहर

हो और ऐसे ये ऊँचे के थाल को ऐसे तलाते हों न अन्दर ! आहाहा ! बापू ! गाँव का जीमन है । तुम्हें भी आयेगा परन्तु थोड़ी देर लगेगी किन्तु उसे भरोसा नहीं आता ।

इसी प्रकार यह भगवान आत्मा ऐसा गाया जाता है, वह मैं होऊँगा या नहीं ? मैं होऊँगा या नहीं ? बापू ! तू होयेगा, यह यहाँ बात चलती है । कोई भी अच्छे घर में जीमन हो और बेचारा गरीब व्यक्ति आवे तो उसे ऐसा लगता है कि यह चीज़ मुझे देंगे या नहीं ? बढी-घटी में से (देंगे या नहीं) ? यह तो पूरा गाँव जीमे । अच्छी-अच्छी चीज़ अमुक जानते हों या यह बड़ा अच्छा हो तो दस दिन से साठा (गुजराती मिष्ठान्न) बनते हों । दूसरे व्यक्ति को कुछ जीमने का न हो परन्तु बड़े-घटे में थोड़ा माल मिलेगा या नहीं ? बेचारा इच्छा किया करता है । यहाँ ऐसा नहीं कहते हैं । यह तो माल तला जाता है, वह सबके भाग में आवे, ऐसा वह माल है । आहाहा ! भाई ! तू ऐसा है न, प्रभु ! आहाहा ! देखो न ! यह प्रमाण का मुख्य प्रमाण स्वयं है । इस प्रमाण में प्रमाण स्वयं है ।

तथा कहे हुए गुणों से... दो बातें करनी हैं न ? एक प्रमाण से भी अग्रणी प्रमाण स्वसंवेदन से स्वयं है और वह कहे हुए गुणों से सम्पूर्णतया प्रकट.. शिष्य ने दो बातें ली थी न ? कि इन विशेषण से तुमने बात की परन्तु कैसा गुणवाद ? ऐसा कहा था न ? यह तुमने बात की । कैसा गुणवाद ? ऐसा कहा था न ? ऊपर कहे हुए विशेषणों से किसका और कैसा गुणवाद ? प्रमाण सिद्ध हुए बिना (किसका गुणवाद ?) वह ऐसा है कहते हैं, सुन न ! अभी ऐसा है । कहे हुए गुणों से... ऐसे प्रमाण से और जितने गुण कहे (उनसे) । लोकालोक जाननेवाला गुण तेरा यहाँ है, इतना यहाँ है, हों ! अनन्त आनन्द इतना यहाँ । जो कहा है, उस प्रकार से । कहे हुए गुणों से सम्पूर्णतया प्रकट वह आत्मा योगिजनों को एकदेश विशदरूप से अनुभव में आता है । धर्मी जीव को एकदेश विशद स्पष्टरूप से अनुभव में आता है । केवली को तो पूर्ण है । यहाँ तो निचले साधक की बात है । समझ में आया ? आहाहा !

कहे हुए गुणों से सम्पूर्णतया प्रकट वह आत्मा योगिजनों को एकदेश विशद.. स्पष्ट । देखा ! विशद (अर्थात्) स्पष्ट प्रत्यक्ष अनुभव में आता है । इसमें कहीं ऐसी कठिन भाषा नहीं है । यह तो सादी भाषा है । चार पुस्तकें सीखी हों, ऐसी समझे ऐसी भाषा है । समझ में आया ?

मुमुक्षु : समझना चाहे तो ?

पूज्य गुरुदेवश्री : चाहे तो की बात है न!

इसे इनकार करे कि नहीं, इतना मैं नहीं। यह भी कहेंगे अब। इसे कारणान्तर की आवश्यकता नहीं है, कहते हैं। तू कारणान्तर, कारणान्तर पुकार कर रहा है। कुछ चाहिए... कुछ चाहिए.. कुछ चाहिए.. कुछ नहीं चाहिए, सुन! तू सम्पूर्ण पूरा है। तेरे लिए पर की कोई बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। भगवान का मार्ग तो सापेक्ष है न? निश्चय से तो निरपेक्ष ही है। यहाँ तो निश्चय से बात करते हैं। निश्चय से निरपेक्ष वस्तु है। व्यवहार से हो वह जानने के लिए बात है, उसकी बात यहाँ गौण है। समझ में आया ?

दोहा - निज अनुभव से प्रगट है, नित्य शरीर-प्रमान।

लोकालोक निहारता, आतम अति सुखवान॥२१॥

इसका वान ही, इसका रूप ही सुखवाला, आनन्दवाला है। इसका वान ही आनन्द का है। आहा! ऐई! अतीन्द्रिय आनन्द इसका रूप है। आहाहा! अकेला अतीन्द्रिय आनन्द का रस का कन्द! और **लोकालोक निहारता**,.. लोकालोक को जानना, यह तो इसका स्वरूप ही है। इतना इसका स्वभाव है, इतना प्रमाणवाला इसका स्वभाव है। अर र! भगवान के नाम से कितना कर दिया अभी। अरे! प्रभु! क्या करे? ऐसा करते हैं? यह द्वेष का अंश अन्दर आता है। ऐसा भगवान आत्मा, उसे ऐसा कहते हैं। स्वभाव में तो कुछ है नहीं। ऐसा कैसे कहते हैं? ऐसा विकल्प स्वभाव में तो है ही नहीं। समझ में आया ?

निज अनुभव से प्रगट है,.. देखो! अपने अनुभव से प्रगट है। **नित्य शरीर-प्रमान..** वह इतने प्रमाण में है। लोकालोक को जाननेवाला परन्तु रहनेवाला शरीर प्रमाण, लोकालोक को जाननेवाला परन्तु रहनेवाला शरीर के प्रदेश (आकार) प्रमाण। बहुत खुलासा किया इसमें से, हों! वह वेदान्ती व्यापक कहें और अमुक कहें और अमुक कहें (वह) सब निकाल डाला। यह है, वह इस प्रकार से वस्तु है। यह अनुभव से ही प्रमाण हो सके ऐसी है। स्वानुभूत्या चकासते।

यहाँ पर शिष्य कहता है कि यदि इस तरह का आत्मा है तो उसकी उपासना कैसे की जानी चाहिए? इसमें आत्मध्यान या आत्मभावना करने के उपायों को पूछा गया है।

आचार्य कहते हैं -

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।

आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम्॥२२॥

अर्थ - मन की एकाग्रता से इन्द्रियों को वश में कर ध्वस्त-नष्ट कर दी है, स्वच्छन्द वृत्ति जिसने, ऐसा पुरुष अपने में ही स्थित आत्मा को अपने ही द्वारा ध्यावे।

विशदार्थ - जिसने इन्द्रिय और मन को रोक लिया है अथवा जिसने इन्द्रिय और मन की उच्छृंखल एवं स्वैराचाररूप प्रवृत्ति को ध्वस्त कर दिया है, ऐसा आत्मा, जिसका स्वरूप पहिले (नं० २१ के श्लोक में) बता आये हैं, आत्मा को आत्मा से ही यानि स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष ज्ञान से ही ध्यावे, कारण कि स्वयं आत्मा में ही उसकी ज्ञप्ति (ज्ञान) होती है। उस ज्ञप्ति में और कोई करणान्तर नहीं होते। जैसा की तत्त्वानुशासन में कहा है - 'स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात्।'

'वह आत्मा स्वपर-प्रतिभासस्वरूप है। वह स्वयं ही स्वयं को जानता है, और पर को भी जानता है। उसमें उससे भिन्न अन्य करणों की आवश्यकता नहीं है। इसलिए चिन्ता को छोड़कर स्वसंवित्ति-स्वसंवेदन के द्वारा ही उसे जानो, जो कि खुद में ही स्थित है। कारण कि परमार्थ से सभी पदार्थ स्वरूप में ही रहा करते हैं। इसके लिए उचित है कि मन को एकाग्र कर चक्षु आदिक इन्द्रियों की अपने-अपने विषयों (रूप आदिकों) से व्यावृत्ति करे।' यहाँ पर संस्कृत टीकाकार पण्डित आशाधरजी ने 'एकाग्र' शब्द के दो अर्थ प्रदर्शित किये हैं। एक कहिए विवक्षित कोई एक आत्मा, अथवा कोई एक द्रव्य, अथवा पर्याय, वही है अग्र कहिए प्रधानता से आलम्बनभूत विषय जिसका, ऐसे मन को कहेंगे 'एकाग्र'। अथवा एक कहिए पूर्वापर पर्यायों में अविच्छिन्न रूप से प्रवर्तमान द्रव्य-आत्मा वही है, अग्र-आत्मग्राह्य जिसका, ऐसे मन को एकाग्र कहेंगे।

सारांश यह है कि जहाँ कहीं अथवा आत्मा में ही श्रुतज्ञान के सहारे से भावनायुक्त हुए मन के द्वारा इन्द्रियों को रोककर स्वात्मा की भावना कर उसी में एकाग्रता को प्राप्त

कर चिन्ता को छोड़कर स्वसंवेदन के ही द्वारा आत्मा का अनुभव करे। जैसा कि कहा भी है - 'गहियं तं सुअणाणा।'

अर्थ - 'उस (आत्मा) को श्रुतज्ञान के द्वारा जानकर पीछे संवेदन (स्वसंवेदन) में अनुभव करे। जो श्रुतज्ञान का आलम्बन नहीं लेता, वह आत्मस्वभाव के विषय में गड़बड़ा जाता है।' इसी तरह यह भी भावना करे कि जैसा कि पूज्यपादस्वामी के समाधिशतक में कहा है - 'प्राच्याव्य विषयेम्योऽहं।'

'मैं इन्द्रियों के विषयों से अपने को हटाकर अपने में स्थित ज्ञानस्वरूप एवं परमानन्दमयी आपको अपने ही द्वारा प्राप्त हुआ हूँ।'

दोहा - मन को कर एकाग्र, सब इंद्रियविषय मिटाय।

आतमज्ञानी आत्म में, निज को निज से ध्याय।।२२।।

गाथा - २२ पर प्रवचन

यहाँ पर शिष्य कहता है कि यदि इस तरह का आत्मा है तो उसकी उपासना कैसे की जानी चाहिये? तो उसकी सेवा किस प्रकार करना? कोई साधन-वाधन दूसरा होगा या नहीं? भगवान की सेवा करना, परमात्मा की पूजा, दर्शन (करना), हमेशा दो-चार घण्टे भगवान के पास बैठना, दो-चार घण्टे बैठना, दो-चार-पाँच घण्टे शास्त्र-वास्त्र पढ़ना, ऐसा कुछ साधन-फाधन है या नहीं? भाई! वीतराग का मार्ग ऐसा है कि जगत को तो खबर नहीं, सुना नहीं। उसे जरा बाहर का (माहात्म्य) होवे न! आहाहा! भक्ति, नाच होवे तो आहा! वाह! वाह! लोगों को ऐसा लगे, लो! धर्म करे न! गजब धर्म कराते लगते हैं! सब भ्रम है। ऐई! 'पूजा करने का मेरा भाव जागा' वहाँ लोगों को (लगे कि) आहा! क्या आता है पहला शब्द? 'महावीर तारो रंग लाग्यो रे... रंग लाग्यो महावीर तारो।' लोगों को ऐसा लगे कि आहाहा! यह कितना धर्म करता है और कितना कराता है! भ्रमणा भारी, भाई! ऐई!

यहाँ तो दूसरा कहना है कि उसमें यदि माहात्म्य आ जाता है तो स्वभाव का माहात्म्य नहीं रहता। ऐसे माहात्म्य से धर्म प्राप्त करते होंगे और ऐसे माहात्म्य से धर्म होता

होगा ? और कहनेवाले को ऐसे भाव से उसे धर्म होता होगा ? वह तो विकल्प है, वाणी तो जड़ है। ऐई ! 'महावीर तारो रंग लाग्यो...' तो (ऐसा हो जाये) आहाहा !

मुमुक्षु : हजारों लोग बोल जायें।

पूज्य गुरुदेवश्री : बोल जाये। बात ही यह है कि इसे मूल माहात्म्य की खबर नहीं और कहाँ लिप्त हो जाता है, उसकी इसे खबर नहीं। आहाहा !

मुमुक्षु : नाम तो महावीर का आवे न।

पूज्य गुरुदेवश्री : महावीर का (आवे)। परन्तु महावीर कौन सा ? महावीर यह या दूसरा ? आहाहा !

मुमुक्षु : अपने को अपना माहात्म्य घटाना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भई ! यहाँ तो जैसा है वैसी बात है। जिसका हिस्सा जितना हो, उतना हो। उसमें कोई ऐसा मान ले कि अपने आहा ! ... भारी धर्म किया और बहुत धर्म कराया ! पाँच लाख खर्च किये और यह अधिक खर्च करनेवाले हैं अभी ? अहमदाबाद का कुछ पंचकल्याणक है या नहीं ? हाथी निकालेंगे... ऐ.. हिम्मतभाई ! आहा ! भाई !

जिसे विकल्प और वाणी और पर का माहात्म्य आया, उसे स्व का माहात्म्य अन्दर नहीं आता। ओहो ! माहात्म्य स्वयं का है, वह पर का माहात्म्य है नहीं। लोगों को कठिन लगता है। भाई ! क्या हो ? समझ में आया ? कहो, अब क्या कहना होगा ? दो बातें की। आहाहा ! देखो ! यह कहते हैं।

इसमें आत्मध्यान या आत्मभावना करने के उपायों को पूछा गया है। शिष्य पूछता है। समझ में आया ? हमें ध्यान कैसे करना और आत्मा की एकाग्रता कैसे करना ?

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः।

आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम्॥२२॥

ओहोहो ! अर्थ - मन की एकाग्रता से इन्द्रियों को वश में कर.. एकाग्रता शब्द से स्वसन्मुख की एकाग्रता। इन्द्रियों को वश अर्थात् इन्द्रियों की ओर का लक्ष्य छोड़कर। ध्वस्त-नष्ट कर दी है, स्वच्छन्द वृत्ति.. ध्वस्त-नष्ट की है स्वच्छन्द वृत्ति। स्वच्छन्द वृत्ति अर्थात् परसन्मुख के विकल्प की स्वच्छन्द वृत्ति। ऐसा पुरुष अपने में

ही.. भगवान ज्ञान-आनन्दस्वरूप प्रभु अपने में.. पहले नास्ति की बात की। एकाग्रता से इन्द्रियों को, स्वच्छन्द वृत्तियों को वश करे। अब अस्ति से (बात करते हैं)। ऐसा पुरुष अपने में ही स्थित आत्मा को...अपने में स्थित ज्ञान, आनन्द परिपूर्ण ऐसे आत्मस्वभाव को अपने ही द्वारा.. स्वरूप की शुद्धि की निर्विकल्प धारा से ध्यावे।

अपने ही द्वारा.. आत्मा द्वारा। आत्मा अर्थात् ? शुद्धभाव की पर्याय द्वारा आत्मा को ध्यावे, वह इसका उपाय है। यह तो इष्टोपदेश है। ऐसे उपदेश को इष्ट कहते हैं। कोई ऐसा कहे कि बाहर से मिलेगा, निमित्त से मिलेगा, वह उपदेश इष्ट नहीं है, भाई! भगवान का वह हितकर उपदेश है ही नहीं। ऐसा पूज्यपादस्वामी सिद्ध करते हैं। व्यवहार के विकल्प से, निमित्त से, इससे, इससे आत्मा की श्रद्धा, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और अनुभव होगा, यह उपदेश इष्ट उपदेश है ही नहीं। समझ में आया ? फिर बेचारे शोर मचावे न ? इन्दौर में और तुम्हारे दिल्ली में। कोई दिक्कत नहीं। यह तो होने दो न। यह तो... आहाहा!

कहते हैं, भाषा क्या है ? देखा ? अपने में ही.. अर्थात् स्वरूप में स्थित आत्मा को अपने ही द्वारा ध्यावे। निर्विकल्प द्वारा, अपने द्वारा ध्यावे। यह एक साधन, उसका अन्तर में है। बाहर में कोई विकल्प-फिकल्प साधन-फाधन आत्मा के ध्यान के लिये, मोक्ष के मार्ग के लिये है ही नहीं। आहाहा! निश्चय परम निरपेक्ष ही है। व्यवहार से ज्ञान करने के लिये बात अभी नहीं है। समझ में आया ? इसकी व्याख्या विशेष आयेगी।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २१

गाथा-२२

गुरुवार, दिनाङ्क ०७-०४-१९६६

चैत्र कृष्ण २,

वीर संवत् २४९२

(इष्टोपदेश) २२ वीं गाथा चलती है। जिसे सुखरूप आत्मा की शान्ति प्राप्त करनी हो, तो उसका क्या उपाय है - यह बात है। आत्मा की शान्ति नहीं बाह्य में, शरीर में, वाणी में, मन में, कर्म में, या विकल्प में। यह कहेंगे। आत्मा की शान्ति आत्मा में है। जहाँ है, वहाँ ध्यान करना, इसकी बात चलती है। अकेली मक्खन की बात है।

विशदार्थ - जिसने.. अर्थात् जिसने इन्द्रिय और मन को रोक लिया है..

क्या कहते हैं ? जो जीव इन्द्रिय और मन का झुकाव अर्थात् ? पहला आत्मा कहेंगे आगे । सर्वज्ञ ने कहा हुआ आत्मा, शास्त्रज्ञान से पहले आत्मा कैसा है, ऐसा उसे लक्ष्य में तो लेना चाहिए । सर्वज्ञ परमेश्वर ने जो आत्मा कहा.. इससे ऊपर २१ वीं (गाथा में) कह गये हैं । उस प्रकार से पहले शास्त्रज्ञान से उसका निर्णय करना चाहिए । समयसार (गाथा-१४४) में भी आता है । पश्चात् उसे अन्तर में स्वरूप जहाँ है, स्वरूप जहाँ है, जिसमें है, वहाँ नजर करके स्थिर होना - यह एक ही मार्ग आत्मा को शान्ति का और धर्म का है । अन्यत्र कहीं शान्ति का और धर्म का मार्ग है नहीं ।

कहते हैं कि इन्द्रिय और मन को रोक लिया है अथवा जिसने इन्द्रिय और मन की उच्छृंखल.. अर्थात् ? कि विचार में तो विकल्प ऐसे उठें तो उसका अर्थ यह है कि अभी वहाँ इन्द्रियों की ओर के विषय का उसका लक्ष्य है । यह विकल्प उठे न ? तब यह इन्द्रियों की ओर के झुकाव का लक्ष्य है वहाँ अथवा श्रवणादि की ओर का लक्ष्य जो है, वह भी इन्द्रिय की ओर का झुकाव है, ज्ञेय का लक्ष्य है । उस पर की ओर के ज्ञेय के विकल्प को रोककर-यहाँ नास्ति से बात करते हैं । समझ में आया ? अन्तर में विचार में विचार के कोई विकल्प उठे, वे पर की ओर के (विकल्प हैं) । उन विकल्पों को रोककर अर्थात् इन्द्रियों और मन की ओर के झुकाव को रोककर, ऐसा इसका अर्थ है । समझ में आया ? विधि, सीधी एक कठोर क्रिया कहते हैं । इसमें पूजा करना, और भक्ति करना, यह तो इसमें आता नहीं, क्योंकि वह तो विकल्प का रोकना है, यदि हित करना होवे तो । - ऐसा कहते हैं, भाई ! भारी कठिन बात । क्योंकि उस पर की ओर का विकल्प, वह कहीं हित का कारण नहीं है । सूक्ष्म बात है, भाई ! समझ में आया ? भारी कठिन बात !

कहते हैं, इन्द्रिय और मन अर्थात् छह प्रकार । उनमें का कोई भी पर की ओर का झुकाववाला वह विकल्प उठता हो । आँख बन्द हो और फिर भी विकल्प की-राग की धारा चले । वह यह... वह यह.. यह सब मन का ही विषय है । समझ में आया ? इस मन के विषय में कहीं आत्मा का हित है ही नहीं । आहाहा ! समझ में आया ? इन्द्रियों के विषय में और मन के विषय में चाहे जो शुभ-अशुभ विकल्प उठता हो, परन्तु है तो वह पर की ओर का विषय ।

मुमुक्षु : वहाँ मन का अवलम्बन है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मन का अवलम्बन... विकल्प है, वह ही पर का विषय है। परपदार्थ के विषय बिना विकल्प उठता ही नहीं।

अकेला चैतन्यघन है, उसमें जो यह (विकल्प) उठता है, उसे रोक - ऐसा पहले कहना है; कर-यह कहना नहीं है यहाँ तो। जब व्यवहार की बात आवे कि यह भक्ति और पूजा या वाँचन और श्रवण-मनन, इन सब विकल्पों की बात आवे, तब अशुभ से टालने को कहे, परन्तु वह कोई हित नहीं है। समझ में आया ?

यहाँ तो कहते हैं कि इन्द्रिय और मन की ओर के जितने शुभ या अशुभ विकल्प (उठें), उन्हें रोककर जिसने इन्द्रियों और मन को उच्छृंखल, उच्छृंखल अर्थात् स्वेच्छाचार की जो वृत्तियाँ उठती थीं, भले शुभ हो या अशुभ हो... आहाहा! उच्छृंखल अर्थात् ऐसे स्थिर होना चाहिए, उससे विरुद्ध, वह सब उच्छृंखल वृत्ति उठती है।

मुमुक्षु : आत्मा के स्मरण में...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह स्मरण अभी आया नहीं, अभी तो यहाँ से बात चलती है। सुनो! अभी तो यह उच्छृंखल वृत्ति है, उसे छोड़, इतनी बात करते हैं। यह क्रम समझाते हैं न? छोड़ अर्थात् वहाँ लक्ष्य जाएगा, नहीं तो लक्ष्य जाएगा नहीं, ऐसा कहते हैं। जहाँ ज्ञान है, जहाँ आनन्द है, जहाँ स्वस्थान है, स्वस्थान है, जहाँ भगवान स्वयं विराजता है। भगवान अर्थात् आत्मा। वह इन पर की ओर के विकल्पों को रोक तो उसमें जहाँ है, वहाँ जाया जाएगा। गजब, भाई! समझ में आया? यह तो इष्टोपदेश की व्याख्या है, यह इष्टोपदेश है।

एवं स्वैराचाररूप.. स्वैराचाररूप। स्वैर अर्थात् क्या? स्वच्छन्द, उच्छृंखल स्वैर आता है, बहुत जगह आता है। इसकी स्वच्छन्दवृत्ति का अर्थ कि, पाँच इन्द्रियों और मन की ओर की वृत्तियाँ उठती हैं, वह सब स्वच्छन्दता है। ऊपर है न? आया था। नष्ट कर दी है स्वच्छन्दवृत्ति। समझ में आया? जहाँ भगवान अपना स्थान आनन्दधाम रखता है, वहाँ कहते हैं कि इन विषयों के विकल्पों का स्वच्छन्दपना है सब, उसे छोड़। सूक्ष्म बात है। मूल हित की बात है। समझ में आया? इन्द्रिय और मन की उच्छृंखल अर्थात् स्वैराचाररूप प्रवृत्ति को ध्वस्त कर दिया है,.. उसे वहाँ रोका है। अर्थात् उस ओर के झुकाव में ज्ञान का लक्ष्य जो ऐसे था, उसे वहाँ से हटाया है।

ऐसा आत्मा,.. ऐसा आत्मा, ऐसा। पर तरफ की स्वेच्छाचार की उत्साहित उच्छृंखल स्वच्छन्द वृत्तियों को। उसमें भी रागादिक में उत्साह है न जरा? यह.. यह.. ऐसा। वह सब उत्साह राग है। समझ में आया? आहाहा! उसे रोककर। ऐसा आत्मा जिसका स्वरूप पहिले (नं० २१ के श्लोक में) बता आये हैं,.. देखो! २१ में कहा था कि वह स्वयं लोकालोक का जाणक स्वभाव है। समझ में आया? लोकालोक का जाणकस्वभाव कहा। इससे लोकालोक को जानता है, ऐसा सिद्ध नहीं करना। उसकी शक्ति इतनी है कि लोकालोक को जानने का सत्व धारण करता है, ऐसा। क्या कहा, समझ में आया?

यह ज्ञानस्वभाव इतना है कि लोकालोक को जानना। इससे अनन्तगुणे को जानने का इसका स्वभाव है। इसलिए कहा था न? लोकालोक को जाननेवाला, अनन्त सौख्यवान, अनन्त सौख्यवान, शरीरप्रमाण, नित्य, शरीरप्रमाण नित्य—ऐसा जो भगवान आत्मा, उसे अन्दर में स्वसंवेदन द्वारा अनुभव करना—ऐसा बताने को यह एक पद्धति ली है। समझ में आया? करने का होवे तो यह है। आहाहा!

कहते हैं, पहले श्लोक में कहा था वह। उसे आगे कहेंगे, शास्त्र द्वारा उसका पहले स्वभाव कितना है, यह ख्याल में ले लेना चाहिए। कि जो क्षेत्र इतना है, लोकालोक का पूरा क्षेत्र, उसका ही अचिन्त्य स्वभाव जहाँ ख्याल में लेते हैं और इस काल की भी कहीं आदि नहीं, अन्त नहीं - ऐसा काल का भी स्वभाव जो ख्याल में लेता है, ऐसा क्षेत्रज्ञ, क्षेत्रज्ञ और कालज्ञ। ऐसा आत्मा कि जिसके क्षेत्र का अमापपना, काल का अमापपना, तो उसके भाव की संख्या का भी अमापपना और उसके भाव की सामर्थ्य का भी अमापपना। समझ में आया? ऐसा इसे शास्त्र द्वारा पहले ख्याल बाँधना चाहिए, यह ऐसा आत्मा है - ऐसा ख्याल बाँधना चाहिए - ऐसा आगे कहेंगे। इस शास्त्र बिना अकेली कपोलकल्पित से, स्वच्छन्दवृत्ति से ध्यान करने जाएगा तो उसका ध्यान किसी प्रकार सिद्ध नहीं होगा।

भाई! बहुत से ऐसा कहते हैं न कि भाई! अपने शास्त्र (किसलिए पढ़ना)? परन्तु शास्त्र सर्वज्ञ ने कहा हुआ वह तत्त्व इतना है। शरीरप्रमाण होने पर भी... क्षेत्र जो है, वह अमाप है परन्तु क्षेत्र को जाननेवाले का द्रव्य का क्षेत्र मापवाला है परन्तु उसके जानने के

स्वभाव की संख्या का अमापना है और स्वभाव के सामर्थ्य का अमापना है। इस प्रकार ही वस्तु होती है, ऐसा सर्वज्ञ शास्त्र से (निर्णय करना चाहिए)। आहाहा! भाई! शान्तिभाई! आहाहा! पहले यह शास्त्र से लोकालोक डाला है और शरीर प्रमाण रखा है। रखा है अर्थात् है परन्तु यह क्या? उसे क्षेत्रज्ञ को बड़े क्षेत्र की आवश्यकता नहीं। क्षेत्र की व्यापकता अमाप है, क्षेत्रज्ञ-उसे जाननेवाले को-क्षेत्र की व्यापकता की आवश्यकता नहीं है। उसके स्वभाव की अनन्त सामर्थ्य की उसकी शक्ति है कि जो इतने में दल पड़ा है परन्तु अमाप.. अमाप.. अमाप.. समझ में आया?

इसी प्रकार काल। इसे काल अर्थात् कि इसे जानने के लिए काल के लम्बे काल की आवश्यकता नहीं है। है काल अनादि का? कालज्ञ को जानने का एक ही समय है। समझ में आया? ऐसा भगवान आत्मा... आगे कहेंगे, हों! शास्त्र से निर्णय करना श्रुतज्ञान (से), नहीं तो गड़बड़ उठेगी। वास्तविक आत्मा का जो स्वभाव और जो स्थिति और जो मर्यादा है, वह शास्त्र द्वारा ख्याल में नहीं ले तो उसकी ओर का माहात्म्य आकर अन्दर नहीं जा सकेगा। उसे विकल्प का और राग का और अल्पज्ञता का माहात्म्य रहा ही करेगा। समझ में आया? अज्ञानियों ने कहे हुए आत्मा की बात ले तो उसे उसका वास्तविक माहात्म्य नहीं रहेगा। माहात्म्य उसका दूसरे में जायेगा। समझ में आया?

कहते हैं जिसका स्वरूप पहिले (नं० २१ के श्लोक में) बता आये हैं,.. २१ में, उक्तं है न उसमें यह संस्कृत में? 'यथोक्तस्वभावं पुरुषम्, आत्मानं यथोक्त पुरुषम्' है न? संस्कृत टीका में दूसरी लाईन है। यह बताया है, उसमें सर्वज्ञ कथित महान स्थिति शास्त्र द्वारा बतायी है। यह स्वरूप ऐसा। उसके ज्ञान में (ऐसा लेता है)। अभी विकल्प तोड़ने के पहले। भाई! वहाँ (समयसार) १४३ (गाथा में) कहा था न? श्रुतज्ञान, यह ज्ञान निश्चित करना। वह शैली यह है। ऐसा ही आत्मा इस प्रकार का है, ऐसे विकल्प की भूमिका में भी यह आत्मा ऐसा है, ऐसा बराबर इसे निर्णय आँगन में करना चाहिए। फिर? फिर, देखो।

बता आये हैं, आत्मा को.. बस आया अब। आत्मा को, आत्मा से आत्मा से ही.. अब उन विकल्प-विकल्प का माहात्म्य हट गया। आत्मा में, आत्मा से। आत्मा में,

आत्मा को-आत्मा को, आत्मा से। अपने ही निर्विकल्प स्वभावपर्याय से आत्मा को स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष ज्ञान से ही ध्यावे,.. आहाहा! गजब बात है, भाई! समझ में आया? नहीं समझ में आवे ऐसा न रखना, हों! सूक्ष्म बात है परन्तु बहुत सादी भाषा है, इसमें कहीं कोई (कठिन भाषा) नहीं है। देखो न, कितने ही कहते हैं, ऐसा यह क्या कहते हैं यह बात? यही पद्धति और यही मार्ग है। दूसरा हित का कोई मार्ग नहीं है। आहाहा! समझ में आया? कठिन पड़े, नहीं? फावाभाई! सब पकड़ना थोड़ा (कठिन पड़े)। यह बात.. किसी समय मस्तिष्क को फैलाना न होवे। यह तो सादी बात और सीधी।

ऐसे वस्तु, इसके अतिरिक्त परवस्तु की ओर के मन के विकल्प भी, चाहे तो देव-गुरु-शास्त्र के हों, उनकी भक्ति आदि के हों परन्तु सब विकल्प मन के विषय हैं। भगवान ऐसा कहते हैं, भगवान ऐसा कहते हैं, यह भी एक विकल्प है, यह विषय है। क्योंकि जो भगवान यहाँ विराजता है, वह भगवान यहाँ है, वह बाहर नहीं है और बाहर में है, वह यहाँ नहीं है।....

मुमुक्षु : सब जोश उड़ जाये ऐसा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं। पर का जोश उड़ाना। उच्छृंखल वृत्ति है, उसे उड़ा। यहाँ यह कहते हैं कि रहने का स्थान यहाँ अन्दर है। उसके लिए तो यह चलता है। आहाहा! तेरे उछाले सब किये, अब घटा। आहाहा!

मुमुक्षु : करनेयोग्य...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यह करनेयोग्य है। करने का, करने का यह है। इसके बिना कुछ किया-कुछ किया, वह है नहीं, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? यह इष्टोपदेश है, हितकारी उपदेश है। हितकारी उपदेश अर्थात् जिसमें हित हो। कहते हैं **आत्मा को आत्मा से ही.. आत्मा से ही..** अर्थात्? वह विकल्प आदि जो है, वह छूट गया और अकेले आत्मा का ही घोलन आत्मा द्वारा रहा। अकेला आत्मस्वभाव, उस स्वभाव द्वारा आत्मा, स्वभाव द्वारा आत्मा, आत्मा को एकाकार करके (जाने)। ऐसी बात। यह तो अभी पहली बात है, हों! यह कोई कहे कि आठवें गुणस्थान की और अमुक की है, ऐसा नहीं है। यह देखो न, यह क्या बात चलती है? शुरुआत की बात करते हैं। परन्तु पहले व्यवहार

तो चाहिए न ? अरे ! अब सुन न ! परन्तु व्यवहार कहना किसे ? यह हुए बिना उसको (राग को) व्यवहार कहे कौन ? अज्ञानी कहे वह व्यवहार अज्ञानी को होता नहीं । ज्ञानी को व्यवहार होता है । इस वस्तु का भान होकर जो विकल्प उठा है, पश्चात् विकल्प उठता है, (वह) व्यवहार है, बन्ध का कारण है; हित का कारण नहीं । ऐसी बात है । समझ में आया ?

आत्मा को आत्मा से ही.. अर्थात् कि ऐसा । **संवेदनरूप प्रत्यक्ष ज्ञान से ही ध्यावे,..** ज्ञान में उन विकल्पों से हटा, उस ज्ञान की ओर के ज्ञान में एकाकार हुआ, वह ज्ञान प्रत्यक्ष ही हो गया, जिसे राग और निमित्त का अवलम्बन रहा नहीं, जिसे आत्मा प्रत्यक्ष हुआ । सीधा मति और श्रुतज्ञान द्वारा स्वसंवेदन के प्रत्यक्ष द्वारा **ज्ञान से ही ध्यावे,..** प्रत्यक्ष ज्ञान से ध्यावे । वाह ! सूक्ष्म बात है, भाई ! समझ में आया ? दूसरे में हित बुद्धि है, वह उठे बिना इस ओर का झुकाव इसे यथार्थरूप से नहीं हो सकेगा । कोई भी शुभविकल्प, उसमें भी कुछ है—ऐसा माननेवाला जहाँ है, वहाँ आ नहीं सकेगा । यह कहेंगे यहाँ, हों ! ज्ञप्ति यहाँ है, ऐसा कहेंगे न आगे ? यहाँ है । **ज्ञप्ति होती है** । ज्ञान होता है, उसमें है । उसमें ज्ञान है, वहाँ ज्ञान होता है । राग में कहाँ ज्ञान था, वह उसके कारण यहाँ ज्ञान होता है । समझ में आया ?

हलुवा बनावे तो हलुवा बनाने की विधि तो पहले सीखते हैं या नहीं ? और फिर हलुवा बनाते हैं परन्तु विधि की ही खबर न हो.. समझ में आया ? (वह) गड़बड़ी कर देगा, पोटिश बनायेगा । गड़बड़ी करेगा ? कहेंगे आगे, हों ! ऐसा आत्मा भगवान सर्वज्ञ ने कहा, वैसा लक्ष्य में लेकर, वैसा लक्ष्य में लेकर, फिर विकल्प में भी हित नहीं है, ऐसा लक्ष्य में लेकर, ऐसा । उसका वजन वीर्य का जोर जहाँ उसमें कुछ है, यहाँ से है, यह यहाँ है, यह सब वजन छोड़कर, ऐसा कहते हैं । समझ में आया ? गजब भाई यह !

कहते हैं कि स्वयं ध्यावे, **कारण कि स्वयं आत्मा में ही उसकी ज्ञप्ति (ज्ञान) होती है** । क्या कहते हैं ? इस ज्ञान का धाम-स्थान तो यह स्वयं है । इसमें ज्ञान होता है । क्या राग में होता है ? ज्ञान, राग में होता है ? ऐसा जहाँ आया, वहाँ ज्ञान में ज्ञान होता है । जहाँ है, वहाँ ज्ञान होता है । जहाँ है, वहाँ उसका ज्ञान होता है । समझ में आया ?

मुमुक्षु : ध्यावे अर्थात् क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री :ध्यावे अर्थात् उसमें एकाग्र होवे। धावे। इस दूध को धाते (पीते) नहीं? आनन्द को अनुभव करे, ऐसे ध्यावे। आहाहा! आनन्द को चूसे। अरे.. अरे..! यह और...

कहते हैं कि स्वयं आत्मा में ही ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं। ऐसा है न? समझ में आया? 'आत्मनैव स्वसंवेदनरूपेण त्वेनैव तज्ज्ञप्तौ।' उस ज्ञप्ति में और कोई करणान्तर नहीं होते। उस ज्ञान में कोई करणान्तर नहीं होता। आत्मा के ज्ञान के वेदन में उसे कोई विकल्प का करणान्तर-स्वभाव से दूसरे करण-अपने स्वभाव से करणान्तर अर्थात् स्वभाव से अन्य करण। विकल्प का, राग का, व्यवहार का, ऐसे करणों की जहाँ जरूरत नहीं है। दूसरे करणान्तर, यह करणस्वभाव के अतिरिक्त दूसरे करणान्तरों से प्रगट हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? एक आत्मा के ज्ञान में-भगवान आत्मा महान परमात्मा, महात्मा के ज्ञान में करणान्तर अर्थात् कारण के अन्य कारणों की, अन्य साधन की, अन्य भाव की, अन्य की जहाँ निश्चय में अपेक्षा नहीं है। है न परन्तु देखो न! यह श्लोक देंगे अब। बाद में श्लोक देंगे। यह तो पहले लिखकर फिर श्लोक देंगे।

ज्ञप्ति में और कोई.. इस ज्ञान के जानने के अतिरिक्त के अन्तर साधन के अतिरिक्त कोई करणान्तर नहीं होते। यह तो आया, १६वीं गाथा में नहीं आया? प्रवचनसार में १६ वीं (गाथा)। स्वयंभू... स्वयंभू-स्वयं अपने से ही आनन्द से ही आनन्द प्रगट होता है। ज्ञान से ही ज्ञान प्रगट होता है। विकल्प-विकल्प, व्यवहार-प्यवहार, निमित्त-विमित्त बिल्कुल हित में काम नहीं करता। कहो, ज्ञानचन्दजी! अब यह निश्चय है, निश्चय है ऐसा करके यह सब (निकाल देते हैं) परन्तु कहते हैं अब, यह पूज्यपादस्वामी को कहने जा कि तुमने ऐसा किसलिए लिखा? इसे क्या कहते हैं, वह गन्ध में आवे नहीं। यह तो वस्तु की स्थिति कहते हैं, बापू! जहाँ है वहाँ, है वहाँ जा तो ज्ञान प्रगट होगा। वहाँ ज्ञान है, वह आनन्द है। यहाँ राग में है? विकल्प में है? पर के संग में है? कहो, मोहनभाई! मेरे जैसा कोई सुखी नहीं, ऐसा निर्णय कर, कहते हैं। ऐ.. जैचन्दभाई! शोर मचाते हैं कि मेरे जैसा कोई दुःखी नहीं। आहाहा! मेरे जैसा कोई सुखी नहीं कि जिसे किसी कारण की, पर की आवश्यकता नहीं है। आहा! जिसमें विकल्प की, तीर्थकर भगवान की भक्ति के विकल्प की भी जिसे आवश्यकता नहीं है। आहाहा! स्वयं सर्वज्ञस्वभावी

ऐसे सर्वज्ञस्वभाव से प्रगट हुए उसके स्मरण के, विकल्प के कारण की स्वहित में अपेक्षा नहीं है। आहाहा! इतनी हाँ तो करे अन्दर से। आहाहा! अस्तिरूप से विराजमान, अस्तिरूप से विराजमान, सत्तारूप से भगवान विराजमान, उस सत्ता के स्वभाव द्वारा ही प्राप्त होवे ऐसा है। सत्ता के स्वभाव के अतिरिक्त दूसरी सत्ता विकार की या निमित्त की सत्ता द्वारा वह प्राप्त होवे, ऐसी चीज़ है ही नहीं। आहाहा! कहो, समझ में आया इसमें ?

यह तो सादी भाषा है, हों! गुजराती है परन्तु ऐसी नहीं कि हिन्दीवालों को (न समझ में आवे)। कोई कहता है कि हम नहीं समझते। भाई! समझना पड़ेगा तो थोड़ा सीखकर आना। जैसे गुजराती में भाव स्पष्ट आते हैं, वैसे हिन्दी में नहीं आते। यह तो ऐसा का ऐसा सीधा चला जाए। स्वदेश की बात स्वदेश की भाषा से ही समझ में आती है। वह स्वदेश भाषा अर्थात् वह भाव, हों अन्दर।

भगवान आत्मा... कहते हैं कि, परन्तु देखो! कहा न? कि **उसकी ज्ञप्ति (ज्ञान)** होती है। स्वयं आत्मा में उसका ज्ञान होता है क्योंकि स्वयं आत्मा में उसका ज्ञान होता है। कोई राग में होता है? निमित्त में होता है? मन में होता है? जहाँ भगवान चैतन्यमूर्ति प्रभु अतीन्द्रिय आनन्द का धाम भगवान, आनन्द वह कितना!!

मुमुक्षु : परिपूर्ण।

पूज्य गुरुदेवश्री : परिपूर्ण वह कितना? अमाप.. अमाप.. अमाप.. भाई! क्षेत्र और काल का जहाँ माप नहीं, उसके जाननेवाले एक गुण के माप का क्या कहना! ऐसा उस भाव से भरा हुआ भगवान अपने स्वभाव के साधन से ही प्रगट हो सकता है। आहाहा! सौभागचन्दजी! यह आत्मा, यह आत्मा है यह। आहाहा! समझ में आया? **उस ज्ञप्ति में और कोई करणान्तर नहीं होते।** देखो! करण अर्थात् साधन। दूसरा कोई साधन है नहीं। वे कहे व्यवहारसाधन है और व्यवहारसाधन है। अरे! चल न, सुन न!

मुमुक्षु : सब निमित्तसाधन कहा गये ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वहाँ गये उसके घर में। भगवान पर के साधन से प्रगट हो, ऐसा उसका स्वरूप ही नहीं है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। उसका स्वरूप ही ऐसा नहीं है। भगवान अपने ज्ञानानन्द के साधन द्वारा ही प्रगट हो, ऐसा वह है। आहाहा! समझ में आया? कहो!

यह दूसरे देश में ले जाते हैं। स्वदेश में। तेरे स्वदेश में जहाँ स्वभाव है, वहाँ उसका ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं। वहाँ उसका ज्ञान होता है। वहाँ आनन्द होता है, वहाँ भान होता है। कुछ राग में और यहाँ भान होता है? भान तो यहाँ होता है—यह। समझ में आया?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : पात्रता आत्मा में सब पड़ी है। परमात्मा हो, ऐसी ताकत है। परमेश्वर कहा नहीं था? तेरे परमेश्वर को तू दूर न देख, तेरे परमेश्वर को तू दूर न देख। तू तुझे प्रभु स्थापित कर। अनुभव प्रकाश में अस्ति-नास्ति दो शब्द हैं। समझ में आया? तेरे परमेश्वर को तू दूर न देख। विकल्प में, भेद में, पर में न देख। आहाहा! ऐ.. मोहनभाई! तू तुझे प्रभु स्थापित कर। मैं प्रभु हूँ, (ऐसा) स्थापित कर। मेरी सामर्थ्यता की पूर्णता कहीं अन्यत्र नहीं है, मेरी मुझमें ही है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : ऐसी प्रतीति का जोर आवे...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह जोर प्रतीति का आवे, वही अन्दर वेदन को करे, ऐसा कहते हैं।

जैसा की तत्त्वानुशासन में कहा है - 'स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात्।' देखो! है न श्लोक १६२, हों! उसमें है। इससे पहले १६१ आ गया था न? १६१ आ गया था। यह १६२, उसके बाद का ही यह है, इसमें है।

वह आत्मा स्वपर-प्रतिभासस्वरूप है। देखो! २१ (गाथा की) सन्धि में (कहते हैं) लोकालोक को जाननेवाला कहा था न वहाँ? इसलिए यहाँ कहा स्वपर-प्रतिभासस्वरूप है। अस्तिरूप से उसका अपना स्वरूप ही ऐसा है। स्व और पर को जानना, ऐसा उसका स्वरूप है। समझ में आया? भगवान आत्मा स्व को पर को (जाने, ऐसा) एक स्वरूप वह है, वापस दो भाग नहीं। स्व और पर का स्वरूप ही एक स्वरूप है वह। ऐसा ही उसका पूरा स्वरूप है। वह स्वयं ही स्वयं को जानता है,.. देखो! वह स्वयं ही.. स्वयं अपने को जानता है। भगवान आत्मा स्वयं अपने को जानता है। स्वयं पर को नहीं, पर द्वारा नहीं। समझ में आया?

भगवान आत्मा को ऐसे न मानना कि यह शरीर इतना है और धूल है और रोग है

या शरीर है या स्त्री है या लड़की है। छोड़ा, कब इसमें था वह ? इसमें तो है नहीं। विकल्प नहीं फिर और ये कहाँ से आये ? अन्दर घुस कहाँ से गये वहाँ ? समझ में आया ? हम गरीब हैं और यह धनवन्त है और यह काला है, यह श्वेत है। कुछ नहीं इसमें। जिसमें नहीं, उस द्वारा उसे कहना, वह कलंक है, कहते हैं। आहाहा! ऐ.. जैचन्दभाई!

मुमुक्षु : बहुत ऊँचे दर्जे की (बात है)।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऊँचे दर्जे की नहीं। पहली ही आत्मा की सत्ता के स्वीकार की बात है। पहले इकाई की बात है। आत्मा की सत्ता कैसी और कितनी, किस प्रकार से प्राप्त हो, यह पहले इकाई की ही बात है। समझ में आया ? आहाहा! ऐसी टेव पड़ गयी है न उस व्यवहार में, निमित्त में, संयोग में, इसलिए मानो यह पहला हो और फिर यह। इसलिए यह फिर हो। समझ में आया ? पहला ही यह है।

भगवान देह-देवल में देव जिन (विराजमान है)। आता है या नहीं ? वहाँ तो मूर्ति और चित्राम है, वहाँ भगवान नहीं। आहाहा! वे भगवान समवसरण में विराजें, वह तेरा भगवान नहीं। आहाहा! सत्य की प्रसिद्धि! अन्दर उसे प्रसिद्ध करना, आत्मख्याति। भाई! ऐसी चीज़ है न, प्रभु ? तू पहले विश्वास ला। विश्वास लेकर (अन्दर) जाया जाता है। यह ऐसा नहीं, ऐसे लेकर अन्दर नहीं जाया जाता। क्या कहा ? यह आत्मा स्वतः साधन अपने से ही प्रगटे ऐसा है। निमित्त से नहीं, विकल्प से नहीं, भेद से नहीं, व्यवहार से नहीं। परिपूर्ण ऐसा हूँ, ऐसा विश्वास कर तो विश्वास के कारण अन्दर जाया जाएगा। इतना हूँ, ऐसा विश्वास न करे तो तुझसे बिल्कुल अन्दर नहीं जाया जा सकेगा। आहाहा! समझ में आया ? आहाहा! दूसरे को... तब यह सब कहाँ गया ? यह सामायिक करना और प्रौषध करना और... ऐई! प्रतिक्रमण और सामायिक और प्रौषध और सामायिक करते समय ऐसे... वन्दन करे, ऐसा नहीं आता ? सामायिक में आता है या नहीं ? ऐसे वन्दन करना और ऐसे वन्दन करना.. ऐसे वन्दन करना। सुन न! अब वह तो विकल्प हो, तब क्या होता है, उसकी बात है; वह हित नहीं है। आहाहा!

अतीन्द्रिय आनन्द से घड़ा हुआ अबिनाभावी भगवान विराजता है, उस आनन्द के पर्वत में जाने का रास्ता एक ही है। इतना बड़ा वह कितना! मैं स्वयं परमेश्वर हूँ, मैं

परमेश्वर स्वयं। अपूर्णता और ईश्वरता की मन्दता, वह मुझमें हैं ही नहीं। राग तो है नहीं, निमित्त तो है नहीं परन्तु अपूर्णता और विकल्प आदि या अपूर्णता आदि पर्याय, इतना मैं हूँ ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? 'रण चढ़े रजपूत छिपे नहीं, दाता छिपे नहीं घर माँगने आया।' यह माँगने वह आवे और दाता छुपे? कितना चाहिए? भाई! शर्मिन्दा हो जाए वह माँगनेवाला। आहाहा! अरे! दस हजार माँगे परन्तु लाख माँगे होते तो अभी देता, हों! यह, यह तो पूरा आत्मा! कितना माँगना है तुझे? आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, स्वयं ही स्वयं को जानता है,.. आहाहा! विकल्प की आवश्यकता नहीं, शास्त्र की जरूरत नहीं, देव-गुरु की जरूरत नहीं। अरे.. अरे..! गजब बात, भाई! समयसार में जरा लिखा है न? शास्त्र से आत्मा ज्ञात नहीं होता। वहाँ वे कहे, पहले ऐसा सिखाया जाये? अब सुन न! उसे सिखने तो दे, समझने तो दे पहले। भगवान ने कहा है या नहीं? यह सन्त कहते हैं या नहीं? क्या कहते हैं यह? यह शब्द पड़े हैं, वाच्य तो वह अन्दर है कहते हैं वह। यह तो वाचक है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ।' ऐसा अनन्त ज्ञानी यही कहते आये हैं। यहाँ ऐसा है, इसलिए दूसरे कहते आये दूसरा आवे कहाँ से परन्तु? वस्तु ही ऐसी है वहाँ (दूसरा आवे क्या?) वस्तुस्वभाव, अकेला स्वभाव, अकेला स्वभाव.. कुदरत के क्षेत्र के काल का स्वभाव, उस कुदरत के स्वभाव का तत्त्व वह क्या है? आहाहा! उसमें किसी को पूछने का प्रश्न भी कहाँ है? ऐसा भगवान अचिन्त्य स्वभाव स्वतः सिद्ध, स्वयंसिद्ध, अपने से स्वयं परिपूर्ण स्वयं अपने से ज्ञात हो, ऐसी वस्तु है। समझ में आया? ऐसा निर्णय नहीं करे तो उसे आत्मा स्वयं अपने से ज्ञात होता है, उसका उसे विश्वास नहीं है। विश्वास नहीं है, वह अन्दर में आत्मा का विश्वास नहीं कर सकेगा। शान्तिभाई! आहाहा!

तू ज्ञानी की व्यायामशाला में आया नहीं, कहते हैं। उसकी कसरत कोई अलग प्रकार की है। समझ में आया? भगवान आत्मा... छोटा लड़का हो तो बड़ा लकड़ा उठाता है, बड़ा इतना इतना। क्या कहलाता है? लकड़ा नहीं कहते? मगदल। ऐसे करके ऐसे ऊँचा करे वापस है न? क्योंकि छोटे हाथ में एकदम सीधे ऊँचा करने की ताकत नहीं होती, इसलिए जरा ऐसे हिलावे। हिलाकर जरा हिलाकर ऐसा ऊँचा करे। इससे जोर न

पड़े। हाथ को वह न हो और वह उछल जाए। वह तो उसके कारण उछलता है, हों! हाथ की बात है।

मुमुक्षु : अकेले-अकेले व्यायाम और अकेले-अकेले कुश्ती करने की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वह। यहाँ तो मगदल भी स्वयं और गति करनेवाला भी स्वयं और चलानेवाला भी स्वयं। आहाहा!

कहते हैं स्वयं ही स्वयं को जानता है, और पर को भी जानता है। वह अपने में रहता हुआ स्व-पर को जानता है। यह तो दो का अर्थ किया। स्व-पर का अर्थ किया। उसमें उससे भिन्न अन्य करणों की आवश्यकता नहीं है। देखो! उसमें अर्थात् आत्मा में, उससे अर्थात् आत्मा से। उसमें अर्थात् आत्मा में, उससे अर्थात् आत्मा से। भिन्न अन्य करणों की आवश्यकता नहीं है। समझ में आया? भगवान आत्मा में, भगवान आत्मा से अन्य, भिन्न करण अर्थात् साधन की आवश्यकता है ही नहीं। निमित्त की तो आवश्यकता है न? अमुक की तो आवश्यकता है न? ऐसे शोरगुल करते हैं, पुकार (करते हैं)। मैं नपुंसक हूँ, मैं नपुंसक हूँ, मैं किसी के कारण खड़ा होऊँ ऐसा हूँ, ऐसा नपुंसक, पंगु हूँ, ऐसा कहता है। स्वयं ही इसे पंगु सिद्ध करता है। समझ में आया?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : तो भी नहीं। नहीं, नहीं भाईसाहब, यह नहीं। इतना बड़ा मैं नहीं, इतना बड़ा मैं नहीं। परन्तु यह पैर अच्छा है न तेरा। नहीं, नहीं भाईसाहब पैर अच्छा है परन्तु मैं पंगु, यह पैर चलता नहीं। परन्तु यह पैर भरता है न? परन्तु मुझे कुछ अन्दर नहीं चलता, पंगु-पंगु हूँ। मोहनभाई! इसे इतना स्वयं है, वह इसे कहते हैं कि विश्वास इसे लाना चाहिए। मेरे स्वभाव के साधन के लिए अन्य कोई करण अर्थात् साधन की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। आहाहा! भगवान की भक्ति होवे तो सम्यक् अनुभव हो, भगवान की यात्रा करें तो अनुभव हो, (ऐसा) तीन काल में आवश्यक है नहीं। आहाहा! ऐ... पूनमचन्दजी! थोड़ा दुनिया को समझावें और फिर जरा जीव को लाभ हो। बिल्कुल इस साधन की अन्दर जरूरत नहीं है। विकल्प है, वह तो नुकसानकारक है।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह इसका हो सके, दूसरे का कोई भार नहीं। आहाहा! अनुभवप्रकाश में दृष्टान्त दिया है। अग्नि आती है ? अग्नि। अग्नि ऐसे मुख में प्रवेश करे न ? तो कहे देखो ! मुझे ज्योति प्रगट हुई। ऐसा दृष्टान्त दिया है। अग्नि प्रवेश करे न ? ज्योति कोई बुझाना चाहे तो तूफान करे। ऐसे उस विकल्प की जाल सुलगती है, उसे इनकार करे तो... ऐ... परन्तु वह कषाय है, सुन न ! ऐसा दृष्टान्त दिया है। अग्नि प्रवेश करे न ? अग्नि। मुख में ऐसे ज्वाला दिखायी दे। सुलगती है तो कहे, देखो ! ज्वाला ! देखो ! ज्योति प्रगट हुई। दूसरा कोई बुझाने आवे उसके साथ (झगड़ता है) बुझाना नहीं, मेरी ज्योति है। इसी प्रकार कषाय के विकल्प, शुभाशुभभाव कषाय अग्नि है। उसे इनकार करे कि इससे नहीं होता (तो कहता है) नहीं, ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है। अरे ! पूनमचन्दजी ! क्या है ? ऐसा इन्दौर में सुने तो शोर मचाये, हों ! यहाँ तो ठीक है। आहाहा !

सुना नहीं है। जैसा सत् है, वैसा इसने सुना नहीं है। भगवान साहेब सत् चैतन्यमूर्ति परमात्मा स्वयं है। तेरे जानने के लिए, तेरे अनुभव के लिए बिल्कुल दूसरे कारण की, करण की, साधन की अपेक्षा है ही नहीं। भाईसाहब ! यह तो एकान्त हो जाता है, हों ! एकान्त, वह सम्यक् एकान्त है, सुन ! दूसरा व्यवहार होता है, वह ज्ञान करने के लिए बात है। हित के लिए बात है वहाँ ? समझ में आया ?

मुमुक्षु : यह उपाय।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह उपाय। यह पूछना चाहिए न ?

मुमुक्षु : उपासना...

पूज्य गुरुदेवश्री : उपासना... समझे न ? कैसे की जानी चाहिए ? इसमें आत्मध्यान या आत्मभावना करने के उपायों को पूछा गया है। यह उपाय है। तू पूछता है कि आत्मा का उपाय (क्या) ? दूसरा उपाय और दूसरा कारण लाएगा उसमें से ? किसने कहा तुझे ? वीतरागमार्ग, बापू ! ऐसा है भाई ! यह वस्तु ही ऐसी है। मार्ग का अर्थ कहीं भगवान ने नया किया है कुछ ? आहाहा !

कहते हैं उसमें.. अर्थात् भगवान आत्मा में, उससे अर्थात् आत्मा से, भिन्न.. अर्थात् अन्य, अन्य करण.. अर्थात् साधन की आवश्यकता है ही नहीं। हाय.. हाय.. वे

शोर मचाते हैं। अभी तो पर की दया और राग हो... यह कि नहीं-नहीं, वह संवर-निर्जरा-मोक्ष है। अरे भगवान! क्या करता है तू यह? परन्तु व्यवहार उड़ाया, तब स्थिर होगा अन्दर, नहीं तो स्थिर नहीं होगा परन्तु तुझे तो व्यवहार पहले होगा किसका? सुन न अब। यह तो निश्चय में फिर ऐसा विकल्प आता है, आता है। उसका उत्साह करना है तुझे? जो अन्दर दुःखरूप विकल्प उत्पन्न होता है, तुझे उसका उत्साह करना है? उसका उत्साह तो आत्मा का अनुत्साह है, वहाँ उत्साह नहीं। समझ में आया? एक प्रतिमा-मूर्ति शुभभाव में एक निमित्तरूप से अमुक समय हो, इतनी बात की है, वहाँ चिपटे वहाँ। वहाँ तो चिपटे कि इसमें से मानो कल्याण होगा और यह मानो हित का साधन है। चिपटे वह दृष्टि उल्टी है न मूल तो। समझ में आया? भगवान आत्मा अपने साधन के लिए करणान्तर की उसे अपेक्षा नहीं है, ऐसा वह तत्त्व है।

इसलिए चिन्ता को छोड़कर.. उसमें भी आया था न? भाई! दूसरी व्यग्रता को छोड़कर... नहीं, (प्रवचनसार, गाथा) १६ में ऐसा आया है। दूसरी व्यग्रता छोड़ा दे, इससे होता है और इससे होता है। व्यर्थ का... तेरे कर्ता, कर्म, करण तुझमें हैं, छह कारक तुझमें हैं, किसी कारक की पर की अपेक्षा कारक को है ही नहीं। आहाहा! तब और कहे, एकान्त हो गया। एकान्त सिद्ध का मार्ग हो जाता है इसमें तो। कहो, बसन्तलालजी! यह पद्धति है, ऐसी इसके ख्याल में आती नहीं और आवे तब बात का निषेध करे कि ऐसा नहीं होता, ऐसा नहीं होता। एकान्त होवे, एकान्त से हो जाए... एकान्त हो जाए.. एकान्त से हो जाए.. कुछ-कुछ पर का साधन, कुछ-कुछ स्व का साधन, कुछ पर का साधन, कुछ स्व का साधन (दोनों होवे)। ऐई! पूनमचन्दजी! नहीं तो हम पंगु हैं, इसलिए कुछ आधार चाहिए। अरे! सुन न! ऐसा आत्मा तूने माना? तुझे आत्मा की ही खबर नहीं है। व्यवहार से कैसा आत्मा है, उसके ज्ञान में व्यवहार से लक्ष्य में लेना चाहिए इतनी भी तुझे खबर नहीं है। समझ में आया? ऐ.. चाँदमलजी! क्या करना इसमें? उज्जैन में और बुज्जैन में कितना तूफान चलता है, लो! चलने दो न चले उसके घर में। आहाहा!

इसलिए चिन्ता को छोड़कर.. दूसरी स्वसंवित्ति-स्वसंवेदन के द्वारा ही उसे जानो,.. बस! ज्ञान द्वारा ज्ञान से जानना। जहाँ ज्ञान है, वहाँ ज्ञान से ज्ञात होता है। राग में कहीं ज्ञान नहीं, विकल्प में ज्ञान नहीं, मन में ज्ञान नहीं। यह, यह वहाँ नहीं। जहाँ है, वहाँ

से वह ज्ञात होगा, अन्यत्र से ज्ञात होगा नहीं। समझ में आया ? जहाँ हो, वहाँ से वह ज्ञात होगा या जहाँ नहीं, वहाँ ज्ञात होगा ? अमुक जगह खिसक न, यहाँ न हो तो ? यहाँ अभी बोलते हैं या नहीं ? अमुक... मैं यहाँ मेरे पास हूँ। क्या कुछ कहते हैं न ? मेरे पास हूँ, यह रहा मेरे पास, ऐसी कुछ भाषा अभी बोलते हैं। कहाँ है तू ? मैं मेरे स्वरूप में हूँ। राग में, मन में, निमित्त में, विकल्प में, कर्म में, अमुक में कोई साधन द्वारा कुछ हो ऐसा (हूँ) ? - कि, नहीं, मैं कहीं हूँ नहीं। आहाहा ! कहो, समझ में आया ?

छोड़कर स्वसंवित्ति-स्वसंवेदन के द्वारा.. द्वारा ही.. यहाँ वापस। 'ही' ऐसा। उसे जानो, जो कि खुद में ही स्थित है। देखो वापस आया। खुद में ही स्थित है। वह स्वयं वहाँ है, स्वयं वहाँ है। राग में, भेद में, निमित्त में स्वयं है नहीं। जहाँ तू है नहीं, वहाँ लेने जाता है ? ऐसा कहते हैं। देखो ! जो कि खुद में ही स्थित है। अपना स्वरूप जो शुद्ध आनन्दकन्द में स्थित है, उसमें है। वह बाहर में नहीं कि बाहर के द्वारा बाहर साधन में वह आत्मा प्रगट हो। स्वयं अपने में है, साधन भी अपने में है। ज्ञान होना, वह वहाँ है। आनन्द होना, वह वहाँ है। साधन होना, वह वहाँ है। कर्ता होना, वह वहाँ है। काम (कर्म) होना, वह वहाँ है। आहाहा ! वाह रे.. ! भगवान ने व्यवहार का बहुत मार्ग कहा होवे न ? वह तो बीच में आता है, उसका ज्ञान कराया, तुझे भान नहीं होवे तो, सुन न ! वहाँ चिपटा। समझ में आया ?

जो कि खुद में ही स्थित है। समझ में आया ? कारण कि परमार्थ से सभी पदार्थ स्वरूप में ही रहा करते हैं। देखो ! अन्दर आधार शब्द है, हों ! 'सर्व भावानां स्वरूप-मात्राधारत्वात्' देखो ! इस भगवान आत्मा का आधार स्वरूप स्वयं ही है। उसे विकल्प दया, दान, व्रत, व्यवहाररत्नत्रय के विकल्प आधार है ही नहीं। ऐसा कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा ! यह व्यवहार आधार और निश्चय आधेय, वस्तु में है नहीं। देखो ! पाठ है, हों ! अन्दर। फिर उसका अर्थ इतना किया, सभी पदार्थ स्वरूप में ही रहा करते हैं। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ स्वयं अपने स्वरूप के आधार से रहता है। रहता है, है और प्राप्त भी इसी प्रकार से होता है, दूसरे प्रकार से है नहीं। कितना स्पष्ट करे ! कहो, ज्ञानचन्दजी ! वापस देखा ? यह डाला। हिन्दी में आवे तो ठीक न पड़े, ऐसा करके डाला। यह तो तुम्हारी माँ को समझ में आती है या नहीं भाषा ? भाषा ? कभी सुना नहीं होगा, पूरा

दिन निकाला होगा, कण्डे किये और यह किया और यह किया और सरकण्डे का तना डाला और बहू पकाना, करना अमुक पाँच सौ महिलाओं की रसोई। यह क्या है, यह बात भी सुनी नहीं होगी, वहाँ गाँव में।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो दूसरी बात चलती है। आहाहा!

कारण कि परमार्थ से सभी पदार्थ स्वरूप में ही रहा करते हैं। प्रत्येक (पदार्थ)। यहाँ देखो! यह रागादि, आत्मा का स्वरूप ही नहीं है। व्यवहार, यह आत्मा का स्वरूप ही नहीं है। स्वभाव ज्ञानानन्द, अनन्त अचिन्त्य, अमाप स्वभाव, स्वभाव के आधार से ही है। स्वभाव के आधार से ही प्रगट होता है, स्वभाव के साधन से ही प्रगट होता है, बाहर का साधन उसे है ही नहीं। आहाहा! इतनी बात स्पष्ट करते हैं, तथापि सब शोर मचाते हैं। समझ में आया ?

परमार्थ से सभी पदार्थ स्वरूप में ही रहा करते हैं। प्रत्येक वस्तु अर्थात् यह स्वभाव। आत्मा चैतन्यस्वभाव, वह परमार्थ पदार्थ है। परमार्थ कहा है न? सभी पदार्थ। आत्मा अर्थात् ज्ञानानन्द अनन्त गुण का पिण्ड, वह आत्मपदार्थ। वह आत्मपदार्थ उस राग के आधार से, व्यवहार के आधार से, विकल्प के आधार से बिल्कुल रहा नहीं, प्रगटता नहीं और रहेगा नहीं और होनेवाला नहीं। समझ में आया ? इसके लिए उचित है कि मन को एकाग्र कर चक्षु आदिक इंद्रियों की अपने-अपने विषयों (रूप आदिकों) से व्यावृत्ति करे। लो! वहाँ से हटावे, क्योंकि वह साधन-फाधन नहीं है, इसलिए वहाँ से हटावे। विशेष कहेंगे.....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २२

गाथा-२२

शुक्रवार, दिनाङ्क ०८-०४-१९६६

चैत्र कृष्ण ३,

वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश, पूज्यपादस्वामी कृत है। उसमें ५१ श्लोकों में, आत्मा का हित किस प्रकार होता है, यह कहते हैं। इष्ट-उपदेश, हितकर-उपदेश। शिष्य ने प्रश्न किया, २२ गाथा में ऊपर है। २१ गाथा में ऐसा कहा कि यह आत्मा लोकालोक को जाननेवाला है, आत्मा अनन्त आनन्दस्वरूप है, नित्य है और शरीरप्रमाण है - ऐसा कहा; और स्वयं से वेदन करनेयोग्य है। आत्मा लोकालोक को जाननेवाला, अनन्त सुखस्वरूप, नित्य, शरीरप्रमाण और आत्मा स्वयं से ही स्वसंवेदन-ज्ञान से ज्ञान के वेदन द्वारा ही आत्मा ज्ञात होता है। समझ में - ऐसा जब २१ वीं गाथा में कहा तो शिष्य का प्रश्न हुआ (कि) ऐसे आत्मा की उपासना किस प्रकार करना चाहिए? ऐसे आत्मा की सेवा किस प्रकार से करनी चाहिए? आत्मा की सेवा किस प्रकार करना? समझ में आया? भगवान की सेवा की बात शिष्य ने नहीं पूछी। आत्म ऐसा है तो आत्मा की सेवा कैसे करनी चाहिए? और आत्मा का ध्यान अथवा अन्दर में आत्मा की भावना-एकाग्रता किस प्रकार करनी चाहिए कि जिससे आत्मा का हित हो? - ऐसा शिष्य ने प्रश्न किया है।

ये पूज्यपादस्वामी। कुन्दकुन्दाचार्य महाराज दो हजार वर्ष पहले हुए। उनके पश्चात् समन्तभद्राचार्य हुए। दिगम्बर, नग्न दिगम्बर मुनि। तत्पश्चात् पूज्यपादस्वामी हुए। उन्होंने यह इष्टोपदेश बनाया। जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका अपूर्व बनायी है, उन्होंने यइ इष्टोपदेश बनाया है।

देखो! हितकारी उपदेश क्या? यह बात चलती है। आत्मा की बात जब गुरु ने कही कि यह आत्मा अनन्त-अनन्त ज्ञान का स्वामी और अनन्त आनन्द का नाथ आत्मा है, और नित्य है। शरीरप्रमाण स्वयं से ज्ञात होता है। महाराज! वह अपने से ज्ञात होता है तो अपना ध्यान, अपनी भावना कैसे करनी चाहिए? ऐसा आत्मा है। यहाँ आत्मा की बात चलती है। सारा सार इष्टोपदेश यह है। पोपटभाई! भगवान की सेवा आदि है, वह तो शुभभाव है। इस आत्मा की सेवा कैसे करना? - ऐसा शिष्य का प्रश्न है। और पूज्यपादस्वामी ने शिष्य

के मुख में ऐसा ही प्रश्न रखा है कि जो हितकर है। हमारा हित किस प्रकार हो? समझ में आया?

भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति आत्मा है। उसके स्वभाव में परिपूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञान भरा है। है शरीर के क्षेत्र प्रमाण, परन्तु भाव के अचिन्त्य स्वभाव से भरपूर आत्मा है। कहते हैं, प्रभु! भावना (किस प्रकार करना)? देखो! शिष्य का प्रश्न भी यह है और गुरु उसे उत्तर भी ऐसा देते हैं। हमारे तो आत्मा ऐसा है, उसका हित और उसकी भावना हमें किस प्रकार करना? ऐसा प्रश्न किया है। कहो, पोपटभाई! शिष्य ने दूसरा कोई प्रश्न नहीं किया। दूसरा क्या (प्रश्न)? हमारे मन्दिर बनाना या अमुक करना या अमुक करना? ऐसा कुछ नहीं किया। ऐई!

जब गुरु ने इष्टोपदेश में आत्मा का ऐसा वर्णन किया, पूज्यपादस्वामी दिगम्बर सन्त मुनि / अनादि से जो भावलिंगी सन्त चले आते हैं, उनमें से ये भावलिंगी सन्त थे। यह इष्टोपदेश-अपना हित किस प्रकार हो? इस श्लोक में आत्मा का स्वरूप कहा तो शिष्य के मुख में उन्होंने ऐसा (प्रश्न) रखा कि महाराज! ऐसे आत्मा की सेवा किस प्रकार करनी चाहिए? उपासना किस प्रकार करनी चाहिए? ऐसा प्रश्न है। जुगराजजी! शिष्य ने ऐसा प्रश्न किया, दूसरा कोई प्रश्न नहीं किया। हमें पर की दया कैसे पालना? भाई! देखो! इस इष्टोपदेश की पद्धति। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने कहा हुआ इष्ट-उपदेश, हितकर उपदेश। पूज्यपादस्वामी दिगम्बर सन्त मुनि वनवासी थे। वे कहते हैं कि यह आत्मा... तो शिष्य पूछता है कि आत्मा की सेवा किस प्रकार करनी? कि जिसमें अपना हित उत्पन्न होता है। समझ में आया?

जवाब देते हैं, देखो! अपने यहाँ तक आया है। अपने थोड़ा फिर से लेते हैं। वह आत्मा स्वपर-प्रतिभासस्वरूप है। यहाँ से लो। दूसरा पेरोग्राफ है न? है? २७ पृष्ठ। भाई! यह आत्मा स्व और पर का जाननेवाला है। पर का कुछ करनेवाला आत्मा नहीं है, यह सिद्ध करते हैं। अनन्त, आत्मा के अतिरिक्त जितनी वस्तुएँ हैं, उन सबका जाननेवाला और स्वयं का जाननेवाला है। इसके अतिरिक्त यह आत्मा पर का किंचित् करनेवाला (नहीं है)। जाननेवाला कहा न? तो पर की दया पालनेवाला या ऐसा कुछ है ही नहीं। ऐसा

है ही नहीं। समझ में आया ? यह आत्मा स्व-पर प्रतिभासस्वरूप है। भगवान आत्मा, अपने में अपने ज्ञान का प्रतिभास होता है और पर का भी प्रतिभास-ज्ञान करनेवाला है। ऐसा इसका स्वरूप ही अनादि सनातन सत्व में है।

वह स्वयं ही स्वयं को जानता है,.. भगवान आत्मा वह स्वयं ही स्वयं को जानता है,.. यह इष्टोपदेश है। पर से जानता है - ऐसा इष्टोपदेश में है ही नहीं। क्योंकि ऐसा है ही नहीं। समझ में आया ? पर का कुछ करे तो स्वयं का हित होता है, यह बात तो है ही नहीं। क्योंकि पहले से ही कहा है कि आत्मा स्व-पर को जाननेवाला है। भाई ! यह सब दया का शोर करते हैं न ? अरे ! सुन तो सही, प्रभु ! तुझे आत्मा की खबर नहीं। यह अपनी दया की बात, अपनी दया क्या है - यह बात चलती है।

आचार्य जवाब देते हैं। समझे ? 'आत्मानमात्मवान् ध्यायेद' यहाँ कहा कि स्वयं अपने को जानता है। भगवान आत्मा... सुनना आदि तो निमित्तमात्र है। समझ में आया ? दूसरे की क्रिया आदि में शुभभाव हो, वह भी एक निमित्तमात्र है। शुभभाव का भी जाननेवाला आत्मा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा ! जो क्रिया शरीर से होती है, उस जड़ पर्याय को जाननेवाला है। शुभभाव होता है, उसका भी जाननेवाला है, क्योंकि स्व-पर का जाननेवाला है। आहाहा !

मुमुक्षु : करनेवाला कब होगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह अपने स्वरूप का पुरुषार्थ करनेवाला है, यह कहते हैं। अपने स्वरूप की ओर सेवा करनेवाला यह आत्मा है। कहो, बसन्तलालजी ! बहुत सूक्ष्म ! जगत को कठिन पड़ता है। दिगम्बर सन्त वनवासी थे, जंगल में रहते थे। अपना हित सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा, उस हित का उपदेश इसमें चलता है। आहाहा ! क्या (कहा) ?

वह स्वयं को जानता है और पर को भी जानता है। देखो ! पर को जानो, वह है— ऐसा जानो। है, शुभराग है, देह की क्रिया ऐसी होती है, देह का ऐसा चलना-फिरना होता है, खाना-पीना जड़ की क्रिया ऐसी होती है, उसे जाननेवाला है। समझ में आया ? आहाहा ! स्वयं ही स्वयं को जानता है,.. देखो ! यह क्रिया। और पर को भी जानता है। उसमें उससे भिन्न अन्य करणों की आवश्यकता नहीं है। भगवान पूज्यपादस्वामी

सन्त, शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हैं। महाराज! अपना हित किस प्रकार करना? तो कहते हैं कि अपने स्वरूप में जो शुद्धता भरी है, उसमें एकाग्रता होना, वह स्वयं से होती है। उसमें दूसरे परकारण की आवश्यकता नहीं है। इसमें तो बहुत बात की है। देखो, जुगराजजी! शुभभाव की जरूरत नहीं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : वह हो, परन्तु स्वरूप की एकाग्रता करने में वह कारण है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। बहुत सूक्ष्म बात, भाई! लोगों को... मूल सर्वज्ञ परमेश्वर का सर्वज्ञस्वभाव, आत्मा का सर्वज्ञस्वभाव किस प्रकार प्रगट होता है, वही सर्वज्ञ की बात है। समझ में आया? सर्वज्ञस्वभाव-स्व-पर को जाननेवाला—ऐसा हुआ न? ऐसा है, वह पर्याय में पूर्ण स्व-परप्रकाशक सर्वज्ञ किस प्रकार हो, वह मार्ग है।

कहते हैं, **उसमें उससे..** अर्थात्? अर्थात् आत्मा स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप पर से हटकर, इन्द्रियों के विषय, कषाय, विकल्प आदि, विकल्प अर्थात् शुभ वृत्ति आदि उनसे हटकर, निजस्वरूप में अपने को जानना और पर को जानना, ऐसा जो अपना स्वभाव है, उसमें दूसरे करण अर्थात् साधन की अपेक्षा नहीं है। है पुस्तक? है या नहीं? देखो! **उसमें उससे..** उससे अर्थात् आत्मा से। उसमें अर्थात् आत्मा की अन्तर सेवा करने के कारण में। अपना शुद्धस्वभाव भगवान आत्मा अन्तर्मुख की क्रिया स्वभाव में एकाग्र होने में, **उसमें..** अपने शुद्धस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता करने के कारण में। **उससे..** अपने शुद्धस्वभाव की एकाग्रता के लिए **भिन्न अन्य करणों की आवश्यकता नहीं है।** है? पुस्तक है या नहीं? भाई! देखा! देखो! पुस्तक में क्या है? यहाँ तो पुस्तक साथ में रखते हैं कि किसका अर्थ होता है? आहाहा! है न? धन्यकुमारजी! क्या है? ओहोहो!

परमेश्वर सर्वज्ञदेव ने जैसा कहा, वैसा ही पूज्यपादस्वामी दिगम्बर सन्त हितकर उपदेश का कथन करते हैं। आहाहा! उपदेश ऐसा होना चाहिए कि आत्मा निजस्वभाव का साधन स्वयं से करता है, पर के करण की आवश्यकता नहीं है, इसका नाम इष्ट उपदेश, इसका नाम हित के कर्तव्य का कारण कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? **उसमें उससे भिन्न अन्य करणों की..** करण अर्थात् साधन। अन्य साधन, अन्य कारण, अन्य उपाय। **करणों की आवश्यकता नहीं है।** आहाहा! समझ में आया?

भगवान आत्मा...! अपने में कहाँ अपूर्णता है कि पर की सहायता ले? ऐसा भगवान निर्वाणनाथ! यह निर्वाणनाथ-मोक्ष के पूर्णानन्द मुक्ति का नाथ आत्मा है। समझ में आया? ऐसा भगवान शीतलीभूत शान्त होने में अपने क्रिया अपने से करता है। पर के कारण और साधन-निमित्त की आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहते हैं। ओहोहो! समझ में आया? भाई! स्वयं को स्वयं का स्वभाव है। वस्तु में अस्तित्व है, सत्ता है। अनन्त ज्ञान, आनन्द की मौजूदगी अपने स्वभाव में है और उस स्वभाव का साधन करना, वह भी अपने में ही है, अपने में ही है। राग, शरीर की क्रिया आदि की अन्तरस्वभाव के साधन में बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, ऐसा भगवान पूज्यपादस्वामी सन्त दिगम्बर मुनि जगत को हित का उपदेश करते हैं। समझ में आया?

इसलिए चिन्ता को छोड़कर.. ओहोहो! एक-दो लाईन में तो पूरे जैनदर्शन का सार भर दिया है। ऐ.. हीरालालजी! हीरालालजी प्रसन्न होते हैं। आज तो शुक्रवार है न? कहो, समझ में आया? इन्हें भी कहाँ नौकरी करनी है? जब समय मिले, तब आते हैं। शिष्य ने प्रश्न किया, महाराज! प्रभु! हमारे आत्मा ऐसा अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्दवान, शरीरप्रमाण, नित्य, स्वसंवेदन स्वयं से ज्ञात होता है तो उसकी सेवा किस प्रकार करना? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। उसका उत्तर भगवान सन्त मुनि दिगम्बर भावलिंगी सन्त हैं, वे भगवान का जो मार्ग है, वही कहते हैं कि भाई! प्रभु! तू तो परमानन्द की मूर्ति है न! और अपने में विकल्प जो शुभराग, देह, वाणी आदि की निजस्वभाव की एकाग्रता करने में पर के कारण की अपेक्षा बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। आहाहा! समझ में आया? यह संवर-निर्जरा उत्पन्न होने की क्रिया की बात करते हैं।

भगवान आत्मा इन्द्रिय से पार, कर्म से भिन्न, पुण्य-पाप के राग से भिन्न, अपने पूर्ण स्वभाव सम्पन्न प्रभु, निजस्वभाव सन्मुखता की क्रिया करने में पर के साधन, करण की बिल्कुल अपेक्षा नहीं है। ऐसा भगवान का उपदेश है। समझ में आया? निश्चय की बात है। व्यवहार में निमित्त होवे, उसका ज्ञान कराते हैं। वह तो ज्ञान में आ गया। स्व-पर का ज्ञान करते हैं, उसमें वह आ गया। समझ में आया? बहुत कठिन। लोगों को ऐसा लगता है मानो कुछ-कुछ... पंगु आत्मा पंगु... यह पंगु किस प्रकार लिखा है? अपने में स्वभाव भरपूर है। पर को जानना और राग करना, वह आत्मा में है नहीं। समझ में आया? आहाहा!

आत्मा उसे कहते हैं, आत्मा ही जिसे कहते हैं कि जो आत्मा... भगवान आत्मा अन्दर पूर्णानन्द और आनन्द से भरपूर आत्मा है। उस ओर अन्तर में झुकाव करना, वह स्वयं से होता है। आहाहा! समझ में आया ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह किसकी बात चलती है ? है ? लिखा है या नहीं इसमें ? पढ़ा है ? पढ़ना आता है ? पढ़ लो, पढ़ो दूसरी लाईन। **उसमें..** उसमें अर्थात् आत्मा की स्व-पर को जानने की क्रिया में, अपना स्वरूप जाननहारस्वरूप है, उसमें स्व-पर को जानने का भगवान आत्मा का स्वभाव है। **उसमें उससे..** दो शब्द पड़े हैं। इसमें तो कितने लिखते होंगे ? गप्प मारते समय वहाँ अन्दर लिखते थे या नहीं ? सब ध्यान रखते होंगे या नहीं ? सच्चा लिखे, वहाँ पैसे उल्टे-सीधे चले जाएँ। पचास हजार आए हों और पाँच सौ जमा करे ? वहाँ नहीं करें। आहाहा ! भाई ! शान्त हो, धीर हो। प्रभु ! तेरी प्रभुता तेरे पास पड़ी है। तुझमें पूर्ण प्रभुता भरी है। तेरी प्रभुता का तू उपयोग कर सकता है। तेरी प्रभुता के उपयोग में दूसरे कारण की पामरता की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा ! बात इसे अन्दर में अन्दर जँचती नहीं। ऐसा आत्मा ? परन्तु यह भगवान कहते हैं, सर्वज्ञ परमेश्वर कहते हैं, उसकी तुझे प्रतीति है या नहीं ? कि सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ एक समय में तीन काल-तीन लोक जिन्होंने देखा, ऐसे परमेश्वर तीर्थकरदेव सौ इन्द्रों की उपस्थिति में समवसरण में दिव्यध्वनि में ऐसा फरमाते थे। वह मार्ग परम्परा से मुनि फरमाते हैं। समझ में आया ? आहाहा ! श्लोक तो श्लोक है न, देखो !

मुमुक्षु : विशेष स्पष्टीकरण तो आपके द्वारा होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसमें है, वह कहा जाता है न ! है, पुस्तक हाथ में रखी है।

कहते हैं, भगवान आत्मा चैतन्य ज्योत अतीन्द्रिय आनन्द से अन्तर में परिपूर्ण भरा हुआ आत्मा है। उसकी वर्तमान पर्याय अर्थात् अवस्था में पुण्य-पाप और रागादि जो विकार है, वह तो दुःख की अवस्था है। वह स्वरूप में नहीं है। समझ में आया ? शुभाशुभभाव और उसमें ठीक है, अठीक है-ऐसी जो कल्पना (होती है), वह दुःखरूप विकार है। वह विकार एक समय का कृत्रिमता से उत्पन्न हुआ है। गूमदू है, फोड़ा कहते

हैं न ? क्या कहते हैं ? भगवान आत्मा उस फोड़े से रहित परिपूर्ण भगवान है, ऐसा कहते हैं। आहाहा ! तेरी चीज़ की तुझे खबर नहीं। तेरी चीज़ में क्या भरा है और कितना माहात्म्य है, इसकी खबर नहीं।

पहले कहा कि भगवान ! तू तो लोकालोक को देखनेवाला है। किसी रजकण को अपना मानना, ऐसा तेरे स्वभाव में है ही नहीं। समझ में आया ? एक शुभराग आया, वह मेरा है, ऐसा माननेवाला तेरा स्वभाव ही नहीं है। तेरा स्वभाव स्व और पर को जाननेवाला है, परिपूर्ण भगवान आत्मा को हम आत्मा कहते हैं कि जो आत्मा स्व और पर को जाने, ऐसे जाननस्वभाव से भरपूर आत्मा है। वह आत्मा शरीरप्रमाण रहने पर भी उसकी शक्ति अनन्त और अचिन्त्य है। वह अपने स्वभावसन्मुख होने में उसे दूसरे कारण की अपेक्षा नहीं है। ऐसा वह आत्मा है, ऐसा भगवान सर्वज्ञदेव फरमाते हैं। कहो, पूनमचन्दजी ! तो यह सब कहाँ गया ?

यह तो कहते हैं कि वह शुभभाव आता है, वह जाननेयोग्य है—ऐसा तेरा स्वभाव है। शुभभाव को करना और शुभभाव से तुझे स्वभाव में मदद हो, ऐसा शुभभाव में नहीं है, ऐसा तेरे स्वभाव में नहीं है। क्या कहा ? जो शुभभाव है, वह ज्ञेय होने की योग्यता रखता है। भगवान आत्मा उसे जानने की योग्यता रखता है। शुभभाव साधक में मदद करे, ऐसी शुभभाव की योग्यता नहीं है और अपना स्वभाव शुद्ध चैतन्यमूर्ति स्व-पर को जाननेवाला, उसकी अन्तर में एकाग्रता करने में शुभभाव बिल्कुल सहायक नहीं है, ऐसा शुभभाव का स्वभाव है कि वह सहायक नहीं हो सकता है। यह स्वभाव ऐसा है कि उसे सहायकरूप से ले नहीं सकता। आहाहा ! पोपटभाई ! आहाहा ! वह ज्ञेय हो सके और तू ज्ञान हो सके, बस ! यह बात यहाँ कहते हैं। समझ में आया ? आहाहा !

शिष्य का प्रश्न था, उसे प्रभु ने-गुरु ने उत्तर दिया। मूल बात, मूल पूँजी की बात है। समझ में आया ? भगवान ! तू तो परिपूर्ण गुण से भरपूर है न ! तेरी वर्तमान पर्याय जो परलक्ष्यी है, परलक्ष्यी, एकान्त परपक्षी, एकान्त परलक्ष्यी और एकान्त परपक्षी, एकान्त पर को जाननेवाली दशा है। उसमें तो स्व-पर को जानना आया नहीं। समझ में आया ? राग, पुण्य, निमित्त शरीर में होता है, उसका करनेवाला तो नहीं परन्तु उसका जाननेवाला,

यह भी एक पक्षी दृष्टि हुई, उसमें तो स्व तो आया नहीं। समझ में आया ? अज्ञानपने में भी देह की क्रिया, राग की क्रिया जो होती है, उसका वास्तव में तो पर्याय में जाननेवाला है। वह ज्ञान की पर्याय, राग को करना और देह की क्रिया करना, ऐसा तो पर्याय में भी धर्म नहीं है। वह पर्याय अकेले पर को जानती है तो वह पर्याय का वास्तविक स्वभाव नहीं है। वास्तविक स्वभाव स्व-पर प्रकाशक होना, वह वास्तविक स्वभाव है, अतः स्व-परप्रकाशक स्वभाव द्रव्यस्वभाव में दृष्टि देने से वस्तु भगवान आत्मा, स्व को भी जानता है और रागादि, देहादि क्रिया आदि भगवान परमात्मा आदि मिलें, उन सबको जानता है। समझ में आया ? यहाँ तो ऐसा कहा, साक्षात् त्रिलोकनाथ परमात्मा समवसरण में विराजें तो तेरे स्वभाव के साधन में वे बिल्कुल मददगार नहीं हैं, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : समवसरण में जाना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जाए कौन ? आवे कौन ? वह तो विकल्प होवे तो हो, बाहर हो, परन्तु आत्मा तो जानने-देखनेवाला है। आहाहा ! गजब बात, भाई ! कभी सुना नहीं। क्या वस्तु है ? भगवान आत्मा.. देह-देवल यह तो मिट्टी-धूल है। आत्मा है ? अन्दर आठ कर्म हैं, वह आत्मा है ? आठ कर्म जड़ हैं, अजीव हैं और अन्दर पुण्य-पाप के शुभ-अशुभभाव होते हैं, वह आस्रवतत्त्व है। वह तो आस्रवतत्त्व है, यह शरीर, कर्म अजीवतत्त्व है। जीव तत्त्व जो है, वह आस्रव और अजीव से भिन्न, वह तो ज्ञायकतत्त्व है। 'स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी, तातैं वचन भेद भ्रम भारि, ज्ञेय शक्ति द्विधा प्रकाशी, निजरूपा पररूपा भासी' समझ में आया ? आहाहा ! क्या करना इसमें, इसे कुछ सूझ नहीं पड़ती। करना यह तुझमें-तेरे अस्तित्व में करना है कि तेरे अस्तित्व में नहीं है, उसे तुझे करना है ? तुझमें तो अनन्त ज्ञान स्व-पर को जाननेवाला ज्ञान है, उसमें कुछ करना है या पर में तुझे कुछ करना है ? क्या करना है तुझे ? आहाहा !

कहते हैं कि तुझमें तो मौजूदगी, स्व को और पर को जानना-देखना, ऐसे स्वभाव की तुझमें मौजूदगी है, प्रभु ! तुझमें यह जानने का स्वभाव है, वही स्व-पर प्रकाशक की पर्याय स्वभाव सन्मुख हो तो प्रगट होती है, वह स्व-पर प्रकाशक पर्याय प्रगट हो, उसमें कोई राग और निमित्त के साधन की अपेक्षा नहीं है, ऐसा भगवान कहते हैं। भगवान की

श्रद्धा और भगवान ऐसा फरमाते हैं। सौभागचन्दजी! क्या है यह? यह सब क्या करना? कूदते हैं सब देखो, तुमने तो यहाँ कितना किया! मानस्तम्भ बनाया, ऐसा मन्दिर (बनाया), देखो! ढाई हजार लोग समा सकें, ऐसा तो हॉल। एक ओर समवसरण, यह चाँदी का समयसार। राजकोट, राजकोट गये नहीं, भाई! राजकोट गये थे? नहीं, अभी नहीं गये। जाना है। राजकोट में भी एक बड़ा मन्दिर है, दो लाख का नया समवसरण है, दो लाख का! और ५२ फीट का सवा लाख का मानस्तम्भ है। गत वर्ष प्रतिष्ठा हुई थी। यह सब हो, होवे तो उसके कारण होता है, ऐसा कहते हैं। आत्मा उसे बनानेवाला है, ऐसा भगवान नकार करते हैं। हाँ, उसे जाननेवाला है। आहाहा! पोपटभाई! क्या तब तुमने यह सब किया? जोरावरनगर में और... आहाहा! गजब बात, भाई!

भगवान! तेरा तो चैतन्यरत्न है न, प्रभु! तुझमें तो चैतन्यरत्न भरे हैं न! आहाहा! जिसकी श्रद्धा-सम्यग्दर्शन, जिसका सम्यग्ज्ञान, जिसका सम्यक्चारित्र निर्विकल्प सम्यक् आत्मा की श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र को भगवान रत्नत्रय कहते हैं। ऐसे-ऐसे अनन्त रत्नत्रय का धाम तो तेरा स्वरूप है। क्योंकि वह सम्यग्दर्शन आदि पर्याय तो आत्मा में से प्रगट होती है। उसके फलरूपी केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवल आनन्द, पूर्ण वीर्य-बल, वह भी आत्मा में से प्रगट होता है, तो आत्मा तो महारत्न है। अनन्त रत्न का भण्डार आत्मा है। आहाहा! कहते हैं कि निज चैतन्यरत्न की अन्तर्मुख स्वभाव की एकाग्रता साधन है, वही हितकर है, उसमें दूसरे किसी साधन की आवश्यकता है ही नहीं। आहाहा! यह मान्यता मुनियों की है, केवली की है... कठिन पड़े। जुगराजजी! चाँदमलजी! क्या है? साथ में पुस्तक है या नहीं? यह कहीं सोनगढ़ की बात नहीं है। कोई कहता है कि ऐ.. सोनगढ़ की बात है। यह है या नहीं? पृष्ठ ले न, भाई! दीवाली के दिन में बहिया नहीं खोजता। लाओ तुम्हारे में कितना और हमारे में कितना है निकालो। पाँच हजार की रकम मुझमें अधिक निकलती है, तुम्हारे क्यों थोड़ी निकली? भाई! मिलाओ, खाता मिलाओ। यहाँ यह खाता मिलाओ। इस व्यापार में खाता मिलाओ। सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वर की वाणी में आया, वह बात सन्त कर रहे हैं।

पूज्यपादस्वामी कहते हैं, अरे! एक बार सुन! समझ में आया? अरे! तुझे काम करना है या तुझे बातें करनी है या तुझे अहित करना है? हित करना है, भगवान! हमारे तो

हित करना है। अनन्त काल में एक समय भी कभी हित नहीं किया। कहते हैं, भगवान! तुझे हित करना है तो हम कहते हैं, वैसे होता है। ऐसे कहते हैं, वैसे होता है। क्या कहते हैं? तुम्हारा आत्मा अनन्त गुणस्वरूप है। उसमें एक करण नाम का गुण भी पड़ा है। साधन नाम का गुण पड़ा है, अन्दर में आत्मा में अनादि-अनन्त है। उस करण गुण द्वारा, निज स्वभाव साधन द्वारा एकाग्रता होती है। आहाहा! समझ में आया? यह सब शुभ व्यवहार बीच में है, आता है, वह जाननेयोग्य है। व्यवहार आता है, होता है; जब तक पूर्ण न हो, वीतरागता जब तक न हो, तब तक ऐसा भक्ति का, पूजा का, दान का दया का शुभभाव आता अवश्य है, हो, परन्तु वह आत्मा का कर्तव्य है अथवा आत्मा के हित में मदद करनेवाला है, ऐसा नहीं है। वह जाननेयोग्य है। स्व-पर प्रकाशक में उसका ज्ञान हो जाता है। आहाहा! चैतन्य का तो मार्ग तो देखो!

मुमुक्षु : ऐसी बात सुनी ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सुनी नहीं। उसकी स्थिति, उसकी मौजूदगी कैसी है, यह सुना ही नहीं। अपनी कल्पना से मान रखा है कि भगवान ऐसा कहते हैं, भगवान ऐसा कहते हैं। माने अपनी कल्पना से और कहे, भगवान ऐसा कहते हैं। क्यों पूनमचन्दजी?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : अनादि काल से उल्टा है न? उल्टा। इसे अन्दर अपनी माहात्म्यदशा आती नहीं। ऐसा मैं? लकड़ी के बिना चले? पंगु।

मुमुक्षु : वास्तविक स्थिति पकड़ में नहीं आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : पकड़ में नहीं आयी। क्या वस्तु है? आत्मा कैसी चीज़ है?

कहते हैं, भगवान सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वर, भगवान तेरी वस्तु है न? प्रभु! तो तेरी वस्तु में तो करण अर्थात् साधन शक्ति-गुण पड़ा है न! कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण—ऐसी शक्तियाँ अन्दर में पड़ी है। वह शक्ति तेरे स्वभाव की खान में ही है। तेरे स्वभाव की एकाग्रता करने में दूसरे किसी साधन की अपेक्षा स्वभाव को ही नहीं। आहाहा! वाह.. रे! वीतराग! यह वीतरागमार्ग है। समझ में आया? अभिप्राय में ऐसा अनुभव में आये बिना इसका हित कभी होता नहीं। समझ में आया?

उसमें... अपना स्वभाव शुद्ध भगवान अतीन्द्रिय आनन्द की लहर में आत्मा पड़ा है। अतीन्द्रिय आनन्द की मौज अन्दर में है, आत्मा में अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द है। उस ओर का लक्ष्य करनेवाला स्वतः लक्ष्य करता है। उस ओर की एकाग्रता करनेवाला आत्मा स्वतः एकाग्र होता है। उस ओर की आत्मा की सेवा करनेवाला आत्मा स्वतः सेवा करता है। उसमें निमित्त और राग की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। ज्ञान में दूसरी वस्तु जाननेयोग्य होती है तो जाने। समझ में आया ? ऐ.. पोपटभाई ! आहाहा ! यह गुप्त नहीं रखा है। यह तो लिखा है और बाहर प्रसिद्ध किया है, देखो ! ढिढ़ोरा पीटकर तो ऐसा बाहर प्रसिद्ध किया है। पूज्यपादस्वामी ने बात गुप्त रखी है ? तो लिखा किसलिए ? जगत का हित ऐसे हो, ऐसा पहले निर्णय करो। निर्णय करो, निर्णय की भूमिका यथार्थ हुए बिना तेरा हित का पन्थ कभी मिलेगा नहीं। आहाहा ! एकान्त है... एकान्त है, (ऐसी लोग पुकार करते हैं) ऐई पूनमचन्दजी ! अरे भगवान ! सुन तो सही। बोलने में कुछ देर लगती है जीभ को ? जाओ एकान्त है, उसमें एकान्त है। ऐसा व्यवहार भी होता है, वह होता है तो उससे लाभ होता है, यह अनेकान्त है। यहाँ तो भगवान पूज्यपादस्वामी इनकार करते हैं। अस्ति-नास्ति करते हैं। समझे ?

देखो ! 'संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः आत्मानमात्मवान् ध्यायेद्' पाठ में है न यह ? 'आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैत्मनि स्थितम्' स्वयं अपने से साधन करता है, पर से (साधन) है नहीं। आहाहा ! अरे ! यह रुचि में भी न बैठे। रुचि में यह बात न बैठे, तब तक स्वभाव-सन्मुख किस प्रकार होगा ? क्योंकि स्वभाव ही ऐसा है। समझ में आया ? उसमें उससे भिन्न अन्य करणों की आवश्यकता नहीं है। समझ में आया ? 'करणग्राम' 'करणग्राम चक्षुरादीन्द्रियगणम्' 'करणान्तराभावासू' टीका की दूसरी लाईन। फिर आधार दिया। पहले कहा, फिर उसका आधार दिया। यह तो पाठ में है न ! पाठ में है तो कहे ही न ! पाठ में है, वह कहा और फिर आधार दिया है। समझ में आया ? 'करणान्तराभावासू' फिर तत्त्वानुशासन का आधार दिया है न ? तत्त्वानुशासन का यह चलता है।

पूज्यपादस्वामी ने तो कहा है कि भगवान ! तुझे माहात्म्य नहीं आता, ऐसा विश्वास नहीं आता। मैं एक शुद्ध चैतन्य भगवान आबाल-गोपाल शरीर में स्थित प्रभु ! पूर्णानन्द का

नाथ है। भगवान् अन्तर परिपूर्ण शक्ति का भण्डार है। ऐसा परमात्मा, निज परमात्मा परमेश्वर अपनी ईश्वरता के साधन में दूसरी पामर चीज़ की अपेक्षा नहीं रखता। समझ में आया? आहाहा! शुभभाव और भगवान् आदि निमित्त, स्वभाव के साधन में पर की अपेक्षा नहीं है। ऐसा स्वरूप, आत्मा का स्वरूप ही ऐसा है। इससे विपरीत माने तो उसने आत्मा ही माना नहीं। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : डर लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : डर किसका लगता है? ...लगता है। सुविधाभोगी मूढरूप से साता सेवी है न, इसलिए अभी ऐसे शोर मचाता है, यह है। जैचन्दभाई! ऐसे सब चौड़े-चौड़े होकर घूमे हैं न! राग में, हों! अब हाय.. हाय.. (होता है)। धूल हो गया। यह तो शरीर है आत्मा जाननेवाला है कि इस प्रकार हुआ। बस! मैंने किया ऐसा नहीं। अरे! ऐसे ध्यान रखा होता तो ऐसा होता, ऐसा उसमें है ही नहीं। ऐसे ध्यान न रखा, इसलिए ऐसा हुआ, बिल्कुल आत्मा में ऐसा नहीं है और उसमें (सामनेवाले पदार्थ में) भी नहीं है। वह भी ज्ञेय होने के योग्य ऐसी वर्तमान अवस्था है। आत्मा उसी ज्ञेय को जाननेवाला, अपने को जाननेवाला अपने में पर को भी जाननेवाला अपने से है, उसमें दूसरा कोई साधन नहीं है। आहाहा! पहले साधन नहीं किया, बराबर ध्यान नहीं रखा, ऐसा किया और वैसा किया... सब धूलधाणी.. अज्ञानी का मिथ्याभ्रम है। पोपटभाई! आहाहा!

इसलिए चिन्ता को छोड़कर.. देखो! ऐसा है, इसलिए चिन्ता को छोड़कर। ऐसा है, इसलिए चिन्ता को छोड़कर। कैसा है? स्वयं अपने को जाननेवाला और पर को जाननेवाला है। पुस्तक ली है या नहीं? **स्वसंवित्ति-स्वसंवेदन के द्वारा ही उसे जानो,..** देखो! भगवान् स्वसंवित्ति-स्वसंवेदन। अपनी ज्ञान की पर्याय से ज्ञाता को जानो। यह तो सीधी-साधी बात है। इसमें कहीं बहुत संस्कृत, व्याकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। भगवान् आत्मा अपनी ज्ञान की जो किरण प्रगट है, ज्ञान की पर्याय प्रगट है, उस प्रगट द्वारा अन्तर आत्मा को जानो। समझ में आया? इस राग—शुभ व्यवहाररत्नत्रय की भी जिसके साधन में आवश्यकता नहीं, ऐसा यहाँ कहते हैं। यहाँ तो (ऐसा कहते हैं), व्यवहाररत्नत्रय साधन और निश्चय साध्य, छहढाला में ऐसे कथन बहुत आते हैं। निश्चय

का कारण है, व्यवहार निश्चय का हेतु है। नहीं आता छहढाला में? वह सब निमित्त का ज्ञान कराने की बात है। व्यवहार वस्तु है अवश्य; नहीं है—ऐसा नहीं है। जैसे लोकालोक नहीं? है; है तो क्या अपने में यहाँ आ गया है? इसी प्रकार व्यवहार है अवश्य; अपने स्वरूप के साधन में अपना साधन किया, जब तक पूर्ण साधन न हो, तब तक राग बीच में आता है। होवे, परन्तु वह तो स्व-पर प्रकाशक में जानने की वस्तु आयी। वह व्यवहार उत्पन्न हुआ, वह ज्ञात हो गया। स्व और पर को जानने में वह जानने में आ गया। पर के कर्तव्य से यहाँ कर्तव्य हुआ और पर से यहाँ लाभ हुआ, अपने हित में मदद हुई—ऐसा व्यवहार आया ही नहीं। आहाहा! समझ में आया? है न? देखो! यहाँ तो शब्द का अर्थ तो होता है। बनिया कुछ निर्णय तो करेगा या नहीं पाठ के साथ?

इसलिए चिन्ता को छोड़कर स्वसंवित्ति.. स्वसंवित्त का अर्थ स्वसंवेदन। के द्वारा.. देखो, स्वसंवेदन द्वारा। विकल्प द्वारा नहीं, निमित्त द्वारा नहीं, पर द्वारा नहीं। अपने शुद्धस्वरूप में अन्तर्मुख होकर, अपने ज्ञान से ज्ञान का वेदन करना, उसके द्वारा ही उसे जानो, जो कि खुद में ही स्थित है। लो! ओहोहो! भगवान अपने में ही स्थित है। ज्ञान, आनन्द अपने में सत्त्वरूप पड़े हैं। उसमें एकाकार होओ। अपने में पड़ा है। कुछ बाहर के साधन लेने की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! यह झगड़ा सबका। ऐई! निमित्त.. वह कहे व्यवहार, वह कहे क्रमबद्ध। इसमें सब स्पष्टीकरण है। अरे! भगवान! सुन तो सही, प्रभु!

क्रमबद्ध का निर्णय करनेवाला भी स्वतन्त्र अपना ज्ञाता है, राग का कर्ता नहीं, पर का कर्ता नहीं, शुभराग आया, उसका कर्ता नहीं; उसका मैं ज्ञातादृष्टा हूँ, स्व-परप्रकाशक हूँ, तब क्रमबद्ध का तात्पर्य आया। समझ में आया? और अपने स्वभाव का साधन अपने से है। व्यवहार उड़ गया। व्यवहार साधन है, ऐसा नहीं रहा। व्यवहार निमित्त था, तो निमित्त से हुआ, ऐसा नहीं रहा। बराबर है? पाँच बोलों का स्पष्टीकरण हो गया। बड़ा झगड़ा भी है न? उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार और क्रमबद्ध। अरे! भगवान! सुन तो सही। सब एक ही बात है। उपादान-निमित्त कहो, निश्चय-व्यवहार कहो और क्रमबद्ध में अकर्तापना कहो। होता है, उसे (करना) क्या? जानना। राग आता है, उसे करना क्या? जानना। देह आदि की क्रिया होती है, उसे करना क्या? जानना। वह जाननेवाला रहा। जाननेवाला कब रहे? अपना स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, ऐसा निश्चय हुआ तो राग का

अकर्ता हुआ। क्रमबद्ध में ज्ञातादृष्टा हुआ, राग से लाभ हुआ, ऐसा रहा नहीं। निमित्त से शुद्ध उपादान प्रगट हुआ, ऐसा रहा नहीं। आहाहा! समझ में आया? वे और कहते हैं खींचतान कर अर्थ करते हैं, परन्तु सुन तो सही! क्या कुछ कहते हैं न? ऐसे अर्थ करें। अरे! तूने तेरी जिन्दगी में सुना नहीं। अनन्त काल में यह बात सुनी नहीं, ऐसी यह वस्तु है। यह वस्तु ऐसी है। भगवान!

रागादि हो, भले हो। तो क्या है? वह तो परचीज है। समझ में आया? समकित्ती (चक्रवर्ती) को संसार में छियानवें हजार स्त्रियों का भोग है। तो क्या है? पर को भोगता है? सम्यग्दृष्टि भोगनेवाला है? राग आया, उसका देखनेवाला है। राग आया, उसका जाननेवाला है। राग का कर्ता नहीं, राग में मिठास माननेवाला नहीं। पर की क्रिया मैं करता हूँ, ऐसा माननेवाला नहीं। आहाहा! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि जीव संसार में छियानवें हजार स्त्रियों के वृन्द में पड़ा हो तो भी स्व-पर का ज्ञातादृष्टा ही है।

मुमुक्षु : अलौकिक बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात ही ऐसी है। लौकिकप्रमाण हो तो धर्म कैसा?

जो कि खुद में ही स्थित है। वाह! खुद में ही स्थित है। तेरा साधन और तेरा फल सब तुझमें ही स्थित है। अन्तर में भगवान आत्मा पड़ा है। अन्तर नजर करनी हो तो भी तेरा स्वभाव साधन स्वतः है। पर से नजर होती है और पर से मदद मिलती है, ऐसा नहीं है। ऐसा आत्मा पंगु नहीं है। भगवान परमेश्वर प्रभु आत्मा है। समझ में आया? ओहोहो!

संसार में चक्रवर्ती तीर्थकर आदि होते हैं। (उन्हें) छियानवें हजार स्त्रियाँ (होती हैं)। तो क्या है? हैं, ऐसा जानते हैं कि ये बहुत पदार्थ सम्बन्ध में हैं, उनका ज्ञान करते हैं। राग आया, उस समय में ज्ञान भी ऐसा हुआ। उस राग को जाननेयोग्य ही अपने में ज्ञान उत्पन्न हुआ। बस!

स्व-पर प्रकाशक शक्ति हमारी,
तातैं वचन भेद भ्रम भारि,
ज्ञेय शक्ति द्विविधा प्रकाशी,
निजरूपा पररूपा भासि।'

निजरूप भगवान आत्मा, शुद्ध चैतन्य का ज्ञान हुआ। राग और देह की क्रिया हुई, बाहर में संयोग हुआ, उसका ज्ञान हुआ। ज्ञेय दो प्रकार के—स्व और पर। राग-व्यवहार भी परज्ञेय में जाता है। व्यवहार परज्ञेय में जाता है, निमित्त परज्ञेय में जाता है। समझ में आया? अपना ज्ञायकस्वभाव चैतन्य, सार तत्त्व में ऐसे भगवान आत्मा की श्रद्धा स्वयं से होती है, ऐसा साधन किया। (पश्चात्) रागादि हों, उनका जाननेवाला है। समझ में आया? यहाँ तो व्यवहार से हित होता है, ऐसा नहीं कहा, भाई! व्यवहार ज्ञेय है, ज्ञान में आता है, इतना स्वभाव है। समझ में आया?

थोड़ी परन्तु सत्य बात इसे रुचे तो थोड़े में बहुत लाभ हो परन्तु विपरीत अनेक बातें सुने और अनेक पढ़े, उसमें क्या आया? सत्य थोड़ा भी यथावत् रुच जाए, एक भाव भी भलीभाँति जँच जाए तो सब भाव जँच जाए। आता है न श्लोक? एक भाव को जाने तो सब भाव जानने में आ जाए। आता है। समझ में आया? उसमें-ज्ञानार्णव में भी आता है। भगवान ने कहा हुआ एक भाव यथार्थ जाने तो सर्वभाव ज्ञात हो जाए। समझ में आया? 'एक जाणहिं सव्वं जाणहि' एक को जाने, वह सर्व को जाने। ऐसा भगवान आत्मा (है)।

स्त्री का शरीर है तो आत्मा स्त्री के शरीरवाला नहीं हो जाता। पुरुष का शरीर है तो आत्मा पुरुष के शरीरवाला नहीं हो जाता। नारकी का शरीर है तो आत्मा कहीं नारकी के शरीरवाला नहीं हो जाता। ऐसे राग आता है तो आत्मा रागवाला नहीं हो जाता। आत्मा रागादि, शरीरादि की क्रिया का जाननेवाला और स्व को जाननेवाला रहता है। आहाहा! जुगराजजी! आहा! अरे! भगवान! तेरी जैसी स्थिति है, वैसी बताते हैं तो भी तुझे रुचती नहीं। नहीं, नहीं, नहीं। ऐसा नहीं, यह नहीं, अभी नहीं, ऐसा नहीं। परन्तु तेरी जैसी स्थिति है, वैसी बताते हैं न! तेरे घर में पूँजी हो, उसे बताते हैं। ओहो! यह तो पाँच करोड़ का धनी है, पाँच करोड़ का पूँजीपति है। प्रसन्न होता है या नहीं? मेरे घर में तो चार करोड़, तीन करोड़ हैं परन्तु पाँच करोड़ कहे तो बोले नहीं, जवाब नहीं दे। भले इतना माने, भले माने। ऐई! पोपटभाई! होवे दो करोड़, दूसरे को खबर न हो और बाहर की बड़ी चमक दिखती हो, इसके घर पाँच करोड़ है। बोले नहीं, भाई! मेरे पास पाँच करोड़ नहीं, दो करोड़ है। वह अधिक कहे तो अच्छा माने। स्वतन्त्र प्रसन्न हो। आत्मा में कहे, तेरी पर्याय में राग? राग नहीं। तेरी पर्याय में राग और पर को जानने का तेरा स्वभाव है, ऐसी तेरी पूँजी है। हाँ

तो कर। हाँ तो पाड़, अर्थात् समझ में आया ? हाँ तो कर। यह तो हिन्दी भाषी आये हैं न ! क्या करें ? जैसा गुजराती में आता है वैसा कुछ (हिन्दी में नहीं आता)। समझ में आया ? यहाँ की तो गुजराती भाषा है न !

वह अपने में ही स्थित है। भगवान आत्मा चिदानन्द रत्न की ज्योत, रागरहित, देहरहित, वाणीरहित है। अपने स्वभाव से अन्तर में एकाग्र हो, वह अपने से अपने में आत्मा है, पर का सहारा बिल्कुल नहीं, ऐसा इसे पहले निर्णय करना चाहिए। ऐसी श्रद्धा पहले करना चाहिए और पश्चात् स्वभावसन्मुख का प्रयत्न करना, वह हित का मार्ग है। आहाहा ! कहो, धन्यकुमारजी ! समझ में आया ? यह तो सब दूसरी बात निकली। मन्दिर बनाया। कितने हुए ? मन्दिर बनाया। अरे ! तो किसलिए बनाया ? हित न होवे तो बनाया किसलिए ? ऐई ! पोपटभाई ! भाई ! कौन बनावे ? वह तो बनता है। उस पुद्गल की पर्याय का उस परावर्तन में ऐसा होना है, वह होता है। परपदार्थ की पर्याय का आत्मा जाननेवाला है या करनेवाला है ? आहाहा ! जाना कि ऐसा है। राग भी आया, भक्ति का शुभराग आया, वह जाननेवाला है। भगवान आत्मा स्व-परप्रकाशक सत्ता स्वभाव सामर्थ्य का धारक है। इसके अतिरिक्त आगे अतिक्रम करके कुछ भी विशेष उसमें डालेगा तो मिथ्यादृष्टि हो जाता है। आत्मा की सत्ता के स्वभाव के सामर्थ्य की उसे प्रतीति नहीं रहती। कहो, समझ में आया ?

कारण कि परमार्थ से सभी पदार्थ स्वरूप में ही रहा करते हैं। देखो ! यह कल आ गया है। 'सर्वभावानां स्वरूपमात्राधारत्वात्' यह संस्कृत में है। सर्व स्वभाव, स्वभाव... आधार.. आधार.. आधार.. स्वयं के आधार से है। शुद्धस्वरूप भगवान आत्मा स्वयं के आधार से है। संस्कृत है, देखो ! नीचे लाईन है। 'सर्वभावानां स्वरूपमात्राधारत्वात्' 'आत्मनि स्थितं वस्तुतः' 'क तिष्ठन्तमित्याह, आत्मनि स्थितं वस्तुतः सर्वभावानां स्वरूप-मात्राधारत्वात्।' आत्मा स्वरूपमात्र आधार। स्वरूपमात्र का अर्थ क्या ? वह रागादि, विकल्पादि, कर्म, शरीर आदि इसका स्वरूप है ही नहीं। अपना शुद्धस्वरूप ज्ञानानन्द, उसका ही इसे आधार है। अपना आधार अपने में है, अपना आधार दूसरे में नहीं और दूसरे के आधार से आत्मा उत्पन्न हो, ऐसा आत्मा ही नहीं है। समझ में आया ? आहाहा ! वे कहे, सम्यग्दर्शन भगवान से होता है। यहाँ कहते हैं, सम्यग्दर्शन की पर्याय अपने आधार से होती

है। स्वसंवेदन अपने आधार से होता है। सम्यग्ज्ञान शास्त्र वांचन से होता है। (कि) नहीं। अपने आत्मा के आधार से ज्ञान होता है। वे कहते हैं शरीर की क्रिया, पंच महाव्रत के परिणाम से चारित्र होता है। यह कहते हैं कि नहीं। चारित्र अपने स्वरूप के आधार से होता है। समझ में आया ? आत्मा में आनन्द आना.. आनन्द कोई बाहर निमित्त में से आता है ? नहीं। अपने अतीन्द्रिय आनन्द का आधार आत्मा है। अपने आनन्द का आधार आत्मा है। उसके स्वरूप का आधार दूसरा कोई नहीं है। आहाहा! समझ में आया ?

मुमुक्षु : क्या करे तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : यही उपाय है। दूसरा उपाय करे (तो मिथ्यात्व है)। कठिन पड़े तो क्या करें ? आकरा को क्या कहते हैं ? कठिन पड़े तो क्या करें ? हलुवा बनाना है। उसमें हलुआ में पहले आटा को घी में सेंकना। सेके तो आटा घी पी जाता है और फिर शक्कर का या गुड़ का पानी डालना। ऐसा करने के बदले पहले शक्कर या गुड़ के पानी में आटा सेंके और फिर घी डाले तो ? कठिन पड़ता है, क्या करना ? आटा पाँच सेर घी पी जाता है और फिर शक्कर का पानी डालना, उसके बदले पहले शक्कर के या गुड़ के पानी में आटा सेंकना, फिर घी डालना। वह हलुवा नहीं होगा, लुपरी होगी। हलुवा कहाँ से तेरे घर में होगा ? लुपरी होती है न ? लुपरी को क्या कहते हैं ? फोड़े पर पोटिश रखते हैं, (वह) पोटिश भी नहीं होगी। पोटिश में तो थोड़ा-बहुत घी होता है। हमारी काठियावाड़ी भाषा में ऐसा कहते हैं। ऊपर-ऊपर से डाले, थोड़ा सा डाले, जरा सा थोड़ा। न डाले तो चले नहीं और अधिक डाले तो फोड़ा सड़ जाएगा। महिलाएँ बनाती हैं न ? थोड़ा बहुत, थोड़ा बहुत अपने कहते हैं जातू-बलतू। जातू-बलतू अर्थात् घी पड़े भी सही और अधिक न पड़े। थोड़ा सा रहे। उसमें तेरा आटा और घी भी जाएगा और तेरा हलुवा भी नहीं होगा, लुपरी होगी। कठिन पड़े अर्थात् ? जो विधि हो, उस प्रकार से हलुवा की विधि होती है। दूसरी विधि से हलुवा होगा ? पहले गुड़ का पानी डाले बाद में घी डाले, वह हलुवा का विधि है ? ऐसा यहाँ कहते हैं, हम क्रियाकाण्ड करें और करते-करते फिर धर्म होगा। चल.. चल.. मूर्ख !

यहाँ कहते हैं, भगवान आत्मा... हमें महँगा पड़ता है, दुर्लभ पड़ता है। थोड़ा-थोड़ा

कर लें, फिर होगा, फिर होगा, फिर हलुवा में थोड़ा घी डाल देंगे। ऐसे नहीं होगा। भगवान त्रिलोकनाथ इनकार करते हैं। तेरे में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीन का हलुवा बनाना हो तो स्वभाव का आधार है, दूसरा कोई आधार नहीं है। समझ में आया? ऐसी वस्तु है, भाई! इसे निर्णय करना पड़ेगा। हित करना हो तो निर्णय करना पड़ेगा। हित न करना हो और भटकना हो तो भटके, अनन्त काल से भटकता है। उसमें क्या? वह कोई नयी वस्तु नहीं, वह तो है ही।

कहते हैं कि.. समझे? इसके लिए उचित है कि मन को एकाग्र कर चक्षु आदिक इंद्रियों की अपने-अपने विषयों (रूप आदिकों) से व्यावृत्ति करे। अन्दर से विकल्प को हटावे। स्वरूप-सन्मुख का साधन करे, अन्तर में एकाग्र हो। शुद्ध ज्ञायकमूर्ति परमानन्द स्वरूप की ओर लगावे—दृष्टि लगावे, ज्ञान लगावे, ज्ञेय बनावे, आत्मा को बनावे—यही हित का साधन है; दूसरा कोई साधन नहीं है। विशेष कहेंगे...

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २३

गाथा-२२ से २३

शनिवार, दिनाङ्क ०९-०४-१९६६

चैत्र कृष्ण ४,

वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश की २२ वीं गाथा। आत्मा का हित कैसे हो? उसका उपाय क्या? यह प्रश्न शिष्य का था। उपाय यह कहा कि यह आत्मा वस्तुस्वरूप क्या है, उसे पहले जानना। समझ में आया? असंख्य प्रदेशी शरीरप्रमाण, नित्य, लोकालोक को जाननेवाला, अनन्त सौख्यवान, अनन्त आनन्दस्वरूप है, उसका ज्ञान करके फिर इन्द्रियों की ओर के विकल्पों को बन्द करके; विकल्प अर्थात् उस सन्मुख के झुकाव को रोककर स्वसन्मुख में एकाग्र होना, वह आत्मा के हित का उपाय है। कहो, पोपटभाई! इसका नाम इष्टोपदेश है।

भगवान आत्मा पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। उसे पर इन्द्रियों की ओर के झुकाववाला भाव, शुभ-अशुभराग है, उस ओर का लक्ष्य छोड़कर अतीन्द्रिय आत्मस्वभाव के समीप में अन्तर में दृष्टि करना और उसकी भावना अर्थात् एकाग्रता करना, इसका नाम आत्मा का हित है। कहो, परमार्थ मक्खन की बात है। समझ में आया?

तब वहाँ एकाग्र शब्द आया, उसकी व्याख्या। एकाग्र शब्द आया न? इसके लिए उचित है कि मन को एकाग्र कर चक्षु आदिक इंद्रियों की अपने-अपने विषयों (रूप आदिकों) से व्यावृत्ति करे। यहाँ तक आया है। जरा समझने जैसी बात है, यह इष्टोपदेश है। आत्मा का हित कैसे हो, उसका उपदेश है। आत्मा का हित आत्मा के स्वभाव के साधन से होता है। समझ में आया? स्वयं परम आनन्दमूर्ति सब-सब जगत का सत्व जितना है, उसका जानने-देखनेवाला है। उसके समीप में अन्तर में एकाग्र होकर मन को एकाग्र करके पाँच इंद्रियों के परसन्मुख के झुकाव और विकल्प और राग को छोड़कर अन्तर स्वरूप-सन्मुख की एकाग्रता करना, वही आत्मा का धर्म अर्थात् मोक्ष का मार्ग है और उसके फलरूप केवलज्ञान है। कहो, समझ में आया इसमें? ओहो!

अब एकाग्र अर्थात् क्या, इसकी व्याख्या दो अर्थ में करते हैं। यहाँ पर संस्कृत टीकाकार पण्डित आशाधरजी ने 'एकाग्र' शब्द के दो अर्थ प्रदर्शित किये हैं। प्रदर्शित। आत्मा में मन को एकाग्र करना। ऐसे पुण्य-पाप में और बाहर विषय के विकल्प में एकाग्र तो अनादि का है। अपना शुद्ध ज्ञान और आनन्दस्वरूप, आत्मा का ज्ञान और आनन्द अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, उसे छोड़कर अनादि से शुभ-अशुभ विकल्प और शुभाशुभराग में एकाग्र है, वह तो अहितकर है। समझ में आया? इस शरीर का, वाणी का, परपदार्थ का दूसरा कुछ कर नहीं सकता। मात्र वह अपने स्वभाव को छोड़कर शुभ-अशुभराग में एकाग्र हो, उसे वह करता है और वह उसने किया है। समझ में आया? यह अहित किया है। समझ में आया?

यह शरीर, वाणी, मन और ये सब रजकण परवस्तु, का तो आत्मा कुछ (कर नहीं सकता)। अज्ञानी या ज्ञानी उसमें एकाग्र पर में तो कुछ कर नहीं सकता, क्योंकि उसकी सत्ता भिन्न है, परन्तु उस पर की ओर का लक्ष्य करके, शुभ-अशुभराग उत्पन्न करके, उसमें एकाग्र हो सकता है, उस अज्ञानदशा में। समझ में आया? अनन्त काल से यह इसने किया है। निगोद से लेकर नौवें ग्रैवेयक जैन दिगम्बर द्रव्यलिंगी साधु होकर गया तो यह इसने किया था। आत्मा ज्ञानानन्द शुद्ध चैतन्यस्वरूप का समीपपना छोड़कर और शुभ-अशुभराग, पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव, उनमें करके एकाग्र होता और वह मेरा हित है, ऐसा इसने माना था। समझ में आया? दूसरा कुछ इसने नहीं किया। मोहनभाई! दुकान का

धन्धा या यह अमुक दौड़धाम या अमेरिका गया या अमुक गया, हराम है गया हो तो कहीं।

मुमुक्षु : अपने ही अपने में रहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने में अपना शुद्ध आनन्द और ज्ञान का स्वरूप छोड़कर शुभाशुभ विकल्प राग किया, उसमें एकाग्र हुआ, यह इसने किया था। जुगराजजी! क्या धन्धा-बन्धा कुछ नहीं किया? होता ही नहीं। समझ में आया? कहो, यह तो समझ में आता है या नहीं? फावाभाई! इन ताँबे, पीतल के बर्तन का, लड़के का कुछ नहीं करता अथवा नहीं किया, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : कब किया होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : कभी तीन काल में (नहीं किया)।

मुमुक्षु : रिटायर्ड होने के बाद न?

पूज्य गुरुदेवश्री : रिटायर्ड कब हुआ? रिटायर्ड कहाँ है? अन्दर शुभाशुभभाव में एकाग्र है, रिटायर्ड कहाँ है? समझ में आया? यहाँ एकाग्र की व्याख्या आयी है न, इसलिए जरा (बात की है) अर्थात् ऐसे एकाग्र तो था, परन्तु वह एक अग्र नहीं था, अनेक में वह था। अनेक पुण्य-पाप विकल्प, दया, दान, व्रत, काम, क्रोध, ऐसे शुभाशुभभाव, उन शुभाशुभभाव में एकाग्र था, वह अहितकर था, वह अहितपना है, वह बन्ध का कारण है, वह इष्ट-हितकर भाव नहीं है और उसमें रुकना, उसमें लाभ होता है, यह उपदेश भी हितकर नहीं है। समझ में आया?

आत्मा ज्ञानानन्द और आनन्दस्वरूप है, उसमें अन्तर एकाग्र होने का नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र है। वह एक ही हितकर है और ऐसा उपदेश सर्वज्ञों ने तथा सन्तों ने वह हितकर उपदेश दिया है। इसलिए पूज्यपादस्वामी ने इस ग्रन्थ का नाम इष्टोपदेश रखा है। अब एकाग्रता के दो अर्थ। एक कहिए विवक्षित कोई एक आत्मा, अथवा कोई एक द्रव्य, अथवा पर्याय,.. क्या कहते हैं। कहते हैं एकाग्र किसमें होना? -कि कोई एक यह आत्मा, आत्मा-अपना शुद्ध आत्मा अथवा कोई एक द्रव्य अथवा पर्याय, ऐसे साधारण बात की है। किसी भी एक पदार्थ और या उसकी पर्याय, वही है अग्र कहिए प्रधानता से आलम्बनभूत विषय.. उसे लक्ष्य में लेकर जिसका ऐसे मन

को कहेंगे 'एकाग्र'। ऐसे मन को कहेंगे एकाग्र। अन्तर आत्मा में। कोई द्रव्य एक लिया है भले पहले, परन्तु वह द्रव्य आत्मा जो ज्ञायकस्वरूप है, आनन्द है, उसे एक अग्र अर्थात् मुख्य बनाकर और उसमें एकाग्र होना, इसका नाम मन की एकाग्रता कहने में आती है। कहो, समझ में आया ? समझ में आता है ? सूक्ष्म पर्याय में एकाग्र होवे तो भी वह अर्थ तो आत्मा की ही पर्याय लेना अन्दर। शुद्ध निर्मल को अन्तर में एकाग्रता से लक्ष्य में लेना या द्रव्य वस्तु अखण्ड ज्ञायकभाव है, उसे लक्ष्य में (लेना), वह तो पर्याय का लक्ष्य लेने जाये, वहाँ द्रव्य का लक्ष्य हो जाता है। सब ओर के विकल्पों को छोड़कर, विकल्प अर्थात् राग के भाव को लक्ष्य में से छोड़कर, एक भगवान आत्मा के अन्तर में एकाग्र होना, जिसमें ज्ञान और आनन्द पड़ा है, उसमें एकाग्र होना, वह एक ही हित का रास्ता है। समझ में आया ?

प्रधानता से आलम्बनभूत विषय जिसका ऐसे मन को कहेंगे 'एकाग्र'। अथवा एक कहिए पूर्वापर पर्यायों में अविच्छिन्न रूप से प्रवर्तमान द्रव्य.. अर्थात् आत्मा। भगवान आत्मा प्रथम और पश्चात् समस्त पर्यायों में प्रवर्तमान वर्तता ऐसा आत्मा। अपनी भूत और विगत पर्यायों तथा भविष्य की पर्यायों—अवस्थाओं में वर्तता-वर्तता ऐसा आत्मद्रव्य। गजब भाषा। जिसे हित करना हो, वह कैसे होता है, उसकी बात चलती है। हित कहो या धर्म कहो; धर्म कहो या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना हो तो कैसे करना ? कि पूर्वापर पर्यायों में अविच्छिन्न रूप से.. पहले और सभी पर्यायों में एक धारारूप प्रवर्तता जो द्रव्य। पूर्व की अवस्थाओं और बाद की अवस्था में प्रवर्तता द्रव्य। देखो ! दूसरे द्रव्य की यहाँ बात नहीं ली है। स्वयं आत्मा जो वस्तु है, भगवान है स्वयं, गत काल में अवस्थाओं में वर्ता, वर्तमान (में वर्तता है), ऐसा वर्तनेवाला द्रव्य अर्थात् आत्मा वही है, अग्र-आत्मग्राह्य जिसका.. वही जिसे आत्मग्राह्य लक्ष्य में है, उसे मन की एकाग्रता कहा जाता है। समझ में आया ?

पहले में साधारण बात कोई परमात्मा और या कोई द्रव्य और पर्याय, ऐसा लिया है। दूसरे में यह अपना अकेला लिया है। सूक्ष्म बात है। इसने कभी स्व का लक्ष्य ही नहीं किया। परलक्ष्यी बातें अनन्त बार की। शुभ और अशुभभाव अनन्त बार किये। दया, दान, व्रत, भक्ति तप, जप का विकल्प राग; हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग का अशुभराग-इन दो

में एकाग्र अनन्त बार हुआ और अनन्त बार किये। उसमें आत्मा का हित जरा भी नहीं है। समझ में आया? ऐसा यहाँ पूज्यपादस्वामी मुनि दिगम्बर सन्त (कहते हैं)। आज से पहले बहुत वर्ष पहले, हजारों वर्ष पहले उन्होंने यह इष्टोपदेश बनाया है।

भाई! शिष्य ने पूछा था। प्रभु! हमारा हित कैसे हो? हमारी भावना कैसे हो? हमारी भावना कैसे हो? हमने बाहर की भावना तो अनन्त बार भायी। बाहर की अर्थात् शुभ-अशुभभाव, वह तो अनन्त बार भाया और अनन्त बार किये। वह तो अहित है, अहित है। जिसके फल में चार गति भटकने की है। हमारा हित कैसे हो? ऐसा पूज्यपादस्वामी दिगम्बर सन्त गुरु थे, उनसे शिष्य ने पूछा। उसके उत्तर में यह कहा है, भाई! यह आत्मा जो है, गत काल में अवस्था में प्रवर्तनेवाला, भविष्य में भी सब अवस्थाओं में प्रवर्तनेवाला द्रव्य है। वस्तु है, पदार्थ है। उस पदार्थ को लक्ष्य में लेकर उसमें एकाग्र होना, उसका नाम मन की एकाग्रता कहा जाता है। गजब बात। कहो, समझ में आया इसमें?

अग्र-आत्मग्राह्य.. इस आत्मा को ही पकड़ना। शुद्ध अनन्त आनन्दघन भगवान आत्मा को अन्तर में पकड़ना। यह अग्र, इसे मुख्य ग्राह्य आत्मा हुआ दृष्टि में, उसे एकाग्र कहा जाता है। उस एकाग्रता में सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र प्रगट होते हैं और वह हित का कारण है। कहो, ज्ञानचन्दजी! क्या करना, लोग पूछते हैं न? यह पूछा है। दिगम्बर मुनि पूज्यपादस्वामी (कहते हैं)। समझे? संवत् ३०० के वर्ष लगभग कहते हैं।

सारांश यह है कि जहाँ कहीं.. अर्थात् पहले दो बोल लिये थे न? इसलिए जहाँ कहीं (कहा)। अथवा आत्मा में ही श्रुतज्ञान के सहारे से.. क्या कहते हैं? पहले सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा ने कहे हुए शास्त्र, उन शास्त्रों में कहा हुआ आत्मा, उसका पहले अवलम्बन लेना चाहिए। सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग के अतिरिक्त अज्ञानी, अन्य मतियों ने आत्मा कहा, उसे लक्ष्य में नहीं लेना। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमेश्वर वीतराग जिन्होंने यह आत्मा कैसा है, वह कहा है, वह आत्मा, भगवान की वाणी और गुरु द्वारा इसे पहले जानना चाहिए। समझ में आया? कहते हैं न? कहा न? देखो!

किसी भी प्रकार से अर्थात् किसी के भी पास से अथवा आत्मा को श्रुतज्ञान से, सहारे से, श्रुत का सहारा लेना चाहिए। सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा शास्त्र, हों! कि जिसमें

आत्मा का यथार्थ वर्णन हो। उसके सहारे से भावनायुक्त हुए.. देखो! भावनायुक्त हुए मन के द्वारा इन्द्रियों को रोककर स्वात्मा की भावना कर.. लो, समझ में आया? सर्वज्ञ परमेश्वर ने कहा कि आत्मा तो... यह पहले २१ में कह गये हैं, उसकी यह सब बात है। भगवान परमेश्वर ने कहा कि आत्मा तो स्व-पर को जाननेवाला है, लोकालोक को जाननेवाला है, अनन्त आनन्दमय है, शरीरप्रमाण है, शाश्वत-नित्य रहनेवाला है, वह स्वयं अपने से जाना जा सके, ऐसी वह आत्मा चीज़ है। समझ में आया? यह तो अनन्त काल में नहीं किया हुआ, वह क्या करना, ऐसी बात है। आहाहा!

कहते हैं कि भाई! यह भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त ज्ञान जिसमें रहा है, अनन्त-अनन्त आनन्द जिसमें रहा है, तथापि रहा है शरीरप्रमाण क्षेत्र में मर्यादित। शरीरप्रमाण क्षेत्र में मर्यादित परन्तु भाव का अमापपना जिसके स्वभाव में है और वह नित्य द्रव्य वस्तु है। स्वयं ही अपने से जाना जा सके, ऐसी वह जाति है। उसे शास्त्र द्वारा बराबर (जानना चाहिए।) शास्त्र के बिना अपनी कल्पना से आत्मा जानने जायेगा तो गड़बड़ होगी। समझ में आया? सर्वज्ञ परमेश्वर अथवा सन्त धर्मात्मा और शास्त्र के अवलम्बन बिना अपनी कल्पना से आत्मा का स्वरूप मानेगा तो गड़बड़ हो जायेगी। यह कहते हैं। वह वस्तु हाथ में नहीं आयेगी उसे। कैसा है आत्मा, क्या चीज़ है, उसका लक्ष्य में पता अज्ञानी के कथन से या दूसरे से हाथ में आयेगी नहीं। समझ में आया? अथवा सर्वज्ञ परमेश्वर ने शास्त्र में कहा हुआ आत्मा, उसका अवलम्बन लिए बिना आत्मा-आत्मा करेगा तो आत्मा उसे ख्याल में किसी प्रकार से नहीं आयेगा। जिस प्रकार से भगवान ने देखा आत्मा, उस प्रकार से शास्त्र में कहा, उसके अवलम्बन से आत्मा को जानना चाहिए। आहाहा! समझ में आया?

कोई कहता है कि आत्मा और ज्ञान भिन्न है, आत्मा और आनन्द भिन्न है। यह कहते हैं कि आत्मा ज्ञानस्वरूप ही है, आत्मा आनन्दस्वरूप ही है, आत्मा नित्य रहने पर भी शरीर प्रमाण ही रहा हुआ है। समझ में आया? ऐसे आत्मा को पहले शास्त्र द्वारा अवलम्बन द्वारा निर्णय करना। कल्पना से करने जायेगा और आत्मा का माप नहीं करेगा तो आत्मा हाथ नहीं आयेगा। माल तोलने, माल लेने जाये, वहाँ पहले भाव पूछता है या नहीं? माल लेने जाते हैं न? यह पकवान-बकवान। पाँच रुपये का सेर सूरतफेणी। लो! सूरत की सूरतफेणी याद आयी। भाव पूछे तराजू में तौले और तौला (बाँट) तौला होते हैं न? बराबर रखे। ऐसे

खाने लगे, ऐसे नहीं खाया जाता। वह किसी की चीज़ है। इसी प्रकार आत्मा क्या चीज़ है, यह शास्त्र से, नय-निक्षेप-प्रमाण से बराबर जानना चाहिए। समयसार में – तेरहवीं गाथा में कहा है। समयसार में नय, निक्षेप, प्रमाण से आत्मा जानना, ऐसा कहा है। आहाहा! समझ में आया? परमेश्वर ने वर्णन किया, वह आत्मा त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव समवसरण में धर्मसभा में इन्द्रों की उपस्थिति में भगवान ने जो आत्मा कहा, वह वाणी में आया, वह वाणी शास्त्र। उनकी रचना गणधरदेव ने की, उन गणधरों (द्वारा रचित) शास्त्र को ज्ञानी धर्मात्मा समझते हैं। उनसे यह आत्मा कैसा है, यह शास्त्र द्वारा निर्णय करना चाहिए। समझ में आया?

मुमुक्षु :शास्त्र सुनना।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह शास्त्र को सुनना परन्तु कैसा? कि अच्छे गुरु के पास। वापस आगे यह बात कहेंगे। सुनना ऐसा भी नहीं। जो कोई जैसा यह स्वरूप है, वैसा राग से पृथक् किया हुआ उन्होंने है और वे बतावे तो उस राग से पृथक् करना बतावें, उनसे सुनना, ऐसा कहते हैं। यह आगे कहेंगे, यह बाद के श्लोक में कहेंगे, भाई! २३ में कहेंगे। समझ में आया?

मुमुक्षु : सुनने से पहले यह निर्णय करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। इतना निर्णय न करे तो... ऐसे का ऐसे माल लेने जाता होगा? हलवाई की दुकान में माल मिलता होगा या अफीम की दुकान में, अफीमिया की दुकान में माल मिलता होगा? इतना निर्णय करना पड़ेगा या नहीं?

मुमुक्षु : अफीमिया की दुकान पर जाकर मावा तो मिलता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अफीम का मावा मिलता है, कहीं दूध का मावा नहीं मिलता।

मुमुक्षु :निर्णय करना पड़ेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : इतना निर्णय करना पड़ेगा कि इस आत्मा को-मुझे आत्मा चाहिए है, तो वह आत्मा कैसा है और राग से पृथक् बतानेवाले कौन हैं और किसने जाना है? इतना निर्णय किये बिना यह आत्मा जान नहीं सकेगा। हित करना चाहता है या नहीं? अर्थात् क्या, कि नहीं किया अनन्त काल में, ऐसा करना चाहता है या नहीं? तब क्या नहीं

किया ? कि राग और आत्मा की पृथक्ता इसने कभी अनन्त काल में नहीं की, तो ऐसा उपदेश जिसका हो, उससे सुनना, ऐसी उसकी योग्यता इतनी तो पहले चाहिए। आहाहा ! समझ में आया ?

(समयसार) १२वीं गाथा में आया है न यह सब आया है। जिनोपदेश सुनना... नहीं आता ? समयसार में बारहवीं गाथा में भावार्थ में यह सब कहा है। जिनोपदेश मिले। जिनोपदेश अर्थात् वीतरागी उपदेश मिले। वीतरागी उपदेश अर्थात् विकार और स्वभाव का भेद करानेवाली बात हो, उसका नाम जिनोपदेश है। जिसमें राग की क्रिया और स्वभाव की एकता मनवावे और लाभ मनवावे, वह वीतरागी उपदेश है ही नहीं। समझ में आया ? शुभभाव भी हो और उससे आत्मा के स्वभाव को लाभ हो, यह उपदेश ही जैन परमेश्वर का नहीं है, जैन शास्त्र का यह उपदेश ही नहीं है, क्योंकि यह तो अनादि से कर रहा है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो करता है। अब यह सच्चा ऐसा कहते हैं कि मुझे, नहीं किया ऐसा अब करना है, तो क्या नहीं किया ? कि शुभाशुभभाव से पृथक् और वह पृथक् कैसा आत्मा है, यह इसने नहीं किया।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : जन्म-मरण होवें किसके वे ? समझ में आया ? लो !

भावनायुक्त हुए मन के द्वारा इन्द्रियों को रोककर.. पहली शास्त्र द्वारा उसकी भावना से बराबर जाने, ऐसा कहते हैं। पश्चात् शास्त्र में यह कहा था, शास्त्र में यह कहा था, कि यह आत्मा अनन्त ज्ञान और आनन्दकन्द है तथा वह राग से पृथक् होवे तो वह प्राप्त हो, ऐसा है। इसलिए उसे रोककर, यह शास्त्र में ऐसा कहा था। समझ में आया ? भाई ! तेरा आनन्दकन्द स्वरूप है न, प्रभु ! इन पुण्य-पाप के विकल्प से हटकर, इसमें एकाकार हो, ऐसा शास्त्र... आत्मा ऐसा और ऐसा एकाकार हो और राग से हट ऐसा शास्त्र में कहा था, ऐसा इसने जाना था, वैसा यह करे तो आत्मा की प्राप्ति होती है। समझ में आया ?

मन के द्वारा इन्द्रियों को रोककर स्वात्मा की भावना कर.. देखो ! भगवान आत्मा

मेरी परमेश्वर शक्ति से पूर्ण है। मैं स्वयं ही परमेश्वर हूँ। ऐसा अन्तर में शास्त्र से इसे दृष्टि में समझाया था। समझ में आया ? यह अपने परमात्मा के प्रति भावना कही न ? स्वात्मा के प्रति। भगवान के प्रति नहीं, भगवान पर हैं। भगवान ने ऐसा कहा नहीं था। भगवान की वाणी में भी ऐसा आया था कि तेरे स्वात्मा के प्रति एकाग्र हो। आहाहा! समझ में आया ? इसका नाम पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश कहते हैं। यह तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि की है न इन्होंने ? वे यह इष्टोपदेश कहते हैं। आहाहा!

इसने नहीं देखा कभी आत्मा सन्मुख का क्या स्वरूप ? इसने देखा अनादि से राग-द्वेष और ये बाहर के पदार्थ। इस वस्तुस्वरूप में कैसे जाया जाए और कैसे देखा जाए ? यह शास्त्र जो कहा वीतराग ने, उसे जानना चाहिए। आत्मा ऐसा है और उस सन्मुख जाया जाता है। पश्चात् स्वात्मा की भावना कर। भगवान आत्मा अनन्त आनन्द और बेहद परमेश्वरपद का स्वरूप है, ऐसे उसमें अन्तर एकाग्र होकर उसी में एकाग्रता को प्राप्त कर चिन्ता को छोड़कर.. दूसरी विकल्प की दशा छोड़कर स्वसंवेदन के ही द्वारा.. आया। स्वसंवेदन कहा था न २१ में ? स्वयं अपने ज्ञान से वेदन द्वारा, ज्ञान से। विकल्प से तो छूटा है। अब ज्ञान द्वारा। पुण्य-पाप के विकल्प नहीं। शुभाशुभभाव से आत्मा ज्ञात नहीं होता, उससे हित नहीं होता। आहाहा!

स्वसंवेदन के ही द्वारा.. पहले विकल्प को छोड़ा। अब अन्तर में साधन क्या रहा ? राग तो साधन नहीं, पुण्य साधन नहीं, निमित्त साधन नहीं, मन साधन नहीं। भगवान आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप पूर्णानन्द का नाथ, उसे अपने अन्तर्मुख स्वसंवेदनज्ञान के वेदन द्वारा आत्मा को जानना। **आत्मा का अनुभव करे।** देखो! आहाहा! गजब बातें, भाई! लोगों को महँगी पड़ी, इसलिए दूसरा रास्ता लेने दौड़ते हैं परन्तु दूसरा रास्ता है नहीं। आहा! रास्ता 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ' परमार्थ के पन्थ दो-तीन भगवान के मार्ग में नहीं होते। क्या कहा देखो! यह पूज्यपादस्वामी कहते हैं, उसका अर्थ है।

भगवान आत्मा... अरे! स्वयं पूर्ण और स्वयं शुद्ध और स्वयं अधिक न हो तो दुनिया में अधिक चीज़ कौन सी होगी दूसरी ? समझ में आया ? अपने स्वरूप के अनन्त-अनन्त गुण के सामर्थ्यवाला तत्त्व, उसका माहात्म्य करके उसमें एकाग्र होना, विकल्प शुभाशुभराग की उपेक्षा करना और भगवान आत्मा ऐसा पूर्ण है, ऐसे अन्तर्मुख में उसकी अपेक्षा लेना,

उसका अनुभव करना, यह हित का मार्ग है। समझ में आया ? आत्मा का अनुभव, वह हित का मार्ग है, ऐसा यहाँ तो सिद्ध किया है। आहाहा!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेला कहते हैं। अकेला ही जा। अकेला जा सकता है, अनजाना नहीं है। तेरा मार्ग है, तुझसे ज्ञात हो, ऐसा तू है। जितने गये हैं, वे अपने स्वसंवेदन द्वारा अन्तर में अनुभव करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : अनजान के लिए.... ?

पूज्य गुरुदेवश्री : जाना (परिचित) है। अनजाना कैसा ? इसका स्वभाव ही ऐसा है। कभी नहीं जाना और स्वभाव स्व को जानने का स्वभाव है। यह तो कहा निमित्तमात्र। वह तो निमित्त की बात की। आत्मा दूसरे प्रकार से न मान लिया जाए, इसलिए बात की। विमुख होना है, फिर श्रुत कहता है, उस ओर का लक्ष्य कहाँ है ? सूक्ष्म बात है, भाई ! इसने अनन्त काल में आत्मा के हित की राह (मार्ग) देखा नहीं। कैसे हो यह सुना नहीं। ऐसा का ऐसा अन्ध दौड़ से अनन्त काल में अन्धी दौड़ से दौड़ा है। मार्ग से दूर पड़ता जाता है और मानता है कि हम मार्ग में समीप होते जाते हैं। उल्टा पड़ा परन्तु स्वतन्त्र है। समझ में आया ? बापू ! तुझमें क्या अपूर्णता है ? तुझमें क्या पूर्णता से भरा हुआ नहीं है कि जिसके समीप में तू आता नहीं और पुण्य-पाप में तथा निमित्त में क्या तेरा पड़ा है कि उसके समीप का पहलू छोड़ता नहीं। समझ में आया ? लो !

आत्मा का अनुभव करे। है न ? जैसा कि कहा भी है - 'गहियं तं सुअणाणा।' यह समाधिगतक (का आधार है)। समझ में आया ? 'गहियं' है न ? तृतीय अध्याय में पृष्ठ १७० में कहते हैं।

अर्थ - 'उस (आत्मा) को श्रुतज्ञान के द्वारा जानकर.. देखो ! यह तो समयसार में १४४ में यह कहा है, यह कहा है, वह बात (यहाँ है)। पहले शास्त्रज्ञान द्वारा जानना कि यह आत्मा कैसा है। दूसरे की बात छोड़ दे, दुनिया उसके घर में रही। यह हित करना हो तो आत्मा कैसा है, यह पहले शास्त्रज्ञान द्वारा जाने। पीछे संवेदन (स्वसंवेदन) में अनुभव करे। पश्चात् अपना ज्ञानवेदन करके उस ज्ञान द्वारा आत्मा को अनुभव करे।

जो श्रुतज्ञान का आलम्बन नहीं लेता, वह आत्मस्वभाव के विषय में गड़बड़ा जाता है। सर्वज्ञ परमेश्वर ने जैसा आत्मा कहा, वैसा शास्त्र में कहा, उसका अवलम्बन नहीं ले तो मर जाएगा, उल्टा-सीधा होकर। अभी बहुत से आत्मा के नाम से उल्टा डालते हैं। समझ में आया ? गड़बड़ी करते हैं। बस ! आत्मा को अस्ति कहना, वह कुछ नहीं, भूल जाओ। वह भूल जाओ, श्रद्धा-बद्धा भूल जाओ, श्रद्धा-बद्धा नहीं। ऐसा नहीं होता। भगवान परमेश्वर ने कहा आत्मा पहले बराबर जानना चाहिए। अन्यमती अज्ञानी कहते हैं, हमने ध्यान में आत्मा देखा, इसलिए हम आत्मा की बात कहते हैं। नहीं, मिथ्या बात है। सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतराग ने एक समय में अनन्त आत्माएँ प्रत्यक्ष देखे हैं। उन्होंने जो वाणी कही और जो शास्त्र रचे गये हैं, उनके द्वारा इसे आत्मा का निर्णय करना चाहिए। पोपटभाई ! यह अभी बहुत चला है, ऐसा आत्मा के नाम से। यहाँ का आत्मा का चला न ? गहरे-गहरे उतर जाओ। परन्तु गहरे कहाँ उतरे ? कहाँ उतरना ? वस्तु क्या ? आत्मा क्या ? कितना है ? कितने क्षेत्र में है ? कितने गुण हैं ? गुण का सामर्थ्य कितना है ? समझ में आया ? ऐसा जाने बिना आत्मा.. आत्मा.. ऐसा करने से आत्मा नहीं आता, कहते हैं। बहुत से कहते हैं अभी तो। अमुक.. अमुक.. अमुक.. ऐसा उपदेश देते हैं, बस ! ऐसे गहरे-गहरे उतर जाओ परन्तु गहरे कहाँ ? क्या है तो गहरे उतरना ? पानी में उतरना गहरे या जीव में उतरना गहरे।

मुमुक्षु : तहखाने में..

पूज्य गुरुदेवश्री : तहखाने में अन्धेरे में क्या मिलेगा वहाँ ? वस्तु आत्मा ऐसा महान पदार्थ बड़ा। जैसे समुद्र में नीचे मोती पड़े हों और लेने जाए, मोती लेने जाते हैं। कोई ऐसे का ऐसा अन्ध नहीं जाता अन्दर। समझ में आया ? इसी प्रकार भगवान आत्मा एक सेकेण्ड के असंख्य भाग में परमेश्वर के रूप से भगवान द्रव्य से है, द्रव्य उसका परमेश्वररूप है। पर्याय में केवली परमेश्वर प्रगट हुए हैं, वह द्रव्य से परमेश्वर, इसका रूप है। सर्वज्ञ हो सकने की ताकत है। तीन काल, तीन लोक को जानने की उसमें ताकत है। अकेला रहकर तीन काल-तीन लोक जाने, ऐसी उसकी ताकत है। आहाहा ! समझ में आया ? ऐसे आत्मा को परमेश्वर ने-सन्तों ने कहा हुआ... समझ में आया ? दिगम्बर मुनियों ने परम्परा सर्वज्ञ से कहा, वह बात कहते हैं। उनके घर की बात जरा भी नहीं है। दिगम्बर सन्त, अनन्त

ज्ञानी परमेश्वर ने जो बात कही, वह कहते हैं। उसे वेदन द्वारा जानना समझ में आया ? बहुत उपदेश ऐसे हो गये हैं न अभी ? आत्मा, आत्मा की बहुत बातें करे। बस ! विचार छोड़ दो, विकल्प छोड़ दो। फिर जाना कहाँ ? कहाँ जाना किसमें ? यह कुछ खबर नहीं होती। कितना आत्मा है ? कितने क्षेत्र में है ? कितने गुणवाला है ? एक-एक गुण में कितना सामर्थ्य है, वह कुछ मुझे खबर नहीं।

मुमुक्षु : वह विकल्प ही करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : विकल्प करने से मर जाएगा, नहीं समझे तो। वस्तु नहीं जाने तो जाएगा कहाँ ? समझ में आया ?

पहले यह विकल्प द्वारा जानना चाहिए, ऐसा कहते हैं। परमेश्वर ने कहा वह। नहीं तो, श्रुतज्ञान का आलम्बन नहीं लेता वह आत्मस्वभाव के विषय में गड़बड़ा जाता है। समझ में आया ? इसी तरह यह भी भावना करे.. आया न ? इसी तरह यह भी भावना करे कि जैसा कि पूज्यपादस्वामी के समाधिशतक में कहा है - 'प्राच्याव्य विषयेम्योऽहं।' यह दूसरा उद्धरण है।

मैं इन्द्रियों के विषयों से अपने को हटाकर.. देखो ! यह भी पूज्यपादस्वामी ने कहा है। वह समाधिशतक, यह इष्टोपदेश है। भगवान आत्मा.. इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियों की ओर के विकल्प हैं, इसे यह सब निर्णय करना चाहिए और विकल्पातीत भगवान पूर्णानन्द से भरपूर आत्मा है। कहाँ से हटना है, वह क्या है, इसे ज्ञान करना पड़ेगा या नहीं ? और जहाँ जाना है, वह क्या है, उसका ज्ञान करना पड़ेगा। मैं इन्द्रियों के विषयों से अपने को हटाकर.. पाँच इन्द्रिय यह जड़ और खण्ड-खण्ड इन्द्रिय और इसका विषय यह सुनना आदि सब पर विषय है। आहाहा ! अपने को हटाकर.. देखा ? अपने आत्मा को पर से हटाकर। अर्थात् क्या ? कि भाई ! कर्म-बर्म कुछ मार्ग दे तो हट सकूँ, ऐसा नहीं है। तेरे पुरुषार्थ से ही पर से हट जा। पर में तू रूका हुआ था, वह भी तेरे पुरुषार्थ से ही रूका हुआ था। उल्टे पुरुषार्थ से तेरा भाव पुण्य-पाप में, विकल्प में रूका हुआ, वह भी तेरे पुरुषार्थ से ही उल्टा था। कर्म-बर्म ने तुझे रोका है, ऐसा नहीं है। आहाहा ! अपने को आप भूल के हैरान हो गया। स्वयं ही अपने को भूला था। अपने को हटाकर.. भगवान आत्मा पर इन्द्रियों से हटाकर।

अपने में स्थित ज्ञानस्वरूप.. देखो! दो बातें लेनी है न वापस? अपने में स्थित.. अपने में है ज्ञानस्वरूप। भगवान आत्मा में ज्ञान का समुद्र भरा है। भगवान आत्मा में ज्ञानसमुद्र-ज्ञानसागर है और एवं परमानन्दमयी आपको.. देखो! दोनों बातें ली हैं। लोकालोक का ज्ञान और अनन्त सुखवाला कहा था न? स्वयं उस समाधिशतक में भी ये (कहते हैं)। आत्मा में अनन्त ज्ञान भरा है और परमानन्द भरा है, अतीन्द्रिय आनन्द भगवान अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर आत्मा है। ऐसे आनन्दमयी आपको, ऐसा अभेद किया न? अपने में रहा हुआ ज्ञानस्वरूप और परमानन्दस्वरूप ऐसे आपको ! आपको अपने ही द्वारा प्राप्त हुआ हूँ। आपको अपने ही द्वारा.. देखो! विकल्प द्वारा, व्यवहार द्वारा, निमित्त द्वारा नहीं। देखो! यह पूज्यपादस्वामी स्वयं अपनी बात करते हैं। समझ में आया ?

भगवान आत्मा में पूर्ण ज्ञान और आनन्दस्वरूप पूर्ण पड़ा है। इन्द्रियों के विषयों के शुभाशुभ विकल्पों से, विषयों से हटकर अपने को हटाकर.. उसे विकल्पों से विमुख करके अपने में स्थित ज्ञानस्वरूप एवं परमानन्दमयी आपको अपने ही द्वारा प्राप्त हुआ हूँ। स्वयं अपने द्वारा मैं प्राप्त हुआ हूँ, मैं दूसरों के द्वारा दूसरों को प्राप्त हुआ हूँ, ऐसा है नहीं। आहाहा! समझ में आया ? यह तो वीतराग मार्ग की मक्खन की बात है। मुद्दे की रकम-पूँजी-पूँजी, ब्याज, ब्याज एक ओर रहा। रकम ला पहले, रकम। दस लाख दिये हों और भई ब्याज लिया बहुत वर्ष। लाओ, पूँजी लाओ पहले। इसी प्रकार आत्मा की पूँजी अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दमयी, उसकी ओर एकाग्र होना, वही आत्मा को मोक्ष का मार्ग है। आपको अपने ही द्वारा प्राप्त हुआ हूँ। प्राप्त हुआ हूँ। मेरा स्वरूप मेरे द्वारा प्राप्त हुआ है; गुरु द्वारा नहीं, शास्त्र द्वारा नहीं, राग द्वारा नहीं, निमित्त द्वारा नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! पंगु है न! इसलिए मानो कुछ.. कुछ.. कुछ.. दूसरा होवे, कुछ दूसरा मिले (तो होवे) परन्तु तू कहाँ तुझमें कुछ कमी है ? समझ में आया ?

मुमुक्षु :सहारा लेने को कहा हो तो फिर....

पूज्य गुरुदेवश्री : सहारा नहीं कहा। वह तो मात्र जानना, इतना है, इसलिए पहले जान, ऐसा कहते हैं। फिर वहाँ से हट जा, ऐसा कहते हैं। सहारा लिया और फिर... सहारा लेने को नहीं कहा। वह आत्मा जैसा है, वैसा दूसरे से नहीं ज्ञात होता, इसलिए इस प्रकार जान, ऐसा कहने के लिए बात की है।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : खड़ा नहीं करता, होवे कहाँ से ? करता नहीं, होता नहीं । कितना चिपटता है, विचार आवे तब खबर है ? आँख ऐसे टक-टक हो जाती है । आँख ऐसे मानो कोई मानो कोई क्या वर्तता है ऐसे । खबर है न फावाभाई ! आँखें ऐसी की ऐसी स्थिर हो जाती हैं, हों ! दो-दो मिनिट तक ऐसे देखा हो, ऐसे स्थिर हुई हो गयी हो । अन्दर चलता हो कुछ । बन्दर का या किसी का या अमुक का ।

ऐसा कहते हैं कि उसमें एकाग्र होना आता है या नहीं ? एकाग्र हो जाता है या नहीं ? वह कौन होता है ? स्वयं । उसमें वह कराता है कोई वहाँ ? दुकान कहती है वहाँ ? इसी प्रकार पर में एकाग्र होता है, वैसे स्व में स्वयं एकाग्र हो सकता है । भूल जाए । आँखें ऐसी की ऐसी रह गयी, हों ! अन्दर विचार में चढ़ जाए, लो ! यह तो इसकी नहीं परन्तु दूसरे बहुतों को ऐसा है न । घण्टे-घण्टे, दो-दो घण्टे ऐसे के ऐसे विचार में चले जाते हैं । क्या करते थे तुम ? मैं तो विचार में चढ़ गया था । आँखें तो खुली थी न ? थी अवश्य परन्तु मैं तो दूसरे विचार में चढ़ गया । यह इसका ऐसा हो और इसका ऐसा हो और इसका ऐसा हो ।

मुमुक्षु : भाई अमेरिका जा आवे ।

पूज्य गुरुदेवश्री : रात्रि में अमेरिका जा आवे । वह तो उस नींद में जा आया था सपने में... यह तो विकल्पों में एकदम कहीं ऐसा-ऐसा स्थिर हो जाए न ! मस्तिष्क में कुछ लक्ष्य में लिया हो कि दुकान, उसकी इतनी आमदनी । इतना मकान लिया है, इतना यहाँ डाले तो ठीक नहीं तो मकान में डाले न तो ठीक, नहीं तो अन्यत्र डाले तो वापस ठीक रहे या नहीं ? डेढ़ टका पैदा हो परन्तु डेढ़ टका की अपेक्षा इस मकान में डाले तो... यह विचार में चढ़ जाए तो कुछ हाथ नहीं आता हाथ । ऐई ! हिम्मतभाई ! रुपये में डेढ़ टका पैदा हो । मुम्बई में भी यह डेढ़ टका, परन्तु जोखिम । वह पैसा आयेगा या नहीं ? फावाभाई ! परन्तु यदि मकान में डाल दें तो जाए तो नहीं । भले बारह आना उपजे । तब बारह आने (था) । लो ! क्यों फावाभाई ? ऐसा विचार आता है या नहीं ? ऐसे चढ़ जाए विचार अन्दर से, हों ! चढ़ जाए, उसे कहना, मकान में डाल दे । वापस बहुत लम्बा जोखिम हो । लड़को को आवे

न आवे। समझे न? मकान होगा तो कभी हो और किराया तो पैदा होगा। धूल में भी नहीं, अब सुन न! यह एकाग्र होकर सब भूल जाता है ऐसे।

यहाँ कहते हैं कि एकाग्र होकर भूल जा दूसरा सब। यह तुझे आता है। वहाँ आता है तो यहाँ नहीं आता? इसे ध्यान करना आता है परन्तु आर्त और रौद्र। यह आर्तध्यान है न? यहाँ गुलॉट खा। भगवान आत्मा पूर्ण परमेश्वर को मैं मिला नहीं। मैं ही स्वयं परमेश्वर परन्तु मैंने मेरा मिलाप किया नहीं। मुझमें नहीं ऐसी चीज़ का मैंने मिलाप किया। पुण्य और पाप, शरीर और वाणी, मन और धूल जो परद्रव्य। उसमें से तो अनन्त काल से हैरान हुआ हूँ।

ऐसा जानकर यहाँ कहते हैं कि मैं अपने में स्थित ज्ञानस्वरूप.. यहाँ ज्ञान रहा हुआ है, बाहर से नहीं आता। परमानन्दमयी आत्मा हूँ। देखो! यह प्रथम सम्यग्दर्शन की बात चलती है, हों! प्रथम सम्यग्दर्शन होने के काल में ऐसा होता है। आहाहा! समझ में आया? सम्यग्दृष्टि होने में अपने को अपने में स्थित ज्ञान आनन्दस्वरूप.. यहाँ तो दो बोल लिए, बाकी पूरा आत्मा उस समय (लक्ष्य में आता है)। ऐसे आपको अपने ही द्वारा.. वस्तुस्वरूप मैं महापूर्णानन्द मेरे स्वभाव द्वारा साधन से प्राप्त हुआ हूँ। पूज्यपादस्वामी कहते हैं, मैं तो इस प्रकार से प्राप्त हुआ हूँ, दूसरे प्रकार से मैं प्राप्त हुआ नहीं। आहाहा!

यह तो पंचम काल के मुनि हैं। समझ में आया? ये कहीं मोक्ष नहीं जाएँगे, केवल (ज्ञान) नहीं, तथापि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में मैं मुझे प्राप्त हुआ हूँ। इतनी दशा तो मुझमें आयी है, ऐसा स्वयं को साक्षी है। खबर पड़े या नहीं, ऐसा नहीं है, देखो! मुनि हैं, छद्मस्थ हैं, पूज्यपादस्वामी महावनवासी दिगम्बर मुनि जंगलवासी, आत्मध्यान में मस्त हैं। मैं मेरे द्वारा मेरे में रहनेवाले ज्ञान और आनन्द को मैं प्राप्त हुआ हूँ। कहो, समझ में आया? यह मार्ग है, बाकी दूसरा कोई मार्ग नहीं है। आहाहा! इसमें उस व्यवहार का क्या हुआ? परन्तु भाई! वह बीच में भक्ति, पूजा, यात्रा, दान, दया यह विकल्प आवे, आते हैं, वे हितकर नहीं हैं— (ऐसा) यहाँ सिद्ध करना है। वह तो ज्ञान करने के लिए बीच में आते हैं, उन्हें जाननेवाला आत्मा है। उनसे हित-बित नहीं है, यह बात यहाँ तो है। आहाहा! लोग तो शोर मचाये ऐसा है, हों! भगवान के पास जा भाई! पूज्यपादस्वामी को कह कि आपने ऐसा किसलिए

(कहा) ? ऐसा शास्त्र किसलिए बनाया ? जुगराजजी ! तब कैसा बनावे ? कोई दूसरा बनावे ? आहाहा ! भगवान ! तेरी स्वाधीनता तेरे पास है, ऐसा तुझे कहते हैं, वह तुझे रुचता नहीं ? समझ में आया ?

दोहा - मन को कर एकाग्र, सब इंद्रियविषय मिटाय।

आत्मज्ञानी आत्म में, निज को निज से ध्याय।।२२।।

पूरे श्लोक का एक हिन्दी (दोहा) । यह हिन्दी सार, २२ वें श्लोक का हिन्दी सार । **मन को कर एकाग्र**,.. एकाग्र की व्याख्या दो प्रकार से आ गयी न ? कोई लक्ष्य में दूसरा लेकर या आत्मा को । **सब इंद्रियविषय मिटाय** । सब इन्द्रियों का विषय । शुभाशुभ शब्दों को सुनना, वह भी छोड़ दे । समझ में आया ? मन के विकल्प में भी ऐसे उठा करे, वह ऐसा था और वह भी एक विषय है अन्दर मन का विषय चलता है अन्दर । हटा दे । **आत्मज्ञानी आत्म में**,.. यह आत्मा का जाननेवाला, आत्मा को जाननेवाला आत्म में, ऐसा पहले ऐसे ले लिया । ऐसा आत्मा है, ऐसा जाना—ऐसा आत्मज्ञानी आत्मा को जाननेवाला आत्म में **निज को निज से ध्याय** । लो ! वह अपने को अपने से ध्यान करे, वह उसका साधन है । आहाहा !

यहाँ तो पंचम काल के मुनि पूज्यपादस्वामी हैं । जंगल में बसते थे, दिगम्बर सन्त । वे यह उपदेश करते हैं । इसका नाम इष्टोपदेश है इस शास्त्र का । ५१ श्लोक हैं, सादी (भाषा) में हैं, परन्तु श्लोक थोड़े किन्तु भाव तो परिपूर्ण भरा है । ओहोहो ! दिगम्बर सन्तों ने... धर्म के धुरन्धर धोरी, जिन्होंने आत्मा क्या चीज़ (है, वह) इसकी हथेली पर जगत को बताया । समझ में आया ? उस आत्मा का अन्तरध्यान और ज्ञान का नाम मुनिपना और उसका नाम धर्म है । यहाँ तो कहें वस्त्र-वस्त्र भी नहीं और पंच महाव्रत के विकल्प उठें वे भी हितकर नहीं, ऐसा कहते हैं । आहाहा ! शोर मचावे न, शोर ।

यहाँ तो कहते हैं **आत्मज्ञानी आत्म में, निज को निज से ध्याय** । अपने को अपने द्वारा ध्याना । विकल्प है राग, वह पंच महाव्रत, वह विकल्प है, उसके द्वारा नहीं । आहाहा ! गजब बात सूक्ष्म ! 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ ।' चौथा काल या पाँचवाँ काल, मार्ग तो एक ही होता है । स्थिरता में कम-ज्यादा अन्तर हो परन्तु सम्यग्दर्शन

के न्याय में अन्तर नहीं होता। आत्मज्ञानी आत्म में, निज को निज से ध्याय। भगवान् आत्मा को आनन्दमयी, ज्ञानमयी को निज को निज से.. अर्थात् ज्ञान और आनन्द से उसका एकाग्रपना करे। आहाहा! समझ में आया? लो! यह २२ गाथा पूरी हुई।

यहाँ पर शिष्य का कहना है कि भगवन्! आत्मा से अथवा आत्मा की उपासना करने से क्या मतलब सधेगा - क्या फल मिलेगा? क्योंकि विचारवानों की प्रवृत्ति तो फलज्ञानपूर्वक हुआ करती है, इस प्रकार पूछे जाने पर आचार्य जवाब देते हैं -

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।

ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः॥२३॥

अर्थ - अज्ञान कहिये ज्ञान से रहित शरीरादिक की सेवा अज्ञान को देती है, और ज्ञानी पुरुषों की सेवा ज्ञान को देती है। यह बात प्रसिद्ध है, कि जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसी को देता है, दूसरी चीज जो उसके पास है नहीं, वह दूसरे को कहाँ से देगा?

विशदार्थ - अज्ञान शब्द के दो अर्थ हैं, एक तो ज्ञानरहित शरीरादिक और दूसरे मिथ्याज्ञान (मोह-भ्रान्ति-संदेह) वाले मूढ़-भ्रान्त तथा संदिग्ध गुरु आदिक। सो इनकी उपासना या सेवा अज्ञान तथा मोह-भ्रम व संदेह लक्षणात्मक मिथ्याज्ञान को देती है। और ज्ञानी कहिये, ज्ञानस्वभाव आत्मा तथा आत्मज्ञानसम्पन्न गुरुओं की तत्परता के साथ सेवा, स्वार्थावबोधरूप ज्ञान को देती है। जैसा कि श्रीगुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है - 'ज्ञानमेव फलं ज्ञाने।'

'ज्ञान होने का फल, प्रशंसनीय एवं अविनाशी ज्ञान का होना ही है, यह निश्चय से जानो। अहो! यह मोह का ही माहात्म्य है, जो इसमें ज्ञान को छोड़ कुछ और ही फल ढूँढ़ा जाता है। ज्ञानात्मा से ज्ञान की ही प्राप्ति होना न्याय है। इसलिये हे भद्र! ज्ञानी की उपासना करके प्रगट हुई है, स्व-पर विवेकरूपी ज्योति जिसको ऐसा आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा में ही सेवनीय है, अनन्यशरण होकर भावना करने के योग्य है।'॥२३॥

दोहा - अज्ञभक्ति अज्ञान को, ज्ञानभक्ति दे ज्ञान।

लोकोत्की जो जो धरे, करे सो ताको दान॥२३॥

गाथा - २३ पर प्रवचन

अब शिष्य ने प्रश्न किया, यहाँ पर शिष्य का कहना है कि भगवन्! गुरु को पूछता है। आत्मा से अथवा आत्मा की उपासना करने से क्या मतलब सधेगा—क्या फल मिलेगा? ऐसा कि, क्या फल है? विचारवानों की फल की प्राप्ति के बिना प्रवृत्ति नहीं होती। विचारवानों की फल की प्राप्ति के बिना प्रवृत्ति नहीं होती। ऐसा कहते हैं। बराबर सन्धि करता है न? आत्मा से अथवा आत्मा की उपासना करने से क्या मतलब सधेगा—क्या फल मिलेगा? क्योंकि विचारवानों की प्रवृत्ति तो फलज्ञानपूर्वक हुआ करती है,.. उसके फल का ज्ञान उसे होता है। फल का ज्ञान होता है कि इसमें से आनन्द फल प्राप्त होगा। ऐसे फल के बिना उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, ऐसा कहते हैं। आहाहा! दुनिया में भी जिसकी आवश्यकता जाने, वहाँ पुरुषार्थ करता है या नहीं? इसी प्रकार आत्मा को फल की प्राप्ति बिना विचारवानों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। आनन्द की प्राप्ति के लिए अन्दर में प्रवृत्ति है। समझ में आया? फलज्ञानपूर्वक हुआ करती है, इस प्रकार पूछे जाने पर आचार्य जवाब देते हैं – वह शिष्य पूछता है, हों! महाराज! धर्मात्मा आत्मा की सेवा किसलिए करें? क्योंकि जिसका फलज्ञान न हो, उसकी प्रवृत्ति ज्ञानी किसलिए करे? तो किसलिए यह करते हैं?

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः।

ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः॥२३॥

वाह! देखो! अर्थ – अज्ञान कहिये ज्ञान से रहित शरीरादिक की सेवा अज्ञान को देती है,.. क्या कहते हैं? आत्मा में होनेवाले पुण्य-पाप के विकल्प, वह भी अज्ञान है, उनमें ज्ञानस्वरूप नहीं है। शरीर में ज्ञानस्वरूप नहीं है, वाणी में ज्ञान नहीं है। शरीरादिक की सेवा.. यह शरीर ज्ञान से रहित है। इस जड़ में ज्ञान कहाँ है? यह तो मिट्टी है, वाणी में ज्ञान कहाँ है? आठ कर्म में ज्ञान कहाँ है? वह तो जड़ है। इसी प्रकार पुण्य-पाप के भाव में ज्ञान नहीं है, वह तो विकार है, वह भी अज्ञान है। चैतन्य के मूर्तस्वरूप के अतिरिक्त का अर्थात् अज्ञान, ऐसा। विपरीत ज्ञान, ऐसा नहीं। समझ में आया? ज्ञान से रहित शरीरादिक

की सेवा अज्ञान को देती है,.. शरीर अज्ञान है, पुण्य-पाप भाव भी ज्ञान के चैतन्यमूर्ति के स्वभावरहित पुण्य-पाप हैं। उनकी सेवा करने से अज्ञान मिलेगा, विकार मिलेगा और चार गति में भटकेगा। आहाहा!

भगवान आत्मा ऐसा ज्ञानमूर्ति और आनन्दमूर्ति है। उससे विरुद्ध पुण्य-पाप के भाव में ज्ञान और आनन्द नहीं है तथा शरीर, वाणी, मन में ज्ञान और आनन्द नहीं है। जो पुण्य-पाप का भाव और यह शरीर आदि की सेवा करने से उसे अज्ञान मिलेगा, विकार होगा और विकार का फल चार गति मिलेगी। बराबर है? उस फल का विचार चलता है।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर की सेवा करेगा तो निरोग रहेगा। धूल भी नहीं रहेगा। शरीर की सेवा कर कौन सकता है? हेतु तो एक यह कहना है कि भगवान ऐसा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। उससे विरुद्ध पुण्य-पाप के भाव, कर्म, शरीर आदि सब, वह सब अज्ञान है। अज्ञान अर्थात् उसमें चैतन्य की ज्योत नहीं है। वह चैतन्य की ज्योत जिसमें नहीं, उसकी सेवा अर्थात् उसमें एकाग्र होने से तो अज्ञान और विकार होगा। आहाहा! वाह रे वाह! इष्टोपदेश! देखो, इष्टोपदेश!

और ज्ञानी पुरुषों की सेवा ज्ञान को देती है। ज्ञानी पुरुष की दो बात करेंगे, हों! भगवान ज्ञानमूर्ति प्रभु की एकाग्रता से आनन्द और ज्ञान मिलेगा और या ज्ञानी धर्मात्मा पुरुषों की सेवा अर्थात् वे कहेंगे क्या? कि तेरा ज्ञान और आनन्द तुझमें है, ऐसा वे कहेंगे। इसलिए उनसे प्राप्ति हुई और उनसे फल वह मिलेगा, ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : इसके लिए तो यह बात उठायी है कि आत्मा ज्ञानी ज्ञानानन्द है, उसकी सेवा अर्थात् एकाग्रता अथवा ज्ञानी उसे राग से भिन्न करने की बात करेंगे। उसे भगवान आत्मा ऐसा है, उसकी सेवा कर, ऐसे ज्ञानी की सेवा की बात में सुनने का उसे यह मिलेगा। वे ऐसा कहेंगे, हमारे सामने देखना (छोड़कर) और राग छोड़कर अन्दर में जा। आहाहा! समझ में आया? वह उसी को देता है,.. जिसके पास जो हो, वह उसे दे। अफीम की दुकान में जाए तो अफीम हो वह दे। वहाँ कहाँ मावा मिलेगा? गाय का मावा?

मावा कहते हैं न ? क्या कहते हैं ? गाय, भैंस के दूध का मावा । हमारे यहाँ मावा कहते हैं । अफीम का मावा होता है, अफीम का होता है न ? वह मावा और दूध का मावा, दोनों चीज़ें भिन्न हैं । हलवाई की दुकान में अफीम का मावा मिलेगा ? दूध का मिलेगा । ऐसे भगवान आत्मा के पास जाए तो आनन्द मिले और पुण्य-पाप के पास जाए तो विकार मिले, दुःख मिले । यह बात विशेष कहेंगे.... (श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव !)

प्रवचन नं. २४

गाथा-२३

रविवार, दिनाङ्क १०-०४-१९६६

चैत्र कृष्ण ५,

वीर संवत् २४९२

इष्टोपदेश । पूज्यपादस्वामी दिगम्बर मुनि ने बनाया है । देखो ! इसका अर्थ । २३वीं गाथा, अर्थ है न, अर्थ ? इस गाथा में क्या (कहना) है ? जिसकी जो सेवा करता है, वह (जो) उसके पास हो, वह देता है । कहो, समझ में आया ? जिसकी जो सेवा करे, वह जिसकी सेवा करता है, उसके पास हो, वह सेवा करनेवाले को देता है । न हो, वह कहाँ से दे ?

मुमुक्षु : सत्य बात है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : किस प्रकार (बात) तुम्हारी सच्ची ? अब हमारे उसमें हाँ करना मुश्किल है ।

यहाँ कहते हैं, अज्ञान कहिये ज्ञान से रहित शरीरादिक की सेवा अज्ञान को देती है, ... लो ! अब इसका अर्थ क्या ? अब यह अर्थ समझना चाहिए । ऐसे तुम कहो, उस प्रकार से नहीं । ये सब घिर गये हैं न, भाई ! यहाँ कहते हैं कि यह शरीर, यह शरीर है न ? वह जड़, यह कर्म जड़, यह परवस्तु जड़, और पुण्य-पाप के भाव होते हैं, वे भी अचेतन हैं; वास्तव में चैतन्यस्वरूप नहीं ।

भगवान आत्मा आनन्दकन्द है, आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है । सत्, चिद् और आनन्द । सत् शाश्वत् ज्ञान और आनन्द का रूप है । इसके अतिरिक्त पुण्य-पाप के भाव हों, वे भी चैतन्य के स्वरूप से विपरीत भाव हैं । शरीर आदि तो पर-जड़ हैं । तो कहते हैं,

इन पुण्य-पाप के भाव की सेवा करने से जड़पना मिलता है। उनके पास—पुण्य-पाप में कहाँ आनन्द और ज्ञान था? क्या कहा जाता है? समझ में आया?

अज्ञान कहिये ज्ञान से रहित शरीरादिक की... शरीरादिक में राग-द्वेष, पुण्य-पाप सब आ गया। भगवान आत्मा.. समझ में आया? पहले २१ में कह गये हैं कि अनन्त लोकालोक को जाननेवाला तत्त्व है और उसमें अनन्त आनन्द है। उसकी सेवा करने से तो तुझे आनन्द और ज्ञान की शुद्धि की प्राप्ति होगी परन्तु पुण्य-पाप के भाव, शुभ-अशुभभाव.. समझ में आया? स्पष्ट कहें तो दया, दान, व्रत, भक्ति के पुण्य के भाव और हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, पाप के भाव, इन दो की सेवा अर्थात् एकाग्र होने से अचेतनपना मिलेगा - कर्मबन्धन मिलेगा। उसे चैतन्य की प्राप्ति नहीं होगी, ऐसा कहते हैं।

एक ओर भगवान आत्मा है-अनन्त ज्ञान और आनन्द का कन्द आत्मा, आत्मा। अपना आत्मा अन्दर आनन्द-अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान का सागर आत्मा है। परिपूर्ण चैतन्य और आनन्द। एक ओर पुण्य-पाप के भाव, शरीर, कर्म, यह सब। अब अज्ञान अर्थात् जिसमें ज्ञान और आनन्द नहीं है, ऐसे भाव की सेवा करने से अज्ञान की प्राप्ति होती है।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : भान कब है? सो रहा है, इसका भान नहीं इसे। शुभ-अशुभभाव और शरीर में मैं हूँ, ऐसा मानकर उसकी एकाग्रता करना, उसे जड़ की उत्पत्ति होती है, ऐसा कहते हैं। जुगराजजी! दो जुगराजजी हुए, वे भी जुगराजजी हैं। समझ में आया? देखो! डॉक्टर आये हैं, प्रवीणभाई? ठीक। क्या कहा समझ में आया? ये बहुत सबकी सेवा करते हैं।

कहते हैं, एक ओर राम और एक ओर गाँव। एक ओर प्रभु आत्मा अन्तर आत्मा में तो पूर्ण ज्ञान और आनन्द का पिण्ड, वह आत्मा है। वस्तु है न, आत्मा! पदार्थ है न? अस्ति है न? सत्ता है न? अरूपी है परन्तु स्वरूपी है। अरूपी-जिसमें रंग, गन्ध, स्पर्श नहीं, वह जड़, परन्तु वस्तु है न? अरूपी स्वरूप है उसका। उसका स्वरूप है अनादि-अनन्त, वह तो ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, प्रभुता ऐसे गुणों से-स्वरूप से भरा हुआ तत्त्व वह आत्मा है। समझ में आया? इस आत्मा के अतिरिक्त जितने शुभ-अशुभभाव हों

या शरीर, कर्म के प्रति लक्ष्य जाये, लक्ष्य जाये, इतनी अज्ञान की उत्पत्ति होती है, जड़ की उत्पत्ति होती है, आवरण की उत्पत्ति होती है। वजुभाई! खुली बात है न? ऐई! जुगराजजी!

भगवान आत्मा वस्तु है न? आत्मा पदार्थ है, सच्चिदानन्दस्वरूप है। सत् शाश्वत् है, वह आत्मा चिद्-ज्ञान और आनन्द का कन्द है। दो प्रकार वर्णन किये परन्तु दूसरे अनन्त गुण हैं। इसलिए कहा था न इसमें? गुणवाले को सेवन करना। ऐसा कहा था न इसमें? गुणवाला। दो बातें ली थी न? समझ में आया? उसमें आया था न, स्व संवेदन से कहे हुए गुणों से योगीजनों द्वारा अच्छी तरह अनुभव में आया हुआ.. २१ में दो बातें की थी। स्वसंवेदन से और भगवान सर्वज्ञों ने कहे हुए अनन्त गुण उसमें हैं। समझ में आया? आत्मपदार्थ वस्तु.. वस्तु.. वस्तु.. वस्तु.. शाश्वत् अकृत, नाश होकर दूसरे में नहीं मिले ऐसी, वह अनन्त गुण सम्पन्न है, शाश्वत् है, अन्तर में महाज्ञान और परिपूर्ण आनन्द की मुख्यता है। ऐसे आत्मा की जो सेवा करे, अर्थात् ऐसे आत्मा की ओर एकाग्र होवे तो ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति होती है। जुगराजजी! यह तो बात दो और दो=चार जैसी है न? यह बापू भी समझे, थोड़ा-थोड़ा समझाना पड़ेगा इन्हें। कहो! यह तो सादी बात है और ऐसा तत्त्व रखा है। इष्टोपदेश। २१ गाथा से तो ऐसी बात सब की है, सब करते हैं न कि यह तेरी खोटी बात है, तेरी मान्यता खोटी, करते-करते लाकर फिर यहाँ रखा।

भगवान! तू आत्मा है न, प्रभु! और वह अकृत्रिम चीज़ है, कृत्रिम नहीं, स्वयंसिद्ध पदार्थ है और उसमें अनन्त-अनन्त शान्ति आदि भरपूर तत्त्व है; उसके अतिरिक्त पुण्य-पाप के भाव शरीर, वाणी, कर्म, तेरे अतिरिक्त की चीज़, उस ओर की एकाग्रता से अचेतन-अज्ञान का लाभ होगा। अज्ञान अर्थात् जिसमें ज्ञान नहीं है, उसकी वृद्धि होगी, ऐसा। जिसमें ज्ञान और आनन्द नहीं, उसकी वृद्धि होगी। बहुत सीधी बात है। आहाहा! समझ में आया? देखो!

ज्ञान से रहित शरीरादिक की सेवा अज्ञान को देती है,.. अज्ञान अर्थात् इसे जड़ का बन्धन होता है। अज्ञान अर्थात् उसमें कुछ जड़ में ज्ञान नहीं है, पुण्य-पाप में ज्ञान नहीं है। पुण्य-पापभाव भी वास्तव में चैतन्य से विपरीत भाव हैं। आहाहा! वे तो शोर मचाते हैं कि अरे! पुण्य, पुण्य से कुछ नहीं? इस पुण्य की सेवा से जड़ अज्ञान मिलेगा,

ऐसा कहते हैं, लो! आहाहा! भाई! तेरा तत्त्व भगवान चैतन्यमूर्ति विराजमान है, तूने कभी देखा नहीं।

मुमुक्षु : परम्परा से मोक्ष जायेगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल में भी परम्परा से मोक्ष नहीं। यह कहते हैं, बात सत्य है। वह तो सम्यग्दर्शन में अपने स्वरूप का भान है तो शुभभाव छोड़कर वीतराग होगा, इस अपेक्षा से कहा है। परम्परा क्या? धूल। पुण्य से परम्परा (मोक्ष) होता है? बारह अनुप्रेक्षा में राग से परम्परा अनर्थ उत्पन्न होता है, ऐसा पाठ है। राग यहाँ पुण्य (कहा), वही बात है। कुन्दकुन्दाचार्य की जो बारह अनुप्रेक्षा है, राग परम्परा अनर्थ का कारण है। राग में वीतरागता पड़ी है? भगवान आत्मा चैतन्य ज्योत, अरागी स्वरूप, वीतरागमूर्ति आत्मा है। उसमें दोष कहाँ है? वह तो पर्याय में दोष खड़ा करता है, वस्तु में कहाँ है? इस आत्मा के अतिरिक्त शरीर आदिक अर्थात् आत्मा अपने आत्मा के अतिरिक्त पर सब, उसकी सेवा अज्ञान को देती है,.. पुण्य बन्धन होता है, पाप बन्धन होता है। अबन्धपरिणाम पर की सेवा से नहीं होते, ऐसा यहाँ कहना है? लो! कहो, पोपटभाई!

मुमुक्षु : लाखों रुपये मिले न?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल। लाखों किसे मिलते हैं? धूल को मिलते हैं। लाख, लाख में रहे, कहाँ घुस गये हैं इसके पास? इसके पास ममता है, यह लाख मेरे, यह ममता है। उस ममता की सेवा करने से, अज्ञान की सेवा हुई। इन पैसेवालों को सब जरा... सब समझने जैसे हैं। पैसेवालों को चैन कैसा? कल दूसरा आया था सेठ - स्वरूप को सम्हाले वह सेठ। कल ऐसा आया था। यह चैतन्यमूर्ति सच्चिदानन्द भगवान है, अनन्त आनन्द की लक्ष्मी का भण्डार आत्मा है। उसे सम्हाले, वह सेठ है; बाकी सब भिखारी और रंक हैं—ऐसा कल आया था।

मुमुक्षु : अनुचर आया था।

पूज्य गुरुदेवश्री : उस अनुचर का अर्थ क्या हुआ? गुलाम है, गुलाम है। राग के भिखारी, पुण्य के भिखारी, पैसे के भिखारी, विषय के भिखारी। पोपटभाई! आहाहा!

भगवान आत्मा पूर्णानन्द का नाथ सच्चिदानन्द प्रभु की सेवा से आत्मा को ज्ञान

और शान्ति, जागृति और आनन्द मिलता है। उसका नाम ज्ञान मिला कहा जाता है और पुण्य-पाप तथा पुण्य-पाप के फल बन्धन और उनके फल संयोग में एकाग्र होने से जड़पना प्राप्त होता है। आहाहा! समझ में आया ?

आत्मराम की सेवा से आत्मराम ज्ञान और आनन्द प्रगटे। पुण्य-पाप के भाव और संयोग की सेवा से जड़पना, अज्ञानपना प्रगट होता है। आहाहा! जरा कठिन बात है, हों! यह देव-गुरु और शास्त्र पर, उनकी ओर के लक्ष्य में रहने से, एकाकार होने से पुण्य बँधता है। वह पुण्य अर्थात् अज्ञानरूप से अर्थात् चैतन्यपना उसमें नहीं है। उस पुण्य की प्राप्ति होती है अर्थात् अज्ञान की प्राप्ति होती है। अज्ञान अर्थात् मिथ्यात्व की बात यहाँ नहीं है। संयोग की प्राप्ति होती है। संयोगीभाव, संयोगभाव, संयोगफल इन सबकी प्राप्ति अज्ञान की प्राप्ति है; चैतन्य के ज्ञान की प्राप्ति नहीं, ऐसा। चैतन्य के जागृतभाव और आनन्दभाव, भगवान आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप के स्वरूप की अन्तर्दृष्टि करने से (ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति होती है।)

यह कहते हैं अब, और ज्ञानी पुरुषों की सेवा.. अब इसमें दो बातें ली हैं। ज्ञानी पुरुषों की सेवा ज्ञान को देती है। है न? उसके दो अर्थ हैं। ज्ञानी अर्थात् आत्मा-ज्ञानस्वरूप और आनन्दस्वरूप। उसकी सेवा करने से ज्ञान और आनन्द प्राप्त होते हैं और या ज्ञानी अर्थात् धर्मात्मा। वे क्या कहते हैं, उसका लक्ष्य करने से (ज्ञान और आनन्द प्राप्त होता है)। वे कहते हैं कि आत्मा आनन्दमूर्ति है। वे कहते हैं कि राग और पुण्य-पाप तथा देह से भिन्न भगवान है। ज्ञानी कहते हैं तो उसकी सेवा से अर्थात् वे कहते हैं ऐसा मानने से अन्तर के आत्मा में ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति होती है। ऐसा अर्थ है। सेवा में पैर कहाँ दाबने थे? पैर आत्मा में है ही कहाँ? पुण्य-पाप के भाव आत्मा में नहीं, फिर पैर कब लाया यहाँ? कहते हैं। आहाहा! समझ में आया ?

पुण्य का विकल्प है, वह आत्मा में कहाँ है? आत्मा उसे कहेंगे? वह तो आस्रव है, अचेतन है, वह तो अचेतन है। अचेतन, वह गुरु कहलायेगा? अचेतन, वह केवली कहलायेगा? अचेतन, वह आत्मा कहलायेगा? अचेतन, वह धर्म कहलायेगा? गजब बात, भाई! समझ में आया? ज्ञानी पुरुषों की सेवा.. इसलिए ज्ञानी पुरुष के दो प्रकार।

एक स्वयं आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, उसकी अन्तर्दृष्टि में एकाग्र होने से ज्ञान और आनन्द की चैतन्य की जागृति की शान्ति की प्राप्ति होती है और ज्ञानी पुरुष को सेवन करने से अर्थात् जानने से, ज्ञानी यह बतायेंगे कि तेरा स्वरूप रागरहित, पुण्यरहित, पापरहित, कर्मरहित, शरीररहित है—ऐसा भगवान आत्मा तू है। ऐसा ही ज्ञानी का उपदेश है। यह इष्टोपदेश है न? ज्ञानी का यह उपदेश है। ऐसा कि तेरा स्वभाव भगवान चिदानन्दमूर्ति है। पुण्य-पाप के राग, शरीर, कर्म से रहित है, ज्ञानी ऐसा बतायेंगे। उनकी सेवा अर्थात् उन्होंने कहा वैसा मानेगा (तो) इसे आत्मा के ज्ञान की प्राप्ति होगी। समझ में आया? इसलिए ज्ञानी का उपदेश भी कैसा होता है, यह बात साथ ही आ जाती है। आहाहा! वजुभाई!

यह गाथाएँ ऐसी हैं कि सर्वत्र पुण्य-पाप को उड़ाकर अकेले आत्महित की बात है। यह इष्टोपदेश है, प्रिय उपदेश है, आत्मा के हित का उपदेश। जिसमें आत्मा का हित प्राप्त हो, आत्मा का हित भगवान चैतन्यमूर्ति प्रभु, अखण्ड आनन्दकन्द आत्मा में अन्तर्दृष्टि देने से हित प्राप्त होता है। पुण्य-पाप और संयोग में दृष्टि देने से हित प्राप्त नहीं होता। पैसे से पुण्य होता है और पुण्य से फिर धर्म होगा और... ऐसा होता होगा या नहीं? परम्परा पैसेवाले को मोक्ष-धर्म होता नहीं होगा? धूल में भी नहीं; वह तो संयोगी चीज़ है, वह तेरी कहाँ है? वह पैसा तो मिट्टी, धूल है। धर्म होता होगा या नहीं, परम्परा होता होगा या नहीं? यहाँ तो पुण्य के परिणाम से भी परम्परा से अहित है। वर्तमान अज्ञान है और परम्परा से अहित है, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। यह इष्टोपदेश है। इसमें कभी आत्मा की महत्ता नहीं जानी। पर की पामरता नहीं जानी और अपनी प्रभुता नहीं पहिचानी।

यह बात प्रसिद्ध है, कि जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसी को देता है,.. कहो, जिसके पास जो हो, वह देगा। समझ में आया?

मुमुक्षु : रुपयेवाला रुपये देगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, रुपयेवाला रुपये देगा। (गरीब मनुष्य) रोट्टी देगा। उसके पास होवे, वह देगा। इसी प्रकार आत्मा के पास आनन्द है तो उसके पास है तो आनन्द देगा। राग-द्वेष में तो जड़ता है, उसकी सेवा करे तो जड़ता मिलती है। हलवाई की दुकान पर जावे तो मावा मिले, अफीम की दुकान पर जावे तो अफीम का मावा मिले। जिसके

पास हो, वह देगा या दूसरा देगा वह ? आहाहा ! यहाँ तो कहते हैं कि जिसके पास जो (होवे वह देता है), यह बात प्रसिद्ध है । लोकोक्ति ऐसी कहलाती है, हों ! अन्दर है न ? शब्द है या नहीं अन्दर ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यह । लोकोक्ति । यह लोकोक्ति है, ऐसा कहते हैं । समझ में आया ? जिसके पास होवे, वह देगा । वह उसी को देता है, दूसरी चीज जो उसके पास है..

मुमुक्षु : दोहे में है ।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, दोहे में है बस वह, दोहे में है । श्लोक अन्तिम सार ।

दोहा - अज्ञभक्ति अज्ञान को, ज्ञानभक्ति दे ज्ञान ।

लोकोत्की जो जो धरे, करे सो ताको दान ॥२३॥

जिसके पास सोना हो (उससे) माँगने जाये तो सोना उसके पास से मिले । वहाँ रोटी माँगने जाये तो मिले ? दुकान में रोटी माँगने जाये तो ? पैसे पड़े हों । माँ-बाप रोटी देना, लो ! वह एक ऐसा यह रूप धारण करता है न बहुरूपिया ? भाँड । फिर एक बड़ी दुकान थी । तकिया डाला हुआ । सामने दीवार दिखायी दे । क्या कहलाता है तुम्हारा ? गोला । हड़फो बड़ा । अब वहाँ वह माँगने आया । ऐ.. माँ-बाप ! रोटी देना । तुझे खबर नहीं कि यह तो भाँड है, समझ तो सही । उसे खबर नहीं । वह सामने दीवार देखता है । यहाँ तकिया है और यह हड़फो है, दो व्यक्ति बैठे हैं । भिखारी होकर आया, हों ! ऐ माँ-बाप ! रोटी देना बड़ी घटी । यहाँ रोटी कैसी ? परन्तु पहिचान तो सही, यह भाँड है, यह भिखारी है, भाँड का रूप लेकर आया है, वह इसे पहिचानने के लिए तो यह पूछते हैं तुझे । रोटी यहाँ कहाँ ? क्या कहलाता है तुम्हारा ? चूल्हा, धुआँ यहाँ कुछ नहीं है । यहाँ तो मात्र दो तकिये हैं, बैठे हैं और सामने दीवार दिखायी देती है । दरवाजा भी नहीं कि अन्दर में कोई रसोई होगी । समझ में आया ?

वह दूसरे दिन साहब होकर आया वापस । लाओ, इतने पेटियाँ तुम्हारे आयी हैं न ? रसीद लाओ, ऐसा लाओ । वह तो घबरा गया । दिखाव ऐसे बराबर (था) । साहेब ! हमारे

यहाँ नहीं। तुम्हारे यहाँ क्यों नहीं? यहाँ तुम्हारा नाम है न। फिर देखे यह तो कल भिखारी आया था वह भाँड। कल जो रोटी माँगने भाँड भिखारी का भेष करे न? यहाँ बाँधे, यहाँ कपड़ा (रखे), बाल ऐसे होते हैं और ऐसे गरीब जैसा दिखायी दे। रूप बराबर भाँड होकर आया हुआ। वह पहले तो उलझ गया, फिर खबर पड़ी की यह कल रोटी माँगने आया था, उसे खबर है कि यह घर है। यहाँ कहाँ रोटी थी? वह का वह आज (आया है)।

इसी प्रकार आत्मा के पास माँगे तो अन्दर चैतन्य में तो आनन्द और ज्ञान की खान है। उसमें माँगे अर्थात् उसमें एकाग्र होवे तो यह अतीन्द्रिय आनन्द और ज्ञान का चमत्कार आत्मा चैतन्यचमत्कार प्रगट होता है। पुण्य-पाप, शरीर, वाणी, मन, जड़, पैसा, स्त्री, पुत्र और पर की एकाग्रता करने से तो अज्ञान और राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। कहो, समझ में आया? समझ में आया या नहीं? इसमें तो समझ में आये ऐसा है। उस ओर जितना ध्यान रखे पर की सेवा का, उतना पाप बँधता है - ऐसा कहते हैं।

वह उसी को देता है, दूसरी चीज जो उसके पास है नहीं, वह दूसरे को कहाँ से देगा? पुण्य-पाप में क्या है? पुण्य-पाप में तो राग है, राग। राग में क्या है कि वीतरागता देगा? शुभाशुभभाव में वीतरागता है तो वीतरागता दे? आहा! राग से वीतरागता हो, राग से वीतरागता हो। अरे भगवान! राग में वीतरागता पड़ी है कि वह हो? मिले? आहाहा!

चैतन्यज्योत, अरागी स्वरूप ज्ञानानन्द भण्डार प्रभु, जिसमें दोष का कण नहीं ऐसा निर्दोष भगवान है। उसकी अन्तर एकाग्रता से तुझे चैतन्य की जागृति और सम्यग्दर्शन - ज्ञान-चारित्र और आनन्द प्राप्त होगा। अन्यत्र से कहीं प्राप्त हो, ऐसा है नहीं। पुण्य-पाप की सेवा से सम्यग्दर्शन प्राप्त हो, ऐसा नहीं है - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : पाप से न हो परन्तु पुण्य से तो होवे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पुण्य-पाप दोनों इकट्ठा कहा न! आहाहा! भगवान आत्माराम एक ओर तथा पुण्य-पाप आदि गाँव एक ओर। ऐसे आत्माराम की अन्तर चिदानन्द में नजर देने से उसमें है, वह मिलेगा। शान्ति, आनन्द, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, अनाकुलता, स्वच्छता, प्रभुता, परमेश्वरता है, उसकी सेवा से वह मिलेगी। राग, पुण्य-पाप की सेवा से अज्ञान मिलेगा चैतन्य की जागृति का अभाव होगा, जड़ता प्राप्त होगी। सीधी बात है या

नहीं? वजुभाई! जो जिसमें नहीं है, वह कहाँ से देगा? आत्मा में विकार नहीं है तो आत्मा की एकाग्रता से विकार कहाँ से होगा? कहाँ से मिलेगा? और पुण्य-पाप के भाव में निर्दोषता नहीं है तो वहाँ से निर्दोषता कहाँ से मिलेगी - ऐसा कहते हैं। गजब उपदेश की व्याख्या। २१ गाथ से शुरु की है न, रणकार करती।

इष्टोपदेश उसे कहते हैं कि स्वरूप की सेवा चिदानन्द प्रभु भगवान की एकाग्रता की सेवा, उसकी सन्मुखता के भाव से ही आत्मा को शान्ति होती है, बाकी कहीं शान्ति मिले ऐसा नहीं है। भगवान आत्मा की सन्मुखता से वह प्राप्त (होगा), उसकी सेवा से मिलेगा। उसकी सन्मुखता। विकार-पुण्य-पाप की सन्मुखता से तो विकार प्राप्त होगा। अज्ञान प्राप्त होगा। अज्ञान अर्थात् जड़ता होगी। चैतन्य की जागृति रुक जायेगी। गजब कठिन बात है, लोग कहते हैं।

विशदार्थ - अज्ञान शब्द के दो अर्थ हैं,.. अज्ञान के दो अर्थ हैं। एक तो ज्ञानरहित शरीरादिक और दूसरे मिथ्याज्ञानी (मोह-भ्रान्ति-संदेह) वाले मूढ़-भ्रान्त तथा संदिग्ध गुरु आदिक। अज्ञान के ये तीन दोष हैं न—अनध्यवसाय, विपरीतता... समझ में आया? और कुछ होगा ऐसी व्यामोहता। ऐसे जो गुरु। जिन गुरुओं को आत्मा का भान नहीं, संदिग्ध हैं। क्या होगा? कैसे होगा? कहाँ मार्ग है? समझ में आया? मूढ़ है, भ्रान्त है, संदिग्ध है, अनिश्चित है, तत्त्व की कुछ खबर नहीं। अन्तर वीतरागतत्त्व (क्या है)? समझ में आया? उनकी सेवा से.. सादी भाषा है, हों! ध्यान रखे तो पकड़ में आये हिन्दीवालों को।

अज्ञान के दो अर्थ हैं, एक अज्ञान अर्थात् शरीर, पुण्य-पाप के भाव को अज्ञान कहते हैं और एक अज्ञान मिथ्याज्ञानी जीव कहते हैं। जिस आत्मा में आत्मा का भान नहीं और आत्मा में व्यामोह और भ्रान्ति में पड़े हैं कि शरीर वह मैं, शरीर की क्रिया से मुझे लाभ होता है, दया, दान के शुभपरिणाम से मुझे धर्म होता है—ऐसी भ्रान्ति में जो अज्ञानी गुरु पड़े हैं, वे विमोह में पड़े हैं। अनिश्चित (अर्थात्) क्या है, इसकी मुझे बराबर खबर नहीं पड़ती। ऐसे पड़े हैं। ऐसे जीव की सेवा करने से मिथ्यात्व प्राप्ति होती है। वजुभाई!

मिथ्याज्ञान (मोह-भ्रान्ति-संदेह) वाले मूढ़-भ्रान्त तथा संदिग्ध गुरु आदिक। लो! सो इनकी उपासना या सेवा.. उनकी सेवा अर्थात् वे कहें वह मानना।

अज्ञान तथा मोह-भ्रम व संदेह.. इसके तीन बोल लिये वह के वही। समझ में आया ? विपरीतता, अनद्यवसाय और कुछ होगा तथा मूढ़ता। समझ में आया ? लक्षणात्मक मिथ्याज्ञान को देती है। कौन जाने आत्मा कैसा होगा ? भाई ! आत्मा को मोक्ष मिलता है या नहीं ? आत्मा की खबर पड़ती है या नहीं ? ऐसा इस माननेवाले को भान नहीं है। ऐसा बतायेगा, इसलिए उसके पास से अज्ञान मिलेगा। समझ में आया ? सेवा, मोह, भ्रम और सन्देह, ऐसा स्वरूप। मिथ्याज्ञान की व्याख्या की है। वह तो अज्ञान के तीन दोष हैं।

अज्ञान के तीन दोष हैं। इन दोषवाला जो आत्मा है कि भाई ! आत्मा की आत्मा को कोई खबर पड़े ? और आत्मा की कोई अपने को खबर पड़े कि मैं कैसा हूँ ऐसा ? और मेरे जन्म-मरण मिटेंगे, मिट गये हैं या नहीं ? कुछ आत्मा को खबर पड़ेगी ? ऐसे मूढ़ जीव की सेवा करने से अज्ञान मिलेगा। समझ में आया ? भ्रान्ति में पड़े, विभ्रम में पड़े, विपरीतता में पड़े, व्यामोह में पड़े हैं। उन सब जीवों को भगवान आत्मा सर्वज्ञ कहते हैं, ऐसे आत्मा की खबर नहीं है और ऐसो की सेवा, उनकी सुश्रुषा (करना), उनका श्रवण करना, उनसे व्याख्यान सुनना, उस सुनने में उसे अज्ञान और मूढ़ता की प्राप्ति होगी। समझ में आया ?

यहाँ तो सर्वज्ञ परमेश्वर परमात्मा एक समय में भगवान आत्मा सर्वज्ञ होने के योग्य है। एक आत्मा सर्वज्ञ होने के योग्य है, एक आत्मा पूर्ण आनन्द की प्राप्ति करने के योग्य है, एक आत्मा पूर्ण सत्ता स्वभाव लोकालोक को जानने की सत्ता रखनेवाला है। समझ में आया ? ऐसे आत्मा की प्राप्ति, वह ज्ञानी से मिलेगी। अज्ञानी विपरीत मारेगा कुछ का कुछ। आत्मा के नाम पर भ्रमणा में चढ़ा देगा। समझ में आया ? अज्ञानी की व्याख्या भ्रम सन्देह लक्षणात्मक मिथ्याज्ञान को देगी। अज्ञान अर्थात् मिथ्याज्ञान देगा। मिथ्याज्ञान दृढ़ होगा। समझ में आया ? उसे पुण्य-परिणाम में धर्म है, ऐसा लगा देगा; देह की क्रिया करते-करते परम्परा से धर्म होगा, ऐसा लगा देगा, भ्रमणा में लगा देगा।

मुमुक्षु : व्यवहार साधन और निश्चय साध्य...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सब व्यवहार साधन, व्यवहार से साधन कहा है, साध्य-बाध्य कब था। स्वयं ही अपने स्वभाव का... यह तो आ गया है न करणान्तर की जिसे जरूरत नहीं है। भगवान आत्मा सहजानन्दमूर्ति प्रभु के अन्तरस्वभाव का साधन अन्तर में

पड़ा है। अन्तर में सहजानन्दमूर्ति प्रभु आत्मा है। उसका अन्तर साधन निर्विकल्प श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति, उस साधन द्वारा ही आत्मा को धर्म होता है। दूसरे साधन द्वारा आत्मा को धर्म-बर्म नहीं होता। आहाहा! यह आ गया है। करणान्तर-स्वभाव के साधन के अतिरिक्त दूसरे साधन की जिसे आवश्यकता नहीं है। यह इष्टोपदेश की कठिन बात है। पूज्यपादस्वामी, हों! दिगम्बर मुनि थे। आहाहा! दिगम्बर मुनि आकाश के स्तम्भ! धर्म को धोरी! जिन्होंने पूर्ण केवलज्ञान का कन्द खड़ा रखा है। आहाहा! उनकी एक-एक गाथा, एक-एक शास्त्र! सन्त दिगम्बर अर्थात् मुनि। आहाहा!

मुमुक्षु : चलते-फिरते सिद्ध।

पूज्य गुरुदेवश्री : साक्षात् सिद्ध! ऐसे सन्तों की बात...! आहाहा! न भूतो-भविष्यतो—तीन काल में अन्यत्र यह बात नहीं हो सकती। दिगम्बर मुनियों के मुख में यह बात होती है। अन्यत्र नहीं हो सकती। समझ में आया? आहाहा! नागा बादशाह से आघा। उन्होंने अपने आत्मा को हथेली में ले लिया। ऐसे नजर-नजर में और पूर्ण स्वरूप की प्राप्ति की झंखना है। अल्प काल में केवल(ज्ञान).. अल्प काल में केवल(ज्ञान).. अल्प काल में केवल(ज्ञान).. ऐसी भनकार करते हुए स्वर्ग में गये हैं। कुन्दकुन्दाचार्य, ये पूज्यपादस्वामी, पद्मनन्दि आचार्य इत्यादि महासन्त! गजब की बात! गजब की बात! आहाहा!

धर्म के धोरी पुकार करते हैं कि सुन रे.. सुन एक बार! आहा! उसे कोई पक्ष नहीं रखना, वाड़ा नहीं बाँधना। वीतराग ज्ञान। बापू! वीतरागी सन्त तो वीतरागीपना बताते हैं। राग से लाभ बतावे, वे वीतराग सन्त नहीं हैं। आहाहा! वीतराग को साधन करनेवाले सन्त, वे तो वीतरागता बतलाते हैं। पहले से भगवान! तेरे स्वरूप में तो पूर्णानन्द और वीतरागता पड़ी है न, प्रभु! तू निर्वाणनाथ है न! मोक्ष का तो तू नाथ है। संसार का नाथ और राग का नाथ तू है नहीं। आहाहा! उसके अन्तर आत्मा शुद्ध चिदानन्द भगवान आत्मा की सेवा-एकाग्रता कर, ऐसा सन्त जगत को ऐसा इष्ट उपदेश देते हैं। बाकी इसके अतिरिक्त का उपदेश, वह अनिष्ट उपदेश है परन्तु जगत को रुचि में तह नहीं बैठती। समझ में आया?

और ज्ञानी कहिये, ज्ञानस्वभाव आत्मा.. देखो! ज्ञानस्वभाव भगवान आत्मा चैतन्य सूर्य! आत्मा अर्थात् चैतन्य सूर्य। उसकी सेवा करने से चैतन्य सूर्य की प्राप्ति होती

है, ज्ञान की जागृतदशा होती है। ज्ञान शब्द से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, यह सब ज्ञान की दशाएँ हैं। आहाहा! ज्ञानी कहिये, ज्ञानस्वभाव आत्मा.. पहली एक बात है। इसकी इतनी व्याख्या चलती है। भगवान ज्ञानस्वभाव आत्मा। पुण्य-पाप के विकल्प स्वभाव, शरीर स्वभाव, कर्म स्वभाव कुछ आत्मा नहीं है। समझ में आया? आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है, अलग बात है। तब आये थे न? बैठे थे न? आगे बैठे थे, बराबर सुनते थे। तब एक घण्टे सामने बैठे थे। क्या कहते हैं? समझ में आया?

इस देह में भगवान आत्मा जो है, वह चैतन्यमूर्ति है। आत्मा है, वह पदार्थ है और पदार्थ है, उसका स्वभाव है। स्वभाव है, वह ज्ञान और आनन्द उसका स्वभाव है। यह तो देह, मिट्टी, जड़ है। वाणी जड़ है। अन्दर शुभ-अशुभभाव उठते हैं न? वह भी विकार है। उस विकाररहित चैतन्यतत्त्व भगवान आत्मा तो ज्ञानसूर्य है, आनन्द का धाम है। कहते हैं कि उसकी सेवा, उसकी एकाग्रता। उसमें एकाग्रता करने से उसमें है, वह मिलेगा। उसमें ज्ञान और आनन्द मिलेगा। ज्ञानी की सेवा अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, वह ज्ञानमूर्ति आत्मा, उसकी सेवा अर्थात् एकाग्रता, अन्तर में एकाग्रता (करे तो) उसे ज्ञान की प्राप्ति (होती है)। अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति, सम्यक्चारित्र की प्राप्ति, शुक्लध्यान की प्राप्ति (होती है)। यह ज्ञान आत्मा की सेवा करने से प्राप्ति मिलेगी। कहो, समझ में आया?

तथा आत्मज्ञानसम्पन्न गुरुओं की तत्परता के साथ सेवा,.. इतना विशेषण दिया है। धर्मात्मा आत्मज्ञानी; जो चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा, उसका जिसे ज्ञान है। इस शरीर जड़-मिट्टी से भिन्न भगवान है। पुण्य-पाप के विकल्प उठें, राग विकार (उत्पन्न हो), उनसे भगवान आत्मा भिन्न है। यह आत्मा अर्थात् भगवान, हों! इस आत्मा का जहाँ भान है, ऐसे आत्मज्ञानसम्पन्न गुरुओं की तत्परता के साथ.. अकेली सेवा ऐसा नहीं। तत्परता। क्या कहते हैं? ऐसा। क्या कहते हैं? क्या कहना चाहते हैं? ऐसे अभिप्राय को पकड़ने की सेवा से स्वार्थावबोधरूप ज्ञान को देती है। देखो, स्व-अर्थ अर्थात् आत्मा के अवबोधरूप। आत्मा का ज्ञान देगी, ऐसा कहते हैं। स्व-अर्थ अर्थात् आत्मा, उसका अवबोध अर्थात् ज्ञान। उस रूप ज्ञान को देती है। ज्ञानी गुरु इसे ऐसा बतायेंगे, भाई! तू आत्मा है न, बापू! तुझमें तो अनन्त ज्ञान और सच्चिदानन्दस्वरूप पड़ा है। ऐसा आत्मा है,

उसका तू ध्यान-ज्ञान कर—ऐसा बतायेंगे, तब इसे स्वार्थावबोध का ज्ञान होगा कि यह आत्मा ज्ञान सम्पन्न और आनन्द है ।

अज्ञानी के पास उसकी सेवा करने जायेगा तो अज्ञानी उल्टा मारेगा । समझ में आया ? पहले बात की थी न ? अज्ञानी की सेवा । अज्ञानी ऐसा कहेगा, करो शरीर का काम, करो अमुक का काम, करो धूल का काम । पर का कर नहीं सकता । पर का काम करो, ऐसा करो, ऐसा करो, ऐसा मारकर उल्टा मारेगा (विपरीतता में चढ़ा देगा) । वह तो कहेगा कि बाहर के मन्दिर-बन्दिर बनवाकर धर्म मनवायेगा वह अज्ञानी—ऐसा कहते हैं । ऐई ! अज्ञानी के पास क्या होगा ? उसके पास (क्या है) ? आत्मा क्या है ? भगवान सच्चिदानन्दमूर्ति देह-देवल में रजकण से भिन्न तत्त्व / पदार्थ है और वह पदार्थ अरूपी, तथापि स्वरूपी है । वर्ण, गन्ध, रूप भले नहीं परन्तु वस्तु है न ! वस्तु है अनादि-अनन्त । उसमें अनन्त-अनन्त शान्ति और आनन्द आदि तत्त्वशक्ति पड़ी हुई है । शक्तिरूप से, तत्त्वरूप से, स्वभावरूप से, भावरूप से (स्थित है) । आहाहा !

यह यदि गुरु की सेवा करेगा, तत्परता अर्थात् क्या कहना चाहते हैं ऐसा । तो उसके अभिप्राय में इसे आत्मज्ञान होगा क्योंकि गुरु इसे यह कहना चाहते हैं । बापू ! पुण्य-पाप के रागरहित, शरीररहित तेरा तत्त्व भगवान आत्मा है, उसे तू पहिचान और उसमें ध्यान कर । उसका ध्यान कर अर्थात् उसका ध्यान दे । दूसरे का तू ध्यान देता है, (उसे छोड़कर) उसका (आत्मा का) ध्यान दे । लोग नहीं कहते कि ध्यान तो दे इसमें । कहते हैं या नहीं ? इसी प्रकार अनादि से ध्यान तो इसने विकार में, पुण्य-पाप में, पर में दिया है । ज्ञान की बात करके अभिप्राय को बताते हैं । दे क्या ? किसके पास है । उनके पास है तो दे इसका ?

मुमुक्षु : पैसा मिले वह बात...

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा-फैसा कहाँ था ? धूल में । ज्ञानी के पास पैसा होगा, पैसा देते होंगे ? पैसा होगा उनकी थैली में ? धूल में पैसे का क्या है परन्तु ?

मुमुक्षु : आशीर्वाद दे ।

पूज्य गुरुदेवश्री : आशीर्वाद दे, आशीर्वाद दे कि आत्मा की वीतरागता को पहिचान । यह आशीर्वाद है । आत्मा निर्दोष चैतन्यमूर्ति भगवान है, उसे जान—यह आशीर्वाद ।

आशीर्वाद ऐसा कि तुझे स्त्री मिले, पुत्र मिले और पैसा मिले, यह आशीर्वाद ? तू जहर खाकर नरक में पड़, ऐसा आशीर्वाद देंगे ? आशी-र्वाद है न ? आशी-र्वाद, वाद अर्थात् वचन। आशीर हूँ।

बापू! तेरा स्वरूप भगवान! आत्मा क्या है, इसकी तुझे खबर नहीं है। स्व-अर्थ कहा न ? स्वार्थावबोधरूप ज्ञान, ऐसा। दूसरा नहीं, दूसरे का ज्ञान, ऐसा नहीं कहा। यह तो स्वार्थावबोधरूप ज्ञान। वे आत्मज्ञान की बात करेंगे। तेरा पदार्थ प्रभु बड़ा है, महान परमात्मस्वरूप है तेरा। अखण्डानन्द से भरपूर पदार्थ तू है। समझ में आया ? पीपर का दृष्टान्त दिया नहीं था तब ? पीपर के दाने में चौसठ पहरी चरपराहट पूरी भरी है और हरा रंग पूरा पड़ा है, एक-एक दाने में, इतने-इतने में। इसी प्रकार इस आत्मा के दाने-दाने में अन्दर आनन्द और ज्ञान परिपूर्ण भरे हैं। कुछ खबर नहीं होती, खबर नहीं होती कहाँ है और क्या है ? गुरु स्वार्थावबोधरूप ज्ञान, ऐसा वापस देखा ? दूसरी बात भी नहीं, पुण्य-पाप का ज्ञान या शरीर का ज्ञान भी नहीं कहा। उसका ज्ञान हो जायेगा सहज। **स्वार्थावबोधरूप ज्ञान को देती है। कौन ? सेवा। आहाहा! गजब गाथा रखी है न!**

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : वह सेवा अर्थात् यह। उनके कहे हुए अभिप्राय को मानना, यह सेवा है। पैर दबाना नहीं वहाँ।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बराबर है। उन्होंने जो कहा है.. सत्पुरुष को पहिचानो न ? पहिचानने का भाव किसका ?... स्पष्ट कितना करना है ? सत्पुरुष को पहिचान और सत्पुरुष के पास जा और मोक्ष न मिले (तो मुझसे लेना) अर्थात् तुझे पहिचान होगी तो तुझे मोक्ष हुए बिना रहेगा ही नहीं, ऐसा उसका अर्थ है। सत्पुरुष अर्थात् रागरहित चैतन्यमूर्ति भगवान, वह सत्पुरुष है। शरीरवाला और पुण्यवाला, वह आत्मा है नहीं। उसे जो पहिचानेगा, उसका ज्ञान होगा और ज्ञान होगा; इसलिए मुक्ति हुए बिना रहेगी नहीं। किसे पूछना था फिर ? गजब बातें परन्तु सूक्ष्म ऐसी है न!

ज्ञानी कहिये, ज्ञानस्वभाव आत्मा.. उससे भी स्वार्थावबोधरूप ज्ञान को

देती है। दोनों लेना है न ? भाई ! इसका अर्थ। दोनों के सामने लेना। ऐई ! एक तो ज्ञानस्वभाव आत्मा की सेवा से स्वार्थावबोधरूप ज्ञान को देती है। इस आत्मा की सेवा से आत्मा का अन्तरज्ञान होगा। आत्मा इतना, यह इसे माहात्म्य जँचता नहीं। एक बीड़ी में बिक जाता है, उड़द की दाल में बिक जाता है, ठीक सी उड़द की दाल सीझ न गयी हो तो ऐसे ढिँचडियां (पुराने समय में खाते समय पैर के नीचे रखा जानेवाला लकड़ी का टुकड़ा) उड़े। ठीक से नहीं किया। धान को धूल कर डालते हैं। उससे कहते हैं कि आत्मा ऐसा महा सच्चिदानन्दमूर्ति है। कभी इसने सुना नहीं। समझ में आया ? श्रुतपरिचित आया है न ? सुना नहीं। भगवान ! तू कितना और कहाँ है, तूने सुना नहीं। तेरे स्वरूप में तो परम आनन्द और शान्ति का सागर पड़ा है, भाई ! समझ में आया ? ऐसा आत्मा भगवान, कहते हैं कि उसकी सेवा से अपने पदार्थावबोधरूप ज्ञान की प्राप्ति (होगी), अपना ज्ञान होगा। आहा ! बहुत संक्षिप्त भाषा में (बहुत भर दिया है)।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : पर के सामने नहीं देखे, स्व के सामने देखेगा। पर के सामने-शत्रु के सामने देखने में काम क्या है ? आहाहा ! भगवान आत्मा... यहाँ तो ज्ञानी की सेवा से ज्ञान मिले अर्थात् मोक्षमार्ग मिले; अज्ञानी की सेवा से बन्धमार्ग मिले, संसार मिले। आहाहा ! समझ में आया ? भाई यह पाठशाला तो अलग प्रकार की है।

मुमुक्षु : लकड़ी का चमत्कार नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : चमत्कार नहीं। कितने ही लोग कहते हैं, इसमें चमत्कार है। वहाँ जाये वे सब पैसेवाले होते हैं न ? एकदम सब..

मुमुक्षु : चमत्कार आत्मा में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आत्मा का चमत्कार है, बापू ! इस पूर्णानन्द नाथ को इसे कहाँ अन्यत्र ढूँढ़ने जाता है ? समझ में आया ? यह पूर्णानन्द का नाथ सच्चिदानन्द पूर्ण वस्तु स्वभाव से भरपूर तत्त्व है। उसे कहाँ राग और पुण्य और संयोग में खोजने जाता है ? वहाँ कहाँ है यह ? समझ में आया ? कहो, शशीभाई ! इसमें तो दो और दो=चार जैसी बात है या नहीं ? इसमें कहाँ पक्षपात की बात है। आहाहा !

ज्ञानी कहिये, ज्ञानस्वभाव ऐसा भगवान, उससे उसकी सेवा अर्थात् एकाग्रता से स्वार्थावबोधरूप ज्ञान को अर्थात् स्व-पदार्थ का ज्ञान अर्थात् स्व-पदार्थ की श्रद्धा, स्व-पदार्थ का ज्ञान, स्व-पदार्थ की स्थिरता इसे प्राप्त होगी। ओहोहो! अत्यन्त संक्षिप्त में परन्तु बहुत डाला है।

जैसा कि श्रीगुणभद्राचार्य ने आत्मानुशासन में कहा है - 'ज्ञानमेव फलं ज्ञाने।' देखो! ज्ञान होने का फल, प्रशंसनीय एवं अविनाशी ज्ञान का होना ही है, यह निश्चय से जानो। क्या कहते हैं? भगवान आत्मा का जो ज्ञान अन्तर में होना, उसका फल प्रशंसनीय और अविनाशी ज्ञान होना। नाश न हो, ऐसा केवलज्ञान हो, वह उसका फल है। चैतन्य भगवान का ज्ञान, उसका दर्शन, चारित्र की स्थिरता और उसके फलरूप केवलज्ञान की प्राप्ति, ऐसी आत्मज्ञान की—आत्मा की सेवा का यह फल है। समझ में आया? परन्तु आत्मा कितना? ऐ.. प्रवीणभाई! आहाहा! चारों ओर ढूँढ़-ढूँढ़ कर मर गये। पुस्तक में खोजे, कहीं खोजने जाए, पर्वत में जाए, उसमें आता है न? नहीं आता उसमें? यहाँ इसमें आता है न? 'कई उदास रहें प्रभु कारन, कैई कहें उठि जांहि, कहीकै' भागो कहीं यात्रा करने। परन्तु वहाँ कहाँ था भगवान? सुन न! 'कैई प्रनाम करैं गढि मूरति' मूर्ति गढ़कर (प्रणाम करे)। वहाँ भगवान था तेरा? भगवान तो यहाँ है। वह तो शुभभाव होवे तब भक्ति होती है। वहाँ कहाँ भगवान प्राप्त हो, ऐसा है, भक्ति के भाव में से? ऐसा कहते हैं। ऐई! बनारसीदास कहते हैं। बन्ध अधिकार (४८ वाँ पद) है, हों! 'कैई प्रनाम करैं गढि मूरति कैई पहार चढें चढि छींकै' पहाड़ पर डोली। यह शत्रुंजय को जाते हैं न डोली पर बैठ-बैठकर भगवान के दर्शन करने। वहाँ भगवान विराजते होंगे? 'कैई कहें असमानकैं ऊपरि.. ' आसमान में हैं भगवान कहीं। 'कैई कहें प्रभु हेठि जमीं कै मेरा धनी नहि दूर दिसन्तर, मोही मैं है मोहि सूझत नीकै।' यह बनारसीदास पहले बहुत शृंगारी थे। व्यभिचार और शृंगार की पुस्तक बहुत बनायी। फिर उसमें सत्संग मिला। एकदम गुलांट खा गये। एकदम अध्यात्म पुरुष बन गये। फिर पूरा नाटक समयसार बनाया। अपने पढ़ा, उसमें से बनाया।

मुमुक्षु : (शृंगार की पुस्तक) फिर नदी में डाल दी।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ पुस्तक नदी में डाल दी। आया था न अभी 'मेरा धनी नहि

दूर दिसन्तर' मेरा परमेश्वर मुझसे दूर और किसी दिशान्तर-दूसरी दिशा में नहीं है। 'मोही मैं है मोहि सूझत नीकै।' मुझमें मेरा भगवान है, वह मुझे भलीभाँति बराबर भले प्रकार से दिखता है। यहाँ भगवान है, भगवान अन्यत्र कहीं नहीं है। आहाहा! समझ में आया? छींके भी लिया है, हों! तब उठाने का छींका होगा। डोली-डोली। डोली में बैठ-बैठकर जाए, ९९ (बार) शत्रुंजय चढ़े और उतरे, चढ़े और उतरे परन्तु भगवान यहाँ है, वहाँ नहीं। वह तो शुभभाव होवे, तब शुभभाव में भक्ति का निमित्त है परन्तु उस शुभभाव से भी अन्तर की, हित की दशा प्रगट हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! बात बहुत कठिन है, हों! धो डालना है सबको।

अपना प्रभु दूर देश में नहीं-अपने में ही है, वह अपने को भलीभाँति अनुभव में आता है। कहो, शशीभाई! यह बनारसीदास, जोरदार श्रृंगारी महाकवि थे। बहुत श्रृंगारी पुस्तक बनायी। पश्चात् अध्यात्म का भान हुआ। ओहो! मेरा भगवान तो मेरे पास है। मैंने कहाँ ढूँढ़ा? मर गया। फिर यह नाटक समयसार आदि शास्त्र बनाये। महाकवि जोरदार हो गये। समझ में आया?

ज्ञान होने का फल प्रशंसनीय.. है। आत्मस्वरूप शुद्धचैतन्य का अन्तरज्ञान हो, वह तो प्रशंसनीय है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि प्रशंसनीय है और अविनाशी ज्ञान का होना.. फिर आगे बढ़कर केवलज्ञान की प्राप्ति (होती है)। ज्ञान प्राप्त (होता है), केवलज्ञान होता है, फिर उसका नाश नहीं होता। यह निश्चय से जानो। समझ में आया? भगवान आत्मा चैतन्यज्योत से भरपूर प्रभु की सेवा अर्थात् एकाग्रता। उससे प्रशंसनीय दर्शन, ज्ञान, चारित्र होता है, अविनाशी केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

अन्दर गहरे-गहरे गलगलिया है। दूसरे के पैसे अधिक-अधिक देखकर ऐसा लगता है अन्दर इसे पैसे अधिक और मुझे थोड़े। यह माप निकालकर ऐसे अन्दर होली सुलगती है अन्दर। ऐ... पोपटभाई!

मुमुक्षु : यह और शरीर दो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शरीर एक, बस! दूसरा निरोगी और इस शरीर को रोग। सब यह की यह होली है। ऐ.. चन्दुभाई!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं! यह सब होली है। लड़का कुँवारा है और कोई दस लाख और बीस लाखवाली कन्या आकर दे, देखो! अन्दर गलगलिया हो जाता है। तुम्हें पैसा नहीं चाहिए। समझ में आया? जैचन्दभाई! जरा समझने जैसी बात है, हों! गहराई से ऐसे अन्दर से हर्षित हो जाता है। होश! प्रकाश कमावे, न कमावे दिक्कत नहीं परन्तु छोटे भाई का विवाह ऐसी जगह हुआ कि करोड़पति व्यक्ति है और दस लाख लेकर आयेगी तथा नब्बे लाख बाद में उसका पिता मरेगा, तब आयेंगे। एक बार तो शरीर फिर जाए, नींद-बींद उड़ जाए।

कहते हैं... आहाहा! भगवान आत्मा, जिसे अनन्त चैतन्य की लक्ष्मी अन्दर पड़ी है। प्रभु! तुझे आत्मा की खबर नहीं। आत्मा तो महा परमेश्वर के रूप से स्वयं भगवान आत्मा है। उसे अन्तर एकाग्रता में से प्रशंसनीय सम्यग्दर्शन-ज्ञान और शान्ति अर्थात् चारित्र्य होता है। आहाहा! अर्थात् कि आत्मा की सेवा से मोक्षमार्ग होता है, भाई! ऐसा कहते हैं। आहाहा! बन्ध से छूटने का मार्ग, भगवान! तेरे-भगवान के समीप जाने से होनेवाला है। आहाहा! उसके पास वह पड़ा है। चैतन्य की खान में, निधि में—जैसे पीपर में चौसठ पहरी चरपराहट का रस पूरा पड़ा है, वैसे भगवान में पूर्ण आनन्द और ज्ञान भण्डार भरा पड़ा है। इसे खबर कहाँ है और कैसे है? समझ में आया?

ऐसा भगवान आत्मा, उसकी अन्दर में सेवा से प्रशंसनीय—जिसे सर्वज्ञ और ज्ञानी अनुमोदन करें, ऐसा प्रशंसनीय सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र्य, वह आत्मा के आश्रय से होता है। ज्ञानमूर्ति भगवान के आश्रय से होता है। उसका फल केवलज्ञान होता है। अविनाशी आया, (अब) नहीं जाएगा। समझ में आया? अविनाशी की सेवा से अविनाशी पर्याय प्रगट होती है कि जो केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह फिर से वापस नहीं जाता। आहाहा! गजब इष्टोपदेश, भाई! आहाहा!

अहो! यह मोह का ही माहात्म्य है, जो इसमें ज्ञान को छोड़ कुछ और ही फल ढूँढ़ा जाता है। क्या कहते हैं? अरे! तेरे मोह का माहात्म्य, इस भगवान चिदानन्द को खोजना छोड़कर कहीं पुण्य और पाप मिलेगा, पैसे मिलेंगे, धूल मिलेगी, उसमें यह

तेरी शोधने की दृष्टि जाती है, वह मोह का माहात्म्य है, कहते हैं। ज्ञान को छोड़.. भगवान आत्मा चिदानन्द प्रभु की अन्तरश्रद्धा, ज्ञान को छोड़कर कुछ और ही फल ढूँढ़ा जाता है। कुछ धर्म करूँगा, पुण्य करूँगा, स्वर्ग मिलेगा, पैसे मिलेंगे, शरीर सुखी होऊँगा, निरोगी रहूँगा। अरे! यह मूढ़! क्या हुआ तुझे यह? ऐसा यह कहते हैं। सब वह का वही है यह तो।

भगवान आत्मा चिदानन्द की सेवा से तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। उसे छोड़कर जीव, चैतन्यमूर्ति प्रभु आत्मा को छोड़कर कोई पुण्य-पाप और कोई उसके फल को खोजता है। कुछ मिलेगा या नहीं उसमें? कुछ पुण्य मिलेगा या नहीं? स्वर्ग मिलेगा या नहीं? मोह का माहात्म्य तो देखो! स्वरूप की सेवा नहीं करके पर में से कुछ लेना है, ऐसे भाव से यह सेवा कर रहे हैं। आहाहा!

ज्ञान को छोड़ कुछ और ही फल ढूँढ़ा जाता है। अर्थात् भगवान चैतन्य-सन्मुख की रुचि और परिणति प्रगट करनी चाहिए, वह तो करता नहीं और पुण्य-पाप की रुचि तथा शरीर आदि की रुचि, यह सब ठीक होवे न तो मुझे अनुकूल पड़े, ऐसी रुचि में वहाँ पर के फल खोजने जाता है, भाई! वहाँ आत्मा नहीं मिलेगा। शरीर अच्छा होवे तो ठीक, पैसा-बैसा ठीक होवे, लड़के लाईन पर लगे हों ठीक से तो फिर हमें निश्चिन्तता से धर्म हो। वजुभाई! पाँच लड़के ठीक से कमाते हों, तो फिर निश्चिन्तता से अपन रहें, अब उम्र हो गयी है वह। परन्तु कहाँ से है? परन्तु वहाँ कहाँ पड़ा है? ऐ.. शशीभाई! भगवान आत्मा तो यहाँ पड़ा है। उसकी अन्दर एकाग्रता से तुझे शान्ति मिलेगी। यह सब अनुकूलता हो तो फिर अपने को धर्मध्यान हो, ऐसा कहाँ फल खोजने लगा? कहते हैं। ऐ.. मोहनभाई! आहाहा! लड़के कुछ काम करनेवाले हों और ठीक तरह से चढ़े और फिर अपने को निश्चिन्तता-ऐसा बोले। फिर अपने को निश्चिन्तता, कलेजे निश्चिन्तता। बहुत अच्छी बात है। मूढ़ है, कहते हैं। भगवान चिदानन्द की मूर्ति की सेवा में से हटकर इस मोह के माहात्म्य में तू कहाँ चढ़ा? यह पूज्यपादस्वामी तो नग्न (दिगम्बर) मुनि है न!

ज्ञानात्मा से ज्ञान की ही प्राप्ति होना न्याय है। देखो! भगवान प्रभु आत्मा की अन्तर श्रद्धा, ज्ञान और सेवा से तो ज्ञान और शान्ति की प्राप्ति होती है। उसमें से पुण्य फले और स्वर्ग मिले, ऐसा है नहीं। आहाहा! परन्तु दोनों मिलता हो तो बाधा क्या? ऐसा कोई

कहे। विकार का फल यह पैसा इत्यादि धूल का है वह तो। यह धूल फल जो पाँच-पचास लाख (मिले), वह विकार का फल है; वह आत्मा का नहीं। आत्मा के धर्म से यह लक्ष्मी नहीं मिलती। आत्मा के स्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान से शान्ति और वीतरागता का तात्कालिक भाव मिलता है। समझ में आया? चैतन्य राजा की सेवा करने से तो चैतन्य की जागृति की दशा श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होते हैं।

ज्ञानात्मा से ज्ञान की ही प्राप्ति होना न्याय है। देखा? ज्ञान अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान, शान्ति आदि ज्ञानपर्याय, ऐसा। वहाँ कहीं पुण्य की प्राप्ति हो और फिर पैसा मिले और कर्म अच्छा बँधे.. ऐसा है नहीं। इसलिये हे भद्र! ज्ञानी की उपासना करके प्रगट हुई है, स्व-पर विवेकरूपी ज्योति जिसको ऐसा आत्मा,.. देखो! हे भद्र! गुरु कहते हैं। ज्ञानी की सेवा करने से प्रगट हुई है, स्व-पर विवेकरूपी ज्योति.. उन्होंने कहा, वह तुझे यहाँ प्रगट हुआ। स्व-पर की भिन्नता का कहा था। स्व-पर की एकता तो अनादि से मान रहा है। वह कहें तुझे? ...पाप से तुझे पैसा मिले, फिर तुझे सामग्री मिलेगी और फिर तुझे ठीक होगा, ऐसा कहेंगे वे? ज्ञानी की उपासना करके प्रगट हुई है, स्व-पर विवेकरूपी ज्योति.. क्या? ज्ञानी को यह कहना था। स्व-पर विवेक करना, भेदज्ञान करना।

जिसको ऐसा आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा में ही सेवनीय है,.. ओहोहो! अन्त में डाल दिया। राग और पुण्य से पर भगवान आत्मा को जानकर। आत्मा के द्वारा.. पश्चात् निर्मल-विकल्परहित, निर्विकल्प द्वारा आत्मा में ही.. शुद्धस्वभाव में रहकर उसकी सेवा करना। वह अनन्यशरण होकर भावना करने के योग्य है। वह अनन्यशरण का देनेवाला भगवान आत्मा है। श्रीमद् लिखते हैं न 'अनन्य शरण के दातार ऐसे सद्गुरु' यहाँ से बात ली है। अनन्यशरण होकर.. राग, पुण्य आदि शरण आत्मा को है ही नहीं। (अनन्य) शरणदातार भगवान आत्मा की पहिचान करके, उसकी एकाग्रता करना योग्य है, वह योग्य है; बाकी कुछ योग्य नहीं है। विशेष कहेंगे...

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २५

गाथा-२३ से २४

सोमवार, दिनाङ्क ११-०४-१९६६

चैत्र कृष्ण ६,

वीर संवत् २४९२

२३वीं गाथा में अन्तिम (पेराग्राफ) हो गया है न, थोड़ा-सा ? नहीं ? कहाँ से ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, यह तो आ गया सब। फिर से। देखो ! क्या कहते हैं ?

यह गाथा ऐसी है कि अज्ञानी की सेवा करने से अज्ञान की प्राप्ति होती है, ज्ञानी की सेवा करने से ज्ञान की प्राप्ति होती है, ऐसी यह गाथा है। इसलिए कहते हैं कि हे भद्र ! ज्ञानी की उपासना करके प्रगट हुई है स्व-पर विवेकरूपी ज्योति जिसको ऐसा आत्मा,.. ज्ञानी अर्थात् आत्मा। स्वयं जो आत्मा है, वह ज्ञानी है, उसकी उपासना करने से प्रगट हुई है स्व-पर विवेकरूपी ज्योति.. जिसे मैं आनन्द हूँ, ज्ञान हूँ और यह रागादि नहीं, ऐसी स्व और पर की भेदज्ञान ज्योति जिसे वह प्रगट हुई है, ऐसा आत्मा आत्मा के द्वारा.. अपना शुद्धस्वरूप राग से भिन्न करके, चैतन्यस्वभाव को राग और विकल्प पुण्य आदि के हैं, उनसे स्व आत्मा और पर राग, (ऐसे) उन्हें भिन्न करके। आत्मा के द्वारा.. अपने शुद्धस्वरूप की परिणति द्वारा आत्मा में ही सेवनीय है,.. आत्मा में सेवा करनेयोग्य है। कहो, आत्मा की सेवा करनेयोग्य है - ऐसा कहते हैं। किसकी नहीं करनी-ऐसा यहाँ आया नहीं। यह सेवा। फिर यह पर की सेवा करने में शुभराग है। क्या कहते हैं ?

यह ज्ञानी की उपासना अर्थात् आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसकी उपासना। समझ में आया ? भगवान आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप है। है, वह है, इतने में समझ लेना। उसे पुण्य-पाप का राग-विकल्प जो है राग, पुण्य, वह राग है। आत्मा शुद्धज्ञान है। दो का विवेक करके अन्तर आत्मा की सेवा करनी।

सेवनीय है,.. आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा में ही सेवनीय है,.. वास्तव में तो भगवान परमात्मा की प्रतिमा या भगवान त्रिलोकनाथ तीर्थकर की सेवा, वह शुभभाव है। ऐई ! उसमें आत्मा की सेवा नहीं। अरे ! शोच मचावे। लोगों को ऐसा हो जाए न...

आहाहा! साक्षात् प्रतिमा भगवान की अथवा साक्षात् भगवान त्रिलोकनाथ की सेवा अर्थात् उनकी ओर लक्ष्य करना, वह तो एक शुभभाव है, पुण्यभाव है; वह धर्मभाव नहीं। सेठ! परन्तु लोगों को कठोर पड़ता है।

यह आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप, आनन्द की मूर्ति आत्मा है। उसे शुभभाव, जो राग (है), उससे पृथक् करके, उस आत्मा का ज्ञान-आनन्द में सेवन करना, वह वास्तव में आत्मा की सेवा है। इसका नाम वास्तव में संवर और निर्जरा है। आहाहा! पोपटभाई! पुस्तक क्यों नहीं ली? ठीक। कहो, समझ में आया इसमें?

यहाँ तो ऐसा कहा कि आत्मा ज्ञानानन्द परमात्मस्वरूप है। उसे, यह पुण्य-पाप, शुभ-अशुभभाव है न! उनकी सेवा करने से भी बन्धन और विकार ही होता है। पुण्य-पाप के भाव में एकाग्र होने से अज्ञान अर्थात् जड़ का ही बन्धन होता है। उसमें आत्मा की सेवा कुछ है नहीं। इस दान में, दया में, भक्ति में, पूजा में, यात्रा में जो भाव होता है, वह पुण्यबन्ध का कारण है; वह आत्मसेवा नहीं है - ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु :धर्म करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धर्म कहाँ है उसमें? यह कहते हैं, उसमें पुण्य है; धर्म नहीं। समझ में आया?

यहाँ तो आत्मा भगवान सच्चिदानन्द प्रभु केवलज्ञान सर्वज्ञ.. समझ में आया? लोकालोक का आया था न, भाई! २१ में? यह बात वापस उसमें ख्याल गया था। पुण्य में आता है न? जीव तो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी है। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी। भगवान सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ही आत्मा है। १६० (गाथा समयसार)। यह वहाँ लोकालोक को जाननेवाला। भगवान सर्वज्ञ सर्वदर्शी आत्मा, अनन्त आनन्दमयी आत्मा की अन्तर में स्व स्वभाव-सन्मुख में शुद्धता की एकाग्रता करना, उसका नाम आत्म-सेवा और आत्मधर्म है। समझ में आया?

आचार्य तो स्पष्ट कहते हैं। तब कोई कहे कि यदि ऐसा कहोगे तो यह भगवान की भक्ति, पूजा-बूजा रुक जाएगी। परन्तु कौन रुके? सुन न अब। आचार्य यह स्पष्ट कहते हैं या नहीं? शशीभाई! भगवान की प्रतिमा, मन्दिर, यात्रा का भाव शुभ है, ऐसी आचार्य को खबर नहीं? और यह सेवा, वह परमार्थ सेवा नहीं है। परमार्थ तो इस चिदानन्द आत्मा

की अन्तर एकाग्रता, वह सेवा है। वे लोग चिल्लाने लग जाते हैं। यह पूज्यपादस्वामी क्या कहते हैं, देखो! २३वाँ श्लोक। अज्ञान की सेवा होगी। पुण्य-पाप के भाव में और बाहर की सेवा से तो अज्ञान मिलेगा। अज्ञान अर्थात् विकार की प्राप्ति होगी। ऐ.. मोहनभाई!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : चार गति, फिर तो अनादि से है, कहते हैं। उसमें तूने नया क्या किया? समझ में आया? जरा कठिन बात है।

यहाँ तो कहते हैं कि सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ परमात्मा भी समवसरण में विराजमान (हों, वे) परद्रव्य है। समझ में आया? और भगवान की प्रतिमा, मन्दिर, वह परद्रव्य है। उस ओर के झुकाव का भाव, वह विकार है और विकार है, उसमें चैतन्य का अंश नहीं है। अरे! यह शोर मचाये न लोग। सेठ! तुम्हारे सब उस ओर के बहुत झगड़ा मचाते हैं।

यहाँ तो कहते हैं, **अज्ञभक्ति अज्ञान को, ज्ञानभक्ति दे ज्ञान।** श्लोक है। सेठ! **अज्ञभक्ति अज्ञान को,**.. जिसमें आत्मा का यह ज्ञान, यह ज्ञान जिसमें नहीं। यह ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा, वह ज्ञान जहाँ नहीं। यह ज्ञान भगवान में भी नहीं और यह ज्ञान प्रतिमा में नहीं और यह ज्ञान शुभभाव में भी नहीं। आहाहा! अज्ञ है? अज्ञ—ज्ञ नहीं, ज्ञान नहीं। कौन सा ज्ञान नहीं? यह आत्मा ज्ञानानन्द भगवान ज्ञान की मूर्ति चैतन्य, यह ज्ञान अ-यह ज्ञान जहाँ नहीं। इस शुभ और अशुभभाव में भी यह ज्ञान नहीं, बाहर के निमित्त में भी नहीं, किसी संयोग में (नहीं)। यह ज्ञान भगवान के पास नहीं।

मुमुक्षु :ज्ञानी की सेवा करना - ऐसा कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानी की सेवा कही, वे कहते हैं, उसे समझकर अन्दर जाना, यह ज्ञानी की सेवा है। ज्ञानी की सेवा कहीं पैर दबाना नहीं है।

यहाँ तो बहुत संक्षिप्त (कहा है) **अज्ञभक्ति अज्ञान को,**.. इसका अर्थ ही यह है (कि) भगवान आत्मा सत्, चिद्शक्ति, ज्ञानमूर्ति है—ऐसा ज्ञान, यह ज्ञान जहाँ नहीं, ऐसे ज्ञानरहित, इस ज्ञानरहित सब भाव पर (हैं), उनकी सेवा से तो **अज्ञान को,**.. अज्ञान अर्थात् पुण्यबन्धन आदि होता है। यह अज्ञान अर्थात् मिथ्यात्व की यहाँ बात नहीं है। यह अज्ञ अर्थात् पुण्यबन्धन, पुण्यभाव होता है। अर्थात् पुण्यभाव, वह अज्ञभाव है। अज्ञ अर्थात्

ज्ञानरहित भाव है। उसमें कहीं आत्मा की सेवा नहीं होती। समझ में आया? कहो, मलूकचन्दभाई! दूसरों को सबको हो गया है, अब तुम्हारे एक बाकी रहा है। आहाहा!

ये मन्दिर, मूर्ति, पूजा होते हैं, परन्तु इनकी मर्यादा शुभभाव की है। कोई ऐसा माने कि वहाँ धर्म होता है और वहाँ संवर-निर्जरा होती है, इस बात में जरा भी दम नहीं है। भाषा समझ में आती है? थोड़ी-थोड़ी समझ लेना। यह आत्मा परमानन्द की मूर्ति ज्ञानस्वरूप चिदानन्द, यह ज्ञान जिसमें हे, उसकी सेवा-एकाकार (होना), इस ज्ञानभक्ति से ज्ञान (होता है)। इस ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा की भक्ति, (भक्ति) शब्द से (आशय) विकल्प नहीं। इस ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा में एकाग्रता, ज्ञान की ज्ञान में एकाग्रता, वह ज्ञान देती है। ज्ञान देती है अर्थात्? सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, ये सब ज्ञान की पर्याय कहलाती है। भाई! ज्ञान का ज्ञान, ज्ञान का समकित, ज्ञान का चारित्र। आहाहा! समझ में आया?

भगवान चैतन्यमूर्ति प्रभु में-स्वरूप में तो पुण्य-पाप के विकल्प भी नहीं है। वह तो अकेला ज्ञान का पिण्ड चैतन्यबिम्ब है। उस चैतन्य ज्ञानानन्द की सेवा, भक्ति अर्थात् सेवा, अर्थात् एकाग्रता, हों! भगवान ज्ञान प्रभु आत्मा में एकाग्रता ज्ञान देती है। ज्ञान देती है अर्थात्?—कि इसे राग नहीं देती, इसे पुण्य नहीं बँधता। इसे ज्ञान देती है अर्थात् आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र—ये सब ज्ञान की भूमिका की दशाएँ हैं। भगवान आत्मा अपने ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा, ज्ञानस्वरूप का ज्ञान, ज्ञानस्वरूप की स्थिरता की सेवा से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, इस रागरहित ज्ञान की दशा को प्राप्त होता है। समझ में आया?

इन पूज्यपादस्वामी ने पंचम काल के लिये यह बात की है। यह बात कोई चौथे काल के लिये नहीं है। स्वयं पंचम काल के मुनि थे, भावलिंगी सन्त थे, जंगल में-वनवासी रहते थे। समझ में आया? यह छिपा रखने के लिये बात की होगी कि किसी को कहना नहीं? ऐसा कहना नहीं? आहाहा!

भाई! तेरा चैतन्यबिम्ब तो तेरे पास है न, भाई! तू स्वयं जिनबिम्ब है। समझ में आया? ओहोहो! मानो पंच कल्याणक हो और शोभायात्रा (निकले) और मानो कितना धर्म हो गया! ऐ.. रतिभाई! इन रतिभाई ने सब किया नहीं था? लाख रुपये तो मानस्तम्भ में दिये, तथा पच्चीस-तीस हजार दूसरे खर्च किये होंगे। कितने खर्च किये थे? खर्च किये न इसने?

मुमुक्षु : आप इनकार करते हो, एक भी पैसा खर्च नहीं करता, एक भी पैसा... नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा कौन खर्च करे ? वह तो जड़ है। अन्दर राग की मन्दता का भाव हो, वह भी यहाँ तो अज्ञभाव है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! गजब बात, भाई!

मुमुक्षु : मेल मिलाना आवे तो अच्छा, नहीं तो वापस...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मेल मिलाना न आवे तो उसमें तो उसमें तो मिलाना आवे ही वह। यह तो ऐसा काम है, न आवे, ऐसा होता नहीं। ऐ.. रतिभाई! यह क्या कहते हैं, समझ में आया ? नहीं तो फिर यह सब शुभभाव छोड़ दे। छोड़े कहाँ ? उस काल में इसे शुभभाव आने योग्य (होगा), वह आयेगा, तथापि वह अज्ञ भाव है, उसमें ज्ञानस्वभाव का अभाव है। आहाहा! शोच मचाते हैं सब। ऐ.. ऐसा है। अब सुन न! शोर क्यों मचाता है ?

वीतरागमार्ग ही यह है। परमेश्वर त्रिलोकनाथ सर्वज्ञ परमात्मा, वह ज्ञ-स्वरूपी भगवान्, सर्वज्ञस्वरूपी आत्मा, सर्वज्ञस्वभावी आत्मा है। उसकी अन्तर की एकाग्रता, वह ज्ञान अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—ऐसी निर्मल पर्याय को आत्मा देता है। उस निर्मल पर्याय को शुभभाव, और भगवान् तथा मन्दिर दे, यात्रा दे - यह तीन काल में है नहीं। ऐई!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, जरा भी कोस नहीं लाता। ठीक कहते हैं यह। ऐसा कि ऐसी भक्ति, पूजा, दान करने से, सो कोस दूर होवे न, तो पचास कोस तो लावे। ऐसा कहते हैं। जरा भी नजदीक नहीं लाते - ऐसा कहते हैं। वह तो पुण्यबन्ध का कारण है। भाव आता है, होता है। ठीक प्रश्न कहते हैं न यह ? नहीं, नहीं, भाई! यहाँ तो एक ही बात है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पंथ।' भगवान् आत्मा ज्ञान की ज्योति चैतन्यस्वरूप निर्दोष निर्विकारी वीतराग पिण्ड आत्मा है। बस ! उसकी सेवा अर्थात् एकाग्रता (करना)। उसमें उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्ष का मार्ग, उस आत्मा में से प्राप्त होता है। उस शुभभाव में से नहीं, शरीर में नहीं, हड्डियों में से नहीं; इस मन्दिर में से नहीं, शत्रुंजय में से नहीं और सम्मेदशिखर में से नहीं। इस २३वीं गाथा में ऐसा कहते हैं।

अज्ञभक्ति अज्ञान को,.. बहुत संक्षिप्त बात कर डाली। ज्ञानभक्ति दे ज्ञान। लोकोत्की जो जो धरे, करे सो ताको दान। जिसके पास होवे वह दे। भिखारी के पास पैसा नहीं होता तो कहाँ से दे? रतिभाई! यह तुम्हारे जैसे सेठिया की फिर सेवा-बेबा करे और उसका पुण्य होवे तो मिले। पुण्य होवे तो मिले, नहीं तो (नहीं मिले), परन्तु उसके पास होवे वह मिले। ऐसे पुण्यभाव में, शरीर में, पर में, इस आत्मा का ज्ञान वहाँ है? ऐसा कहते हैं। शुभभाव में, शरीर में, संहनन में, मन्दिर में, मूर्ति में, शत्रुंजय में और सम्मोदशिखर में या त्रिलोकनाथ भगवान विराजे समवसरण में, उसमें यह ज्ञान—यह स्वभाव वहाँ है? ऐसा कहते हैं।

मुमुक्षु : धर्म के लिये...

पूज्य गुरुदेवश्री : तो विचार करना पड़ेगा या नहीं इसे? कुछ करना है या नहीं? क्या करना है इसे? भटका तो करता है अनन्त काल से। भटका तो करता है। अब इसे कुछ सच्चा समझना है या नहीं?

अज्ञभक्ति अज्ञान को,.. पाठ ही है न? 'अज्ञानोपास्तिरज्ञानं' यहाँ अज्ञान का अर्थ यह है, हों! भगवान आत्मा ज्ञान का समुद्र है, आत्मा ज्ञान का पूर चैतन्य है। उसकी अन्तर एकाग्रता से भगवान आत्मा में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का धर्म आवे। उसमें वह है तो वह आता है। शुभराग में, शरीर में, पर में यह ज्ञानस्वभाव नहीं कि जो पर की सेवा करने से यह ज्ञान मिले, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मिले। रतिभाई! क्या समझ में आया इसमें?

लोकोक्ति... लोकोक्ति अर्थात्? लोग कहते हैं कि भाई! जिसके पास हो वह (देता है), उसके पास हो वह देगा। साग-भाजी की दुकान में सब्जी हो तो सब्जी देगा, हलवाई की दुकान में पेड़ा हो तो पेड़ा देगा, कपड़े की दुकान में कपड़ा हो तो कपड़ा देगा। सेठ की दुकान में बीड़ी हो तो बीड़ी देगा, लो! वहाँ पेड़ा मिले ऐसा है? लाओ पेड़ा, तोलो पाँच मण। (गुजराती में) पेंडा कहते हैं न? ऐसा कहते हैं कि भगवान आत्मा की दुकान में अन्दर आनन्द और ज्ञान भरा है। उसकी एकाग्रता करे, उसे आनन्द और ज्ञान मिलता है तथा शुभभाव और शरीर में और पर में एकाग्र हो तो उसे पुण्य होता

है। कदाचित् अनुकूल में और स्त्री-पुत्र में एकाग्र हो तो अशुभभाव में तो पाप होता है। समझ में आया ?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहते हैं कि तुझे अब हित करना है या नहीं ?

मुमुक्षु : हित के लिये तो आया हूँ।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह किसलिए (कहते हैं) ? हित के लिये तो यह बात चलती है। यह इष्टोपदेश है। इसका नाम क्या ? इष्टोपदेश। यह हितकर उपदेश है। जिसे हित करना हो, उसके लिये यह हितकर उपदेश है। कहो, छगनभाई ! आहाहा ! लोगों को ऐसा हो जाता है कि परन्तु ऐसा करेगा तो ये जवान लड़के एक तो मानो स्वच्छन्दी हैं और फिर ऐसा कहेंगे तो (अधिक स्वच्छन्दी हो जायेंगे) परन्तु नहीं होंगे, सुन ! सत् सुनते हुए असत् होगा ? विपरीत कहाँ लगायी है तूने ? समझ में आया ? सत्य बात प्ररूपणा होने पर सत्य का ही लाभ होता है, असत्य उसे हो नहीं सकता। अब यह प्रश्न पूरा हुआ। समझ में आया ?

करे सो ताको दान। उसके पास होवे वह दे, ऐसा कहते हैं। दान है न ? जो उसके पास हो, वह दे। आत्मा में क्या है ? आनन्द और ज्ञान। तो उस आत्मा का ध्यान करने से, एकाग्रता (करने पर) वह ज्ञान और आनन्द देता है। राग में क्या है ? विकार। विकार का ध्यान करने पर विकार मिलता है। आहाहा ! उस शुभभाव का ध्यान करे तो दुःख देता है, ऐसा कहते हैं। पुण्य हो फिर, पुण्य अर्थात् आकुलता। कठोर बात है, भाई ! सत्य ऐसा है। सत्य तो सत्य ही रहेगा। दुनिया बदलना चाहेगी, बदलना चाहेगी तो नहीं बदलेगा। ' एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ । ' उसमें कुछ बदले ऐसा नहीं है। होता है, व्यवहार होता है। जहाँ निश्चय होता है, वहाँ अभी पूर्ण वीतराग न हो तो वहाँ आगे ऐसा व्यवहार भक्ति, पूजा, दया, दान, व्रतभाव, शुभभाव होता है, परन्तु उस शुभभाव में बन्ध का फल है। आत्मा के ज्ञान और आनन्द का फल उसमें नहीं है। कोई कहे कि उसमें से परम्परा से कुछ मिलेगा तो वह बात मिथ्या है। समझ में आया ? गजब बात, हों ! रतिभाई ! इसकी अपेक्षा तो मूर्ति नहीं मानते थे पहले, उसमें ठीक था। वहाँ नहीं, बापू ! वह तो शुभभाव होता

है। वीतरागदृष्टि होने पर भी पूर्ण वीतरागता न हो, तब तक ऐसा भक्ति का, पूजा का, दान का, व्रत का भाव होता है, परन्तु वह भाव ज्ञान और आनन्द को दे, वह भाव संवर-निर्जरा को दे, यह ताकत उसमें नहीं है। समझ में आया? आहाहा! तथा वह भाव न आवे, ऐसा भी नहीं है। वीतराग नहीं तो ऐसा भाव आये बिना रहेगा नहीं परन्तु उसे ऐसा माने कि यह मुझे धर्म और संवर-निर्जरा है (तो यह मान्यता मिथ्यात्व है।) समझ में आया?

यहाँ फिर भी शिष्य कहता है कि अध्यात्मलीन ज्ञानी को क्या फल मिलता है? इसमें स्वात्मनिष्ठ योगी की अपेक्षा से स्वात्मध्यान का फल पूछा गया है। आचार्य कहते हैं -

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।

जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा॥२४॥

अर्थ - आत्मा में आत्मा के चिंतवनरूप ध्यान से परीषहादिक का अनुभव न होने से कर्मों के आगमन को रोकनेवाली कर्म-निर्जरा शीघ्र होती है।

विशदार्थ - अध्यात्मयोग से आत्मा में आत्मा का ही ध्यान करने से कर्मों की निर्जरा (एकदेश से कर्मों का क्षय हो जाना, कर्मों का संबंध छूट जाना) हो जाती है। उसमें भी जो सिद्धयोगी हैं, उनके तो अशुभ तथा शुभ दोनों ही प्रकारों के कर्मों की निर्जरा हो जाती हैं। और जो साध्ययोगी हैं, उनके असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है। कोरी निर्जरा होती हो, सो बात नहीं है। अपितु भूख-प्यास आदि दुःख के भेदों (परीषहों) की तथा देवादिकों के द्वारा किये गये उपसर्गों की बाधा को अनुभव में न लाने से कर्मों के आगमन (आस्रव) को रोक देनेवाली निर्जरा भी होती है। जैसा कि कहा भी है - 'यस्य पुण्यं च पापं च।'

“जिसके पुण्य और पापकर्म, बिना फल दिये स्वयमेव (अपने आप) गल जाते हैं-खिर जाते हैं, वही योगी है। उसको निर्वाण हो जाता है। उसके फिर नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता। इस श्लोक द्वारा पुण्य-पापरूप दोनों ही प्रकार के कर्मों की निर्जरा होना बतलाया है। और भी तत्त्वानुशासन में कहा है - 'तथा ह्यचरमांगस्य।'

चरमशरीरी के ध्यान का फल कह देने के बाद आचार्य अचरमशरीरी के ध्यान का फल बतलाते हुए कहते हैं - कि जो सदा ही ध्यान का अभ्यास करनेवाला है, परन्तु जो अचरमशरीरी है, (तद्भवमोक्षगामी नहीं है) ऐसे ध्याता को सम्पूर्ण अशुभ कर्मों की निर्जरा व संवर होता है। अर्थात् वह प्राचीन एवं नवीन समस्त अशुभ कर्मों का संवर तथा निर्जरा करता है। इस श्लोक द्वारा पापरूप कर्मों की ही निर्जरा व उनका संवर होना बतलाया गया है। और भी पूज्यपादस्वामी ने समाधिशतक में कहा है - 'आत्मदेहान्तरज्ञान।'

'आत्मा व शरीर के विवेक (भेद) ज्ञान से पैदा हुए आनन्द से परिपूर्ण (युक्त) योगी, तपस्या के द्वारा भयंकर उपसर्गों व घोर परीषहों को भोगते हुए भी खेद-खिन्न नहीं होते हैं।'

यह सब व्यवहारनय से कहा जाता है कि बन्धवाले कर्मों की निर्जरा होती है, परमार्थ से नहीं। कदाचित् तुम कहो कि ऐसा क्यों? आचार्य कहते हैं कि वत्स! सुनो, क्योंकि एकदेश से सम्बन्ध छूट जाना, इसी को निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा कर्म की (चित्सामान्य के साथ अन्वयव्यतिरेक रखनेवाले पुद्गलों के परिणामरूप द्रव्यकर्म की) हो सकती है। क्योंकि संयोगपूर्वक विभाग दो द्रव्यों में ही बन सकता है। अब जरा बारीक दृष्टि से विचार करो कि उस समय द्रव्यकर्म का आत्मा के साथ संयोगादि सम्बन्धों में से कौन सा सम्बन्ध हो सकता है? मतलब यह है कि किसी तरह का सम्बन्ध नहीं बन सकता। जिस समय आत्मा ही ध्यान और ध्येय हो जाता है, उस समय हर तरह से आत्मा परद्रव्यों से व्यावृत्त होकर केवल स्वरूप में ही स्थित हो जाता है। तब उसका दूसरे द्रव्य से सम्बन्ध कैसा? क्योंकि सम्बन्ध तो दो में रहा करता है, एक में नहीं होता है।

यह भी नहीं कहना कि इस तरह की अवस्था संसारीजीव में नहीं पाई जाती। कारण कि संसाररूपी समुद्र-तट के निकटवर्ती अयोगीजनों का मुक्तात्माओं की तरह पंच ह्रस्व अक्षर (अ इ उ ऋ लृ) के बोलने में जितना काल लगता है, उतने काल तक वैसा (निर्बन्ध-बन्धरहित) रहना सम्भव है।

शीघ्र ही जिनके समस्त कर्मों का नाश होनेवाला है, ऐसे जीवों (चौदहवें गुणस्थानवाले जीवों) में भी उत्कृष्ट शुक्ललेश्या के संस्कार के वश से उतनी देर (पंच ह्रस्व अक्षर बोलने में जितना समय लगता है, उतने समय) तक कर्मपरतन्त्रता का व्यवहार होता है जैसा कि परमागम में कहा गया है - 'सीलेसिं संपत्तो।'

‘जो शीलों के ईशत्व (स्वामित्व) को प्राप्त हो गया है, जिसके समस्त आस्रव रुक गये हैं, तथा जो कर्मरूपी धूली से रहित हो गया है, वह गतयोग-अयोगकेवली होता है’ ॥२४॥

दोहा - परिषहादि अनुभव विना, आत्म-ध्यान प्रताप।
शीघ्र ससंवर निर्जरा, होत कर्म की आप ॥२४॥

गाथा - २४ पर प्रवचन

यहाँ फिर भी शिष्य कहता है कि अध्यात्मलीन ज्ञानी को क्या फल मिलता है? लो, अध्यात्मलीन ज्ञानी अर्थात् आत्मा ज्ञानानन्द भगवान में एकाग्रता से आत्मा ज्ञानस्वरूप भगवान में एकाकार... अध्यात्म लीन है न? अध्यात्म अर्थात् आत्मा में लीन होने से क्या फल मिलता है? इसमें स्वात्मनिष्ठ योगी की अपेक्षा से स्वात्मध्यान का फल पूछा गया है। स्वात्मनिष्ठ अर्थात् अपने में-आत्मा में निष्ठ अर्थात् जम गया है। ऐसे योगी की अपेक्षा से स्वात्मध्यान का फल पूछा है। आचार्य कहते हैं -

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥२४॥

अर्थ - आत्मा में आत्मा के चिंतवनरूप ध्यान से.. भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु को ज्ञानस्वभाव के ध्यान से। ध्यान से परीषहादिक का अनुभव न होने से.. धर्मी जीव को जितना आत्मा के ज्ञान में स्थिर हुआ, उतना उसे परीषह का अनुभव नहीं, प्रतिकूलता का अनुभव नहीं। उसकी स्मृति नहीं, उस ओर का उसका लक्ष्य नहीं। आहाहा! रोकड़िया धर्म है, पाप भी रोकड़िया है। जिस समय में शुभाशुभभाव करता है, उस समय में ही आकुलता है। आहाहा! समझ में आया ?

भगवान आत्मा के अन्तर में जहाँ लक्ष्य में-ध्यान में गया तो शरीर में क्षुधा-तृषा है या नहीं? खबर ही नहीं, इसका उसे स्मरण नहीं होता, स्मृति नहीं होती। समझ में आया? सर्प काटता है या नहीं, बिच्छु काटता है या नहीं? स्वरूप की अन्तर एकाग्रता में इसका

उसे स्मरण ही नहीं है। इसलिए उसे उनका ज्ञान ही नहीं है, ज्ञान तो अन्दर स्वज्ञेय में जमा है। आहाहा! समझ में आया ?

भगवान आत्मा, इस आत्मा शुद्ध चैतन्य का अन्तर ध्यान, ज्ञान, एकाग्र होने से उससमय क्षुधा-तृषा, बिच्छु का काटना, निन्दा आदि चाहे जो (हो), उसकी उसे स्मृति ही नहीं है। क्योंकि स्व ज्ञान के ज्ञेय में ही उसकी लीनता है। समझ में आया ? जहाँ लीनता है, वहाँ उसका ज्ञान है। उसे पर की ओर का विज्ञान है ही नहीं। समझ में आया ?

यह बात ऐसी है कि आत्मा का ध्यान कहा। आत्मा वस्तु को अस्ति सिद्ध किया। समझ में आया ? यह आत्मा अनन्त ज्ञान-दर्शन, आनन्द का अस्तित्व / सत्तावाला तत्त्व है। उसका ध्यान करने पर, उसे स्मरण में लेने पर दूसरा विस्मरण हो जाता है। परीषह है या नहीं, उपसर्ग है या नहीं, प्रतिकूलता है या नहीं, क्षुधा-तृषा तो जड़ की अवस्था उसमें (जड़ में) है। उसका ख्याल इसे है नहीं। अन्तरध्यान में इसे ख्याल नहीं होता ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ में आया ?

यहाँ क्या कहना चाहते हैं ? कि भाई! ज्ञानी को परीषह सहन करना महा कष्ट है, हों! कहते हैं कि परन्तु भाई! जिसकी आत्मा पर एकाग्रता है, उसे परीषह का सहन करना, वह है ही नहीं। प्रतिकूलता है, ऐसा उसे ज्ञान ही नहीं है। ज्ञान ही यहाँ अटका है एकाकार में—आत्मा में। आहा! ज्ञानी को बहुत परीषह सहन करना पड़ता है, उपसर्ग सहन करना पड़ता है, ऐसा नहीं है। सुन न! समझ में आया ? देखो! ये मुनि हैं, देखो! ध्यान में। ध्यान में हैं। इन्हें कुछ खबर नहीं की कौन शरीर को काटता है या क्या होता है ? ध्यान में मस्त हैं। कदाचित् ऐसे लक्ष्य जाता है, वहाँ विकल्प है, वह तो उस समय। समझ में आया ? तब विकल्प है, परन्तु अन्दर निर्विकल्प ध्यान में खबर नहीं (कि) क्या होता है और कहाँ होता है ? आहाहा! ध्याता, ध्यान और ध्येय जहाँ एकाकार अन्दर किया, उसे परीषह और उपसर्ग का स्मरण ही नहीं है, उसे विज्ञान नहीं है—ऐसा कहते हैं अर्थात् कि इसे उनका भान नहीं है। भान नहीं अर्थात् उसका इन्हें ज्ञान नहीं।

ऐसे चैतन्य भगवान शुद्धस्वरूप के पिण्ड में पड़ा है, ऐसा जो आत्मध्यान और अध्यात्मलीनता, (उसे) परीषह की खबर नहीं है। लोग ऐसा कहते हैं कि आहाहा!

कितने परीषह पड़ते हैं ! परन्तु तुझे खबर नहीं। परीषह में पड़ा नहीं है, पड़ा है अन्दर में। आहाहा! समझ में आया ? **परीषहादिक का..** परीषह आदि है न ? शरीर में क्षुधा, तृषा, रोग (होवे परन्तु) अनुभव नहीं है। आत्मा के शुद्ध की ओर के झुकाव में, इस शरीर में रोग है या नहीं, स्यालनी काटती है या नहीं, यह अग्नि रखी है या नहीं, बाघ-भालू काटते हैं या नहीं—इसकी स्मृति नहीं है। आहाहा! दूसरा क्या कहते हैं ? कि उस ओर का विकल्प तो नहीं.. भाई! परन्तु उस ओर का स्मरण भी नहीं है। यहाँ गया है अन्दर में, ऐसा कहते हैं। इस भगवान आत्मा को ज्ञेय करके, उसे ज्ञेय बनाकर, ध्येय बनाकर अन्तरध्यान में पड़ा है। पैसा-बैसा कहाँ है ? उसकी स्मृति नहीं। ऐसा आत्मा के ध्यान का फल है।

कर्मों के आगमन को रोकनेवाली कर्म-निर्जरा शीघ्र होती है। ऐसे जहाँ अन्तरस्वरूप शुद्धता में एकाग्र हुआ, उसे कर्मों का आगमन, आना कहाँ था ? रोकनेवाली—भाषा तो क्या करे ? यह व्यवहार है, ऐसा कहा। कर्मों का आना था, उसे रोका है। अर्थात् आना था ही नहीं, उसे कर्म का सम्बन्ध है ही नहीं। यह सब आगे कहेंगे, उसमें से यह सब निकाला है न ? उसमें से निकाला है न ? ऐसा पाठ यह लिया है न '**जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा**' उसमें से निकाला है, चौथे बोल में से निकाला है। गजब गाथा, भाई!

कहते हैं कि धर्मी को पूर्व के कर्म के साथ सम्बन्ध ही नहीं है... उसने सम्बन्ध तो यहाँ अन्दर किया है। वहाँ फिर परद्रव्य का उसे सम्बन्ध था और छूटा, यह कहना रहता ही नहीं, कहते हैं। वह तो व्यवहार कहलाया। आहाहा! समझ में आया ? स्वयं परद्रव्य का सम्बन्ध किया ही नहीं; सम्बन्ध तो यहाँ आत्मा की ओर है। वहाँ फिर उसे सम्बन्ध था, वह छूटा, यह बात तो व्यवहार कथन है; वस्तु ऐसी है नहीं। समझ में आया इसमें ? बहुत सूक्ष्म, हों! रतिभाई! आहाहा!

इसके ख्याल में ले। भाई! और संसार के किसी विचार में, ध्यान में रुकता है, तब इसे खबर होती है ? कुछ खबर नहीं होती। सर्प निकला हो तो भी खबर नहीं होती, ऐसा जम जाए विचार में। बड़ा सर्प निकला था एक। नहीं कहते थे ? रामजी पानाचन्द, रामजी पानाचन्द भावनगर। रामजी पानाचन्द के यहाँ गये थे, हों! वह भाई कल आये थे न ? रतिभाई! यह कि वहाँ मैं गया था। बात की थी। कान्तिभाई! ऐ रतिभाई! कल आये थे न ?

वे बात करते थे। समझ में आया ? वे रामजीभाई कहते कि ऐसा नामा लिखते थे, ऐसी बही थी, ऐसा सिरहाना होगा, ऐसे बही। नीचे से बड़ा काला नाग निकला। बड़ा काला नाग, हों! ऐसे से ऐसे निकला। खबर नहीं होती। ऐसे बही में ध्यान था। बड़ा नाग। सिरहाना पर ऐसे बही और बराबर बही का नामा था और दो के बीच पोल। यहाँ आया कि गया, उसकी खबर नहीं होती। नामा लिखने में ध्यान था। ऐसे निकला। सर्प (निकला था)। परन्तु अभी वहाँ से गया। रास्ता दूसरा कहीं नहीं। हैं ? यहाँ से गया। वे रामजीभाई कहते। ऐसे पढ़ने में एकाग्र थे—बहियाँ मिलाने में। यहाँ से गया, वहाँ ध्यान नहीं था। निकला और ऐसे गया वापस वे कहें, नाग था, हैं ? कहाँ से आया ? यह तुम्हारे पास से ही निकला था। मुझे खबर नहीं। समझ में आया ? संसार के ऐसे ध्यान में खबर नहीं तो आत्मा के ध्यान में बाहर की खबर नहीं होती, ऐसा कहना है। आहाहा!

(इन मुनिराज को) सियालनी काटती है, बापू! बहुत दुःख, हों! बहुत दुःख। दुःख होगा ? वह तो आर्तध्यान हुआ। यह मुझे ठीक नहीं लगता, हों! दुःख सहन करना पड़ता है, मुझे परीषह सहन करना पड़ता है, यह तो विकल्प हुआ और ऐसे अरुचि हुई, वह तो आर्तध्यान हुआ। समझ में आया ?

भगवान आत्मा आनन्द के ध्यान में अन्दर मस्त है, परीषह का जिसे स्मरण ही नहीं, उपसर्ग का जिसे ख्याल नहीं और कर्म का सम्बन्ध छूटा, ऐसा कहना वह भी एक व्यवहार का कथन है। पूर्व के कर्म का सम्बन्ध उसने किया ही नहीं। उदय आया, उसके साथ सम्बन्ध किया ही नहीं उसने। ऐसे सम्बन्ध आत्मा के साथ किया है। समझ में आया ? गजब बात, भाई! आत्मा की बात ऐसी है कि लोगों को मानो यह अकेली निश्चय की (बात करते हैं) परन्तु निश्चय अर्थात् यह सत्य। व्यवहार की अर्थात् जरा पुण्यबन्धन की बात, वह व्यवहार की (बात) है। अब सुन न! आहाहा! परन्तु ऐसा निर्बल आत्मा को मान लिया है और मानो अन्दर निर्बल है, इसलिए उसका वीर्य मानो ऐसे पुण्य में से हटकर आत्मा में करना और उसमें कुछ लाभ है, यह कुछ इसे जँचता नहीं। समझ में आया ? कर्म—निर्जरा शीघ्र होती है।

विशदार्थ—अध्यात्मयोग से आत्मा में आत्मा का ही ध्यान करने से.. देखो! अध्यात्मयोग अर्थात् आत्मा स्वरूप शुद्ध आनन्द की अन्तर्लीनता के ध्यान द्वारा।

अध्यात्मयोग से.. स्व-स्वरूप शुद्ध आनन्दकन्द भगवान परमात्मा ही स्वयं है। अप्पा सो परमप्पा। यह आत्मा स्वयं ही परमात्मा पूर्णानन्दस्वरूप है। ऐसे आत्मा में आत्मा का ही ध्यान करने से.. आत्मा का अन्दर एकाग्रता का ध्यान करने से कर्मों की निर्जरा (एकदेश से कर्मों का क्षय हो जाना, कर्मों का संबंध छूट जाना) हो जाती है। लो! आहाहा! आत्मा में एकाग्रता करने से ही सम्यग्दर्शन होता है, आत्मा में एकाग्रता करने से ही आत्मा का सम्यग्ज्ञान होता है और आत्मा में एकाग्रता करने से ही आत्मा का सम्यक्चारित्र होता है; ये किसी दूसरे प्रकार से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान (सम्यक्) चारित्र तीन काल में नहीं होता।

शास्त्र में आता है कि ऐसी वेदना से सम्यग्दर्शन होता है, देवदर्शन से होता है, यह सब निमित्त की बातें। इस ओर से हुआ, तब उस ओर कौन था, उसका ज्ञान कराने के लिए बात है। नारकी में वेदना से होता है और (दूसरों में) देवदर्शन से होता है। यह तो आता है, आता है। है न, यह सब व्यवहार की बात है। वेदना से (होता) होवे तो सबको होना चाहिए। ऐसा नहीं है। होवे न, परन्तु वेदना तो अनन्त बार वेदना हुई सबको, क्या है उसमें? वेदना से होता होवे तो सबको होना चाहिए। यह तो विचार करके यहाँ उतरा, तब उसे निमित्तरूप से ज्ञान कराते हैं। वेदना से क्या धूल हो?

इस बात से कोलाहल हो जाता है। पंच कल्याणक में गये थे न? शोभालालजी गये थे। समाचार-पत्र में आया था। दस हजार रुपये खर्च किये, ऐसा उसमें लिखा था। समाचार-पत्र में सब आता है। यहाँ तो हमें समाचार-पत्र में से चारों ओर की खबर पड़ती है। आहाहा! कितनी धर्म की प्रभावना हुई, कहते हैं लो! धर्म की प्रभावना यहाँ होती होगी या बाहर होती होगी? अरे.. अरे..! परन्तु गजब बात! यह तो शुभभाव होवे, उसे बाहर का होना हो तो होता है। बाहर का करे कौन? यह शोभायात्रा और हाथी का हौदा करे कौन? कर सकता है? वह तो परद्रव्य की पर्याय है। परद्रव्य की पर्याय करे कौन? शुभभाव होवे, उसे पुण्य बँधता है। अबन्ध भगवान आत्मा को बन्धन हो, वह उत्साह करने जैसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? 'कुशील का संग करना नहीं। मन वचन और काया से-मन से अनुमोदन देना नहीं।' पुण्य-पाप में आता है न? समयसार (में)। कुशील। ऐ... आहाहा!

भाई! तेरी बात (चलती है)। तुझे तेरे आत्मा का करना है या तुझे किसी दूसरे का करना है? दूसरे का तो कर नहीं सकता। दूसरे के लिए लक्ष्य जाता है, वहाँ तुझे भाव होता है, शुभ या अशुभ। स्त्री-पुत्र के सामने देखे तो पाप होता है। देव-गुरु-शास्त्र के सामने देखे और भक्ति करे तो पुण्य होता है। परद्रव्य के आश्रय से कहीं संवर-निर्जरा हो, ऐसा तीन काल में नहीं होता। सेठ! समझ में आती है न भाषा तो? मार्ग तो प्रभु! ऐसा है। आहाहा! लो!

उसमें भी जो सिद्धयोगी हैं,.. सिद्ध अर्थात् पूर्ण शुद्धता के ध्यान में पड़े हैं। उनके तो अशुभ तथा शुभ दोनों ही प्रकारों के कर्मों की निर्जरा हो जाती हैं। एकदम ध्यान में लीन हैं। शुद्ध.. शुद्ध.. शुद्ध.. एकदम और एकदम होकर केवली को अयोग होने की तैयारी है। ऐसे सिद्धयोगी हैं, उनके तो अशुभ तथा शुभ दोनों ही प्रकारों के कर्मों की निर्जरा हो जाती हैं। उन्हें तो कुछ पुण्यबन्ध नहीं होता, जरा भी पुण्यबन्ध नहीं होता। समझ में आया?

जैसे पाण्डव—पाँच पाण्डव थे न? शत्रुंजय। तीन पाण्डव सिद्धयोगी ऐसे ध्यान में मस्त हो गये। केवलज्ञान और मुक्ति (हुई)। उन्हें शुभ-अशुभ दोनों की निर्जरा है। और जो साध्ययोगी हैं,.. दूसरे दो मुनियों को जरा विकल्प रह गया। सहदेव और नकुल। अरे! बड़े मुनियों का क्या होता होगा? विकल्प रह गया तो स्थिरता नहीं हुई। पुण्य बँध गया। सर्वार्थसिद्धि का पुण्य बँध गया, पाप की निर्जरा हुई परन्तु पुण्य बँध गया। सिद्धयोगी को पुण्य-पाप की, दोनों की निर्जरा होती है। दोनों का सम्बन्ध छूट जाता है। अर्थात् वहाँ सम्बन्ध होता ही नहीं। समझ में आया? यह तो 'प्रभु का मारग है शूरों का कायर का नहीं काम।' हिजड़ा और पावैया जैसे नपुंसक वीर्य का वहाँ काम नहीं है, ऐसा कहते हैं। आता है न तुम्हारे?

‘हरीनो रे मार्ग छे शूरानो, ए कायरना नहि काम जो ने,
प्रथम पहला मस्तक मूकी, फेर लेवुं नाम जो ने।’

अर्पणता पहली-चिदानन्द भगवान पूरा मैं शुद्ध हूँ। ऐसी दृष्टि किये बिना और उसकी शरण में गये बिना धर्म और शान्ति का लाभ कहीं तीन काल-तीन लोक में कहीं

से प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? एकान्त नहीं हो जाता ? यह सम्यक् एकान्त है। शुद्धभाव एकान्त सेवन से पुण्य-पाप की निर्जरा हो जाती है। उसे पूर्व के उदय के साथ कुछ सम्बन्ध है नहीं। सम्बन्ध किया है स्थिरता में। ऐसे जम गया है। और साध्ययोगी है (अर्थात्) अभी पूर्ण सिद्ध होने का प्रयत्न करता है। समझ में आया ? साध्य-पूर्ण होने का अभी प्रयत्न करता है। उनके असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है। पुण्य बँध जाए। देखो न! तीन पाण्डवों को बँध गया। इतना पुण्य बँधा, शुभभाव हो गया न! बँध गया। असाता टलकर साता बँध गयी। आहाहा! ऐसे मुनि! कहते हैं, वे भी जरा हटे अन्दर में से, उन मुनियों को जरा ऐसा है, वे हटे परन्तु हटे तो पुण्य बँध गया। वहाँ कहीं उसके कारण निर्जरा-विर्जरा नहीं है, ऐसा कहते हैं। वरना तो मुनियों की विचारणा थी। धर्मराजा, अर्जुन, भीम ऐसे ध्यान में खड़े थे, पाँचों ही शत्रुंजय पर ध्यान में थे। तीन मोक्ष पधारे, दो सर्वार्थसिद्धि देव में गये। ये दो साध्य योगी थे, वे तीन सिद्ध योगी थे। यहाँ तो सब उत्कृष्ट बात है, भाई! समझ में आया ? मुनि जैसों को भी ऐसा हुआ, ऐसा कहते हैं। जितना स्वरूप का आश्रय छूटकर विकल्प आया (तो) बन्ध हुआ। समझ में आया ? दो भव करने पड़े। एक सर्वार्थसिद्धि का भव और वापस मनुष्य का, (इस प्रकार) दो भव हुए। मोक्ष जाने में कितनीक देर लगी। समझ में आया ? ऐसा करने गये विचार मुनि का (उसमें) दो भव हो गये। सेठ!

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभराग है न! पर का सम्बन्ध हुआ न! उतना अपना सम्बन्ध छूट गया। समझ में आया ?

यहाँ तो स्वभाव ज्ञानानन्द के सम्बन्ध से संवर-निर्जरा और मोक्ष है। पर का सम्बन्ध जितना करे, उसमें अशुभ निमित्त होवे तो पाप और शुभ निमित्त होवे तो पुण्य (होता है); संवर-निर्जरा नहीं, यह सिद्ध करना है। यह इष्टोपदेश है। इसका नाम इष्ट-प्रिय उपदेश है। जिस उपदेश में पर के कारण संवर-निर्जरा हो, (ऐसा कहे) वह अहितकर उपदेश है। वह अनिष्ट उपदेश है। यह इष्ट उपदेश है। सेठ! इस सेठ को ऐसा अच्छा लगता है। बहुत यह पुण्य करे और दान करे और मानो हमारे धर्म हो जाए। धूल में भी नहीं होगा,

ऐसा कहते हैं। जाओ खर्चों पचास हजार, लाख हुए, जाओ। धूल में भी धर्म नहीं। लाख क्या, सब करोड़ों दे नहीं, इसके पास हैं उतने (दे देवे नहीं) धर्म-बर्म हराम (होवे तो)।

मुमुक्षु : धर्म का साधन तो है न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : साधन भी बिल्कुल नहीं। भगवान आत्मा शुद्धस्वरूप, वह साधन और शुद्धस्वरूप वह साध्य, वह स्वयं ही है। दूसरा साधन-साधन वास्तव में नहीं है। आहाहा !

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : दे नहीं, परन्तु दे तो भी भाव घटावे तो भी उतना पुण्य है, वह कहीं धर्म नहीं है, यहाँ तो ऐसा कहना है। उसे फिर धीरे-धीरे धर्म हो जाएगा, ऐसा भी नहीं है। यहाँ तो स्पष्ट बात है। सेठ ! आहाहा ! करोड़ रुपये हों और फिर पाँच लाख यहाँ खर्चों और पिच्यानवे लाख रखो लड़के के लिए, तो पैसे भी रहे और धर्म भी हो, दोनों (होवे)। नहीं, नहीं; जरा भी नहीं। पाँच लाख क्या, तेरे करोड़ों दे दे न, करोड़ों तो जड़, अजीव है। वह कहाँ तेरी चीज़ थी। मैंने दिया, ऐसी मान्यता करे तो मिथ्यात्व है।

मुमुक्षु : पैसा भी गया और वापस मिथ्यात्व।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा कहाँ इसका था ? वह तो अजीव का-धूल का था।

मुमुक्षु : प्रसिद्धि तो हो गयी न इसकी।

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रसिद्धि किसकी हुई ? अज्ञानी में प्रसिद्धि हुई। अज्ञानी भान बिना में। ओहोहो ! क्या प्रसिद्धि हुई ? आत्मा में प्रसिद्धि हुई ? कहो, सेठ ! प्रसिद्धि हो जाए। बड़ा पद दे दे। समाजसेवक। क्या कहलाता है ? नाम देते हैं न तुम्हारे कुछ। कुछ उपाधि है। भूल जाते हैं। समाजभूषण। समाजभूषण न ? आत्मभूषण नहीं न ? ऐसा यह कहते हैं, सेठ ! बात तो जैसी होगी, वैसी होगी या नहीं ? रंक के लिए कुछ और राजा के लिए, पैसेवाले के लिए कुछ मार्ग फेर (मार्ग में अन्तर) होगा ? दूसरा मार्ग है ही नहीं। समझ में आया ?

देखो ! और जो साध्ययोगी हैं, उनके असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है। आत्मा में लीन हैं परन्तु अभी कुछ पूर्ण ध्यान नहीं, इसलिए शुभभाव आ जाता है, उसे शुभभाव आ जाता है। उसे शुभभाव से पुण्य बँधता है। असातावेदनीय

का बन्धन नहीं होता परन्तु शुभभाव में सातावेदनीय बँध जाता है। भगवान आत्मा अबन्ध को बन्धन होता है। आहाहा! यह सर्वार्थसिद्धि का भव बँधे, वह भी हितकर नहीं है, हितकर नहीं है। वह परिणाम हितकर नहीं है, वह भव हितकर नहीं है, वह शुभ का फल हितकर नहीं है। भगवान आत्मा उस शुभभाव से निराला आत्मा, उसकी एकाग्रता जितनी (हुई), वह उतनी हितकर है। समझ में आया ?

जो कोरी निर्जरा होती हो, सो बात नहीं है। क्या कहते हैं ? धर्मी जीव को आत्मा के शुद्धस्वभाव की भले पूर्ण शुद्धता की साध्य-सिद्धि न हो.. समझ में आया ? सिद्धयोगी न हो परन्तु स्वरूप के अन्तर में दर्शन, ज्ञान और चारित्र में रमता है, थोड़ा राग भी बाकी है तो उसे असातावेदनीय की निर्जरा होती है। कोरी निर्जरा होती हो, सो बात नहीं है। तब क्या है ? अपितु भूख-प्यास आदि दुःख के भेदों (परीषहों) की तथा देवादिकों के द्वारा किये गये उपसर्गों की बाधा को अनुभव में न लाने से कर्मों के आगमन (आस्रव) को रोक देनेवाली निर्जरा भी होती है। लो! जितनी शुद्धता है न ? शुद्धता ध्यान की एकाग्रता है, उसके साथ अशुद्ध का थोड़ा विकल्प भले हो, तो उससे पुण्य बँधता है। यह शुद्धता का ध्यान है, इतनी भूख-प्यास की वेदना उसे नहीं है। जितनी शुद्धता में पड़ा है न ? एकाग्रता (हुई है), उसे भूख-प्यास आदि के परीषह नहीं हैं। समझ में आया ? भूख-प्यास का अनुभव नहीं है। शुद्धता में जितना पड़ा, उतना भूख-प्यास का ख्याल नहीं है।

तथा देवादिकों के द्वारा.. देव, मनुष्य और पशु-तीन से उपसर्ग किया होवे न ? सर्प काटता हो, बिच्छु काटता हो, देव मारता हो, काटता हो, लो! ठीक! अरे! अग्नि में डाले परन्तु जितनी ध्यान में स्थिरता है, उतना उसे ख्याल नहीं है। शुभ विकल्प आ गया, उसका पुण्य बँध जाता है और उसे असातावेदनीय नहीं है। कर्मों के आगमन (आस्रव) को रोक देनेवाली निर्जरा भी होती है। जैसा कि कहा भी है- 'यस्य पुण्यं च पापं च।' लो! समझ में आया ? अत्यन्त साध्य में-ध्यान में स्थित हैं, उन्हें तो क्षुधा आदि की कुछ खबर नहीं, परन्तु जरा विकल्प आ गया है तो उसे ख्याल भले हो, परन्तु विकल्प है, उतना उसे पुण्य बँध जाता है। तो उसे पूर्ण निर्जरा नहीं है, संवर-निर्जरा पूर्ण चाहिए, वह उसे नहीं है। अपूर्ण है, इसलिए उसे विकल्प से पुण्य बँधता है। उसे इतना भी शुद्धता में,

जितनी एकाग्रता है, उसमें परीषह-उपसर्ग का ख्याल नहीं है। पूर्ण जो शुद्धता में स्थित हैं, उन्हें तो कुछ ख्याल नहीं है। यह श्लोक है। समझ में आया ? तत्त्वानुशासन।

जिसके पुण्य और पापकर्म, बिना फल दिये स्वयमेव (अपने आप) गल जाते हैं—.. लो! तत्त्वानुशासन में लिखा है न? तत्त्वानुशासन। इसमें तत्त्वानुशासन है, उसमें आत्मानुशासन था। 'यस्य पुण्यं च पापं च' 'तथा ह्यचरमांगस्य' यह और बाद में डाला, हों! यह बाद में है। पहला पहले आ गया। पहले यह नाम नहीं लिखा परन्तु 'यस्य पुण्यं च' यह आत्मानुशासन का है। है न? अन्दर है। २४६, आत्मानुशासन और वह 'तथा ह्यचरमांगस्य' है, यह तत्त्वानुशासन का है। पुण्य और पापकर्म, बिना फल दिये.. बिना फल दिये का अर्थ?—शुद्धस्वरूप के ध्यान में जितनी लीनता है, उतना पर के साथ सम्बन्ध नहीं होता इसलिए उसका फल दिये बिना खिर जाता है। खिर जाते हैं, वही योगी है। उसको निर्वाण हो जाता है। एकदम पूर्ण शुद्धता की बात की न पहले? उसे तो तत्काल निर्वाण हो जाता है। पूर्ण शुद्धता में जम गया है। उसके फिर नवीन कर्मों का आगमन नहीं होता। ऐसे आत्मा को नये कर्म का आना नहीं होता। शुभ-अशुभ एक का (भी आना नहीं होता)।

इस श्लोक द्वारा पुण्य-पापरूप दोनों ही प्रकार के कर्मों की निर्जरा होना बतलाया है। समझ में आया? कुछ आस्रव है नहीं, अत्यन्त शुद्धता में स्थिर है। जरा विकल्प आता है, उसकी बात दूसरी है।

चरमशरीरी के ध्यान का फल कह देने के बाद.. यह चरमशरीरी की बात की। अन्तिम शरीर है उसे। आत्मा के ध्यान में स्थिर हो गया है। कुछ बाहर में क्या होता है, (उसकी खबर नहीं है)। समझ में आया? वह तो चरमशरीरी है, उसे उसी काल में केवलज्ञान होकर मुक्ति है। आचार्य अचरमशरीरी के ध्यान का फल बतलाते हुए कहते हैं.. लो! कि जो सदा ही ध्यान का अभ्यास करनेवाला है,.. अभी ध्यान का अभ्यास चलता है, ऐसा। अन्तर एकाग्रता पकड़ी, और पकड़ने जाता है, ऐसा अभ्यास (करता है)। चिदानन्द भगवान आत्मा का बारम्बार अभ्यास करता है। एकाग्र होने का (अभ्यास करता है) अत्यन्त जो एकाग्रता पूर्ण होनी चाहिए, अचरमशरीरी को ऐसी हुई नहीं है।

परन्तु जो अचरमशरीरी है, (तद्भवमोक्षगामी नहीं है) ऐसे ध्याता को सम्पूर्ण अशुभ कर्मों की निर्जरा व संवर होता है। लो! अशुभकर्म की निर्जरा और अशुभकर्म का संवर। अर्थात् वह प्राचीन एवं नवीन समस्त अशुभ कर्मों का संवर तथा निर्जरा करता है। लो! पुराने और नये दोनों अशुभकर्मों की संवर-निर्जरा, हों! पुराने में भी नहीं और नया भी आवे नहीं। पुराने कर्मों का संवर और नये कर्म का नहीं आना। पुराने कर्म की निर्जरा और नये कर्म नहीं बँधे, ऐसा। इस श्लोक द्वारा पापरूप कर्मों की ही निर्जरा व उनका संवर होना बतलाया गया है। लो! पाप की निर्जरा कही न? थोड़ा पुण्य बँधे। समझ में आया? पुण्य जरा बँधता है, पाप की निर्जरा होती है। यहाँ ध्यान में जितना स्थिर है, उतनी निर्जरा है। जितना वह शुभराग रह जाता है... समझ में आया? उसे पुण्यबन्ध हो जाता है। इसका दृष्टान्त पूज्यपादस्वामी ने (दिया है, वह) विशेष कहेंगे....

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नम्बर 26 उपलब्ध नहीं है।
अतः आगामी प्रवचन क्रमांक 27 दिया गया है।

प्रवचन नं. २७ गाथा-२४ से २५ गुरुवार, दिनाङ्क १४-०४-१९६६
चैत्र कृष्ण ९, वीर संवत् २४९२

२४वाँ कलश चलता है। क्या कहते हैं ? कल चल गया है। अन्तिम शब्द है।
३१ पृष्ठ है।

**दोहा - परिषहादि अनुभव विना, आत्म-ध्यान प्रताप।
शीघ्र ससंवर निर्जरा, होत कर्म की आप।।२४।।**

सम्पूर्ण श्लोक का संग्रह करके उपसंहार किया है। पहले सब आ गया है। क्या ?
—कि धर्मात्मा को **आत्म-ध्यान प्रताप**। आत्मा आनन्द शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप है,
उसके अन्तर आनन्द के ध्यान में अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव सम्यग्दृष्टि को होता है।
आत्मध्यान। निज आत्मा में अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान, ऐसे अनन्त चतुष्टय शक्तिरूप
अनादि से स्थित हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य। ऐसे आत्मा
में प्रथम आत्मा को ध्येय करके, अपने स्वभाव को ध्येय करके अनुभव में अतीन्द्रिय
आनन्द का आना, इसका नाम प्रथम सम्यग्दर्शन है।

कहते हैं **आत्म-ध्यान प्रताप**। आत्मध्यान के प्रताप से धर्मात्मा को **परिषहादि
अनुभव विना**,... बाहर के परीषह और उपसर्ग का अनुभव नहीं होता। अनुभव है न ?
बाहर के परीषह का ख्याल भी नहीं। मैं अतीन्द्रिय आनन्दमय हूँ। अतीन्द्रिय आनन्द
सहजानन्द ध्येय है। निर्जरा का अधिकार है न ? कर्म की निर्जरा कहना, वह तो व्यवहारनय
है, ऐसा अर्थ आ गया है। अपना शुद्धचैतन्य आनन्दकन्द एक समय में परमात्मा शुद्धस्वरूप
अपना है। उसमें अन्तर में ध्येय दृष्टि लगाकर, जो अपनी पर्याय में अतीन्द्रिय आनन्द का
अनुभव, वेदन, स्वाद आना, उस स्वाद के समक्ष बाहर की प्रतिकूलता का धर्मात्मा को
अनुभव नहीं होता। समझ में आया ? तुम तो गुजराती भी समझते हो। समझ में आया ?

परिषहादि.. परीषहादि आदि शब्द से उपसर्ग आदि। क्षुधा, तृषा आदि शरीर में होते हैं। अपना आत्मा शरीर से, कर्म से और पुण्य-पाप के विकल्प से भी भिन्न है। क्योंकि पुण्य-पाप के शुभाशुभभाव जो हैं, वे तो आस्रवतत्त्व हैं तथा शरीर और कर्म है, वह अजीवतत्त्व है और आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसे अन्तर में एकाग्र ध्येय बनाकर ध्यान करना, इसका नाम आत्मा का अनुभव कहते हैं। यह अनुभव है, वही मोक्ष का मार्ग है। इस अनुभव में **परिषहादि अनुभव विना,..** बाहर का अनुभव नहीं है। शरीर में बाहर में परीषह पड़े, उसका ख्याल अन्तर आनन्द के समक्ष, अतीन्द्रिय स्वाद के समक्ष बाहर की प्रतिकूलता-अनुकूलता का उसे स्मरण होता ही नहीं। ऐसा अन्तर में आनन्द आता है, उसे यहाँ निर्जरा और संवर कहते हैं। देखो!

शीघ्र संवर निर्जरा,.. समझ में आया? अपने आत्मा का शुद्ध सम्यग्दर्शन पहले हुआ। चौथे गुणस्थान में (हुआ)। समझ में आया? पहले सब आ गया है, हों! उसका उपसंहार है। **शीघ्र संवर निर्जरा,..** संवर और निर्जरा, अपने शुभ-अशुभ विकल्प से नहीं होती। देह की क्रिया तो जड़ की, शरीर की पर्याय है, अजीवतत्त्व है। उससे आत्मा को संवर-निर्जरा, पुण्य-पाप नहीं होते और अपनी पर्याय में शुभ और अशुभ, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम होते हैं, वे शुभपरिणाम हैं, वह भी संवर और निर्जरा नहीं है, वह तो आस्रवतत्त्व है। उससे रहित भगवान आत्मा एक समय में अखण्डानन्द शुद्धचैतन्य प्रभु का अन्तरध्यान करने से अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद का नाम यहाँ अनुभव कहा जाता है। उस अनुभव के समक्ष शीघ्र संवर-निर्जरा होते हैं। अनुभव होने से संवर-निर्जरा होती है। सेठी!

मुमुक्षु : शीघ्र अर्थात्..

पूज्य गुरुदेवश्री : शीघ्र अर्थात् शीघ्र। अपने आत्मा में ध्येय करके जितना आनन्द का अनुभव हुआ, अपना ध्येय बनाकर, शुभ-अशुभ का ध्येय छोड़कर, पर का लक्ष्य छोड़कर, अपने आनन्द के अनुभव में ध्येय बनाया। पहले सम्यग्दर्शन में तो ऐसा हो गया है। सम्यग्दृष्टि को आनन्द का अनुभव तो पहले चौथे गुणस्थान से हो गया है। समझ में आया? जब से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, तब से आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव हुए बिना कभी सम्यग्दर्शन तीन काल में नहीं होता। कहते हैं कि सम्यग्दर्शन होने के

पश्चात् आनन्द के अनुभव में आगे बढ़कर बाहर के परीषह आदि का अनुभव किये बिना। शीघ्र ससंवर निर्जरा, होत कर्म की आप। आप शब्द क्यों लिया ? पाठ में है। कर्म की निर्जरा, उसके कारण से होती है। कर्म के रजकण स्वयं को खिराना नहीं पड़ता। वह जड़तत्त्व है, उसके कारण से कर्म खिर जाता है। अशुद्धपर्याय का नाश होना, वह भी उसके कारण से होता है।

अपने शुद्धस्वरूप को ध्येय करके अन्तर में ध्येय लगाया, उसका नाम संवर और निर्जरा है। समझ में आया ? एकदेश है न ? सम्बन्ध छूट जाना, उसे निर्जरा कहते हैं, वह निर्जरा करना, ऐसा नहीं। क्योंकि निर्जरातत्त्व के तीन अर्थ हैं—(१) रजकण का खिर जाना, (२) अशुद्धता का नाश होना और (३) शुद्धता के आनन्द की उत्पत्ति होना। समझ में आया ? उसे भगवान् निर्जरा कहते हैं। परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव निर्जरा के तीन प्रकार कहते हैं। एक तो आत्मा अपने आनन्दस्वरूप में लीन होता है। अतीन्द्रिय आनन्द, जैसा सिद्ध का आनन्द है, ऐसे अपने आनन्द में लवलीन हो जाते हैं, तब जो शुद्धि की वृद्धि होती है, उसे यथार्थ निर्जरा कहते हैं। उस समय अशुद्धता का नाश होता है, वह अशुद्धनिश्चयनय से निर्जरा कही जाती है। उस समय कर्म उसके कारण से-स्वयं के कारण से खिर जाता है, उसे असद्भूतव्यवहारनय से निर्जरा कही जाती है। सेठी !

यह कहते हैं, शीघ्र ससंवर निर्जरा, होत कर्म की आप। कर्म अपने (कर्म के) कारण से खिर जाते हैं। अपने आनन्द का अनुभव करते-करते (खिर जाते हैं)। अब, २५ (गाथा में) लेते हैं, देखो !

उपरलिखित अर्थ को बतलानेवाला और भी श्लोक सुनो -

कटस्य कर्त्ताहमिति सम्बन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः।

ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बन्धः कीदृशस्तदा॥२५॥

अर्थ - 'मैं चटाई का बनानेवाला हूँ' इस तरह जुदा-जुदा दो पदार्थों में सम्बन्ध हुआ करता है। जहाँ आत्मा ही ध्यान ध्याता (ध्यान करनेवाला) और ध्येय हो जाता है, वहाँ सम्बन्ध कैसा ?

विशदार्थ - लोकप्रसिद्ध तरीका तो यही है, कि किसी तरह भिन्न (जुदा-जुदा) दो पदार्थों में सम्बन्ध हुआ करता है। जैसे बाँस की खपच्चियों से जलादिक के सम्बन्ध से बननेवाली चटाई का मैं कर्ता हूँ - बनानेवाला हूँ। यहाँ बनानेवाला 'मैं' जुदा हूँ और बननेवाली 'चटाई' जुदी है। तभी उनमें 'कर्तृकर्म' नाम का सम्बन्ध हुआ करता है। इस प्रकार सम्बन्ध द्विष्ट (दो में रहनेवाला) हुआ करता है। इसको बतलाकर, प्रकृत में वह बात (भिन्नता) बिलकुल भी नहीं है, इसको दिखलाते हैं।

'ध्यायते येन, ध्यायति वा यस्तद् ध्यानं, ध्यातिक्रियां प्रति करणं कर्ता च' - जिसके द्वारा ध्यान किया जाय अर्थात् जो ध्यान करने में करण हो-साधन हो, उसे ध्यान कहते हैं। तथा जो ध्याता है-ध्यान का कर्ता है, उसे भी ध्यान कहते हैं, जैसा कि कहा भी है - 'ध्यायते येन तद् ध्यानं।'

'जो ध्यैञ् चिन्तायाम्' धातु का व्याप्य हो अर्थात् जो ध्याया जावे, उसे ध्येय कहते हैं। परंतु जब आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण होने के समय, आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है, तब संयोगादिक प्रकारों में से द्रव्यकर्मों के साथ आत्मा का कौन से प्रकार का सम्बन्ध होगा? जिससे कि 'अध्यात्मयोग से कर्मों की शीघ्र निर्जरा हो जाती है' यह बात परमार्थ से कही जावे। भावार्थ यह है कि आत्मा से कर्मों का सम्बन्ध छूट जाना निर्जरा कहलाती है। परन्तु जब उत्कृष्ट अद्वैत ध्यानावस्था में किसी भी प्रकार कर्म का सम्बन्ध नहीं, तब छूटना किसका? इसलिये सिद्धयोगी कहो या गतयोगी अथवा अयोगकेवली कहो, उनमें कर्मों की निर्जरा होती है, यह कहना व्यवहारनय से ही है, परमार्थ से नहीं।।२५।।

दोहा - 'कटका मैं कर्तार हूँ' यह है द्विष्ट सम्बन्ध।

आप हि ध्याता ध्येय जहँ, कैसे भिन्न सम्बन्ध।।२५।।

गाथा - २५ पर प्रवचन

उपरलिखित अर्थ को बतलानेवाला और भी श्लोक सुनो - पूज्यपादस्वामी महासमर्थ तत्त्वज्ञानी हुए। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र की टीका 'सर्वार्थसिद्धि' बनायी है। उन्होंने

यह इष्टोपदेश (बनाया है) । हित उपदेश-हितकर उपदेश, उसे कहते हैं कि जिसमें अपने आनन्द की हित दशा उत्पन्न हो और जिसमें पुण्य-पाप का बन्ध न हो, ऐसे उपदेश को इष्ट-उपदेश / हितकर उपदेश / यथार्थ उपदेश कहा जाता है । दूसरे उपदेश को यथार्थ नहीं परन्तु विपरीत उपदेश कहा जाता है । यह कहते हैं, देखो !

कटस्य कर्त्ताहमिति सम्बन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः।

ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बन्धः कीदृशस्तदा॥२५॥

इसका अर्थ । पूज्यपादस्वामी दृष्टान्त देते हैं । 'मैं चटाई का बनानेवाला हूँ'.. जरा सूक्ष्म बात है । 'मैं चटाई का बनानेवाला हूँ' इस तरह जुदा-जुदा दो पदार्थों में सम्बन्ध हुआ करता है । उसे व्यवहार कहते हैं । मैं चटाई का बनानेवाला हूँ, चटाई भिन्न वस्तु और बनानेवाला भिन्न । ऐसा आत्मा में नहीं है ।

जहाँ आत्मा ही ध्यान, ध्याता (ध्यान करनेवाला) और ध्येय हो जाता है, वहाँ सम्बन्ध कैसा ? आत्मा को सम्बन्ध होता है । वहाँ कर्म का सम्बन्ध कैसा ? समझ में आया ? आत्मा ही ध्यान.. चटाई का बनानेवाला दूसरा और चटाई दूसरी । यहाँ ध्यान करनेवाला दूसरा और ध्याता दूसरा, ऐसा नहीं है । समझ में आया ? ध्याता भी आत्मा और ध्येय भी आत्मा है । शुभ-अशुभराग / विकल्प उठता है, पुण्य-पाप के शुभ-अशुभभाव वे धर्मी का ध्येय नहीं हैं । धर्मी का वह ध्येय ही नहीं है । वह तो अनादि का अज्ञानी ने मिथ्यादृष्टि में ध्येय बाँधा है । धर्मी का ध्येय अपना आत्मा है । तो कहते हैं कि आत्मा ही ध्यान और आत्मा ही ध्यान करनेयोग्य तथा ध्येय हो जाता है । सुनो ।

कल अर्थ चला था । आज २५ वीं गाथा है । भगवान आत्मा शुद्ध अखण्ड आनन्दकन्द अनाकुल शान्तरस का पिण्ड आत्मा है । उसमें अपनी वर्तमान निर्मल विकाररहित दशा द्वारा ध्यान करनेवाला भी आत्मा और ध्येय भी आत्मा तथा ध्याता भी आत्मा है । ध्याता, ध्यान और ध्येय में भेद नहीं पड़ता । ध्याता, ध्येय और ध्यान—ऐसे भेद पड़ना, वह भी विकल्प है, वह भी राग है, पुण्यबन्ध का कारण है; वह भी संवर-निर्जरा नहीं है । समझ में आया ? आचार्य महाराज यह कहते हैं, देखो !

जहाँ आत्मा ही ध्यान.. भगवान आत्मा ध्यान करनेयोग्य और भगवान.. निर्विकल्प

ध्यान की बात है। वही धर्म और संवर-निर्जरा है। आत्मा ही ध्यान ध्याता (ध्यान करनेवाला) और ध्येय हो जाता है, वहाँ सम्बन्ध कैसा? वहाँ दो-सम्बन्ध कैसा? जैसे चटाई बनानेवाला और चटाई, ऐसे दो का सम्बन्ध है, वैसे यहाँ दो नहीं है। समझ में आया? आहाहा! जब तक शुभाशुभराग के विकल्प उत्पन्न होते हैं और उसमें ध्येय लगाकर दृष्टि पड़ी है, तब तक तो अनादि का मिथ्यादृष्टि है, वही है। समझ में आया? जब इसकी दृष्टि आत्मा को ध्येय बनाकर अपना अखण्डानन्द प्रभु एक समय में पूर्ण शान्तरस का पिण्ड, अनाकुल सच्चिदानन्दस्वरूप, एकरूप है-ऐसे अन्तर्दृष्टि लगाकर अपने आत्मा को ध्येय बनाकर, अपने ध्यान में ध्याता वह आत्मा है, उसमें दो का सम्बन्ध कहाँ आया? दूसरे का-राग का सम्बन्ध आया तो ध्यान नहीं, वह तो बन्ध का कारण है। समझ में आया? देखो! इसमें लिखा है। शब्द का शब्दार्थ किया। अब विशदार्थ।

विशदार्थ - लोकप्रसिद्ध तरीका तो यही है,.. तरीका, तरीका को क्या कहते हैं? नियम। अपने को हिन्दी बहुत नहीं आती। लोकप्रसिद्ध नियम तो ऐसा है कि किसी तरह भिन्न (जुदा-जुदा) दो पदार्थों में सम्बन्ध हुआ करता है। दो पदार्थ भिन्न हों, उनमें सम्बन्ध होता है। जैसे बाँस की खपच्चियों से जलादिक के सम्बन्ध से बननेवाली चटाई का मैं कर्ता हूँ - बनानेवाला हूँ। बाँस की... निकलती है न? पानी में से लाकर बनाते हैं न? यहाँ बनानेवाला 'मैं' जुदा हूँ और बननेवाली 'चटाई' जुदी है। तभी उनमें 'कर्तृकर्म' नाम का सम्बन्ध हुआ करता है। इस प्रकार सम्बन्ध द्विष्ट (दो में रहनेवाला) हुआ करता है। इसको बतलाकर, प्रकृत में वह बात (भिन्नता) बिलकुल भी नहीं है, इसको दिखलाते हैं। आत्मा के संवर, निर्जरा में ध्याता, ध्यान और ध्येय में बिलकुल सम्बन्ध नहीं है (अर्थात्) भिन्नता का सम्बन्ध नहीं है, अभिन्नता का सम्बन्ध है। आहाहा! कहो, सेठ! आज तुम्हारी हिन्दी चलती है। देखो, क्यों कहते हैं?

बनानेवाला और बननेवाली, ये दो वस्तुएँ हुईं। यहाँ दो नहीं है। जबकि संवर-निर्जरा जितने प्रमाण में होता है, उतने प्रमाण में दो नहीं है। जितना लक्ष्य बाहर में जाए, उतने शुभ या अशुभपरिणाम होते हैं, तो शुभाशुभ का बन्ध होता है। जितना अन्तर आत्मा

में 'ध्याते येन, ध्यायति वा यस्तद् ध्यानं' देखो! 'ध्याते येन, ध्यायति वा यस्तद् ध्यानं' जो ध्यान करनेयोग्य दशा स्वयं ध्यान। 'ध्यातिक्रियां प्रति करणं कर्ता च' ध्यान करने में करण एक और कर्ता एक अपना आत्मा ही है। संवर-निर्जरा के साधन में करण भी आत्मा, कर्ता भी आत्मा, ध्यान भी अपनी पर्याय। देखो!

जिसके द्वारा ध्यान किया जाय अर्थात् जो ध्यान करने में करण हो-साधन हो, उसे ध्यान कहते हैं। जरा सूक्ष्म बात है। इसे इष्ट उपदेश कहते हैं। जिस उपदेश में भेद से और पुण्य से अपने में धर्म-संवर होता है, ऐसा मानना, कहना, वह भगवान के उपदेश से (विरुद्ध) अहितकर उपदेश है, तत्त्व से विरुद्ध उपदेश है। यह अविरुद्ध उपदेश इष्ट-उपदेश है।

भगवान पूज्यपादस्वामी, कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् हुए हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य तो संवत् ४९ में हुए। पश्चात् समन्तभद्राचार्य महासन्त आत्मज्ञानी, ध्यानी आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द में झूलनेवाले। क्षण-क्षण में छठा-सातवाँ, छठा-सातवाँ (गुणस्थान में झूलते थे)। क्षण में एक अन्तर्मुहूर्त में हजारों बार (आवे)। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव सातवें में (करते हैं) और छठे में जरा आ जाते हैं तो प्रमत्त का विकल्प आता है। वह कितना? पौन सेकेण्ड के अन्दर। पौन सेकेण्ड से अन्दर के भाग में छठवाँ गुणस्थान होता है। पश्चात् तुरन्त सातवाँ गुणस्थान आ जाता है, ऐसे मुनि को भावलिंगी-सम्यग्दर्शन, अनुभव हुआ, तदुपरान्त छठा-सातवाँ गुणस्थान आया तो उसमें हजारों बार अन्तर्मुहूर्त में आते हैं-जाते हैं, उन्होंने यह पुस्तक (ग्रन्थ) बनायी है। समझ में आया?

यह कहते हैं, सुन भाई! हित की बात-इष्ट उपदेश। करण हो-साधन हो, उसे ध्यान कहते हैं। कहो, समझ में आया? अपना आत्मा.. शरीर, वाणी, मन, वह तो अजीव है। कर्म भी अजीवतत्त्व है। सात तत्त्व है न? सात। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। यह अजीव शरीर, कर्म, वाणी, वह तो अजीवतत्त्व है। उस अजीव की पर्याय अजीव; अजीव के गुण अजीव; अजीव का द्रव्य अजीव। उसमें आत्मा जरा भी नहीं है और अपनी पर्याय में हिंसा, झूठ, चोरी, विषय-भोग-वासना, काम-क्रोध के भाव होते हैं, वह पाप आस्रवतत्त्व है, वह पाप आस्रवतत्त्व है और जितने दया, दान, भक्ति, व्रत,

पूजा, तप, यात्रा का विकल्प उत्पन्न होता है, उतना पुण्यरूपी आस्रवतत्त्व है। सात तत्त्व समझने पड़ेंगे या नहीं? भाई! इस पुण्य और पापतत्त्व से भिन्न ज्ञायकतत्त्व आत्मा है। सात होते हैं या नहीं?

आत्मा, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, अजीव। शरीर, कर्म, वाणी तो अजीव तत्त्व है। अजीव के द्रव्य-गुण-पर्याय अजीव में हैं, अपने में नहीं। उसकी पर्याय से अपने में लाभ होता ही नहीं। अपनी पर्याय में जितने शुभ और अशुभभाव होते हैं, उतना पुण्य-पाप का बन्ध होता है। उससे धर्म नहीं होता। संवर-निर्जरा किस प्रकार होते हैं, यह बात चलती है। आस्रव, पुण्य-पाप के परिणाम से बन्ध होता है। अतः पुण्य-पाप आस्रव है, बन्ध है, अजीव है और संवर, निर्जरा, मोक्ष तीन रहे और आत्मा रहा।

यहाँ कहते हैं कि आत्मा किसे कहते हैं? अखण्ड आनन्दकन्द शुद्ध चिदानन्दमूर्ति की अन्तर्दृष्टि पहले हुई तो ध्यान का करण भी आत्मा है। समझ में आया? साधन आत्मा। भाई! आहाहा! लोग कहते हैं कि कषाय की मन्दता धर्म का साधन है। नहीं; यहाँ इष्टोपदेश (इनकार करता है)। है या नहीं? भाई! देखो! ऐ.. सेठ! यह बात पहले आ गयी है, चौबीस में आ गयी है। पच्चीस में उसका स्पष्टीकरण करते हैं। कर्ता, करण क्या?

आत्मा का धर्म संवर-निर्जरा है, उसमें कर्ता कौन? साधन कौन? ध्यान करनेवाला कौन? ध्यान कौन? समझ में आया? पूज्यपादस्वामी महासन्त, छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले महामुनि! सर्वज्ञ परमात्मा स्वीकारे ऐसे। वे फरमाते हैं कि उसे हम इष्टोपदेश कहते हैं (कि) आत्मा अपने स्वरूप का साधन बनता है। राग नहीं, व्यवहार नहीं, निमित्त नहीं। आहाहा! समझ में आया? पुस्तक है? भाई! उसमें है, देखो!

ध्यान करने में करण हो-साधन हो, उसे ध्यान कहते हैं। भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य महाराज संवत् ४९ में हुए। वे तो सीमन्धर भगवान् के पास गये थे। समझ में आया? महाविदेहक्षेत्र में सीमन्धर भगवान् विराजते हैं। साक्षात् केवलज्ञानी तीर्थकरदेव के पास वे गये थे। आठ दिन रहे थे। आत्मा का ध्यान, ज्ञान, अनुभव तो हुआ था परन्तु वहाँ जाकर बहुत अनुभव करके-स्पष्ट करके आये और फिर यह शास्त्र बनाये। पौन्नूर हिल। मद्रास से अस्सी मील दूर इस ओर वन्देवास है। वन्देवास से पाँच मील दूर पौन्नूर हिल है। वहाँ

हम गये थे। पौन्नूर हिल में वे रहते थे, ध्यान करते थे, वहाँ से भगवान के पास गये थे। उनके पास अन्तर में आनन्द की लब्धि थी, पुण्य की प्रकृति उस प्रकार की थी। वहाँ गये थे, आठ दिन वहाँ रहे थे, वहाँ से आकर समयसार, प्रवचनसार आदि बनाये हैं। ये पूज्यपादस्वामी उनके बाद हुए हैं। कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् (पूज्यपादस्वामी) हुए हैं।

यह कहते हैं कि इष्ट-उपदेश किसे कहना? हितकर, प्रिय, सत्य उपदेश किसे कहना? कि संवर-निर्जरा में अपना आत्मा ही साधन होता है, उसका नाम इष्ट-उपदेश-हित उपदेश है। सेठी! ध्यान करने में करण हो-साधन हो, उसे ध्यान कहते हैं। कहो, समझ में आया? ओहो! भाई! प्रभु! आत्मा तो पूरा शुद्ध आनन्दकन्द स्वरूप है। अकेला अनाकुल आनन्दस्वरूप आत्मा है। जैसा सिद्ध का आनन्द है, वैसा ही आत्मा है और पुण्य-पाप के जितने विकल्प व्रत-अव्रत के विकल्प उत्पन्न होते हैं, वे सब बन्ध का कारण, आस्रव है। उनसे रहित भगवान आत्मा अपना साधन बनाकर, स्वभाव का साधन बनाकर, उसमें दूसरा करण नहीं है। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप अत्यन्त भिन्न है। जैसे श्रीफल में गोला भिन्न है। श्रीफल कहते हैं न? नारियल। नारियल में जैसे सफेद गोला होता है न? श्वेत, सफेद। वह भिन्न है, छाल भिन्न है, कांचली भिन्न है और कांचली की ओर लाल छाल होती है न? लाल। खोपरापाक करे, तब छोलते हैं न? क्या कहते हैं? छिलका। वह लालाई भिन्न है और अन्दर का सफेद गोला भिन्न है। इसी प्रकार यह देह तो बाहर का छिलका है। बाहर में होता है न? क्या कहलाता है छाल.. छाल। यह छाल है और आठ कर्म के रजकण वे कांचली हैं। पुण्य और पाप—शुभ और अशुभभाव जो करते हैं, वे आस्रव-लालिमा है। आस्रवतत्त्व है। कांचली और छाल भिन्न तत्त्व है। यह शरीर और कर्म अजीवतत्त्व है। तथा पुण्य और पाप दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि के विकल्प उठते हैं, वे सब कांचली की ओर की ललाई है, वह आत्मा नहीं है। उससे आत्मा को बिल्कुल लाभ नहीं है। समझ में आया? इसका नाम भगवान पूज्यपादस्वामी हित-उपदेश कहते हैं। आहाहा!

कहते हैं, जिसके द्वारा ध्यान किया जाय अर्थात् जो ध्यान करने में करण हो-साधन हो.. किसके द्वारा हो? भाई! प्रभु! तेरी चीज़ तो अन्दर गोला भिन्न है। जैसे

श्रीफल में सफेदाई और मिठास का सफेद गोला भिन्न है। इसी प्रकार भगवान! तेरी चीज़ कर्म से भिन्न है, पुण्य-पाप के, दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प से भी भिन्न है। ऐसी वस्तु में आनन्द और शुद्धता पड़ी है। श्वेत अर्थात् शुद्धता और आनन्द अर्थात् मिठास। ऐसा अपना स्वभाव ध्यान करने में करण है, वह स्वभाविक साधन है। आहाहा! समझ में आया? उसका नाम संवर-निर्जरा है। वह स्वभाव साधन है।

आत्मा में करण नाम का गुण अनादि से है। आत्मा में अनन्त गुण है। अनन्त ज्ञान, दर्शन, आनन्द है। ऐसे आत्मा में अनादि-अनन्त षट्कारक गुण पड़े हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण-ऐसे छह गुण आत्मा में अनादि-अनन्त पड़े हैं। शुद्ध है। यह करण नाम का गुण-स्वभाव अन्दर है, शुद्ध है। राग और विकल्प से हटकर अपना स्वभाव शुद्धस्वभाव का साधन करने में जो हो, उसे ध्यान कहते हैं, भाई! राग का लक्ष्य करके ध्यान करते हैं, वह ध्यान ही नहीं है। उसका नाम संवर, निर्जरा है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! भारी कठिन जगत को।

अनन्त काल हुआ, इसने सम्यग्दर्शन क्या चीज़ है, यह कभी सुना नहीं। समझ में आया? अनन्त बार नौवें प्रैवेयक गया। अनन्त बार। परन्तु आत्मा क्या? सम्यग्दर्शन क्या? और सम्यग्दर्शन का विषय क्या है? यह कभी इसने लक्ष्य में लिया ही नहीं। ऐसे का ऐसा अनन्त काल जिन्दगी गँवायी। समझ में आया? आहाहा! यह कहते हैं, भगवान! तेरे स्वरूप में तो शान्ति और आनन्द भरे हैं न! वही तेरा साधन है। ध्यान में वह साधन है। आहाहा! शरीर की क्रिया तो जड़ है, वह तो जड़ पर्याय है। हिलती-चलती है, वह जड़-पर्याय है, आत्मा की नहीं, आत्मा नहीं करता। यह हलन-चलन आत्मा तीन काल में नहीं करता। यह जड़ की पर्याय है और शुभाशुभभाव होते हैं, उनका कर्ता मानता है, वह मिथ्यादृष्टि, मूढ़, अज्ञानी है। उसे संवर-निर्जरा नहीं है। कहते हैं कि वह साधन नहीं तो साधन क्या है? संवर-निर्जरा का साधन है क्या?

कहते हैं, भगवान! सुन तो सही, प्रभु! तेरी वस्तु में तो अनन्त शक्तियाँ पड़ी हैं न? जीवत्व, चित्, दृशि, ज्ञान (आदि)। अपने आत्मप्रसिद्धि में आ गया है। व्याख्यान सब आ गये हैं। बहुत स्पष्ट आया है। भगवान आत्मा में एक परमेश्वर शक्ति पड़ी है। क्या कहा?

आत्मा में एक परमेश्वर शक्ति पड़ी है - प्रभुता शक्ति है। जीवत्व, चिति, दृशि, ज्ञान, सुख, वीर्य, प्रभुत्व। सातवीं शक्ति है। सैंतालीस शक्तियाँ हैं। आत्मा में अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें से सैंतालीस शक्तियाँ भगवान् अमृतचन्द्राचार्य ने वर्णन की है। कितना वर्णन कर सके ?

कहते हैं कि अन्दर में प्रभुता नाम का एक गुण अनादि-अनन्त पड़ा है और उसके साथ करण नाम का गुण अन्दर पड़ा है। आत्मा में साधन नाम की शक्ति पड़ी है। वह अपने स्वभाव का साधन बनाकर ध्यान करता है। आहाहा! समझ में आया ? यह कहते हैं, देखो! ध्यान करने में करण हो-साधन हो, उसे ध्यान कहते हैं। उसे ध्यान कहा जाता है। कहने में आता है, उसे क्या कहते हैं ? कहने में आता है। समझ में आया ? आहाहा! आचार्य! वे तो मुनि जो हुए, आत्मज्ञानी, ध्यानी, छठे-सातवें गुणस्थान में, सबका कथन तो एक ही था। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ' दूसरा कोई पन्थ है नहीं। महासन्त आत्मज्ञानी, ध्यानी, अमृत का अनुभव (था)। क्षण-क्षण में अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का, चैतन्य का पूर पड़ा है। अतीन्द्रिय आनन्द का आत्मा सागर भरा है। जब सम्यग्दर्शन होता है, तब आत्मा का अनुभव होता है। पश्चात् मुनि होते हैं, तब अतीन्द्रिय आनन्द की अन्दर में रेलम-छेल होती है।

ऐसा कहते हैं कि हमारा ध्यान, जिसे संवर-निर्जरा कहते हैं, जिसे धर्मात्मा का धर्म कहते हैं, वह किस प्रकार होता है ? कि अपने साधन से होता है। समझ में आया ? भगवान् की स्तुति एक ओर रह गयी, भगवान् साक्षात् एक ओर रह गये, वह भी साधन नहीं। उन भगवान् के प्रति भक्ति का शुभराग है, वह भी साधन नहीं, वह तो आस्रव है। समझ में आया ? आहाहा! हो, विकल्प होता है, पुण्य होता है, अशुभ से बचने के लिए शुभभाव आता है, वह संवर, निर्जरा नहीं; धर्म नहीं। धर्म तो अपने साधन को ध्यान और धर्म कहते हैं। कितने ही कहते हैं न ? ध्यान में आना.. लेना। ज्ञानार्णव में आता है न ? वह तो विकल्प की जाति है। ऐसे करना, ऐसे करना क्या ? ऐसे होता है। यह वस्तु भगवान्... इसका नाम संवर-निर्जरा है। ऐसे विकल्प करे और भगवान् ऐसे हैं, और फिर चिन्तवन करे, कमल चिन्तवन करे, वह सब विकल्प है। वह तो पुण्यास्रव है; वह संवर-निर्जरा नहीं। समझ में आया ?

कहते हैं, ध्यान करने में-अपने में एकाग्र होने में करण हो, जो अपना साधन हो, उसे ध्यान कहते हैं। तथा जो ध्याता है-ध्यान का कर्ता है, उसे भी ध्यान कहते हैं,.. लो! अभेद कहा न? ध्यान करनेवाला आत्मा, ध्यान की पर्याय भी आत्मा। निर्मल, निर्विकारी आनन्द का अनुभव और ध्यान का साधन भी आत्मा। ओहोहो! समझ में आया? यह क्रिया और करण / साधन है। ध्यान की क्रिया का करण भी स्वयं, साधन भी स्वयं, क्रिया भी स्वयं और ध्याता भी स्वयं।

यह सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त, वीतराग जिनेश्वर के अतिरिक्त अन्यमत में वेदान्त आदि में बात करते हैं (कि) आत्मा ऐसा-वह सब कल्पना की बात है। समझ में आया? सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थकरदेव, जिन्होंने एक समय में तीन काल-तीन लोक प्रत्यक्ष देखे हैं, उनकी दिव्यध्वनि में ऐसा आया, ऐसा ही उपदेश सन्त कर रहे हैं। उस उपदेश को सत्य उपदेश कहते हैं। जिस उपदेश में ऐसा आवे कि शुभभाव करते-करते कल्याण हो जाएगा, शुभभाव संवर-निर्जरा है, वह भगवान का उपदेश नहीं है। समझ में आया? वह परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतरागदेव का उपदेश नहीं है। वीतरागदेव का उपदेश वीतरागभाव से चलता है, राग से नहीं। राग से लाभ होगा, शुभभाव से लाभ होगा, यह उपदेश वीतरागदेव का नहीं है। वीतरागदेव के विरोधी का यह उपदेश है।

कहते हैं, भगवान! सुन तो सही! तुझे कुछ क्रिया करनी है या नहीं? क्या करनी है क्रिया? देखो! 'ध्यातिक्रियां प्रति करणं' ध्यान की क्रिया है न? वह ध्यान की क्रिया होती है न अन्दर में? पुण्य-पाप के विकल्प, वे तो विभावक्रिया हैं। शरीर, वाणी की क्रिया, वह तो जड़ क्रिया है। अपने में अन्दर आत्मा चिदानन्द आनन्दकन्द को पकड़कर अनुभव करके ध्यान की क्रिया जो निर्मल अनुभूति है, उस क्रिया में कर्ता आत्मा है और ध्यान भी आत्मा है तथा कर्ता भी आत्मा है, साधन भी आत्मा है। ओहोहो! षट्कारक है न? षट्कारक हैं। कर्ता भी आत्मा, करण भी आत्मा, अपनी शुद्धता प्रगट होकर आनन्द को देनेवाला भी आत्मा, लेनेवाला भी आत्मा-सम्प्रदान। कर्ता, कर्म—कर्म अर्थात् कार्य। अपना शुद्धस्वरूप, पुण्य-पाप के विकल्प से पार प्रभु, ऐसे आत्मा को अन्दर अनुभव करके जो शुद्ध कार्य होता है-आनन्द का कार्य होता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन होता

है, वह आत्मा का काम है। वह आत्मा का कार्य है। पुण्य-पाप के परिणाम, वह आत्मा का कार्य नहीं। समझ में आया ?

यहाँ कहते हैं कि ध्याता, ध्यान को करनेवाला है, उसे भी ध्यान कहते हैं। जैसा कि कहा भी है-‘ध्यायते येन तद् ध्यानं।’ है न? धातु का व्याप्य हो अर्थात् जो ध्याया जावे, उसे ध्येय कहते हैं। परंतु जब आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण होने के समय, आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है,.. आहाहा! परमात्मा अर्थात्? दूसरे परमात्मा नहीं, हों! निज परमस्वरूप। परम आत्मा। निज परमस्वरूप आत्मा अर्थात् स्वरूप परम अर्थात् अपना परम निजस्वरूप। पुण्य-पाप के विकल्प उदयभाव हैं, बन्धभाव हैं; यह संवर-निर्जरा नहीं है और एक समय की पर्याय है, उसमें से नयी पर्याय नहीं आती। परमस्वरूप, एक समय की पर्याय है, वह परमस्वरूप नहीं है। परमस्वरूप, एक समय की पर्याय के पीछे शुद्ध ध्रुव अन्दर अनन्त आनन्द का कन्द है, उसका नाम यहाँ आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण कहा गया है। आहाहा!

जो निर्मल पर्याय, परमस्वरूप निज परमात्मा के साथ मिल गयी.. समझ में आया ? एकीकरण होने के समय, आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है,.. भगवान ज्ञानस्वरूप, ज्ञानसूर्य। ज्ञानसूर्य। चैतन्यस्वरूप आत्मा अकेला ध्यान में होता है। इसका नाम संवर-निर्जरा है। आहाहा! यह तो इष्टोपदेश चलता है। सेठी! जब आत्मा का परमात्मा के साथ.. भगवान अपनी निर्मल निज पर्याय, वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वीतरागी अविकारी, हों! उससे परमात्मा अर्थात् परमस्वरूप भगवान आत्मा, त्रिकाली ध्रुव को ध्येय बनाकर जो ध्यान होता है, उसके एकीकरण के समय वर्तमान निर्मल आनन्द की पर्याय में पूर्णानन्द के साथ एकीकरण होता है, तब आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है,.. ध्याता, ध्येय और ध्यान का भेद नहीं रहता। अकेला सूर्य-चैतन्यसूर्य। भगवान चैतन्यसूर्य ऐसे अनुभव में ध्याता-ध्यान और ध्येय, ऐसे तीन का भेद भी नहीं रहता, उस दशा को संवर और निर्जरा कहते हैं। आहाहा! इसे कठिन पड़ता है, अनन्त काल से इसने किया नहीं, सुना नहीं। यथार्थ बात (सुनी नहीं)।

समयसार में भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं-श्रुत, परिचित, अनुभूता। अनन्त

काल से तो शुभराग करना और शुभ का फल भोगना, बस! यह बात इसने की है और सुनी है। अनन्त काल से। परन्तु इस राग और विकल्प से भिन्न भगवान आत्मा निर्विकल्प चिदानन्द मूर्ति प्रभु, वीतरागी बिम्ब, जिसमें आत्मा अकेला आनन्दकन्द और शुद्ध परमात्मस्वरूप ही है। उसमें एकाकार होना, यह बात इसने कभी एक सेकेण्ड भी सुनी नहीं। ओहोहो! समयसार में श्रुतपरिचित आता है न?

सुदपरिचिदाणुभूदासव्वस्स वि कामभोगबंधकहा।

एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

भगवान आत्मा, शुभाशुभराग से भिन्न और अपने शुद्धस्वरूप से एकीकरण, इसका नाम एकीकरण। वहाँ कहा है, वही बात यहाँ कहते हैं। भगवान आत्मा सुदपरिचिदाणु-भूदासव्वस्स वि कामभोगबंधकहा। काम अर्थात् राग—इच्छा, किसी भी इच्छा का करना और इच्छा का भोगना, यह बात अनादि से अज्ञानी ने सुनी है। इच्छा राग है, शुभराग है। उससे भिन्न अपना आत्मा, राग से भिन्न अपना एकत्व। एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स। राग और विकल्प, दया, दान, व्रत के विकल्प से भिन्न भगवान आत्मा है, यह बात इसने एक सेकेण्ड भी अनन्त काल में सुनी नहीं। समझ में आया?... कहाँ से हो? सुनी नहीं, परिचय किया नहीं। दो-तीन बोल हैं। सुदपरिचिदाणुभूदा.. सुनी नहीं, परिचित-अभ्यास में ली नहीं, अनुभव तो हुआ ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं, जब आत्मा... पर के साथ सम्बन्ध ही नहीं, तब संयोगादिक प्रकारों में से द्रव्यकर्मों के साथ आत्मा का कौन से प्रकार का सम्बन्ध होगा? आहाहा! क्या कहते हैं? देखो! ...निर्जरा के साथ... कहते हैं, ध्यान रखो! बहुत गूढ़ बात है। आत्मा अपना ध्यान, अपने स्वरूप के ध्येय में जितना ध्यान हो, उस समय कर्म के उदय का लक्ष्य भी नहीं, सम्बन्ध ही नहीं। सम्बन्ध नहीं तो उसकी निर्जरा कैसे कहते हैं? भगवान आत्मा अपने निजानन्द भगवानस्वरूप में दृष्टि करके लीन है, तब तो कर्म के उदय का सम्बन्ध ही नहीं है, सम्बन्ध तो यहाँ लग गया है। आत्मा के साथ एकीकरण हुआ है तो उस समय में तो कर्म के निमित्त का सम्बन्ध ही नहीं है। जितना स्वभाव में एकीकरण हुआ है, उतनी संवर-निर्जरा है। उस संवर-निर्जरा में कर्म की निर्जरा की... उस समय में कर्म

के निमित्त का सम्बन्ध तो है ही नहीं। सम्बन्ध नहीं तो सम्बन्ध छूटा किस प्रकार कहलाये ? आहाहा ! समझ में आया ? सूक्ष्म बात है। कल अपने आ गया है। यह उसका श्लोक है। यही कहते हैं न ? **उपरलिखित अर्थ को बतलानेवाला और भी श्लोक सुनो.. उसे दृढ़ करते हैं।**

क्या कहते हैं भगवान ! भगवान ! तू तो परमात्मा है, हों ! प्रभु ! तू इनकार नहीं करना कि ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है। प्रभु ! तू तो अन्दर परमात्मा है। विकल्प उठता है, वह विकार, दोष है, उसका लक्ष्य छोड़ दे। यह शरीर तो मिट्टी-धूल है। आठ कर्म तो अजीव है और तेरा आत्मा, जब आत्मा के साथ लक्ष्य लगा दिया, उसका अर्थ क्या हुआ ? संवर, निर्जरा कब होती है ? सब ओर का लक्ष्य, ध्येय छोड़कर पुण्य का विकल्प, उदय का लक्ष्य और बाहर नोकर्म, तीनों का लक्ष्य छोड़कर। नोकर्म अर्थात् भगवान साक्षात् हों तो भी लक्ष्य छोड़कर; और उस ओर के विकल्प का लक्ष्य छोड़कर। समझ में आया ? यह भावकर्म। द्रव्यकर्म अन्दर वह द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म। नोकर्म भगवान सर्वज्ञ साक्षात् हों तो भी सामने सम्बन्ध करके लक्ष्य करना, वह शुभराग है, उसे छोड़कर... और जो विकल्प आया, वह भावकर्म है। उसका लक्ष्य छोड़कर। विकल्प में तो कर्म के निमित्त का सम्बन्ध था। उसका भी लक्ष्य छोड़कर। नोकर्म भगवान आदि, द्रव्यकर्म कर्म का उदय, भावकर्म विकल्प का लक्ष्य छोड़कर यहाँ लक्ष्य दिया तो कहते हैं कि उस समय में कर्म के उदय का तो लक्ष्य ही नहीं है, तो सम्बन्ध कहाँ से आया ? सेठ ! समझ में आता है या नहीं ? ऐसा नहीं चलता, समझना पड़ेगा। हाँ, ऐसा नहीं चलता। आहाहा ! देखो ! आचार्यों ने क्या कहा ? अन्तर की-दृष्टि की बात की खबर नहीं, अभी तो सुना नहीं कि क्या चीज़ है।

कहते हैं, अहो ! **संयोगादिक प्रकारों में से द्रव्यकर्माँ के साथ आत्मा का कौन से प्रकार का सम्बन्ध होगा ?** भगवान ! हम तो तुझसे कहते हैं, प्रभु ! परमात्मा अपना निजस्वरूप, उसमें जहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान शान्ति से लक्ष्य लगा दिया, अपने आत्मा की निर्मल वीतरागी पर्याय से परमस्वरूप में एकाकार, एकीकरण हुआ तो साधन भी स्वयं, ध्याता भी स्वयं और कर्ता भी स्वयं हुआ। उसमें कर्म के उदय का सम्बन्ध रहा कहाँ ? उस संवर-निर्जरा के काल में क्या कर्म के उदय का सम्बन्ध था ? उसका सम्बन्ध

था तो इस ओर सम्बन्ध नहीं रहता। आहाहा! भगवान! तेरा स्वरूप सम्यग्दर्शन में भी अपना ध्येय आत्मा है। वहाँ भी कर्म के निमित्त का सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! भगवान आत्मा अपनी सच्चिदानन्द मूर्ति आनन्द में जहाँ ध्यान आया, तो कहते हैं, वहाँ कर्म का—मिथ्यात्व का उदय है, उसका सम्बन्ध कहाँ रहा? वहाँ मिथ्यात्व की निर्जरा हुई, ऐसा कैसे कहलाया? सम्बन्ध ही नहीं तो निर्जरा कहाँ से आयी? आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! पूज्यपादस्वामी ने भी खींचा है अन्दर का।

भगवान! तेरी चीज़ में जहाँ लक्ष्य आया, सम्यग्दर्शन में भी अपने अनुभव में ज्ञानघन में एकीकरण हुआ है तो वहाँ कर्म में दर्शनमोह का उदय का सम्बन्ध था और दर्शनमोह की निर्जरा हुई, ऐसा कहाँ से आया? सम्बन्ध था? संयोग था तो वियोग हुआ? संयोग है नहीं तो निर्जरा हुई कैसे कहना? आहाहा! बहुत सूक्ष्म! यह वीतरागी तत्त्व है भाई! समझ में आया? ओहोहो!

संयोगादिक.. संयोग आदि कोई भी सम्बन्ध। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध लो। कहाँ रहा? कोई कहे कि आत्मा की पर्याय में संवर-निर्जरा हुई, तब कर्म का संयोग था। संयोग था तो संवर-निर्जरा किस प्रकार हुई? संवर-निर्जरा के काल में तो अपना ध्येय आत्मा साधन है। संवर-निर्जरा निर्मल वीतरागी पर्याय—मोक्ष का मार्ग उत्पन्न हो। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—तो सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र निर्विकारी वीतरागी पर्याय है। वीतरागी पर्याय किसके आश्रय से उत्पन्न होती है? किसके ध्येय से (उत्पन्न होती है)? उस समय ध्येय तो द्रव्य का है। भगवान परमात्मस्वरूप का ध्येय है, वहाँ एकीकरण हुआ है। वहाँ निमित्त पर लक्ष्य नहीं है। कर्म का सम्बन्ध था और कर्म की निर्जरा हुई। संयोग होवे तो वियोग कहते हैं। संयोग ही नहीं तो उसका वियोग कहाँ से हुआ? आहाहा! तुम नहीं थे। यह अधिकार बहुत आ गया। आहाहा! गजब, भाई!

भगवान! कहते हैं कि जिसका संयोग हो, उसका वियोग कहा जाता है कि इस यह संयोग हुआ तो इसका वियोग कहने में आता है परन्तु भगवान! तेरी चीज़ ही जहाँ परमानन्द की ज्योति, अखण्डानन्द को जहाँ दृष्टि में अन्तर में ध्येय बनाया, तो उस ध्येय में निमित्त कर्म के उदय का सम्बन्ध ही नहीं है। वह कर्म की निर्जरा हुई, ऐसा कैसे कहने

में आता है ? 'अध्यात्मयोग से कर्मों की शीघ्र निर्जरा हो जाती है' यह बात परमार्थ से कही जावे। किस प्रकार, समझे ? जिससे कि 'अध्यात्मयोग से कर्मों की शीघ्र निर्जरा हो जाती है' यह बात परमार्थ से कही जावे। जिससे कोई सम्बन्ध नहीं परन्तु 'अध्यात्मयोग से कर्मों की शीघ्र निर्जरा हो जाती है' यह बात परमार्थ से कही जावे। किस प्रकार होता है ? परमार्थ से नहीं। क्या कहा, समझ में आया ?

आचार्य महाराज निर्जरातत्त्व को सिद्ध करना चाहते हैं। भावनिर्जरा। तो भावनिर्जरा उसे होती है कि जिसने अपने ध्येय में आनन्दकन्द में दृष्टि लगायी है। कहते हैं, अध्यात्मयोग से आत्मध्यान से निजस्वभाव के आश्रय से ध्यान हुआ, उस अध्यात्मयोग से कर्म की निर्जरा हुई, वह परमार्थ से किस प्रकार कहने में आता है ? आहा ! समझ में आया ? देखो ! जरा सूक्ष्म बात है, हों ! सूक्ष्म क्या है ? परन्तु तुम तो जयपुर रहते हो। यह बात सूक्ष्म आ गयी है। सबेरे बहुत चली थी। २४ वाँ कलश चला न ? उसका आधार देकर २५ में आचार्य महाराज लेते हैं।

भाई ! आहाहा ! क्या कहते हैं ? कोई भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र जो मोक्ष का मार्ग है, उस पर्याय में लक्ष्य तो द्रव्य है तो ही होता है। शुभाशुभभाव करण नहीं, निमित्त करण नहीं, कर्म का मन्दपना निमित्त नहीं, कषाय की मन्दता का निमित्त नहीं। तब जब मोक्षमार्ग की पर्याय ध्येय से अन्दर होती है, उसमें वर्तमान कर्म का सम्बन्ध तो रहा नहीं और अध्यात्मयोग से परमार्थ से कर्म की निर्जरा हो गयी, ऐसा किस प्रकार कहा जाता है ? व्यवहार से कहा जाता है। पूर्व का कर्म था, वह वर्तमान में छूट गया, सम्बन्ध नहीं किया तो छूट गया, तो कर्म की निर्जरा हुई, ऐसा कहने में आता है। सम्बन्ध ही संयोग ही न हुआ तो वियोग कहाँ से हुआ। आहाहा ! सूक्ष्म बात करते हैं न ? भाई !

वास्तव में तो यह बात है। लोगों की भ्रमणा है कि निर्जरा कुछ उपवास करें तो हो, अमुक करें तो हो। धूल करें तो हो। सब झूठी मिथ्यादृष्टि है, ऐसा कहते हैं। पृथ्वीचन्दजी !... आहाहा ! भगवान ! यहाँ तो भगवान आत्मा को भगवान ही कहकर बुलाते हैं। एक बार सुन तो सही, प्रभु ! आहाहा ! संवर के एक अंश की उत्पत्ति और भावनिर्जरा की एक भाव उत्पत्ति में कर्म, नोकर्म भावकर्म का लक्ष्य है ही नहीं। अपना निज भगवान आत्मा,

परमानन्द मूर्ति को अन्तरध्येय बनाकर एकीकरण हुआ, तभी संवर-निर्जरा की पर्याय अपने ध्येय से, अपने साधन से, अपने साध्य से उत्पन्न होती है। आहाहा! समझ में आया? ऐसे वचन, दिगम्बर सन्त मुनि भावलिंगी हैं, इसके बिना ऐसे वचन नहीं निकलते। समझ में आया? श्वेताम्बर में तो ऐसी बात कहीं है ही नहीं। निर्जरा क्या? वह कुछ नहीं है। यह तो अनादि सनातन सर्वज्ञ परमात्मा, त्रिलोकनाथ वीतरागदेव महाविदेहक्षेत्र में एक मार्ग चलता है, ऐसा एक ही मार्ग परम्परा से चलता था। देखो! पूज्यपादस्वामी महा जंगलवासी-वनवासी आनन्दकन्द में झूलते थे। अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव (करते थे)। समझ में आया?

कहते हैं कि निर्जरा और संवर। यहाँ तो यह सिद्ध करना है कि जहाँ पर का सम्बन्ध ही नहीं। उसका अर्थ कि जहाँ पर का लक्ष्य नहीं, उसका अर्थ कि अपने लक्ष्य में जहाँ पड़ा है, वहाँ पर का सम्बन्ध नहीं है तो सम्बन्ध छूटा किस प्रकार कहलाये? आहाहा! भाई! यह परमार्थ से नहीं। परमार्थ से निर्जरा अध्यात्मयोग से हुई, यह बात नहीं है। अपनी शुद्धि की वृद्धि होती है, बस! इतना। परन्तु कर्म की निर्जरा होती है, ऐसा कहना व्यवहारनय का कथन है। विशेष आयेगा.... (श्रोता: प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. २८

गाथा-२५ से २६

शुक्रवार, दिनाङ्क १५-०४-१९६६

चैत्र कृष्ण १०,

वीर संवत् २४९२

यह इष्टोपदेश, पूज्यपादस्वामी दिगम्बर मुनि हुए। उन्होंने जगत को हितकारी उपदेश किसे कहते हैं, उसका यहाँ कथन किया है। हितकारी उपदेश में यहाँ २५ वीं गाथा आयी है। देखो! भावार्थ। फिर से लेते हैं। दूसरा पेरोग्राफ है न?

‘जो ध्यैञ् चिन्तायाम्’ धातु का व्याप्य हो अर्थात् जो ध्याया जावे, उसे ध्येय कहते हैं। परन्तु जब आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण होने के समय, आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है,.. धर्मी जीव को धर्म किस प्रकार होता है, वह इसमें

कहा है। धर्म की शुरुआत, धर्म की मध्यता और धर्म की पूर्णता किस प्रकार होती है ? यह इष्ट-उपदेश कहा। अपना आत्मा शुद्ध परमात्मस्वरूप अन्तर में निश्चय से परमार्थस्वरूप से उसमें एकीकरण होने का नाम धर्म की दशा उत्पन्न होती है, और उसे धर्म कहते हैं। समझ में आया ? देखो !

जब आत्मा का परमात्मा के साथ.. अपना परमस्वरूप शुद्धचैतन्य परमात्मा, निज शुद्ध कारणपरमात्मा, निज कारणपरमात्मा द्रव्यस्वभाव अखण्ड एक समय में पूर्ण ज्ञान-दर्शन-आनन्द का परिपूर्ण स्वरूप, उसके साथ एकीकरण होते समय सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति आत्मा में सम्यक् पर्याय का स्वभाव के साथ एकीकरण होना, उसका नाम सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति कहते हैं। समझ में आया ? ऐसे उपदेश को इष्टोपदेश कहते हैं। सम्यग्दर्शन दूसरे प्रकार से उत्पन्न होता है—ऐसा कहना, वह सर्वज्ञ की वाणी से विरुद्ध अनिष्ट उपदेश है। सेठी ! यह सेठ कहलाये, यह सेठी कहलाये। यहाँ तीन है न ? सेठ, सेठी, सेठिया। सेठिया दीपचन्दजी, सरदारशहरवाले। बहुत आत्मार्थी। समझ में आया ?

यह पूज्यपादस्वामी का इष्टोपदेश है। महामुनि आत्मद्रव्य का अनुभव करनेवाले और अल्प काल में मुक्ति होने के योग्य हैं। पंचम काल था तो वर्तमान में स्वर्ग में गये हैं परन्तु फिर अनुभव से, आत्मा के साथ ज्ञान और अनुभव लेकर गये हैं। फिर एकाध देह धारण करके परमात्मा होनेवाले हैं। वे पूज्यपादस्वामी इष्ट अर्थात् प्रिय उपदेश, हितकर उपदेश उसे कहते हैं कि जिससे आत्मा के अपने परमात्मस्वरूप में एकीकरण हो, उससे सम्यग्दर्शन हो और अपने आत्मा में एकीकरण एकाकार होवे तो सम्यग्ज्ञान होता है और अपने स्वरूप में-ज्ञानानन्द में एकीकरण होवे तो सम्यक्चारित्र उत्पन्न होता है, इसका नाम इष्ट-उपदेश कहते हैं।

आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण होने के समय, आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है,... समझ में आया ? भगवान आत्मा देह, वाणी, जड़ की क्रिया से लक्ष्य छोड़कर.. वह जड़ की क्रिया होती हो तो होओ, जड़ की है। शुभभाव आदि होवो तो होओ, वह पुण्य है। वह आत्मा नहीं है। आत्मा अखण्ड शुद्ध परमानन्द की मूर्ति निराकुल वीतरागस्वभाव का पिण्ड है, उसके साथ अन्तर्दृष्टि में एकाकार होना और ज्ञान

से अन्तर में एकाकार होना, स्थिरता से अन्दर एकाकार होना, तब आत्मा चिन्मात्र हो जाता है। तब चिन्मात्रस्वरूप हो गया। ज्ञानमय आत्मा। इसका नाम सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। है पुस्तक ? है ? यहाँ तो नीचे इस कारण रखते हैं। उसका शब्दार्थ क्या है, उसका ख्याल आवे इसलिए। समझ में आया ?

तब संयोगादिक प्रकारों में से द्रव्यकर्मों के साथ आत्मा का कौन से प्रकार का सम्बन्ध होगा ? भगवान् पूज्यपादस्वामी कहते हैं, भाई ! भगवान् आत्मा निज शुद्ध आनन्दकन्द में जितना एकाकार हुआ, उस समय में क्या कर्म के निमित्त का सम्बन्ध रहा कि जिससे उसे उस सम्बन्ध से छूटा, ऐसा कहा गया ? समझ में आया ? अपने स्वरूप में ही जब श्रद्धा-ज्ञान-शान्ति से एकाकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से निज परमात्मस्वरूप में एकाकार होता है, उसी समय में आत्मा को किस कर्म के निमित्त का सम्बन्ध है कि जिससे वह छूटा ऐसा कहा जाता है। आहाहा ! समझ में आया ?

संयोगादिक प्रकारों में से.. यह भगवान् आत्मा अपने स्वभाव में एकाकार दृष्टि करके सम्यग्दर्शन हुआ तो वहाँ दर्शनमोह का उदय निमित्त और नैमित्तिक ऐसा सम्बन्ध रहता है ? नहीं रहता। इस ओर अपने स्वभाव की निर्विकल्प दृष्टि की तो दर्शनमोह के उदय का निमित्त भी नहीं रहा, सम्बन्ध रहा नहीं। समझ में आया ? ऐसे अपने स्वरूप में जब ज्ञान की एकता हुई, ज्ञाता में ज्ञान की एकता हुई, तब सम्यग्ज्ञान उत्पन्न हुआ। उस समय क्या ज्ञानावरणीय के उदय में थोड़ा सम्बन्ध था ? सम्बन्ध था कि जिससे सम्बन्ध छूट गया ? समझ में आया ? स्वानुभूतिआवरण में जो निमित्त था, यहाँ अनुभव हुआ तो, उस अनुभूति (आवरण) का निमित्त ही नहीं रहा, सम्बन्ध ही नहीं रहा, तो उसे अनुभूतिआवरण का क्षयोपशम हुआ, निर्जरा हुई-ऐसा कैसे कहने में आता है ? आहाहा ! राजमलजी ! यह अलग प्रकार की वकालात है। वीतरागी वकालात करते हैं। पूज्यपादस्वामी वीतरागी वकालात करते हैं। भाई ! वीतराग का स्वरूप जैसा है, वैसा तूने कभी जाना ही नहीं। अनन्त काल हुआ। समझ में आया ? सेठी !

भगवान् आत्मा.. दो बातें की। दर्शन और ज्ञान। चारित्र की बात रही। उसमें एक साथ तीन बात है न ? आत्मा.. बाह्य की क्रिया होती है, उसके साथ सम्बन्ध नहीं है। अन्तर

की दृष्टि में ज्ञायक स्वसन्मुख की रुचि का एकाकार परिणमन हुआ, तो वहाँ कहाँ दर्शनमोह के निमित्त का लक्ष्य था, वह छूट गया ? लक्ष्य ही नहीं ? लक्ष्य यहाँ एकाकार हुआ है। दर्शनमोह का निमित्त था और सम्बन्ध छूट गया, ऐसा कहना, वह तो जब मिथ्यात्व था तो निमित्त का सम्बन्ध था। निमित्त-निमित्तसम्बन्ध। मिथ्या अभिप्राय करता था। यह बाद में आयेगा। मिथ्याअभिनिवेश, यह बाद में २६ में आयेगा। समझ में आया ? जो शुभाशुभभाव हैं, वे मेरे हैं, ऐसा मिथ्या अभिप्राय, मिथ्यात्व करता है तो वहाँ दर्शनमोह का निमित्त कहने में आता है। समझ में आया ? यह बाद में 'मम्' 'सममोमोक्ष निर्ममः बन्ध' वहाँ कहेंगे। बहुत संक्षिप्त में लिया है। इस मम का अर्थ ही अभिनिवेश करते हैं। मम का अर्थ अभिनिवेश। मिथ्या अभिप्राय, झूठा अभिप्राय। बहुत सूक्ष्म बात थोड़े में भर दी है। पूज्यपादस्वामी ने गागर में सागर भर दिया है। इसे जैन का उपनिषद् कहते हैं। वेदान्त का उपनिषद् कहते हैं न ? यह तो सब समझने जैसी बात है। गप्प मारी है। यह तो सर्वज्ञ की यथार्थ बात, अन्तर्दृष्टि से की है। समझ में आया ?

कहते हैं जब आत्मा अपने स्वरूप में चिन्मय की दृष्टि हुई, मैं ज्ञानस्वरूप ज्ञाता हूँ, ऐसा अन्तर अनुभव में सम्यग्दर्शन हुआ तो वहाँ दर्शनमोह का निमित्त सम्बन्ध रहा ? बस ! इसका अर्थ यह हुआ कि जब अपने स्वभाव में एकत्व नहीं था, तब मिथ्या अभिप्राय करता था तो मिथ्या अभिप्राय में दर्शनमोह का निमित्त कहने में आता था। समझ में आया ? और अपना लक्ष्य बदलकर निज ज्ञायकस्वभाव में दृष्टि लगा दी तो मिथ्यात्व के निमित्त का लक्ष्य भी नहीं। निमित्त सम्बन्ध था, वह सम्बन्ध छूटा, ऐसा कहने में आता ही नहीं। व्यवहार से कहा जाता है, पूर्व का निमित्त था, इस कारण से (कहा जाता है)। आहाहा !

ऐसे स्वानुभूतिआवरण। भगवान आत्मा अपना अनुभव-ज्ञान करे, स्वसंवेदन (करे) उसका नाम सम्यग्ज्ञान है। दूसरे का नाम सम्यग्ज्ञान नहीं। शास्त्र पढ़ना, वह कोई सम्यग्ज्ञान नहीं है। ऐ.. सेठ ! समझ में आया ? सम्यग्ज्ञान तो अपने आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण होने के समय (होता है)। भगवान आत्मा ज्ञानसूर्य चैतन्यज्योत में अन्तर एकाकार होकर स्वसंवेदन स्वानुभूति का ज्ञान हुआ तो कहते हैं कि वह तो अपने स्वभाव में एकीकरण से हुआ, दूसरा सम्बन्ध कहाँ रहा ? एकीकरण में दूसरा सम्बन्ध कहाँ रहा ?

स्वानुभूति का जो आवरण था तो अपनी पर्याय में जब अपने अनुभव का अभाव था, तब स्वानुभूति के आवरण का निमित्त था। आहाहा!

यह तो निमित्तनैमित्तिक और सब बात का स्पष्टीकरण करते हैं और यह निमित्त करता था। मुझे दूसरा कहना है। निमित्त बनाता था। अपने स्वरूप की अनुभूति नहीं करता था, अपने स्वरूप की दृष्टि, अनुभव नहीं करता था तो दर्शनमोह को निमित्त बनाता था। अपने स्वरूप की अनुभूति नहीं करता था, तब अज्ञान का अनुभव, राग का अनुभव करता था तो स्वानुभूतिआवरण को निमित्त बनाता था। समझ में आया? आहाहा! पोपटभाई!

जब स्वरूप की स्थिरता / चारित्र नहीं था और राग-द्वेष की अस्थिरता होती थी तो चारित्रमोह का उदय निमित्त बनाता था। वह निमित्त और यहाँ राग-द्वेष का अचारित्रभाव। वहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध था परन्तु यह राग-द्वेष अज्ञान से करता था कि राग मेरा, राग से मुझे लाभ है, ऐसी अचारित्र की दृष्टि और अचारित्र भाव है, उसमें चारित्रमोह का निमित्त कहने में आया है। वह अचारित्र उत्पन्न हुआ तो निमित्त का सम्बन्ध है, ऐसा कहने में आया। जब स्वरूप की स्थिरता हुई, आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण होने के समय, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः... मोक्षमार्ग तीन नहीं, मोक्षमार्ग एक ही है। उस एक स्वरूप में श्रद्धा-ज्ञान और चारित्र या आनन्द में जब एकीकरण हुआ तो कहते हैं कि स्वरूप में शान्ति की अनुभवदशा हुई। चारित्र अर्थात् शान्ति। अतीन्द्रिय आनन्द की शान्ति का नाम चारित्र है। ऐसा चारित्र, जब आत्मा परमात्मा में एकाकार है तो चिन्मय रहा। चिन्मय का अर्थ वहाँ रागादि है ही नहीं। ऐसी स्थिरता जब अन्तर में हुई, उसका नाम भगवान चारित्र कहते हैं। उस चारित्र के काल में चारित्रमोह के उदय का लक्ष्य ही नहीं, सम्बन्ध नहीं तो सम्बन्ध छूट गया, ऐसा कैसे कहा जाता है? समझ में आया? ओहोहो!

कहते हैं, तब संयोगादिक प्रकारों में से.. संयोग, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध.. समझ में आया? द्रव्यकर्मों के साथ आत्मा का कौन से प्रकार का सम्बन्ध होगा? आहाहा! जिससे कि 'अध्यात्मयोग से कर्मों की शीघ्र निर्जरा हो जाती है'.. अध्यात्मयोग का अर्थ यहाँ आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण होना, वह अध्यात्मयोग है। समझ में आया? शब्द-शब्द का अर्थ चलता है। ध्यान रखे तो एक-एक शब्द का वाच्य है। शब्द

वाचक है, भाव वाच्य है। भाव क्या कहते हैं ? शक्कर वाचक है और शक्कर की बोरी वह वाच्य कहलाती है। शक्कर शब्द वाचक, शक्कर वाच्य, बोरी वाच्य। ऐसे शब्द वाचक, उसमें भाव वह वाच्य है।

मुमुक्षु : मिठास..

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं। मिठास की बात नहीं है, यह तो वस्तु। शक्कर शब्द है न ? शक्कर। उसमें शक्कर आ गयी ? वह शक्कर तो शब्द है, वाचक है। वह शक्कर पदार्थ वाच्य है। वह बताता है कि यह पदार्थ। इसी प्रकार शब्द वाचक है। निज अन्तर में आत्मा अन्तर अनन्त गुण के पिण्ड पर दृष्टि दी, ज्ञान किया, स्वरूप में स्थिर हुआ तो एकीकरण हुआ, ऐसा कहा गया है। यह शब्द है, उसमें वाच्य तो यह है। भगवान आत्मा अपने स्वरूप में पुण्य-पाप के विकल्प से हटकर जब निमित्त का ही लक्ष्य रहा नहीं तो विकल्प का लक्ष्य तो कहाँ रहा ? और विकल्प का लक्ष्य नहीं रहा तो नोकर्म का लक्ष्य और सम्बन्ध कहाँ रहा ? आहाहा ! गजब बात करते हैं न ! वास्तविक तत्त्व की स्थिति ऐसी है परन्तु लोगों को विचारना नहीं, मनन करना नहीं, ध्यान क्या चीज है—उसकी खबर नहीं। समझ में आया ? और धर्म हो जाएगा। धूल में भी धर्म नहीं। अनन्त काल से ऐसा किया है। समझ में आया ? मान लिया है कि मैं धर्म में आगे बढ़ गया हूँ। मैं धर्म करता हूँ। भाई ! धर्म की एक समय की दशा अनन्त जन्म-मरण का नाश करके आनन्द का अनुभव होता है, उसका नाम धर्म है। ऐ.. सेठ ! आहाहा !

यहाँ आचार्य महाराज पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश में हितकर उपदेश करते हैं। इससे कोई कहे कि कर्म था तो मिथ्यात्व रहा है, यह उपदेश मिथ्या है। अपना मिथ्यात्वभाव था तो दर्शनमोह का निमित्त था, यह इष्टोपदेश का यथार्थ ज्ञान है। अपने में स्वानुभूति के भाव का अभाव था तो स्वानुभूतिआवरण को निमित्त कहा जाता है—ऐसा इष्टोपदेश है परन्तु वह निमित्त है तो यहाँ अपने आत्मा में आवरण-विकार उत्पन्न हुआ है, ऐसा उपदेश कहना, वह मिथ्यादृष्टि का अनिष्ट उपदेश है। समझ में आया ? और अपने में जब अचारित्र के परिणाम थे, तब चारित्रमोहनीय का निमित्त कहने में आता था। अचारित्र परिणाम नैमित्तिक और चारित्रमोह निमित्त। यह इष्टोपदेश में आया।

अब बात गुलॉट खाती है। अपने स्वरूप में एकाकार होता है, तब चारित्र की पर्याय, आनन्द की पर्याय, निराकुल शान्ति की पर्याय आत्मा में एकीकरण से उत्पन्न हुई है। जब एकीकरण से उत्पन्न हुई है तो चारित्रमोह के निमित्त का सम्बन्ध रहा, था और छूट गया – ऐसा कैसे कहने में आता है? समझ में आया? गजब बात, भाई! ऐ.. सेठ! बहुत ध्यान रखे तो समझ में आये ऐसा है। उस मिठास में गड़बड़ हो गयी थी। यहाँ मिठास का काम नहीं था, यहाँ शक्कर पदार्थ का काम था।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। यह कहते हैं कि मिठास कहा, इतनी तो हाँ करो। कहा, नहीं। सेठ तो हाँ करे या अमुक हाँ करे, यहाँ झूठी हाँ है नहीं। यह कहते हैं, इतने तो खड़े रखो। समझ में आया? आहाहा!

आत्मा का कौन से प्रकार का सम्बन्ध होगा? कहो, समझ में आया? ओहोहो! यहाँ तो भाई! निमित्त-निमित्त सम्बन्ध भी तू करता था। तू स्वभाव के साथ एकाकार होता है तो निमित्त का सम्बन्ध उड़ गया। आहाहा! परन्तु क्या करे? लोगों को ऐसी लकड़ियाँ गिर घुस गयी है (ऐसी विपरीतता हो गयी है) कि निमित्त आत्मा में घुस जाता है, काम कर देता है। मूढ़ मिथ्यादृष्टि है। राग की मन्दता आदि अपने स्वभाव में लाभ करता है, वह भी निमित्त है। कहते हैं कि कर्म के निमित्त का लक्ष्य ही नहीं रहा, कषाय की मन्दता का लक्ष्य ही नहीं रहा, स्वभाव का लक्ष्य हुआ तो एकीकरण हुआ, तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हुए। शुभभाव भी छूटा – ऐसा कहा तो सम्बन्ध कहाँ था, उसे छूटा कहते हो? आहाहा! समझ में आया? छोटाभाई! आहाहा! परन्तु गजब बात की है न! वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। वस्तु का स्वरूप है, ऐसा नहीं समझना, ऐसा नहीं मानना और विरुद्ध मानना तथा करना वह तो मिथ्यादृष्टि का आचरण है। समझ में आया?

यहाँ तो भगवान पूज्यपादस्वामी कहते हैं। उसकी टीका पण्डित आशाधर ने की है। समझ में आया? पण्डित आशाधर ने की है। देखो! वे कहते हैं कि शास्त्र में तो ऐसा लिखा है न? कि 'द्वयोर्द्वयोः सम्बन्धः स्याद्.. ध्यानं ध्येयं तदा कीदृशः' पाठ है न? भाई!

कटस्य कर्त्ताहमिति सम्बन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः।

ध्यानं ध्येयं यदात्मैव सम्बन्धः कीदृशस्तदा।।

वे पूज्यपादस्वामी के शब्दों की टीका करते हैं। पण्डित आशाधर, टीका का अर्थ जो उसमें भरा है, उसे खोलना, इसका नाम टीका है। है उससे विपरीत कहना, और दूसरा कहना वह टीका है या विपरीत है? समझ में आया? कहते हैं ध्यानं ध्येयं यदात्मैव भगवान् आत्मा अपना ही ध्येय, अपना ही ध्यान और अपना ही ध्याता, जबकि तीनों में आत्मा ही रह गया। पहले कहा था न? भाई! 'ध्याता ध्येयं ध्यायति' यह ध्यान पर्याय भी आत्मा ही है। ध्येय भी आत्मा ही है, ध्याता भी आत्मा ही है। तीनों में अकेला आत्मा रह गया। राग का ध्येय छूट गया, राग का ध्यान छूट गया, राग ध्याता और यहाँ ध्यान, ऐसा भी रहा नहीं। भगवान् आत्मा अपना ध्याता भी आत्मा, अपना ध्यान निर्मल सम्यग्दर्शन पर्याय हुई, वह भी ध्यान आत्मा और ध्येय भी आत्मा। शुद्ध ध्रुव भी आत्मा। इन तीनों में राग विकल्प और कोई निमित्त रहा, ऐसा है नहीं। आहाहा!

भाई! वीतरागमार्ग प्रभु! अन्यत्र कहीं ऐसा मार्ग है नहीं। लोग समझकर मान बैठे हैं, ऐसा वीतरागमार्ग नहीं है। यह तो सर्वज्ञ परमेश्वर का मार्ग है। यह कोई साधारण दो-पाँच, पचास हजार मान ले, ऐसी चीज़ नहीं है। सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ वीतरागदेव ने कहा, साक्षात् परमात्मा कह गये, भगवान् महाविदेहक्षेत्र में विराजते हैं, केवलज्ञानी, गणधर सन्त विराजते हैं, उनके मुख से निकला हुआ मार्ग तीन काल के तीर्थकरों का एक ही उपदेश है। समझ में आया? 'एक होय तीन काल में परमार्थ का पन्थ।' परमार्थ का पन्थ दो, तीन, चार नहीं होते।

यहाँ कहते हैं कि भाई! जब अपना स्वरूप.. देखो! उसमें किसी भी गुण की पर्याय की बात है, भाई! सम्यग्दर्शन की पर्याय भी आत्मा के स्वभाव में एकीकरण से हुई, सम्यग्ज्ञान की पर्याय भी आत्मा के एकीकरण से हुई, शास्त्र से ज्ञान नहीं होता। समझ में आया? देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा से सम्यग्दर्शन नहीं होता। आत्मा के एकीकरण से सम्यग्दर्शन होता है, ऐसा कहते हैं। अरे.. ऐसी बात! जब अन्तर आत्मा के स्वभाव के साथ एकीकरण होकर सम्यग्दर्शन हुआ तो किसका सम्बन्ध रहा? कि देव-गुरु-शास्त्र की

श्रद्धा थी और फिर वह छोड़कर यह हुआ, परन्तु श्रद्धा का लक्ष्य ही नहीं, वह तो राग है। देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा तो राग है, पुण्य विकल्प है। वह भी लक्ष्य था और यहाँ हुआ, ऐसा कहाँ रहा? आहाहा!

मुमुक्षु : इसके लिए तो कड़क पुरुषार्थ करना पड़े ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ यह पुरुषार्थ ही नहीं। कड़क पुरुषार्थ करना पड़े तो वह थोड़ा पुरुषार्थ है (ऐसा नहीं) ऐ.. सेठ! राग का पुरुषार्थ, वह वास्तविक पुरुषार्थ ही नहीं है, उल्टा पुरुषार्थ है, दोषित पुरुषार्थ है, वह पुरुषार्थ ही नहीं, शास्त्र इनकार करता है, बाल पुरुषार्थ (कहता है)।

आत्मा के वीर्य का कार्य भगवान किसे कहते हैं? अपने स्वरूप की रचना करे, उसे वीर्य कहते हैं। सैंतालीस शक्ति, समयसार। शास्त्र में वीर्य की व्याख्या ही यह है। वीर्यगुण किसे कहते हैं? अपने स्वरूप की रचना करे उसे वीर्य कहते हैं। अपने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र वीतरागी दशा की रचना करे, उसका नाम वीर्यगुण कहने में आता है। समझ में आया? ऐ सेठ! देखो! सैंतालीस शक्ति है न? वहाँ आया—स्वरूप की रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति। संस्कृत शब्द है, स्वरूप की रचना के सामर्थ्यरूप वीर्यशक्ति। भगवान परमेश्वर सर्वज्ञदेव ऐसा कहते हैं - ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं, ऐसा अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर मुनि कहते हैं कि हे जीवो! आत्मा का वीर्य परमात्मा उसे कहते हैं कि जो आत्मवीर्य अपने शुद्ध अरागी वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और अपने शुद्ध आनन्द की पर्याय की रचना करे, उसका नाम भगवान वीर्य कहते हैं। यहाँ तो स्पष्ट बात है। जरा गड़बड़-फड़बड़ ऐसी नहीं। संस्कृत है? संस्कृत है? समयसार है?

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत हो गया है, सब हो गया है। सेठ की ओर से हिन्दी भी आ गया है। समझ में आया? शक्ति को? 'स्वरूपनिर्विर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः' अमृतचन्द्राचार्य महाराज सैंतालीस शक्ति, आत्मा के गुण की व्याख्या करते हैं कि आत्मा में एक वीर्य नाम का अनादि-अनन्त गुण है, उस गुण का गुण क्या? आत्मा में वीर्य अर्थात् पुरुषार्थ नाम का एक गुण अनादि-अनन्त है। उसमें राग-द्वेष आदि नहीं हैं, कर्म-फर्म

नहीं है। भगवान आत्मा में एक पुरुषार्थ नाम का गुण है। उस गुण का गुण क्या? उस गुण का स्वरूप क्या? कि 'स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः' अपना स्वरूप शुद्ध आनन्द, शुद्ध सम्यग्दर्शन अनुभव और सम्यक्चारित्र आनन्द की स्थिरता, उसकी रचना करनेवाले को वीर्य कहते हैं। सेठ!

मुमुक्षु : अन्दर की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : आत्मा की क्रिया तो आत्मा में होती है। जड़ में, राग में, आत्मा की क्रिया होती है? आहाहा! कहते हैं कि यह तो तुम्हारे प्रश्न के लिए उत्तर दिया, हों! वह प्रयत्न है—देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, वह तो व्यवहार है। राग के पुरुषार्थ को पुरुषार्थ कहते ही नहीं।

यहाँ भगवान परमेश्वर कहते हैं, वही पूज्यपादस्वामी यहाँ कहते हैं। अपने स्वरूप में एकाकार होना, निर्मलपर्याय को रचना, उसका नाम वीर्यगुण कहने में आता है। वह आत्मा के साथ एकीकरण हुआ। जिसमें राग का—शुभ का पुरुषार्थ है, वह वास्तविक पुरुषार्थ कहने में नहीं आता। आहाहा! गजब बात करते हैं न! व्यवहार का पुरुषार्थ वह वास्तविक वीर्यगुण का काम ही नहीं है, भाई! ऐसा कहते हैं। आहाहा! लोग यह व्यवहार.. व्यवहार.. कहते हैं न? यहाँ वीतराग परमेश्वर ऐसा कहते हैं, व्यवहार हो, परन्तु व्यवहार के राग की मन्दता इसके वीर्य का कार्य है, इससे भगवान इनकार करते हैं। सम्यक् वीर्य का कार्य नहीं। उल्टे वीर्य का कार्य, वह आत्मा के यथार्थ गुण का कार्य नहीं है। दोष है भाई! तुझे खबर नहीं भगवान! आहाहा! तूने तेरी चीज़ सुनी नहीं है।

यहाँ आचार्य कहते हैं, जब आत्मा 'अध्यात्मयोग से कर्मों की शीघ्र निर्जरा हो जाती है' यह बात परमार्थ से कही जावे। ऐसा क्यों कहा? समझ में आया? भगवान आत्मा अपने स्वभाव के सामर्थ्य की रचना में पड़ा, तब तो पर का निमित्त, कर्म के उदय का सम्बन्ध रहा नहीं। सम-बन्ध, बन्ध—सम्बन्ध—बन्ध। सम्बन्ध, बन्ध रहा नहीं तो बन्ध का अभाव हुआ, ऐसा कैसे कहा जाता है? आहाहा! देखो!

संयोगादिक प्रकारों में से द्रव्यकर्मों के साथ आत्मा का कौन से प्रकार का सम्बन्ध होगा? जिससे कि अध्यात्मयोग से.. अध्यात्मयोग अर्थात् आत्मा शुद्ध चैतन्य,

आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण होना, उसे अध्यात्मयोग कहते हैं। राग-द्वेष में जुड़ान, वह अध्यात्मयोग नहीं है, वह तो विपरीत योग है। आहाहा! यह शुभभाव में पुरुषार्थ का जुड़ान, वह विपरीत योग है; अध्यात्मयोग नहीं, आत्म व्यापार नहीं। आहाहा! है? देखो! उसमें सब है, उसकी खिलावट होती है। कितने ही कहते हैं, सोनगढ़वाले घर का कहते हैं। अरे! सुन न! तुझे भान नहीं। घर का तो है, परन्तु कल्पना का नहीं। ऐ.. सेठ! आहाहा!

अध्यात्मयोग से.. देखो! इस अध्यात्मयोग का अर्थ क्या किया? आत्मा का परमात्मा के साथ एकीकरण, इसका नाम अध्यात्मयोग, इसका नाम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय। जब अपने स्वभाव की एकाकारता से जो हुआ तो उससे शीघ्र कर्म की निर्जरा हो जाती है। किससे? अध्यात्मयोग से। (अध्यात्मयोग से) स्वभाव का सम्बन्ध किया, स्वभाव का सम्बन्ध किया, उससे कर्मों की शीघ्र निर्जरा होती है। कर्मों की निर्जरा अध्यात्मयोग से हुई, ऐसा कैसे कहा जाता है? यह बात परमार्थ से किस प्रकार कही जाती है? परमार्थ है। यह तो निमित्त का-व्यवहार का कथन है। समझ में आया? आहाहा!

भावार्थ यह है कि आत्मा से कर्मों का सम्बन्ध छूट जाना निर्जरा कहलाती है। परन्तु.. सम्बन्ध छूट जाना। परन्तु जब उत्कृष्ट अद्वैत ध्यानावस्था में किसी भी प्रकार कर्म का सम्बन्ध नहीं,.. जब भगवान आत्मा, अपने ध्यान में दृष्टि-ज्ञान लगाकर अपने स्वभाव में ही सम्बन्ध जोड़ दिया, स्वभाव का ही सम्बन्ध जोड़ा, उसे परमात्मा में एकीकरण कहा। जिसे यहाँ अध्यात्मयोग कहा, जिसे यहाँ मोक्ष के मार्ग की पर्याय का आत्मा के साथ जुड़ान हुआ तो पर्याय उत्पन्न हुई। समझ में आया? ऐसे भगवान मोक्षमार्गी महिमावन्त का जब आत्मा के स्वभाव का ध्येय उत्पन्न हुआ तो उसे पर के साथ कोई सम्बन्ध तो रहा नहीं। अद्वैतध्यान अवस्था हुई। अद्वैत अर्थात् एक अपना ही ध्येय रहा। सम्बन्ध तो ज्ञायक (स्वभाव) चिदानन्द भगवान का एक का ही रहा; द्वैत का लक्ष्य ही नहीं रहा। आहाहा! समझ में आया? बहुत बात की है इसमें, भाई! वह तो व्यवहाररत्नत्रय पहले होता है, फिर निश्चयरत्नत्रय होता है, यह सब मिथ्या है। ऐसा स्वरूप में नहीं है।

ऐसा कहते हैं कि जब स्वरूप की एकाग्रता हुई, तब राग का सम्बन्ध ही नहीं रहा तो राग पहले हुआ तो निश्चय हुआ, ऐसा कहाँ रहा? आहाहा! इसने मार्ग सुना नहीं।

आत्मा से कर्मों का सम्बन्ध छूट जाना निर्जरा कहलाती है। परन्तु जब उत्कृष्ट अद्वैत ध्यानावस्था में.. शुभराग, कर्म का उदय, देव-गुरु-शास्त्र के सम्बन्ध का लक्ष्य कुछ रहा नहीं। यहाँ (अन्दर) ही रहा, तब निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान उत्पन्न होते हैं। एकीकरण में आत्मा का परमात्म परमस्वरूप जो त्रिकाल ध्रुव परमस्वरूप है, जिसे दोपहर को (नियमसार के प्रवचन में) शुद्धभाव कहते हैं। उसके साथ जब एकीकरण हुआ, तब निर्मल पर्याय प्रगट हुई तो उसमें पर का सम्बन्ध उस समय रहा ही नहीं। समझ में आया ?

ऐसे उपदेश से विरुद्ध उपदेश करे, वह वीतराग का उपदेश नहीं है, ऐसा कहते हैं। यह इष्टोपदेश इस वस्तु के स्वरूप का ऐसा है। इससे उल्टा विपरीत कोई प्ररूपणा करे, वे सब मिथ्यादृष्टि के कथन हैं। वे कथन वीतरागमार्ग के नहीं हैं। समझ में आया ? जिसमें परद्रव्य के सम्बन्ध से लाभ मानते हैं, ऐसा उपदेश करते हैं तो कहते हैं कि वह उपदेश इष्ट उपदेश नहीं, हितकर नहीं। परमात्मा अपना शुद्धभाव, उसमें एकीकरण होने से जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र निश्चय / यथार्थ उत्पन्न हुए, उस समय में कहाँ कोई कर्म का सम्बन्ध लक्ष्य में रहता है कि उससे छूटा ? उससे छूटकर ही, व्यवहार का लक्ष्य, निमित्त का लक्ष्य छोड़कर ही आत्मा में एकाकार होता है। अतः लक्ष्य पहले था तो उससे यहाँ हुआ, ऐसा नहीं है। समझ में आया ? सेठ ! यह तुम्हारे गड़बड़ बहुत चलती है। वाणी में तुम्हारे यहाँ चलती है। मूर्ति निकाल डाली तो वाणी। वाणी से पूजा करो, वाणी से ऐसा होता है, वाणी से ऐसा होता है। सुना ? पुस्तक पर चले गये, परन्तु वह तो निमित्त है। क्या वाणी में आत्मा है ? सेठ ! यहाँ तो ऐसी बात है। आहाहा ! यहाँ तो कहते हैं, वाणी तो पर / जड़ की पर्याय है, पुद्गल की पर्याय है। वहाँ लक्ष्य रखकर यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान होता है ?

मुमुक्षु : अपना उपादान जागे तो...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह रात्रि को आया था। उपादान जागृत हुआ तो निमित्त का लक्ष्य रहा ही नहीं। सेठ ! लक्ष्य कहाँ रहा ? भाई ! लक्ष्य तो यहाँ गया, वह तो स्वतन्त्र हुआ। कहो, राजमलजी ! भगवान ! मार्ग तो कोई ऐसा है, निरपेक्ष मार्ग है, भाई ! आहाहा ! फिर व्यवहार से सापेक्ष समझो, वह अलग बात है, वह तो है, जाने, परन्तु मार्ग कोई पर के

आश्रय से अन्दर में प्रगट होता है, ऐसा तीन काल-तीन लोक में कभी भी नहीं है। ऐसा अनन्त सर्वज्ञों का फरमान दिव्यध्वनि में आया है और ऐसा सर्वज्ञ दिव्यध्वनि में समवसरण में फरमाते हैं। ऐसा ही उपदेश यहाँ पूज्यपादस्वामी कहते हैं कि ऐसा भगवान का मार्ग है, भाई!

आहाहा! जब उत्कृष्ट अद्वैत ध्यानावस्था में किसी भी प्रकार कर्म का सम्बन्ध नहीं, तब छूटना किसका? इसलिये सिद्धयोगी.. जिसका अन्तर में योग सिद्ध हो गया है। गतयोगी.. जिसका योगीपद के साथ का सम्बन्ध छूट गया है। अयोगीकेवली, जिन्हें पूर्ण आत्मा की अयोगदशा प्रगट हुई है। उत्कृष्ट बात करते हैं। उत्कृष्ट बात करें, उसमें मध्यम, जघन्य सब आ गये। ये तीनों एक ही शब्द है। पहले कहा था, वह अलग था। सिद्धयोगी और साध्ययोगी। पहले ३० पृष्ठ पर कहा था। पहली दो लाईन। तीसरी लाईन-सिद्धयोगी, चौथी लाईन-साध्ययोगी। वे दो दूसरी बातें थी। सिद्धयोगी, अयोगी और साध्ययोगी-योग का अभ्यास करनेवाला, योग पूर्ण नहीं हुआ वह। यह बात पहले आ गयी है। यह तो... बात करते हैं, उत्कृष्ट अद्वैत की बात करते हैं। समझ में आया?

यह सिद्धान्त, भगवान आत्मा अपने में एकाकार है, भगवान एकाकार हुए तो वे चार घातिकर्म छूट गये - ऐसा कैसे कहा जाता है? समझ में आया? भगवान को अन्त में चार अघातिकर्म की निर्जरा हुई। सम्बन्ध ही नहीं न? तो किसकी निर्जरा हुई? वह तो व्यवहार है। पूर्व (में) थे, वे वर्तमान में छूट गये, इस अपेक्षा से कहा है। वर्तमान में सम्बन्ध नहीं है। ओहोहो! उनमें कर्मों की निर्जरा होती है, यह कहना व्यवहारनय से ही है,.. पूर्व का सम्बन्ध था, लक्ष्य था, सम्बन्ध था, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध था, वह वर्तमान में सम्बन्ध रहा नहीं, इस पूर्व की अपेक्षा से निमित्त सम्बन्ध था, वह छूटा—ऐसा व्यवहार से कहने में आता है। ओहोहो! इष्टोपदेश, पूज्यपादस्वामी, गजब बात है।

दोहा - 'कटका मैं कर्तार हूँ' यह है द्विष्ट सम्बन्ध।

आप हि ध्याता ध्येय जहँ, कैसे भिन्न सम्बन्ध।।२५।।

श्लोक का अर्थ किया। भगवान पूज्यपादस्वामी ने जो श्लोक कहा, उसे हिन्दी में

कहा। 'कटका में कर्तार हूँ'.. चटाई.. चटाई। चटाई होती है न? मैं चटाई का कर्ता हूँ। यह है द्विष्ट सम्बन्ध। यह तो दो का सम्बन्ध हो गया। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध हुआ। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध हुआ। वह कर्ता है, ऐसी यहाँ बात नहीं है परन्तु वह तो निमित्त-निमित्त सम्बन्ध हुआ। वह जब करता है और लक्ष्य निमित्त पर है तो निमित्त और निमित्त का द्वैत सम्बन्ध हुआ।

आप हि ध्याता ध्येय जहँ,.. भगवान् आत्मा पोताना.. पोताना को क्या कहते हैं? अपने। पोताना समझते हो? पोताना हमारी गुजराती भाषा है। खुद का, अपना, निज का, (ऐसा इसका अर्थ होता है)। एकाकार श्रद्धा-ज्ञान आनन्द में रहता है, तब भिन्न के साथ सम्बन्ध कैसा? परद्रव्य का निमित्त का सम्बन्ध था और छूटा, ऐसा कैसे कहने में आता है? ऐसा है नहीं? यह २५ (श्लोक) पूरा हुआ।

यहाँ पर शिष्य का कहना है कि भगवन्! यदि आत्मद्रव्य और कर्मद्रव्य का अध्यात्मयोग के बल से बन्ध न होना बतलाया जाता है, तो फिर किस प्रकार से उन दोनों में (आत्मा और कर्मरूप पुद्गल द्रव्यों में) परस्पर एक के प्रदेशों में दूसरे के प्रदेशों का मिल जाना रूप बंध होगा? क्योंकि बन्धाभाव तो बंधपूर्वक ही होगा। और बंध का प्रतिपक्षी, संपूर्ण कर्मों की विमुक्तावस्था रूप मोक्ष भी जीव को कैसे बन सकेगा? जो कि अविच्छिन्न अविनाशी सुख का कारण होने से योगियों के द्वारा प्रार्थनीय हुआ करता है? आचार्य कहते हैं -

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत्॥२६॥

अर्थ - 'ममतावाला जीव बँधता है, और ममता रहित जीव मुक्त होता है। इसलिए हर तरह से पूरी कोशिश के साथ निर्ममता ही ख्याल रखे।'

विशदार्थ - अव्ययों के अनेक अर्थ होते हैं, इसलिये, 'मम' इस अव्यय का अर्थ 'अभिनिवेश' है, इसलिये 'समम' कहिये 'मेरा यह है' इस प्रकार के अभिनिवेशवाला जीव भी कर्मों से बँधता है। उपलक्षण से यह भी अर्थ लगा लेना कि

‘मैं इसका हूँ’ ऐसे अभिनिवेशवाला जीव भी बँधता है, जैसा कि अमृतचन्द्राचार्य ने समयसार कलश में कहा है—‘न कर्मबहुलं जगन्नत्र’

अर्थ - न तो कर्मस्कन्धों से भरा हुआ यह जगत् बंध का कारण है, और न हलन-चलनादिरूप क्रिया ही, न इन्द्रियाँ कारण हैं, और न चेतन-अचेतन पदार्थों का विनाश करना ही बन्ध का कारण है। किन्तु जो उपयोगरूपी जमीन रागादिकों के साथ एकता को प्राप्त होती है, सिर्फ वही अर्थात् जीवों का रागादिक सहित उपयोग ही बन्ध का कारण है। यदि वही जीव निर्मम-रागादिरहित-उपयोगवाला हो जाय, तो कर्मों से छूट जाता है। कहा भी है कि - ‘अकिंचनोऽह।’

मैं अकिंचन हूँ, मेरा कुछ भी नहीं, बस ऐसे होकर बैठे रहो और तीन लोक के स्वामी हो जाओ। यह तुम्हें बड़े योगियों के द्वारा जाने जा सकने लायक परमात्मा का रहस्य बतला दिया है।

और भी कहा है - ‘रागी बध्नाति कर्माणि।’ रागी जीव कर्मों को बाँधता है। रागादि से रहित हुआ जीव मुक्त हो जाता है। बस यही संक्षेप में बंध मोक्ष विषयक जिनेन्द्र का उपदेश है। जबकि ऐसा है, तब हरएक प्रयत्न से ब्रतादिकों में चित्त लगाकर अथवा मन, वचन, काय की सावधानता से निर्ममता का ही ख्याल रखना चाहिये ‘मतः कायादयो भिन्नास्।’

‘शरीरादिक, मुझसे भिन्न हैं, मैं भी परमार्थ से इनसे भिन्न हूँ, न मैं इनका कुछ हूँ, न मेरे ही ये कुछ हूँ।’ इत्यादिक श्रुतज्ञान की भावना से मुमुक्षु को भावना करनी चाहिये। आत्मानुशासन में गुणभद्रस्वामी ने कहा है। ‘निवृत्तिं भावयेत्।’

जब तक मुक्ति नहीं हुई, तब तक परद्रव्यों से हटने की भावना करे। जब उसका अभाव हो जायगा, तब प्रवृत्ति ही न रहेगी। बस वही अविनाशी पद जानो॥२६॥

दोहा - मोही बाँधत कर्म को, निर्मोही छुट जाय।

यातें गाढ़-प्रयत्न से, निर्ममता उपजाय॥२६॥

गाथा - २६ पर प्रवचन

२६, यहाँ पर शिष्य का कहना है कि भगवन्! आपने तो बन्ध को ही उड़ा दिया। तो यह बन्ध होता है, वह किस प्रकार? भगवन्! यदि आत्मद्रव्य और कर्मद्रव्य का अध्यात्मयोग के बल से.. देखो! अध्यात्मयोग के बल से, अन्तर के ज्ञान-आनन्द की एकता से। अपनी मोक्षमार्ग की पर्याय का अन्तर में एकाकार होने से उत्पन्न होने का काल है, उस अध्यात्मयोग के बल से बन्ध न होना बतलाया जाता है,.. तुम तो कहते हो कि बन्ध ही नहीं, सम्बन्ध ही नहीं। यह क्या है? आहाहा! यह स्वयं गुरु ही कहते हैं। सामनेवाले के मुख में प्रश्न रखकर सन्धि करते हैं।

आत्मद्रव्य और कर्मद्रव्य का.. भगवान! दो द्रव्य भिन्न हैं। आत्मद्रव्य भिन्न है, कर्मद्रव्य जड़ भिन्न है, दोनों भिन्न हैं। अध्यात्मयोग के बल से बन्ध न होना.. आत्मा का आनन्द, स्वरूप की अन्तर्दृष्टि, ज्ञान, शान्ति, चारित्र से निमित्त का सम्बन्ध ही नहीं रहा तो बन्ध ही रहा नहीं। तो फिर किस प्रकार से उन दोनों में (आत्मा और कर्मरूप पुद्गल द्रव्यों में) परस्पर एक के प्रदेशों में दूसरे के प्रदेशों का मिल जानारूप बंध होगा? समझे? तो फिर बन्ध किस प्रकार होगा? ऐसा कहता है। देखो! तो फिर किस प्रकार दोनों में बन्ध होगा? समझ में आया?

क्योंकि बन्धाभाव तो बंधपूर्वक ही होगा। बन्ध का अभाव तो बन्धपूर्वक होगा। बन्ध हो, उस बन्ध का अभाव हो। आप तो कहते हो कि नहीं। अध्यात्मयोग में बन्ध ही नहीं है, सम्बन्ध ही नहीं है। सम्बन्ध ही नहीं है तो सम्बन्ध का टूटना, ऐसे बन्ध का अभाव भी नहीं रहा। समझ में आया? बन्धाभाव तो बंधपूर्वक ही होगा। बन्ध का अभाव—मोक्ष—बन्धपूर्वक होगा। बन्ध होवे तो बन्ध का अभाव हो। आप बन्ध से तो इनकार करते हो, अध्यात्मयोग में बन्ध ही नहीं है, सम्बन्ध ही नहीं है।

और बंध का प्रतिपक्षी, संपूर्ण कर्मों की विमुक्तावस्था रूप मोक्ष भी जीव को कैसे बन सकेगा? जब बन्ध का प्रतिपक्ष सम्पूर्ण कर्मों की मुक्तावस्था, ऐसा मोक्ष जीव को किस प्रकार से बनेगा? आप तो सम्बन्ध की नहीं, नहीं, नहीं (कहते हो)।

सम्बन्ध नहीं है अर्थात् बन्ध नहीं है, ऐसा आप कहते हो तो मुक्त अवस्था किस प्रकार होगी ? जो कि अविच्छिन्न अविनाशी सुख का कारण होने से योगियों के द्वारा प्रार्थनीय हुआ करता है ? देखो ! धर्मात्मा.. आहाहा ! धर्मात्मा को तो मोक्ष की ही प्रार्थना है । बन्ध की नहीं, पुण्य की नहीं, निमित्त की नहीं—ऐसी प्रार्थना है ही नहीं, ऐसा कहते हैं । समझ में आया ? है न ? योगियों के.. योगी शब्द से (आशय यह है कि) स्वरूप में जुड़ान करनेवाला । योगी अर्थात् यह अन्यमति के बाबा की यहाँ बात नहीं है । अपना शुद्ध आनन्दकन्द परमात्मा में योगी अर्थात् सम्बन्ध किया है, योग-जुड़ान किया है, उसे यहाँ सम्यग्दृष्टि से लेकर योगी कहा जाता है । समझ में आया ?

महाराज ! आप तो अध्यात्मयोग से बन्ध ही नहीं, ऐसा कहते हो । सम्बन्ध ही नहीं रहा, अध्यात्म—आत्मा का अन्तर में एकाकार होकर आत्मा का मोक्षमार्ग प्रगट किया या मोक्ष प्रगट किया तो पर का सम्बन्ध ही नहीं, ऐसा कहते हो । यदि सम्बन्ध नहीं है, बन्ध नहीं है तो बन्ध का अभाव किस प्रकार होगा ? और बन्ध के अभावरूप मुक्ति—विमुक्तदशा तो महान योगियों की प्रार्थना है । अविच्छिन्न अविनाशी सुख का कारण.. नाश न हो, खण्ड न हो, ऐसे सुख का कारण होने से । देखो ! यह शब्द विशेषण रखा है । अविच्छिन्न अविनाशी सुख । परमानन्द अतीन्द्रिय आनन्द, ऐसे सुख का कारण होने से । योगी अर्थात् समकित्ती जीव को धर्मी जीव द्वारा प्रार्थनीय है । धर्मी जीव तो एक अतीन्द्रिय अविच्छिन्न आनन्द की ही अन्तर में एकाग्रता से भावना करते हैं, उन्हें दूसरी कोई भावना नहीं होती । तो मोक्ष की प्रार्थना तो व्यर्थ जाती है । आप सम्बन्ध का ही इनकार करते हो । सम्बन्ध का अभाव और अभावरूप अविच्छिन्न अविनाशी आनन्द की भावना व्यर्थ जाती है । समझ में आया ?

आचार्य कहते हैं, सुन ! देखा ? धर्मी द्वारा तो अविच्छिन्न अविनाशी सुख-आनन्द की ही प्रार्थना है । अतीन्द्रिय आनन्द । व्यवहार की नहीं, निमित्त की नहीं, सम्बन्ध की नहीं । धर्मी तो अन्तर में शुद्धभाव में एकाकार होता है और पूर्णानन्द की प्राप्ति का ही उसका प्रयत्न है । समझ में आया ?

अपने शुद्ध आत्मा के आश्रय से संवर, निर्जरा प्रगट हुई है । उसके आश्रय से

परमात्मदशा प्रगट करने की ही अभिलाषा-भावना है। वह तो बन्ध का अभाव होवे तो ऐसा होता है। बन्ध होवे तो बन्ध का अभाव हो; बन्ध का अभाव होवे तो मुक्त अवस्था की प्रार्थना हो। सुन, सुन! इसका उत्तर सुन तो सही। इसका सच्चा अर्थ तो सुन! अनादि से झूठा अर्थ तो तूने सुना है।

बध्यते मुच्यते जीवः सममो निर्ममः क्रमात्।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिंतयेत्॥२६॥

देखो! पूज्यपादस्वामी। ये तो पंचम काल के मुनि ने इष्टोपदेश कहा है। तीन काल में इष्ट-उपदेश ऐसा ही होता है। पंचम काल में ऐसा होवे और तीनों काल में ऐसा होवे। उपदेश में अन्तर पड़ता है? चौथे काल में, पाँचवें काल में सत्य का-हित का मार्ग तो एक ही होता है, दूसरा कोई है नहीं। इसका अर्थ। अर्थ है।

ममतावाला जीव बँधता है,.. इसका अर्थ, ममता की व्याख्या। ममता अर्थात् अभिनिवेश कहेंगे। मिथ्या मान्यता। **ममतारहित जीव मुक्त होता है। इसलिए हर तरह से पूरी कोशिश के साथ..** सर्व प्रयत्न है न? सर्व प्रयत्न से—पूरे उद्यम से निर्ममता ही ख्याल रखे। वीतरागता का ही ख्याल रखे, वीतरागता का ख्याल रखे। अब कहते हैं, देखो!

विशदार्थ - अव्ययों के अनेक अर्थ होते हैं, इसलिये, 'मम' इस अव्यय का अर्थ 'अभिनिवेश' है,.. यहाँ यह लेना। अभिनिवेश-मिथ्या अभिप्राय। मम का अर्थ मिथ्याश्रद्धा। आहाहा! समझ में आया? जीव अनादि से मिथ्याश्रद्धा से ही बँधता है। समझ में आया? अपने स्वभाव में एकाकार होने से ही आत्मा को लाभ होता है, ऐसा अभिप्राय छोड़कर निमित्त के सम्बन्ध से, राग की मन्दता के सम्बन्ध से, पुण्यभाव के सम्बन्ध से अपने को-आत्मा को धर्मलाभ होगा, इसका नाम मिथ्या अभिप्राय कहते हैं। इसका नाम मम कहते हैं। ममकार अभिनिवेश मिथ्यात्व का कहते हैं। दो अर्थ करेंगे।

इसलिये 'समम' कहिये 'मेरा यह है'.. देखो! मूल में सम्म शब्द है न? यह मेरा है। मेरा तो शुद्ध आनन्दकन्द स्वभाव ज्ञायक है। ऐसा छोड़कर पुण्य का विकल्प, दया, दान का भाव, कर्म का उदय और बाह्य निमित्त, उनमें मम-यह मेरा है—ऐसा अभिप्राय।

समझ में आया ? 'मेरा यह है'.. मुझे यह लाभदायक है, निमित्त मुझे लाभदायक है, राग की मन्दता मुझे लाभदायक है। 'मेरा यह है।' 'मैं इसका हूँ' यह बाद में कहेंगे। पारस्परिक है न ? समझ में आया ? आहाहा !

भगवान आत्मा, अकेला चैतन्य ज्ञानसूर्य स्वभाव; विकल्प से लेकर एक राग की मन्दता / शुभभाव मेरा है, मैं उसका हूँ.. जहाँ यह राग मेरा तो मैं उसका, ऐसे अभिप्राय को भगवान मिथ्यादृष्टि का अभिनिवेश कहते हैं। ओहोहो ! बहुत कठिन काम। इष्टोपदेश दो बार पहले चला है। यह सभा में तीसरी बार चलता है। यह दूसरे प्रकार से चलता है। समझ में आया ?

अव्ययों के अनेक अर्थ होते हैं, इसलिये, 'मम' इस अव्यय का अर्थ 'अभिनिवेश' है,.. पण्डित आशाधर इसमें से निकालते हैं। आचार्य का हृदय (खोलते हैं)। इसलिये 'समम' कहिये 'मेरा यह है' इस प्रकार के अभिनिवेशवाला जीव भी कर्मों से बँधता है। देखो ! इस प्रकार के अभिनिवेशवाला जीव भी कर्मों से बँधता है। अध्यात्मयोगवाला (अभिनिवेशवाला) तो छूटता है, ऐसा नहीं। समझ में आया ? यहाँ तो कहते हैं, अभिनिवेशवाला जीव ही कर्मों से बँधता है। जिसके अभिप्राय में मिथ्यात्व पड़ा है। मिथ्यात्व का अर्थ - मम। भगवान परमानन्द की मूर्ति अखण्डानन्द शुद्ध को छोड़कर राग की मन्दता का जो विकल्प है, वह मैं, वह मेरा, वह मेरा, मेरा कर्म, मेरा कर्म उदय में आया, मुझे परपदार्थ का सम्बन्ध हुआ, वह मेरा पदार्थ है, ऐसे पर के साथ मेरेपने की अभिप्रायबुद्धि को मिथ्यात्व कहते हैं। ऐसे मिथ्यात्ववाला जीव ही कर्मों से बँधता है। देखो ! वही कर्म का बन्ध करता है। आठ कर्म का बन्धन दर्शनमोहसहित मिथ्यादृष्टि करता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया ?

उपलक्षण से यह भी अर्थ लगा लेना कि 'मैं इसका हूँ'.. ऐसा। यह मेरा है, यह मुझे लाभदायक है। जिस चीज़ को आत्मस्वभाव में लाभदायक माने, उसका अर्थ हुआ कि यह मेरा हुआ और 'मैं इसका हूँ'.. मैं ज्ञायकस्वभाव हूँ, ऐसा नहीं। 'मैं इसका हूँ'.. मेरा पूरा स्वभाव इसमें आ गया। राग की मन्दता का कषाययुक्त शुभभाव, यह मेरा है और मैं इसमें आ गया। मैं इसका हूँ।

मुमुक्षु :

पूज्य गुरुदेवश्री :वकालात है। पूज्यपादस्वामी वीतरागमार्ग की वकालात करते हैं। आहाहा! भाई! वीतरागमार्ग तो ऐसा है। अपना भगवान आत्मा ज्ञायकस्वभाव को छोड़कर एक राग की मन्दता भी मुझे लाभदायक है, इस मिथ्या अभिप्राय से अपना मानता है और मैं इसका हूँ, ऐसा मानता है। अपना स्वभाव राग से भिन्न ज्ञायक है, ऐसा मिथ्यादृष्टि को प्रतीति में नहीं आता।

ऐसे अभिनिवेशवाला जीव भी बँधता है,.. लो! समझ में आया? ऐसे अभिनिवेशवाला जीव बँधता है। जीव नहीं बँधता, यह तो अध्यात्मयोग से नहीं बँधता। ऐसे तो बँधता है। फिर अमृतचन्द्राचार्य की बात कहेंगे।

(श्रोता : प्रमाण वचन गुरुदेव!)



-: प्रकाशक :-
श्री कुंदकुंद-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट,
विले पार्ला, मुंबई